प्राक्कथन

'वेलि' के किसी किसी दोहले का अर्थ समझने में यदि मुझे कठिनाई पड़ती अथवा कहीं शंका होती तो मैं विशेषतः स्वर्गीय श्रीरामदानजी चारण की और कभी कभी संस्कृत और डिंगल के ज्ञाता ठाकुर श्रीहनुमंतदानजी चारण, गेरसर, की सम्मति ले लिया करता था। बीकानेर में स्वर्गीय रामदानजी अपने ढंग के एक ही व्यक्ति थे। उनका व्यक्तित्व बहुत चमत्कारपूर्ण था। वह जन्मान्ध थे, उन्होंने किसी पाठशाला में शिक्षा नहीं पाई थी, तो भी उन्होंने अपने अथक परिश्रम, अदम्य उत्साह, अपूर्व स्मरणशक्ति और प्रकाण्ड बुद्धि के कारण संस्कृत साहित्य और दर्शन का अच्छा ज्ञान प्राप्त कर लिया था।

राजस्थान के वीरत्वपूर्ण कथानक और गीत तो सदा उनकी जिह्वा पर रहा करते थे। डिंगल भाषा और आधुनिक राजस्थानी भाषा पर तो उनको जन्मसिद्ध अधिकार सा था। उनकी मानसिक आँखें खुल गई थीं—कुछ न देखते हुए भी वह सब कुछ देखते थे—वह प्रज्ञाचक्षु थे। ब्रजभाषा के भी वह एक अच्छे कवि और मर्मज्ञ थे। उनकी बातें सरसता, विनोद और वाक्चातुर्य से परिपूर्ण होती थीं। सभी प्रकृति के मनुष्य और विशेषतः सहृदय और साहित्यप्रेमी सज्जन उनसे मिलकर परम प्रसन्नता और आनन्द लाभ करते थे। जिससे उनको एक बार बातचीत हो जाती वह उनको कभी नहीं भूलता और न वह ही कभी उसको भूलते। अपने इसी सौजन्य से प्रेरित होकर वह सदा मेरे यहाँ आते और मुझको 'वेलि' के सम्बन्ध में सम्मति और सहायता देकर प्रोत्साहित करते रहते थे।

मैं उनके इस उपकार को कभी नहीं भूल सकता। ईश्वर उनको आत्मा को शान्ति दे।

जब मैं 'वेलि' के दोहलों का अन्वयार्थ, भावार्थ और शब्दार्थ अपनी बुद्धि के अनुसार लिख चुका तो मैंने श्रीमान् ठाकुर रामसिंहजी, एम० ए०, विशारद, और पंडित श्रीसूर्यकरणजी पारीक, एम० ए०, विशारद, को इसका पूर्ण अधिकार दे दिया कि वे अपनी इच्छा और सुविधा के अनुसार इसको घटा-बढ़ा कर, जैसा उचित समझें वैसा रूप देकर और इसका संशोधन और सम्पादन करके जहाँ और जैसा चाहें प्रकाशित करा दें। इन सज्जनों ने अपना अमूल्य समय लगाकर, बड़ा परिश्रम और खोज करके मेरी टीका को काया ही पलट दी और भूमिका, नोट, पाठान्तर, शब्दकोष प्राचीन टीकाएँ इत्यादि देकर इस ग्रन्थ की रोचकता और उपयोगिता बढ़ा कर इसको विद्वानों और साहित्य-प्रेमियों के सम्मुख रखने योग्य बना दिया। मेरी टीका सहित यह ग्रन्थ लगभग ३०० पृष्ठ का होता। अब इसका कलेवर द्विगुणित से भी अधिक हो गया है। सम्पादकों ने अधिकांश दोहलों के मेरे किये हुए अन्वय और अर्थ बदल दिये हैं और ८-१० को छोड़ कर बाकी के सब दोहलों के मेरे लिखे हुए भावार्थ भी अनावश्यक समझ कर निकाल दिये हैं, जिसका उत्तरदायित्व इन्हीं पर है क्योंकि मैं तो इनको सब कुछ करने की पूर्ण स्वतन्त्रता दे चुका था।

पंडित श्रीनरोत्तमदासजी स्वामी, एम० ए०, विशारद, ने वेलि का शब्दकोष बनाया और डिंगल के व्याकरण-विषयक अपने विचार लेखबद्ध करके दिये जिसके लिए मैं और दोनों सम्पादक उनको हार्दिक धन्यवाद देते हैं।

क्योंकि यह ग्रन्थ जल्दी में छपने जा रहा है इसलिए यह सम्भव ही नहीं अनिवार्य सा ही दीख पड़ता है कि इसमें बहुतसी छोटी

बड़ी त्रुटियाँ रह जायँगी। ऐसी परिस्थिति में विद्वानों से मेरा निवेदन है कि वह इसके दोषों की ओर न जाकर इसकी उपयोगिता पर विचार करने की कृपा करेंगे; विशेषतः यह ध्यान रखते हुए कि यह डिंगल का पहला ही काव्यग्रन्थ है जो टीकासहित प्रकाशित किया गया है। शीघ्रता के कारण जो त्रुटियाँ रह गई हैं उनको दूसरे संस्करण में सुधारने का पूरा पूरा प्रयत्न किया जायगा।

जगमालसिंह

विषय-सूची

भूमिका

भूमिका।

महाराज पृथ्वीराज

स्वनामधन्य महाराज पृथ्वीराज के उज्ज्वल यशस्वी नाम से कौन भारतीय परिचित नहीं है? जिस समय मुगल-साम्राज्य के आतङ्क ने हिन्दू-सूर्य्य महाराणा प्रताप के अटल पराक्रम और निस्सीम धैर्य्य को भी विचलित करने में कुछ बाकी न रखा था, और जिस समय अकबर जैसे अतुल बलधारी और विचक्षण सम्राट् से विरोध करने के परिणाम में महाराणा को अपने प्राण की रक्षा के लिये निस्सहाय वन वन में भूखे-प्यासे रह कर भटकना पड़ता था और इस असह्य दुःख द्वारा पीड़ित होकर जब वे अकबर की अधीनता स्वीकार करने को विवश हो गये थे, उस समय यदि किसी महापुरुष की अन्तरात्मा ने अखण्ड ज्योतिर्मय ओज का प्रकाश करते हुए, महाराणा के हृदय की आत्मग्लानि एव आन्तरिक म्लानता और दैन्य के आवरणरूपी अन्धकार को हटाने का प्रयत्न किया तो वह श्रेय महाराज पृथ्वीराज के उस इतिहास एवं साहित्य-प्रसिद्ध पत्र को ही है कि जिसके एक एक अक्षर को पढ़कर आज भी भारतवासी अपने हृदय में आशा, स्फूर्त्ति, उत्साह, स्वदेश-गौरव और आत्म-बल का दीपक जला सकते हैं। यह बात ध्यान में रखने योग्य है कि महाराज

पृथ्वीराज का दैन्य उस समय महाराणा प्रताप की अपेक्षाकृत समुन्नत एवं स्वच्छन्द दशा से कहीं विशेष बढ़ा चढ़ा था। न कोई इनके निज की सैन्य थी और न कोई प्रबल सहायक ही ऐसा था कि जिस पर विश्वास करके ये स्वतन्त्रता के लिए प्रयत्न कर सकते थे। ऐसी दशा में रहते हुए भी भारतीय स्वतंत्रता का निशिदिन जाप करनेवाले इन वीर-शिरोमणि क्षत्रियपुत्र के हृदय में, भारतीय स्वतन्त्रता का झंडा सम्हालनेवाले एकमात्र नेता महाराणा प्रताप के धर्म-हठ के प्रति निस्सीम श्रद्धा और सहानुभूति थी, जो उनके द्वारा लिखे हुए उक्त पत्र से प्रत्यक्ष प्रमाणित होती है। इन्हीं वीर महापुरुष महाराज पृथ्वीराज के काव्यात्मक व्यक्तित्व का स्वरूप निदर्शन करने एव उनकी एक मुख्य काव्य-रचना का परिचयात्मक विवेचन कर रसिकों का हृदय तृप्त करने के हेतु हमारा यह प्रयास है।

महाराज पृथ्वीराज और हिन्दी साहित्य

महाराज पृथ्वीराज एक उच्च श्रेणी के कवि थे। उन्होंने पिंगल और डिंगल दोनों भाषाओं में काव्य-रचना की और अनेक ग्रंथ रचे, परन्तु "वेलि" और कई एक डिंगल गीत तथा कुछ फुटकर डिंगल और पिंगल कविताओं को छोड़कर अन्य ग्रंथों के नाम केवल सुने जाते हैं, वे देखने में नहीं आये। अब तक हिन्दी-जगत् में महाराज पृथ्वीराज का नाम केवल अपनी फुटकर हिन्दी कविता के लिए ही प्रसिद्ध है। परन्तु वास्तव में देखा जाय तो डिंगल मे लिखे काव्य की अपेक्षा हिन्दी-भाषा में उनकी प्रतिभा का सहस्रांश भी प्रतिफलित नहीं हो पाया है। यही कारण है कि ज्ञान के अभाव में हिन्दी-काव्य के ज्ञाता, रसिक एव मर्मज्ञ अब तक उनको साधारण कोटि के कवियों की श्रेणी मे गिनते हैं। अब यदि ऐतिहासिक दृष्टि से देखा जाय तो राजस्थानी डिंगल भाषा भी शैशवकालीन हिन्दी का

एक ऐसा ही पृथक् रूप है जैसा कि व्रजभाषा, मागधी, अवधी इत्यादि अन्यान्य प्रान्तीय रूप। सूर, विद्यापति, तुलसी, चंद और जायसी को हिन्दी के कवियों की श्रेणी और एक शृंखला में गिनना यही प्रमाणित करता है कि कविवर पृथ्वीराज को केवल अपनी हिन्दी-कविता के लिए ही नहीं वरन् डिंगलकाव्य के लिए भी हिन्दी-साहित्य के इतिहास में यथायोग्य स्थान मिलना चाहिए। परन्तु हमें यह जानकर अत्यन्त खेद होता है कि जहाँ पृथ्वीराज-रासो के प्रणेता हिन्दी के आदि कवि चंदबरदाई के विषय में हिन्दी के विद्वानों में अपेक्षाकृत अच्छी जानकारी है, वहाँ महाराज पृथ्वी-राज के विषय में, जो हमारी समझ में महाकवि चंद की अपेक्षा काव्य-शक्ति में किसी प्रकार न्यूनतर नहीं कहे जा सकते, हिन्दी-भाषा के साहित्यज्ञों का ज्ञान अत्यन्त सीमित एवं नहीं के तुल्य है। यहाँ तक कि हिन्दी-साहित्य के प्रसिद्ध वर्त्तमान इतिहासकार मिश्र-बन्धुओं ने अपने मिश्रबन्धुविनोद भाग १ पृष्ठ ३०७ में महाराज पृथ्वीराज के सम्बन्ध में अत्यन्त संकुचित विवरण लिखकर अपना उत्तरदायित्व पूरा करना चाहा है और इनको "साधारण श्रेणी" के कवियों में गिनाया है। हमारा विश्वास है कि उक्त विवेचनात्मक विवरण लिखकर मिश्रबन्धुओं ने इस कवि के सम्बन्ध में केवल अपने तत्सम्बन्धी ज्ञान के अभाव का परिचय दिया है। उचित होता यदि ऐसी विवश अवस्था में, जब इतिहासकार को अपने विषय पर पूरा अधिकार न हो, तो वह केवल अपने पूर्वाधिकारियों का आश्रय लेकर अथवा अपनी अक्षमता को स्पष्टतः प्रकट करता हुआ केवल अपने साधारण ज्ञान का परिचय देता। इसके विपरीत किसी कवि का पूर्णतः ज्ञान न रखते हुए उसके काव्य-गुण-दोष के सम्बन्ध में अपनी आलोचनात्मक सम्मति प्रकट कर देना केवल अनधिकार चेष्टा कही जा सकती है। हमारा तो विचार है कि महाराज

पृथ्वीराज की "वेलि क्रिसन रुकमणी री" ग्रंथ का परिचय रखते हुए भी यदि कोई आलोचक उन्हें साधारण श्रेणी का कवि कहे तो उसकी वह आलोचना यही आशय रखेगी जो आशय ज्योतिर्मय सूर्य को अंधकार-मय कहने से प्रकट होता है।

महाराज पृथ्वीराज उत्कृष्ट श्रेणी के कवि थे। उनकी प्रतिभा सर्वतोमुखी (versatile genius) थी। जिस प्रकार संस्कृत-साहित्य में महाकवि भवभूति ने वीर, शृंगार और करुण, तीनू पृथक् पृथक् रसों और शैलियों में महावीरचरित, मालतीमाधव और उत्तर-रामचरित जैसे उत्तम दृश्य-काव्यों की रचना करके अपनी प्रखर प्रतिभा का परिचय दिया; और जिस प्रकार हिन्दी-साहित्य के वर्त्तमान काल की प्रगतियों के विधायक और आचार्य भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र ने साहित्य के सब अंगों को भरेपूरे करके साहित्य में अमर यश कमाया, उसी प्रकार महाराज पृथ्वीराज ने भी पृथक् पृथक् शैलियों, विषयों और रसों में काव्य-रचना करके राजस्थानी और हिन्दी-साहित्य का मुख उज्ज्वल किया। इस दृष्टि से देखने पर और काव्य-साहित्य की उत्तमता की कसौटी पर कसने पर हम इन कविवर को राजस्थानी के किसी भी कवि से किसी प्रकार न्यून नहीं बल्कि बहुत से काव्य-गुणों में अधिक ही पाते हैं। हमारी निजी यह धारणा है कि राजस्थानी भाषा के काव्य-क्षेत्र में ये कवि-सम्राट् हैं और अपनी बराबरी नहीं रखते।

राजस्थान

वर्तमान काल में चाहे इसकी कितनी ही अधोगति क्यों न हो गई हो, यह राजस्थान देश पूर्वकाल में भारतीय गौरव की अतीत स्मृतियों का ख़ज़ाना रहा है। जिनके हृदय में सच्ची वीरता के उच्च आदर्श के प्रति, सत्य-संकल्प की दृढ़ता के प्रति, अदम्य उत्साह-पूर्ण ओजस्वी जीवन के प्रति और साथ ही सभ्यता-पूर्ण विनम्रता

और सच्चो धार्मिकता के प्रति श्रद्धा और प्रेम है, उनके लिए आज भी यह राजस्थान की पुण्यभूमि तीर्थस्थल है। इसकी वीरता के आदर्श का डंका संसार भर में बज चुका है; इसके राजर्षियों का गुण-गान आज भी संसार मुक्तकंठ से करता है। एक समय था जब इस पवित्रभूमि के गाँव गाँव में स्पार्टा थी, और इसके पर्वतों की घाटी घाटी में थर्मोप्रायली। सच्ची सहृदयता, परमार्थपूर्ण शौर्य्य (chivalry), और सभ्यता के जो भक्त हैं उन यूरोपीय विद्वानों और सहृदयों ने भी इस भूमि के गुणगान किये हैं और इस पुण्य-भूमि के एक ओर से दूसरे छोर तक परिभ्रमण करके, इसके प्रत्येक धूलिकण को मस्तक पर चढ़ाया है—इसका आदर किया है। जब बाहरी जगत् का इस भूमि का यह गर्व है, तो भारतीय जनता के हृदय में तो इसके प्रति निस्सीम भक्तिभाव होना ही चाहिए।

जिस राजस्थान ने वीरता, सत्यव्रतपालन, सभ्याचरण और धार्मिक वृत्ति में भारतीय सभ्यता का सदियों तक झंडा फहराया है, उसके समुज्ज्वल इतिहास में साहित्योन्नति का पृष्ठ कोरा नहीं, वरन् सुवर्णाक्षरों में लिखा हुआ है। जिस देश का इतिहास उज्ज्वल और गौरवपूर्ण घटनाओं से भरा पूरा हो, उसका साहित्य-कोप रिक्त हो, ऐसा होना सम्भव नहीं है। परन्तु खेद तो इस बात का है कि राजस्थान-निवासी जनता की निश्चेष्टता और अज्ञान के कारण इस ओर पिछले कुछ समय से बहुत कम प्रकाश डाला गया है। यह जाग्रति का युग है। प्रबोध और विवेकरूपी सूर्योदय की प्रखर किरणें राजस्थानी सभ्यता, संस्कृति और साहित्य के घने अंधकार-मय जंगल में भी भेदन कर चुकी हैं। आशा की जा सकती है कि न केवल राजनैतिक परिस्थिति की दृष्टि से बल्कि साहित्यिक दृष्टि से भी बहुत शीघ्र, राजस्थान में युगपरिवर्तन होनेवाला है।

राजस्थानी भाषा और साहित्य

'राजस्थानी' यह नाम प्राचीन नहीं आधुनिक है। भाषा-विज्ञान में सुभीते के लिए भाषा-शास्त्रियों ने यह नाम रखा है। इसमें राजपूताने में बोली जानेवाली तमाम बोलियाँ शामिल हैं। राजपूतानी, डिंगल, मारवाड़ी आदि इस भाषा के अन्य नाम हैं। राजस्थान प्रांत का ही दूसरा नाम राजपूताना है, जिससे यह राजपूतानी कहलाती है। राजपूताने का एक बड़ा भाग मरुस्थल होने के कारण मारवाड़ कहलाता है और बोलचाल में यह शब्द तमाम राजपूताने के अर्थ में भी आता है। इस कारण समस्त राजपूताने की भाषा भी मारवाड़ी के नाम से पुकारी जाती है। 'डिंगल' यह अपेक्षाकृत प्राचीन नाम है। जब व्रज-भाषा का आविर्भाव हुआ और उसमें भी कविता होने लगी तो राजस्थानी और व्रज में फ़र्क़ बताने के लिए व्रज को पिंगल और उसके नाम-साम्य पर राजस्थानी को डिंगल कहने लगे। अतः डिंगल का मतलब प्राचीन काल की, या उसके ढंग पर लिखी हुई, साहित्यिक राजस्थानी से है। आजकल की साहित्यिक राजस्थानी को डिंगल नहीं कहेंगे। चारण, भाट वगैरह लोग आजकल भी डिंगल में कविता किया करते हैं। डिंगल का प्रसिद्ध उदाहरण चंद का पृथ्वीराजरासो है। आधुनिक काल में बूँदी के चारण कवि मिसर सूर्यमल ने वंशभास्कर नाम का एक महाकाव्य इसी डिंगल में लिखा है। जन साधारण में डिंगल का आदर कम रहता था परन्तु राजदरबारों में इसे ख़ूब आदर मिलता था। डिंगल-कविता में काव्य-सम्मत विशेष शब्द ही प्रयुक्त किये जाते हैं और छंद के सुभीते के अनुसार तोड़-मरोड़ लिये जाते हैं। इस प्रकार डिंगल प्राचीन राजस्थानी का साहित्यिक रूप है जो बाद में चलकर स्थिर (stereotyped) हो गया। पिछले कई वर्षों से डिंगल बोल-चाल की भाषा से एवं साहित्यिक भाषा से अधिकाधिक दूर पड़ने

लगी है और आजकल तो संस्कृत एवं प्राकृत की भाँति कृत्रिम एवं मृत-भाषा मात्र रह गई है।

यहाँ पर राजस्थानी की उत्पत्ति एवं आरंभ के विषय का कुछ थोड़ा सा उल्लेख कर देना उचित होगा। प्राचीन आर्य्यों की भाषा वैदिक संस्कृत थी। उससे धीरे धीरे संस्कृत निकली। भाषा में परिवर्तन होना एक प्राकृतिक नियम है। धीरे धीरे संस्कृत में भी परिवर्तन होने लगा। यास्क एवं पाणिनि की संस्कृत से कात्यायन की संस्कृत अधिक विकसित जान पड़ती है एवं कात्यायन की संस्कृत से पातंजलि की संस्कृत और भी अधिक विकास कर चुकी थी। इसके अतिरिक्त साधारण लोग शिक्षितों की भाँति भाषा की शुद्धता का विशेष ध्यान नहीं रखते जिससे धीरे धीरे उनका उच्चारण शिष्टों के उच्चारण से दूर पड़ता जाता है। संस्कृत का धीरे धीरे एक दूसरा रूप हो गया जिसे जनसाधारण बोलता था। दोनों भेदों को जुदा जुदा बताने के लिए एक का नाम संस्कृत और दूसरे का प्राकृत पड़ गया। इनका संबंध उस काल में संभवतः वही था जो आजकल हिंदी और उसकी बोलियों का है। पढ़े लिखे लोग हिन्दी बोलते हैं परन्तु जनसाधारण, यद्यपि हिन्दी समझ सकते हैं, अपनी प्रान्तीय बोली ही बोलते हैं। पाली सबसे पुरानी प्राकृत है। बौद्ध-धर्म्म की पुस्तकें इसी पाली भाषा में लिखी गई हैं। अशोक के ज़माने तक जनसाधारण में यही भाषा प्रचलित थी। पाली के बाद प्राकृतों का विकास हुआ। धीरे धीरे प्राकृतों में साहित्य-रचना होने लगी और वे शिष्ट लोगों के बोलने की भाषायें बन गईं। उनका व्याकरण बना और शुद्ध प्रयोगों का ध्यान रखा जाने लगा। पर जन-साधारण की भाषा बदलती गई और प्राकृतें अब उस रूप को पहुँची जो आजकल अपभ्रंश कहलाता है। अपभ्रंशों में भी नागर और आवन्ती अपभ्रंश ने धीरे धीरे साहित्य में पैर दिया और इसमें संदेह नहीं कि उनमें अच्छा

साहित्य वर्तमान था। प्रसिद्ध वैयाकरण हेमचंद्र ने अपभ्रंश के अनेक प्रचलित गीतों का संग्रह अपने प्राकृत व्याकरण में किया है। जब अपभ्रंश भी व्याकरण के नियमों से जकड़ दी गई तो जन-साधारण की भाषा ने विकास करते हुए आधुनिक देशी भाषाओं का रूप धारण किया। राजस्थानी का विकास सबसे पहले नागर एवं आवन्ती अपभ्रंशों से हुआ।

उन दिनों समस्त पश्चिमोत्तर भारत एक विचित्र उथल पुथल की दशा में था। राजपूत लोगों की कार्य्यशीलता वहाँ अचानक जाग उठी। बड़े बड़े साम्राज्य क़ायम हुए। साहित्य-धारा में वीररस की बाढ़ आई। काव्य-सरिता बह चली और राजस्थानी में भी ख़ूब काव्य लिखे गये। इस प्रकार अपने जन्मकाल के थोड़े ही दिनों बाद राजस्थानी एक साहित्यिक भाषा हो गई।

तत्कालीन राजस्थानी का अपभ्रंश से पूरी तरह पिंड नहीं छूटा था और अपभ्रंश मिश्रित साहित्यक राजस्थानी बाद में जाकर डिंगल कहलाने लगी। डिंगल भाषा वीररस के लिए बड़ी उपयुक्त थी। इस-लिये राज-दरबारों में इसे ख़ूब आश्रय मिला। यहाँ तक कि राज-दरबारों में बहुत काल पीछे तक भी, जब कि डिंगल बोल-चाल की भाषा नहीं रह गई और बोधगम्य भी अपेक्षाकृत कम होने लगी थी, इसका दौरदौरा रहा और चारण भाट आदि इस समय भी डिंगल में कविता किया करते हैं। राज्याश्रय न रहने से अब धीरे धीरे यह लुप्त हो रही है। जनसाधारण में तो यह पहले ही बोधगम्य नहीं रह गई थी और फिर आज-कल हिन्दी का प्रचार बढ़ जाने से हम डिंगल की प्राचीन पद्धति (traditions) को भूलते जा रहे हैं जिससे उसका समझना और भी कठिन हो गया है।

भाषा-विज्ञान के अनुसार राजस्थानी संस्कृतोत्पन्न आर्य्य-भाषाओं के वर्ग में आती है। राजस्थानी पश्चिमी हिन्दी का सबसे

बड़ा विभाग है ब्रज एवं गुजराती इसकी सगी बहनें हैं जिनसे यह बहुत मिलती है। डाकृर ग्रिअर्सन ने इसको अन्तरंग शाखा में सम्मिलित किया है पर लिखा है कि बहिरंग भाषाओं का प्रभाव भी इस पर बहुत पड़ा है। डाकृर साहब का उक्त बहिरंग एवं अन्तरंग वर्गीकरण सर्वसम्मत नहीं है। कुछ विद्वान् भाषाओं के संयोगात्मक एवं विच्छेदात्मक (synthetic and analytic) दो भेद करके राजस्थानी को विच्छेदात्मक भाषाओं की श्रेणी में रखते हैं। सच पूछा जाय तो दोनों विभागों में विभेददर्शक विशेषतायें कोई हैं ही नहीं।

राजस्थानी भाषा का जन्म विक्रम की दसवीं शताब्दी के आस-पास हुआ है। उसका विकास-काल तीन कालों में बाँटा जा सकता है—

१—प्राचीन राजस्थानी—विक्रमीय १६ वीं शताब्दी पर्यन्त।

२—माध्यमिक राजस्थानी—विक्रमीय १९ वीं शताब्दी तक।

३—आधुनिक राजस्थानी—वि० १९ वीं शताब्दी से अब तक।

राजपूतों के उत्थान के साथ ही राजस्थानी का विकास प्रारम्भ हुआ। चारण लोगों ने इसकी ख़ूब उन्नति की। इसी समय हिन्दी की दो और शाखायें हाथ पाँव चलाने लगीं। मुसलमानों ने खड़ी बोली को अपनाया और साधु, महात्मा, कृष्णभक्त वैष्णवों ने ब्रज भाषा को। खड़ी बोली तो उस समय विशेष उन्नति नहीं कर सकी, पर कृष्णभक्ति ने ब्रज को शीघ्र ही उन्नति के चरम शिखर पर पहुँचा दिया। राजस्थानी कवियों ने भी ब्रज में लिखना शुरू किया। डिंगल का भी ख़ूब ज़ोर रहा, यद्यपि वह बोलीजानेवाली भाषा से धीरे धीरे दूर पड़ने लग गई थी। इस काल के अन्त में भाषा-विज्ञान की दृष्टि से राजस्थानी में कई एक परिवर्तन हुए जो मुख्यतया वर्ण-सम्बन्धी परिवर्तन थे। इस काल में गुजराती

राजस्थानी से जुदा हुई। माध्यमिक काल में बोलचाल की राजस्थानी ने पर्याप्त उन्नति की। बहुत से गद्य-पद्यात्मक ग्रन्थ इस काल में लिखे गये:—

राजस्थानी भाषा की चार मुख्य शाखायें हैं:—

राजस्थानी की शाखायें

(१) मालवी—यह दक्षिण राजस्थान एवं मालवा प्रान्त की बोली है। इस बोली में साहित्य नहीं के बराबर है।

(२) मेवाती—दक्षिणी हिसार, भिवाणी आदि ज़िलों में बोली जाती है। इसमें साहित्य बिलकुल नहीं लिखा गया है। बांगड़ू की भाँति यह बड़ी कर्णकटु एवं कर्कश भाषा है।

(३) ढूँढाड़ी या जयपुरी—जयपुर, अलवर, हाड़ोती आदि में बोली जाती है। इसमें अच्छा साहित्य है एवं वर्तमान राजस्थानी का गद्य-साहित्य तो सर्वथा इसीमें है।

(४) मारवाड़ी—राजस्थानी की सबसे बड़ी शाखा है। समस्त पश्चिमोत्तर, दक्षिण तथा मध्यराजस्थान में यह बोली जाती है। इसे तो हम standard राजस्थानी कह सकते हैं। इसमें बहुत विस्तृत साहित्य विद्यमान है। इसमें मेवाड़ी, थली आदि अनेक उपशाखायें हैं जो सब साहित्यसम्पन्न हैं। ख़ास मारवाड़ी अर्थात् जोधपुरी बड़ी मधुर तथा उदात्त बोली है।

लिपियाँ—मुख्यतया तीन लिपियों में राजस्थानी लिखी जाती है:—

(१) बाणीका, बाणियावाटी या महाजनी—इसे व्यापारी काम में लाते हैं। इसमें मात्रायें नहीं लगतीं एवं यह (short-hand) सूक्ष्मलिपि का काम देती है।

(२) कामदारी—यह राजकीय दफ़्तरों आदि में प्रयुक्त होती है।

(३) शास्त्री—देवनागरी लिपि का राजस्थानी रूप है। साहित्य में यह प्रयोग की जाती है। आज-कल देवनागरी अक्षर भी ख़ूब प्रचलित हो गये हैं और ज़्यादातर उन्हीं का उपयोग किया जाता है।

राजस्थानी हिन्दी एवं गुजराती के मध्य की भाषा है पर वह हिन्दी की अपेक्षा गुजराती से विशेष सादृश्य रखती है। वाक्य-विन्यास, रचना, संगठन, शब्दावली आदि में गुजराती से बहुत अधिक मिलती है। 'वेलि' में यह मेल बहुतायत से प्रकट होता है। फिर भी राजस्थान में गुजराती की अपेक्षा हिन्दी अधिक समझी जाती है। कारण यह है कि राजस्थान का दिल्ली से प्राचीन काल से सम्बन्ध रहा है और इसके अलावा कुछ वर्ष पहले तक यहाँ की अधिकांश रियासतों की राजभाषा फ़ारसी थी। इस समय भी राजस्थान की रियासतों में राजभाषा उर्दू या हिन्दी ही है।

राजस्थानी का साहित्य

राजस्थानी का साहित्य बहुत प्राचीन है और साथ ही साथ विस्तृत भी है। आरम्भ में राजस्थानी का राजपूत राजाओं से घनिष्ठ सम्बन्ध रहा और वह उनके यहाँ पली तथा फली-फूली। जब भारत की अन्य देश-भाषायें अभी गर्भ में ही थीं, राजस्थानी में एक फलता-फूलता साहित्य विद्यमान था। केवल वीर-काव्य ही नहीं छोटे छोटे गीत यानी lyrics भी वर्तमान थे। गीत-साहित्य (ballad literature) राजस्थानी को अपभ्रंश से बपौती के रूप में मिला था। ये गीत बड़े लोक-प्रिय होते हैं और साधारण जनता के हृदयों को आकर्षण करने की बड़ी शक्ति रखते हैं।

राजस्थानी कविता हमेशा जनप्रचलित रही है। वह पढ़े जाने के लिए नहीं, गाये जाने के लिए लिखी जाती थी। अनेकों कवितायें

जनसाधारण की जबान पर रहती थीं और प्राय. उन्हीं के जीवन-व्यापारो से सम्बन्ध रखती थीं। वीररसात्मक कवितायें प्रायः राजा आदि से सम्बन्ध रखती थीं, जो जनसाधारण के सर्व-प्रिय वीर (heroes) हुआ करते थे। ऐसी कविताओ से राजस्थान का प्रत्येक घर परिचित रहता था। लोग पढ़े-लिखे नहीं होते थे, तो भी वे इनके सुनने, याद करने एव गाने के बड़े प्रेमी हुआ करते थे।

पद्य-साहित्य ही नहा, गद्य-साहित्य भी राजस्थानी मे आरम्भ से लिखा जाता रहा है। माध्यमिक काल में तो गद्य ने बड़ी भारी उन्नति की। यहाँ तक कि हिन्दी के प्राचीनतम गद्य के उदाहरण राजस्थानी के ही हैं। प्रत्येक रियासत अपनी ख्यात बराबर लिखाती रहती थी और ये ख्यातें गद्य में हुआ करती थीं। प्रत्येक बात का विस्तृत वर्णन उनमें रहता था। राजस्थानी की एक प्रसिद्ध ख्यात मूता नैणसी नाम के एक व्यक्ति की लिखी हुई है। इसमे समस्त राजस्थान का इतिहास दिया गया है। राजस्थानी की ये ख्यातें मध्यकालीन भारतवर्ष के इतिहास के लिखने में अमूल्य सहायता देंगी और अनेक अन्धकाराच्छन्न बातो पर प्रकाश डालेंगी, इसमे कोई शक नहीं है। इनके अलावा राजस्थान का कथा-साहित्य भी बहुत विस्तृत है। हज़ारों कहानियों की पुस्तकें राजस्थानी में पाई जायँगी जो बृहत्कथासग्रह की कहानियो से किसी क़दर कम रोचक न होगी।

राजस्थानी का एक बहुत बड़ा महाकाव्य पृथ्वीराजरासो है। यह महाकवि चन्द का बनाया हुआ है। परन्तु बाद मे इसमे बहुत कुछ घटाया बढ़ाया गया है। यह महाकाव्य हिन्दी-साहित्य मे अद्वितीय है। विक्रम की सत्रहवीं सदी में बीकानेर के महाराज पृथ्वीराज ने राजस्थानी में एक अमर काव्य लिख कर श्रीकृष्ण का

यशोगान किया। इसका नाम "वेलि क्रिसन रुकमणी रा" है। डिंगल राजस्थानी में एक महाकाव्य कुछ वर्षों पूर्व बूँदी के चारण मिसर सूर्यमल ने लिखा है जिसका नाम वंश-भास्कर है।

अब हम डिंगल को छोड़ कर बोलचाल की राजस्थानी की तरफ़ आते हैं। इसमें अनेकों गीत समय समय पर बने और बहुत से नष्ट हो गये पर यदि इस समय भी उनका संग्रह किया जाय तो कई जिल्दें भर जायँ। राजस्थानी का सन्त साहित्य भी बड़ा विस्तृत है। महात्मा रैदास, मीराबाई, दादूदयाल, बाबा दयालजी, हरिदास, चन्द्रसखी आदि अनेकों सन्त कवियों ने राजस्थानी में अमर कविता की है। आज इनकी कविता का घर घर प्रचार है। महात्मा कबीर, सूर, तुलसी, नानक आदि के पद भी अनूदित होकर राजस्थानी साहित्य के अंग बन गये हैं। इन सबमे अमर कवयित्री मीरा का नाम विशेष उल्लेखनीय है। इन्होंने राजस्थानी, व्रज एवं गुजराती तीनों भाषाओं में बड़ी ही सुमधुर कविता की है। राजस्थान के घर घर में इनकी कविता सुबह शाम गाई जाती है। स्त्रियों में इसका विशेष रूप से प्रचार है। चन्द्रसखी एवं बखतावर नाम के दो बड़े ही भावुक कवि इसी ज़माने में हुए। चन्द्रसखी ने शिशु व बाल्यजीवन को चित्रित करने में कमाल किया है। सूरदास ने बालक-जीवन को चित्रित किया है, तो इन्होंने बालिका-जीवन को। छोटी बालिका के मनोभावों को वर्णन करने में इन्हें बड़ी सफलता मिली है।

इस काल के दो और प्रसिद्ध काव्यों का उल्लेख करना अत्यावश्यक है। पद्मभक्त नाम के कवि ने रुक्मिणी-मंगल नाम का एक बड़ा महाकाव्य बनाया जिसमे रुक्मिणीहरण का वर्णन है। इसकी शैली बड़ी सरल और सुन्दर है। सभी वर्णन सजीव हैं। साधारण जन-समाज में आज भी इसका बहुत प्रचार है और

जनता रात्रि को इकट्ठी होकर इसकी पवित्र कथा का आस्वादन करती है। दूसरा काव्य एक लकड़हारे का बनाया हुआ है। इसका नाम है 'नरसी रो माहेरो'। रुक्मिणी-मंगल की भाँति इसका भी ख़ूब प्रचार है और लोग रात को इकट्ठे होकर इसको सुनते और प्रसन्नता लाभ करते हैं। इसी ज़माने में राजिया, भैरिया, किशनिया, बाँजरा, नाथिया, जेठवा, नागजी आदि के दोहे बने, जिनका राजस्थान मे ख़ूब प्रचार है।

राजस्थान के समस्त राजा एवं रानियाँ कविता से बड़ा भारी प्रेम रखते आये हैं और बहुतों ने स्वयं कविता भी की है। महाराणी मीराबाई का नाम ऊपर आ चुका है।

अब हम आधुनिक राजस्थानी की ओर आते हैं। राजस्थानी का वर्तमान साहित्य बड़ी ही हीनावस्था में है। हिन्दी-प्रचार के कारण राजस्थानी को लोग बिलकुल भूल गये हैं। इस समय के सबसे बड़े लेखक श्रीयुत शिवचन्द्र भरतिया हैं। आपने राजस्थानी गद्य-पद्य में अनेक उपयोगी एवं अच्छी पुस्तकें लिखी हैं। आपने राजस्थानी में नाटक का सूत्रपात किया और आधुनिक भावों को साहित्य में भरने का ख़ूब प्रयत्न किया।

इसके अतिरिक्त राजस्थानी मे इस काल में और भी कई लेखक हुए एवं हैं जो चुपचाप अपना कार्य कर रहे हैं। इनमें क्रोड़ीमल *मालू तथा पंचराज सम्पादक श्रीकलंत्रीजी* के नाम विशेषरूप से उल्लेखनीय हैं। राजस्थानी में कई पत्र भी निकले थे पर दुर्भाग्यवश कोई चल न सका। 'पंचराज' का स्थान इन सबमे अच्छा है।

राजस्थान के इतिहास-साहित्य में खोज करने और प्रामाणिक इतिहास लिखने में रायबहादुर श्रीगौरीशंकर हीराचंद ओझा, तथा श्री विश्वेश्वरनाथ रेऊ का नाम विशेष उल्लेखनीय है। इन्होंने

राजस्थान-साहित्य की महत्त्वपूर्ण सेवा की है। जोधपुरनिवासी श्री रामकरणजी की सेवायें भी सराहनीय हैं। बीकानेर में 'प्रेमाश्रम' साहित्य-संस्था के अन्तर्गत राजस्थानी विद्वानों की एक मंडली पिछले कई वर्षों से राजस्थानी साहित्य का पुनरुद्धार करने के लिए पर्याप्त परिश्रम कर रही है। आशा की जाती है, इनके परिश्रम के फल से राजस्थानी का साहित्य-भंडार सुसज्जित होगा।

चरित्रनायक का चरित्र

महाराज पृथ्वीराजजी का जन्म मिती मार्गशीर्ष कृष्णा १ संवत् १६०६ को हुआ। ये महाराज रायसिंहजी बीकानेर-नरेश के छोटे भाई तथा राव कल्याणमलजी के पुत्र थे। ये बालपन से ही विद्याव्यसनी, शूरवीर एवं धर्मनिष्ठ थे। इनके वैयक्तिक चरित्र के विषय में विवेचन करते हुए हमें अँगरेज़ कवि शेक्सपियर के वैयक्तिक चरित्रोन्नति के आदर्श का स्मरण होता है। महाराज पृथ्वीराज के लक्षणों और जीवनचरित्र को दृष्टिगत करते हुए हम हैमलेट की भाँति उन्हें "courtier, soldier and scholar" इस गुणवाचक समस्त पद से निस्संकोच विभूषित कर सकते हैं। उनके अद्वितीय शूरवीर और स्वाभिमानी होने में किसी को भी सन्देह नहीं हो सकता। जो व्यक्ति समस्त भारत की शक्तियों को नतमस्तक करनेवाले मुग़ल साम्राज्य की शक्ति के अधिकृत रहते हुए भी अपनी और अपने देश की स्वतन्त्रता की कल्पना कर सके उसके शौर्य के आदर्श में किसी प्रकार का सन्देह नहीं हो सकता। महाराज पृथ्वीराज उच्च कोटि के विद्वान् थे, इस बात का प्रमाण उनकी कविता के गंभीर भावों से मिलता है। उनकी "वेलि" की सविस्तर समीक्षा करते हुए हम आगे चलकर बतावेंगे कि उन्हें संस्कृत-साहित्य और काव्य, भारतीय दर्शनशास्त्र, ज्योतिष्, छंद,

संगीतशास्त्र, कला इत्यादि अनेक भारतीय शास्त्रों का अच्छा ज्ञान था। वे उत्कृष्ट भक्तों की श्रेणी में गिने जाते थे। नाभाजी की भक्तमाल में इनके भक्ति-पूर्ण काव्य के विषय में लिखा है—

सवैया, गीत, श्लोक वेलि दोहा गुण नवरस।
पिंगल काव्यप्रमाण विविध विध गायो हरिजस॥

परि दुख विदुष सश्लाघ्य वचन रसना जु उचारै।
अर्थ विचित्रन मोल सबै सागर उद्धारै॥

रुक्मिणी लता वर्णन अनुप वागीश वदन कल्याण सुव।
नरदेव उभय भाषा निपुण प्रथीराज कविराज हुव॥

इसी प्रकार कर्नल टाड ने इनके व्यक्तित्व के विषय में लिखा है :—

"Prithiraj was one of the most gallant chieftains of the age and like the Troubadour princes of the West, could grace a cause with the soul-inspiring effusion of the Muse, as well as aid it with his sword—in nay, the assembly of the Bards of Rajasthan the palm of merit was unanimously awarded to the Rathore Cavalier."

अर्थात् पृथ्वीराज अपने समय के क्षत्रियों में एक श्रेष्ठ वीर थे। वे पाश्चात्य ट्रूबेडार वीर कवियों की तरह, अपनी ओजस्विनी कविता से मनुष्यों के हृदय को स्फूर्त्त और प्रोत्साहित कर सकते थे तथा आवश्यकता पड़ने पर हाथ में तलवार लेकर उत्साह और उत्तेजनापूर्वक रणक्षेत्र में डट सकते थे। बहुत कहना व्यर्थ है।

राजस्थान के भट्टकवियों के समुदाय में काव्यगुणोत्कर्ष के सर्वोच्च पुरस्कार के भागी उस समय के कवियों-द्वारा, यही राठौर वीर श्रेष्ठ समझे जाते थे।

इनकी उत्साह-प्रदायिनी, ओजस्विनी और बलवती कविता की तुलनात्मक आलोचना करते हुए कर्नल टॉड उसमें दस सहस्र घोड़ों का बल बताते हैं। कर्नल टॉड के इस वाक्य को प्रमाणित करने के लिए साहित्य-प्रेमियों को "वेलि" ग्रन्थान्तर्गत ११३-१३७ छन्दों के भावों की उत्तेजक शक्ति एवं ओजगुण गौरव को अथवा उनके द्वारा लिखे प्रताप के प्रति पत्र के दोहों को देखना चाहिए।

प्रसिद्ध टीकाकार तथा गवेषक डाक्टर एल० पी० टैसीटरी ने महाराज पृथ्वीराज के काव्यगुणोत्कर्ष का विवेचन करते हुए उनको "Horace in Dingal' डिंगलकाव्य के होरेस कवि के सदृश कहा है। काव्य में उत्साह, अदम्य, ओजगुण और स्फूर्ति-प्रवाह के लिए लैटिन में होरेस कवि प्रख्यात हैं।

महाराज पृथ्वीराज के व्यक्तित्व का पूर्णरूपेण निदर्शन करना हमारे लिए कठिन कार्य है। हम यहाँ पर उनके व्यक्तित्व की विलक्षण समष्टि में प्रधान रूप से विद्यमान कई एक विशेष गुणों का विवेचन करेंगे। उनकी चरित्र-गाथाओं को दृष्टिगत रखते हुए हमारे दृष्टिकोण में सर्व-प्रथम (१) उनका अदम्य, स्वाभिमानपूर्ण स्वदेश-प्रेम, (२) स्वतन्त्रता के भावों से परिपूर्ण उनकी आदर्श-वीरता, (३) ईश्वर के प्रति उनकी अटल और अनन्य भक्ति, (४) गंभीर विद्वत्ता, (५) सांसारिक प्रेम के आडम्बर से घिरे रहते हुए भी उच्च, आदर्श-प्रेम के प्रति श्रद्धा तथा उस आदर्श प्रेम से प्रेरित उच्च श्रेणी की काव्यमयी भावनायें—ये गुण आते हैं। हम संक्षेप में इन गुणों का कुछ विवरण "वेलि" के पाठकों के सामने रखते हैं।

इतिहास से पता लगता है कि महाराज पृथ्वीराज अकबर बादशाह के बड़े कृपापात्र थे और सदा उन्हीं के पास रहा करते थे। परन्तु अकबरनामे में इनका नाम केवल दो तीन वार से ज्यादा नहीं आया है। इससे तथा अन्य कई एक कारणों से प्रकट होता है कि उस कुटिल नीतिज्ञ बादशाह का इनको कृपापात्र बनाना केवल एक राजनीतिक बहाना था। हृदय में तो वह इन जैसे स्वाभिमानी, स्वतन्त्रता प्रिय वीर क्षत्रिय से अवश्य डरता रहा होगा। यही कारण हो सकता है कि या तो वह इनको सर्वदा अपने पास रखता था अथवा बड़ी बड़ी लड़ाइयों में नियुक्त किये रखता था। भला, ऐसे स्वाभिमानी, स्वदेश-प्रेमी क्षत्रिय का यदि अवकाश और स्वच्छन्दता मिल जाय तो एक के बदले दो प्रताप मुग़ल-साम्राज्य का ध्वंस करने को न तैयार हो जायँ। जब बादशाह ने स० १६३८ में अपने विद्रोही भाई मिरज़ा हकीम से लड़ने के लिए काबुल पर धावा किया उस समय पृथ्वीराज सेना के अग्रभाग में विद्यमान थे। इस युद्ध में विशेष शूर-वीरता का परिचय देने के लिए पुरस्कारस्वरूप इनको पूर्वीय राजस्थान में गागराना प्रान्त की जागीर प्रदान की गई थी। इसके पश्चात् सं० १६५३ में अहमदनगर की लड़ाई में भी ये सेना के प्रधान पद पर नियुक्त होकर गये थे। ये तो सब मुग़ल-इतिहास के उदाहरण हैं। हमारी समझ में पृथ्वीराज की वीरता को ये दृष्टान्त इतना ज्वलन्त रूप से प्रमाणित नहीं करते जितना कि उनकी प्रताप के प्रति लिखी हुई प्रसिद्ध पत्रिका के भाव, जो हम पाठकों के अनुशीलनार्थ संक्षेपत: नीचे उद्धृत करते हैं:—

स्वदेश-प्रेम और वीरता

"इस बात को सुनकर कि महाराणा प्रतापसिंह जैसे अटल स्वाभिमानी, धर्मव्रत, स्वदेशभक्त क्षत्रिय ने अत्यन्त दुखित होकर अकबर

जैसे महाशक्तिशाली कूटनीतिज्ञ सम्राट के प्रति असामर्थ्य और दीनावस्था को प्रकट करते हुए सन्धि पत्र प्रेषित करने का विचार किया है, पृथ्वीराज को विश्वास न हुआ। अपने अविश्वास को उन्होंने अकबर के समक्ष प्रकट किया और परिणामत: बादशाह से इस विषय में सत्यासत्य निर्णय करने की आज्ञा प्राप्त की और यह अपूर्व उत्साहित और ओजस्वी पत्र लिखा:—

धर वाँकी दिन पाधरा, मरद न मूकै माण।
घणां नरिन्दा घेरियो, रहे गिरंदा राण ॥ १ ॥

माई एहड़ा पूत जण, जेहड़ा राण प्रताप।
अकबर सूतो ओझकै, जाण सिराणैं साँप ॥ २ ॥

अकबर समद अथाह, सूरापण भरियो सजल।
मेवाड़ो तिण माँह, पोयण फूल प्रतापसी ॥ ३ ॥

अकबर एकण वार, दागल की सारी दुनी।
अणदागल असवार, रहियो राण प्रतापसी ॥ ४ ॥

अकबर घोर अँधार, ऊँघाणा हिन्दू अवर।
जागै जगदाधार, पोहरै राण प्रतापसी ॥ ५ ॥

हिन्दूपति परताप, पत राखौ हिन्दुवाण री।
सहे विपति सन्ताप, सत्य शपथ करि आपणी ॥ ६ ॥

चौथौ चीतोड़ाह, बाँटो वाजन्तीतणू।
दीसै मेवाड़ाह, तो सिर राण प्रतापसी ॥ ७ ॥

चम्पो चीतोड़ाह, पौरप तणो प्रतापसी।
सौरभ अकबरशाह अड़ियल आभिड़िया नहीं ॥ ८ ॥

पातल खाग प्रमाण, साँची सांगाहरतणी ।
रही सदा लग राण, अकबरसूँ ऊभी अणी ॥ ९ ॥
अइरे अकबरिया, तेज तिहालो तुरकड़ा ।
नम नम नीसरिया, राण बिना सह राजवी ॥ १० ॥
सह गावड़िये साथ, एकण बाड़े वाड़िया ।
राण न मानी नाथ, ताँडे साँड प्रतापसी ॥ ११ ॥
पातल जो पतशाह, बोलै मुख हूँता वयण ।
सिहर पछमदिश माँह, ऊगै कासपरावसुत ॥ १२ ॥
पटकूँ मूछां पाण, कै पटकूँ निज तन करां ।
दीजे लिख दीवाण, इण दो महली बात इक ॥ १३ ॥

इस पत्र का प्रभाव प्रताप के हृदय पर इतना गम्भीर हुआ कि उन्होंने तत्त्वण अपने संकल्प को पलट दिया और यह उत्तर लिख कर पृथ्वीराज को भेज दिया:—

तुरक कहासी मुख पतो, इण तन सूँ इकलिङ्ग ।
ऊगै जाँही ऊगसी, प्राची बीच पतङ्ग ॥ १ ॥
खुशी हूँत पीथल कमध, पटको मूछाँ पाण ।
पछटण है जेतै पतो, कमला सिर केवाण ॥ २ ॥
साँग मूँड सहसी सको, सम जस जहर सवाद ।
भड़ पीथल जीतो भलां, वैण तुरक सूँ बाद ॥ ३ ॥

समय बड़ी क्रूर शक्ति है, जो किसी का आधिपत्य नहीं स्वीकार करती । हमें विश्वास है, यदि पृथ्वीराज को उसी परिस्थिति की स्वतंत्रता का अनुभव करने का मौका होता, जैसा कि प्रताप को उस समय था, तो वे अवश्य अपनी सहज, क्षत्रियोचित सच्ची वीरता का परिचय देते और भारतीय स्वतन्त्रता के संग्राम के इतिहास में सदा

के लिए महाराणा की तरह एक समुज्ज्वल उदाहरण छोड़ जाते। महाराज पृथ्वीराज जैसे वीर थे वैसे ही वीर क्षत्राणी उनकी धर्म-पत्नी थी। एक कथा प्रचलित है कि अकबर बादशाह के राज्य में, वर्ष में एक बार, राजधानी में नौरोज़ नाम का बीभत्स मेला हुआ करता था। साम्राज्य की राजनैतिक परिस्थिति को जानने के लिए यह मेला एक साधन-मात्र कहा जा सकता है। इस मेले में सब प्रकार के यात्री और साम्राज्य के लोग एकत्रित होते थे और उनकी बातचीत, हलचल, ढंग विचारों आदि का गुप्त रूप से निरीक्षण कर बादशाह राज्य की सच्ची परिस्थिति जानने की चेष्टा किया करता था। इसी मेले के अन्तर्गत एक महिलाओं का मेला भी होता था जिसमें बड़े बड़े हिन्दू घरानों, राजा, रईसों, और उमराओं की स्त्रियाँ राजाज्ञा द्वारा सम्मिलित होती थीं। बादशाह गुप्त-वेश में मेले में जाता था और अपनी रूप-सौन्दर्य्य देखने की वासना को तृप्त किया करता था। महाराज पृथ्वीराज की पत्नी अत्यन्त सुंदरी थी। बादशाह ने उसे कुदृष्टि से देखा। तदुपरान्त पापाचार का एकान्त में प्रस्ताव करने पर बादशाह की जो दशा उस वीर क्षत्राणी ने की थी वह सब को विदित है। बीकानेर की ख्यात में लिखा है कि इस समय रानी के धर्म को बचाने के लिए राजबाई नामक चारण-कन्या सहायता के लिए उप-स्थित हुई थी जो स्वयं दैविक शक्ति रखती थी और जिसने महाराज पृथ्वीराज की सौजन्य और वीरता पर प्रसन्न होकर दुःख पड़ने पर उनको सहायता देने का वरदान दिया था।

भक्ति

महाराज पृथ्वीराज एक उच्च कोटि के वैष्णव भक्त थे। इनका नाम भक्तमाल में श्रेष्ठ भक्तों की गणना में आता है। भारतवर्ष के तत्कालीन इतिहास से पता लगता है कि उस समय वैष्णवसम्प्रदाय के विभिन्न मतों के गुरुओं ने भक्ति-गाथा का चक्र चलाकर मुग़ल-

साम्राज्य-रूपी कराल काल के गाल में कवलित होते हुए हिन्दू-धर्म को बचाने तथा उसके संगठन एवं एकीकरण में जो प्रयास किया वह समस्त भारत के छिन्न-भिन्न वीरात्माओं की शस्त्र-शक्ति-द्वारा स्वतंत्र होने के प्रयास से कहीं ज्यादा उपादेय तथा देशहित संरक्षक सिद्ध हुआ। आरम्भ ही से इस भक्ति-स्रोत की प्रबल धारा ने समस्त उत्तरी भारत को व्याप्त कर लिया। पूर्व में मैथिल भक्त कवि विद्यापति ठाकुर, पश्चिम की ओर राजस्थान मे मीराबाई तथा गुजरात मे प्रसिद्ध भक्त कवि नरसी मेहता ने कृष्ण-भक्ति के संदेश को सुनाकर जनता के हृदय मे आस्तिकता, धर्माभिमान और आत्मबल का गौरव उत्पादित कर दिया था। इस भक्ति की निर्मल धारा ने न केवल जड़-प्राय धर्म में नूतन शक्ति और स्फूर्ति का संचार किया और ब्राह्मणों के सत्वहीन धर्म के ढोंग को हटा कर भक्ति की निर्मल शक्ति से हिन्दू-धर्म को जीवनमय किया परन्तु साथ ही अपने भक्तिमय हृदय के उद्‌गारों का विशेषतः हिन्दी-भाषा में प्रकट कर इस भक्ति-प्रवाह के नेताओं ने हिन्दी-साहित्य के स्थायी कोष को अखण्ड सम्पत्ति से समायुक्त कर दिया। बहुत शीघ्र इस भक्ति-स्रोत की तीन प्रमुख शाखायें उत्तर भारत में विस्तृत हो गईं। पन्द्रहवीं शताब्दी के मध्य के लगभग गुरु रामानन्दजी ने मर्यादापुरुषोत्तम रामचन्द्रजी की भक्ति-गाथा को गाकर भारतीय जीवन में नवीन जाग्रति का बीज-वपन कर दिया था। हिन्दी के परम सौभाग्य से इन गुरुवर तथा इनके शिष्यों ने अपने भक्तिपूर्ण उद्‌गार मुख्यतः हिन्दी-भाषा में ही प्रकट किये। आगे चल कर, तुलसीदासादि भक्त कवि इन्हीं के सम्प्रदाय में हुए। भक्ति की दूसरी शाखा कृष्णभक्ति के रूप में प्रकट हुई। इस ओर महात्मा वल्लभाचार्य्य ने सन् १४७९ के लगभग कृष्ण-भक्ति का प्रचार किया। यद्यपि वल्लभाचार्य्यजी ने अपने उत्तम ग्रन्थ संस्कृत-भाषा में रचे परन्तु उनके शिष्यों में प्रायः सभी ने हिन्दी में

भक्ति-रस की बड़ी उच्च श्रेणी की काव्य-रचना की। इनके पुत्र विट्ठलनाथजी ने अपने पिता के भक्ति-संदेश का खूब प्रचार किया और हिन्दी कवियों और भक्तों की 'अष्टछाप' बनाई जो हिन्दी के भक्तिकाव्यसाहित्य में लब्धप्रतिष्ठ है और जिनके नाम ये हैं:—सूरदास, कृष्णदास, पयाहारी, परमानन्ददास, कुंभनदास, चतुर्भुजदास, चितस्वामी, नन्ददास, और गोविन्ददास। इन्हीं कृष्ण-भक्तों की श्रेणी में महाराज पृथ्वीराज भी हैं। धार्मिक स्रोत की तीसरी शाखा अद्वैतवादी कवियों और दार्शनिकों के मत के रूप में प्रकट हुई। इस शाखा के प्रधान कवि कबीर प्रसिद्ध हुए जिन्होंने किसी एक धार्मिक मत के बन्धन में न रह कर सब धर्मों के श्रेष्ठ तत्त्वों को आदर की दृष्टि से देखने का मत प्रचार किया। इस मत के कवियों और प्रचारकों ने सोई हुई हिन्दू-जाति में जातीयता और आत्माभिमान का भाव उत्पन्न किया। इसी के फलस्वरूप गुरु नानक की अध्यक्षता में सिक्ख-धर्म का उत्थान हुआ, जिसने बढ़ते हुए मुसलमान धर्म के आक्रमणकारी प्रवाह को रोक दिया और कुछ समय के लिए हिन्दू जातीयता की रक्षा की। भक्ति के इस अनर्गल प्रवाह में लवलीन भारत ने कुछ समय के लिए पराधीनता के दुःख को भुला दिया और खूब जी खोल कर स्वच्छन्द भक्ति का संगीत गान किया। इस प्रबल प्रवाह की शक्ति के आगे मुग़ल-साम्राज्य को भी सिर झुकाना पड़ा। मुग़ल-साम्राज्य में हिन्दी का आदर होने लगा। इस काल के बहुत से मुसलमान कवि हिन्दी में अच्छी कविता करने लगे और कई एक तो इस भक्ति-प्रवाह में इतने गहरे डूबे कि कृष्ण और राम के भक्त ही हो गये—यथा रहीम।

इस समुज्ज्वल भक्तिरस-पूर्ण समय में भक्तश्रेष्ठ महाराज पृथ्वीराज ने "वेलि किसन रुकमणि री" नामक ग्रन्थ रचकर भगवान् कृष्ण के

प्रति अपनी अनन्य भक्ति प्रदर्शित की। ये किस प्रकार के भक्त थे इस बात के प्रमाण में हम कई एक उदाहरण देंगे।

चरमसीमा की विलासप्रियता तथा उच्च कोटि की भयानक, विस्मयोत्पादिनी वीरता—ये दो गुण स्वभावत: ही विरुद्धधर्मी होने के कारण एकत्र स्थायी नहीं पाये जाते। राजपूत राजाओं में भी विरले ही ऐसे होंगे जिनमें ये दोनों गुण एकत्र और समरूप में पाये जाते हों। परन्तु महाराज पृथ्वीराज की जीवनी को ध्यानपूर्वक देखने से ये दोनों गुण अपने विरोध दोषों को छोड़ कर एकत्र हो गये प्रतीत होते हैं। यही नहीं इन गुणों के साथ ही उनमें विद्यानुराग भी उत्कृष्ट श्रेणी का था जो प्राय: विलासिता का विरुद्धधर्मी होता है। एक राजपूत नरेश के पुत्र होने के कारण वे स्वभाव से ही विलासिता के आवरण में पले हुए थे। परन्तु विलासिता ने उनके संस्कारों को बिगाड़ा नहीं, प्रत्युत उनके हृदय में सांसारिक प्रेम और सौन्दर्य के प्रति वह अनुराग का अंकुर जमा दिया जो ज्ञान और विवेक के प्रकाश में प्रस्फुटित होकर अन्त में विशुद्ध कृष्ण-भक्ति के प्रफुल्ल पादप के रूप में प्रकट हुआ। शृंगार काव्य-रचना में अद्भुत सफलता प्राप्त करने का मुख्य कारण उनकी यह सांसारिक सौन्दर्य और प्रेम की उपासना और अनुभव ही है, जिसका अनुशीलन इस जीवन में उन्होंने अपर्याप्त परिमाण में किया था। उनकी अनन्य भक्ति की विशुद्धता का यही प्रमाण है कि उन्होंने जीवनकाल में अपने इष्टदेव भगवान कृष्ण का सायुज्य साक्षात्कार प्राप्त किया। वे एक उत्कृष्ट रहस्यवादी और द्रष्टा भी प्रसिद्ध थे, जिसके कई उदाहरण राजस्थान की जनता में किंवदन्ती के रूप में प्रचलित हैं और जिनमें से कुछ का आगे चलकर हम उल्लेख करेंगे। महाराज पृथ्वीराज की भक्ति के विषय में हमको यह बात विशेषत: याद रखनी चाहिए कि ये केवल एक भक्त, उच्चात्मा अथवा कवि ही नहीं थे वरन्

अपने सहज क्षात्रधर्म को पूर्णरूपेण निबाहनेवाले कर्मयोगी, राजर्षि भी थे। यह कहना अत्युक्ति न होगा कि महाराज पृथ्वीराज ने अपने इष्टदेव के गीतानुमत त्रिविध योगमार्ग के किसी एकाङ्गी उपदेश को ग्रहण नहीं किया वरन् मोक्ष के साधनभूत तीनों मार्गों का सिद्धान्त रूप में एकत्रीकरण करके, योग-शक्ति-द्वारा संसार को भोगते हुए कर्मयोग, ज्ञानयोग एवं भक्तियोग का अपने व्यक्तित्व में अविच्छिन्न समावेश किया और अपने इष्टदेव से सायुज्य प्राप्त करते हुए जीवन-मुक्ति का लाभ किया। उन्होंने गीता के उपदेश का जीता जागता ज्वलन्त उदाहरण प्रदर्शित किया। उनके कर्मयोग के विषय में डा० टैसीटरी लिखते हैं :—

"He was an admirer of courage and unbending dignity and a sworn enemy of degradation and cringing servility. With the same frankness with which he could compose a song in praise of an act of gallantry or of determination performed by a friend or a foe, he would condemn in verses his own brother, the Raja of Bikaner, or even the all-powerful Akbar, for any act of weakness or of injustice committed by them."

अर्थात् "ये महाराज पराक्रम और अदम्य स्वाभिमान को श्रद्धा और सम्मान की दृष्टि से देखते थे और दीनता, गुलामी और चारित्रिक पतन के पक्के वैरी थे। जिस स्वाभाविक उदारता के साथ ये किसी शत्रु अथवा मित्र की, उसकी वीरता अथवा कठोर प्रतिज्ञा को पूर्ण करने की शक्ति के लिए कवितावद्ध प्रशंसा कर सकते थे, उसी स्पष्टता एवं उदारता के साथ वे कविता में अपने भाई बीकानेर के राजा—यही नहीं—सर्व-शक्ति-सम्पन्न सम्राट् अकबर तक की भी,

उनके किसी अत्याचार अथवा निकृष्ट कार्य के लिए निन्दा कर सकते थे।"

इस विषय में, आत्मगौरव को सदा के लिए तिलाञ्जलि देने के लिए विवश महाराणा प्रताप के प्रति जो पत्र लिखा गया था, उसके निर्भीक, शक्तिशाली छंदों को एक बार पुनः पढ़कर पाठक स्वयं निर्णय कर लें कि स्वाभिमानी और निर्भीक महाराज पृथ्वीराज को अपने देश और जाति की स्वतंत्रता और मानरक्षा का कितना ख़याल था और यदि वांछित स्वतंत्रता प्राप्त होती तो उन ओजस्वी शब्दों को, अपनी स्वार्थहानि की परवा न करके लिखनेवाला कर्मयोगी कहाँ तक चरितार्थ कर दिखाता।

इनकी भक्ति के दृष्टान्तों में से हम यहाँ एक प्रचलित किंवदन्ती उद्धृत करते हैं। महाराज को तीर्थाटन करने में बड़ी श्रद्धा थी। जब ये 'वेलि' को लिख कर समाप्त कर चुके तो यह विचार हुआ कि इस "पत्रं पुष्पं फलं तोयं" स्वरूप भेंट को ले चलकर श्रीद्वारिकानाथ कृष्णचन्द्र भगवान् के चरणारविंद में प्रस्तुत की जाय। अतएव वे रनवास-सहित नौकर-चाकरों को साथ लेकर द्वारिका की ओर विदा हुए। उन दिनों रेलगाड़ी अथवा आजकल के शीघ्रगामी वायुयान यात्रा के लिए उपलब्ध न थे। स्थान स्थान पर विश्राम करते और डेरा डालते हुए चले। एक दिन सन्ध्या-समय महाराज ने एक वन के प्रान्त भाग पर खेमा डाला। थोड़ी ही देर बाद एक व्यापारी वैश्य ने, जो उसी दिशा को व्यापार के निमित्त यात्रा कर रहा था, वहीं आकर महाराज के खेमे के पास ही उनकी आज्ञा से तम्बू लगाया। भोजनादि से निवृत्त होकर महाराज विहार और प्रकृति-निरीक्षण के निमित्त खेमे के नज़दीक ही घूमने निकले। उसी समय वैश्य ने बाहर आकर महाराज का अभिवादन कर बातचीत प्रारम्भ की। थोड़ी ही देर की बातचीत के अनन्तर दोनों मित्र हो गये। तदनन्तर महाराज

वापिस अपने खेमे में और वैश्य अपने तम्बू में चले गये। महाराज को रात्रि में देर से नींद लगने का स्वभाव था। उन्होंने यह सोचा कि यह वैश्य सज्जन मालूम होता है, हरिभक्त भी है; चलें, उसी के यहाँ चल कर "वेलि" की गाथा सुनावें और कुछ समय पवित्र हरिकीर्तन में वितावें। यह सोच कर वैश्य के तम्बू में पहुँचे। अर्धरात्रि का समय हो गया था। अकस्मात् स्वयं महाराज को अपने निवासस्थान में आये देखकर वैश्य और उसकी स्त्री को विस्मय हुआ और उन्होंने अपना धन्य भाग्य समझा। वैश्य ने महाराज से "वेलि" सुनने की इच्छा प्रकट की और महाराज ने श्रद्धा और रुचिपूर्वक वैश्य दम्पति को आद्योपान्त अर्थ-सहित "वेलि" का श्रवण कराया। इसके बाद अपने तम्बू में आकर सो रहे। प्रातःकाल चार बजे के तड़के ही नियमानुसार डेरा उठाकर यात्रा प्रारम्भ करने की महाराज ने आज्ञा दे दी। कुछ कोस चल कर महाराज को स्मरण हुआ कि रात्रि को उक्त वैश्य को "वेलि" सुना कर पुस्तक को वहीं छोड़ आये थे। अतएव सवार को दौड़ाया कि वह जाकर वैश्य के यहाँ से पुस्तक ले आवे अथवा यदि वैश्य चल दिया हो तो इर्द गिर्द दो चार कोस में खोज कर उससे "वेलि" माँग लावे। सवार ने रात्रि के पड़ाव के स्थान पर जाकर क्या अद्भुत दृश्य देखा कि उस जगह केवल महाराज के खेमों के स्थान पर तो आदमी, पशु और तम्बुओं के खूँटों के चिह्न थे परन्तु आस पास देखने पर वैश्य के तम्बू की जगह किसी प्रकार का कोई चिह्न भूमि पर न देखा। इस अलौकिक घटना को, नौकर ने, जाकर महाराज को सुनाया, तो महाराज ने नौकर का विश्वास न कर स्वयं जाना निश्चय किया। परन्तु उन्होंने भी वही दृश्य पाया। आश्चर्य और खेद की सीमा न रही। इतने में ही उनकी दृष्टि पास ही एक छोटे से वृक्ष के पौदे पर पड़ी। "वेलि" पुस्तक सुरक्षित रूप

में एक तुलसी वृक्ष के ऊपर पड़ी हुई दिखाई दी। महाराज को आन्तरिक बोध हुआ और उन्होंने मन ही मन अपने इष्टदेव को नमस्कार कर अपने भाग्य को धन्य माना, कि जिनकी यात्रा को सफल करने के लिए, एवं निज भक्त जन की श्रद्धाञ्जलि को स्वीकार करने के लिए स्वयं श्रीद्वारिकानाथ ने पधार कर इतना कष्ट उठाया।

महाराज पृथ्वीराज को श्रीलक्ष्मीनाथजी का इष्ट था। जहाँ कहीं भी होते वे नियमानुसार अपने इष्टदेव की मानसी पूजा किया करते थे। कहते हैं कि एक बार आगरे में पूजा करते समय इन्होंने यह बता दिया था कि अमुक समय इष्टदेव की सवारी नगरकीर्त्तन के लिए बीकानेर नगर में निकल रही थी। जाँच करने पर यह बात सत्य निकली। पृथ्वीराज की भक्ति के विषय में यह भी प्रसिद्ध है कि ये त्रिकालज्ञ थे एवं योगबल और दिव्य-दृष्टि-सम्पन्न थे। एक बार अकबर ने इनसे पूछा, "तुम्हारे कोई पीर वश में अवश्य हैं। अच्छा, तो बताओ, तुम्हारी मृत्यु कहाँ और कब होगी?" महाराज ने कुछ विचार कर उत्तर दिया, "मथुरा के विश्रान्तघाट पर और उस समय एक सफ़ेद कौआ प्रकट होगा।" बादशाह को विश्वास न हुआ और आज़माइश की तौर पर इस होनी को अनहोनी सिद्ध करने के लिए उन्होंने पृथ्वीराज को अटक के पार राज्यकार्य पर नियत करके भेज दिया। इस वृत्तान्त के पाँच महीने बाद एक दिन अकस्मात् ऐसा मौका आया कि एक अलौकिक चकवा-चकवी के जोड़े को, जिसको एक भील बाजार में बेचने के लिए पकड़ लाया था, आश्चर्ययुक्त मानव-भाषा में बोलते देखकर बादशाह ने मँगवा भेजा। इस प्रसंग में नवाब खानख़ाना ने, "सज्जन वारूँ कोड़धा या दुर्जन की भेंट" यह चरण रचा और आगे चुप रहे। बादशाह ने कवि को दूसरा चरण भी बनाने को कहा। परन्तु न कहा गया।

तब महाराज पृथ्वीराज को एकदम बुलाने का हुक्म हुआ। पृथ्वीराज आते हुए मथुरा होते आये और रास्ते में ही इष्टदेव के दर्शन करने की इच्छा से वहाँ ठहर गये। परन्तु मृत्यु को निकट आई देख, "रजनी का मेला किया वेह का अच्छर मेट" यह दूसरा चरण लिख कर आदमी के हाथ बादशाह को भिजवा दिया और आपने दान-पुण्य कर विश्रान्तिघाट पर इष्ट का स्मरण करते हुए सदा के लिए विश्रान्ति-लाभ की। उस समय एक सफ़ेद कौआ प्रकट हुआ और बादशाह के आदमियों ने सब हाल जा सुनाया। यह बात संवत १६५७ की है।

विद्वत्ता

महाराज पृथ्वीराज की विद्वत्ता, अनुभवदक्षता और विशेषत. संस्कृत-साहित्य-विषयक ज्ञान की गंभीरता के प्रमाण "वेलि" के अन्तर्गत अनेकानेक विशद शृंगार एवं इतर रसों के भावुक और स्वाभाविक वर्णनों से, कालिदासादि महाकवियों की काव्यपद्धति के अनुकरण और समानताओं से, काव्यप्रयुक्त रस, अलङ्कार, भावविशिष्टता, अर्थगौरव, छन्द.शास्त्र के नियम और भाषा-सौष्ठव की रीतियों के सम्यक् पालन इत्यादि से भली भाँति प्रदर्शित होते हैं। स्वयं कवि ने "वेलि" के उपसंहार में कई एक छन्दों में बिलकुल सत्य लिखा है कि "वेलि" का अर्थज्ञान प्राप्त करने के लिए पाठक को विविध शास्त्रों के मर्म का ज्ञाता होना अत्यन्त आवश्यक है। कवि के इस कथन में किसी प्रकार की मिथ्या आत्मश्लाघा अथवा अतिशयोक्ति की शंका नहीं करना चाहिए "वेलि" का पूर्ण रसास्वादन करने के लिए पाठक में इन गुणों की आवश्यकता कवि ने बताई है :—

ज्योतिषी, वैद, पौराणिक जोगी, संगीती, तारकिक, सहि।
चारण, भाट, सुकवि भाषा चित्र, करि एकठा तो अर्थ कहि॥२९१॥

अन्य काव्य और स्फुट कविताएँ

हम ऊपर कह आये हैं कि महाराज पृथ्वीराज ने डिंगल और पिंगल दोनों भाषाओं में काव्यरचना की है। पिंगल में उनके अनेक फुटकर दोहे, सोरठे, छप्पय इत्यादि बताये जाते हैं परन्तु इनमें बहुत से ऐसे भी कहे जाते हैं जिनको हम प्रामाणिक नहीं कह सकते। उनकी हिन्दी कविता के नमूने के तौर पर हम नीचे एक छन्द उद्धृत करते हैं जो उन्हीं का रचा हुआ बताया जाता है।

अकबर से विरोध करने और महाराणा से पक्षपात करने का सवाद जब पृथ्वीराज की धर्मपत्नी चम्पादे को मिले तो उनको बड़ी चिन्ता हुई। चम्पादे ने यह दोहा लिख कर भेजा :—

पति जिद की पतशाह सूं यहै सुणी मैं आज।
कहँ पातल अकव्वर कहाँ, करियो बड़ो अकाज॥

पृथ्वीराज ने यह कवित्त लिखकर उत्तर दिया:—

जब ते सुने हैं वैन, तब ते न मोको चैन।
पाती पढ़ि नेक सो विलम्ब न लगावेगो॥
लैके जमदूत से समत्थ राजपूत आज।
आगरे में आठों याम ऊधम मचावेगो॥
कहै पृथीराज पिया नेकु उर धीर धरो।
चिरजीवी राना सो मलेच्छन भगावेगो॥
मन को मरद मानी, प्रबल प्रतापसिंह।
बब्बर ज्यों तड़प, अकब्बर पै आवेगो॥

महाराज पृथ्वीराज की फुटकर डिंगलकविता के उदाहरण-स्वरूप कई दोहे, सोरठे, छप्पय, गीत इत्यादि छंद राजस्थान के कवियों

और चारणों में प्रख्यात हैं। इनमें भी बहुत ऐसे हैं जिनका पृथ्वीराज की रचना होने में संदेह है। बहुत से गीत अथवा इतर स्फुट छंद तो ऐसे पाये जाते हैं जो "मारवरा गीत" अथवा प्रसंगात्मक कविता कही जा सकती है, जो समय समय पर कवि ने प्रतिभान्वित होकर राजस्थान के प्रमुख, ख्यातनाम वीर, स्वाभिमानी, राजपूत सरदारों और नरेन्द्रों की प्रशंसा में लिखे हैं। इन "मारवरा गीत" में से एक प्रसिद्ध गीत महाराणा प्रताप के अलौकिक साहस, धर्मव्रत, चात्रधर्मप्रतिष्ठा तथा अदम्य तेजस्विता की प्रशंसा में लिखा है जो नीचे उद्धृत करते हैं :—

नर तेथ निमाणा निलजी नारी अकबर गाहक वट अवट।
चौहटे तिण जायर चीतोडो बेचे किम रजपूत वट॥
रोजायताँ तणैं नवरोजै जेथ मुसाणा जणो जण।
हिन्दूनाथ दिलीचे हाटे पतो न खरचै खत्री पण॥
परपंच लाज दीठ नह व्यापण, खोटो लाभ अलाभ खरो।
रज बेचवा न आवै राणो, हाटे मीर हमीर हरो॥
पेखे आप तणाँ पुरुषोत्तम, रह अणियाल तणैं बल राण।
खत्र बेचिया अनेक खत्रियाँ, खत्रवट थिर राखी खूमाण॥
जासी हाट बात रहसी जग अकबर ठग जासी एकार।
रह राखियो खत्री ध्रम राणैं, साराले बरतो संसार॥

इसी प्रकार वीरवर कल्ला रायमलोत तथा अपने कनिष्ठ भ्राता रामसिंह की प्रकृष्ट वीरता के सम्बन्ध में इन्होंने गीत लिखे। वीरवर कल्याणसिंह रायमलोत राजस्थान के एक सुप्रसिद्ध क्षत्रिय वीर हो गये हैं। इस गीत के १४ छंद हमारे देखने में आये हैं और प्रत्येक ४ चरणों का है। यह गीत इस प्रकार प्रारम्भ होता

यत्न चढ़ वोलियो पतशाह बदी तो
मंडोवर रुख माण मदीतो
जो जमवार लगे जस जीतो
कलो भलो रजपूत कही तो ॥ १ ॥

पुलिया दल पाथर पतशाही
सिध नरियण सूँ वीड़ो शाही
चकिया वैण तिका निर्वाही
गढ़ सुमियाण कला पिड़गाही ॥ २ ॥

पृथ्वीराज के कनिष्ठ भ्राता, अकबर के प्रत्यक्ष विरोधी होने के कारण अपने पैत्रिक राज्य से निर्वासित हो चुके थे और प्रताप की तरह अकबर का सामना करने की तैयारी कर रहे थे। अकबर के प्रसिद्ध सेनापति हमजा का, बड़ी मुगल-सेना के साथ सामना करते हुए ये बड़ी वीरता के साथ युद्ध में काम आये थे। इनकी वीरता का पृथ्वीराज को गर्व होना अत्यन्त स्वाभाविक ही है।

वीरता-विषयक इन गातों के अतिरिक्त पृथ्वीराज ने अपने जीवन के उत्तर काल में अनेक अच्छे अच्छे भक्ति काव्य के पदों, दोहों, सोरठों तथा गीतों की रचना की थी जो मुख्यत: रामकृष्णादि अवतारों तथा गंगा के स्तोत्रों के रूप में यत्र तत्र अब भी उपलब्ध होते हैं। पृथ्वीराज का यह भक्ति-विषयक प्रकीर्णक काव्य राजस्थान के भक्तों की स्मृति में अत्यन्त प्रसिद्ध एवं सुरक्षित है और इसमें उनकी पवित्र प्रतिभा, उच्च कोटि की भक्ति तथा शान्तरस के काव्य का चमत्कार पूर्णरूपेण प्रदर्शित होते हैं।

(१) 'दशरथरावउत' श्रीरामचन्द्रजी की स्तुति के दोहे पुस्तकाकार में हमको उपलब्ध हैं। इनकी संख्या ५० के लगभग है उदाहरण के लिए उनमें से कुछ हम नीचे उद्धृत करेंगे।

(२) इसी प्रकार "वसदेरावउत" श्रीकृष्णचन्द्र भगवान की स्तुति एवं गुणानुवाद के दोहे भी पुस्तकाकार में उपलब्ध होते हैं। इस प्रकार के दोहों की संख्या १६५ है। इस सम्बन्ध में ध्यान में रहना चाहिए कि सब देवताओं में भक्ति रखते हुए भी कवि को कृष्ण की भक्ति विशेषत इष्ट थी। यह बात दोहों की अपेक्षाकृत अधिकता से भी प्रमाणित होती है। हम क्रमश इन दोहों का उदाहरण भी पाठकों के समक्ष रखेंगे।

(३) महाराज पृथ्वीराज की "गगा-लहरी" के दोहे, जो 'भागीरथी,' 'जाह्नवी' अथवा 'मंदाकिनी' उपनाम से युक्त हैं, समस्त राजस्थान में अत्यन्त प्रख्यात हैं। इस विषय के सब दोहों का मिलना तो कठिन है। बहुत से दोहे तो राजस्थान की जनता में भक्तों के गगा-स्तुति-पाठ के रूप में प्रचलित हो चुके हैं। परन्तु उनमें भी अनेकानेक पाठान्तर मिलते हैं, जिससे यह निश्चित करना कठिन हो जाता है कि कौन कौन से दोहे तो कवि की प्रामाणिक कृति हैं और कौन कौन से इतर कवि-कल्पित हैं। हमको अप्रकाशित पुस्तकाकार में "गगा-लहरी" के कुल दोहों में से ४८ 'भागीरथी' उपनाम से समायुक्त और लगभग ३० 'जाह्नवी' और 'मन्दाकिनी' के नाम से संयुक्त, उपलब्ध हुए हैं। इन ७८ दोहों के सम्बन्ध में हम सप्रमाण कह सकते हैं कि ये महाराज पृथ्वीराज की प्रामाणिक कृति हैं। ये दोहे स० १६७६ में सकलित करके बुरहानपुर में लिखे गये थे और 'वेलि' की ढूँढाडी टीकावाली प्रति में सम्मिलित कर दिये गये थे। कहते हैं, महाराजा श्रीसूरजसिंहजी, बीकानेर नरेश के स्तुति-पाठ के निमित्त ये एकत्रित किये गये थे। जनस्मृति में अन्यान्य 'भागीरथी' के जो दोहे प्रचलित हैं, अथवा जो जो उनके पाठान्तर सुनने में आते हैं उनके प्रमाण के विषय में हमको संदेह है।

अब हम क्रमशः रामस्तुति, कृष्णस्तुति तथा गंगास्तुति की कविता का थोड़ा थोड़ा नमूना सहृदयों के आस्वादनार्थ नीचे उद्धृत करते हैं :—

(१) अथ रामस्तुति :—

सुदर श्याम शरीर, अम्ब कौशल्या आँगणैं।
वाधण लागौ वीर, दिन दिन दशरथरावउत ॥ १ ॥
सिला परसि पग श्याम, अज आणन्दघण ऊधरी।
रिष गोतमची वाम, दैता दशरथरावउत ॥ २ ॥
सिल ऊधरती सारि, नाठौ भइवर नाव लै।
महिमा चलण मुरारि, देखै दशरथरावउत ॥ ३ ॥
माहरी वेड़ी माँहि, हरि ज शिलावाली हुई।
कुटुम्ब क्षुधा दुख काहि, दाखौं दशरथरावउत ॥ ४ ॥
आइयो महिमा आण, ताहरि रघुकुल का तिलक।
पोत थयो पाखाण, दीखै दशरथरावउत ॥ ५ ॥
करि अम्बहरि कराग़ि, घर रावण भीतर घटा।
खिवी तुम्हाँ री खाग, दामिणि दशरथरावउत ॥ ६ ॥
प्रभु ताई थिया प्रवीत, जाइ समरपिया संखधर।
गाह, कवित्त, छंद गीत, दूहा दशरथरावउत ॥ ७ ॥

(१) और (२) दोहों का अर्थ स्पष्ट है। निर्जीव शिला को सजीव करने की महिमा को सुनकर धीवर अपनी नाव लेकर भागने को तैयार हुआ। भगवान् की जड़ पदार्थों को भी चलायमान होने की शक्ति दे देनेवाली महिमा को देखकर ग़रीब धीवर घबरा गया और बोला:—हे दशरथरावसुत, भगवान्, यदि मेरी छोटी

सी नैया में भी शिलावाली घटना हुई तो मैं ग़रीब अपने कुटुम्ब को क्षुधाजन्य दुःख को किसे दिखाऊँगा ? (४) पृथ्वीराज कहते हैं कि हे भगवान् ! आपकी इच्छा से समुद्र पर जड़ पत्थर भी नाव बन कर तर गये। ऐसी आपकी महिमा पर विश्वास कर, मैं आपकी शरण आया हूँ। आप मुझ अज्ञानी (जडमति) को भी भवसागर से अवश्य पार उतारेंगे ॥५॥ हे दशरथरावसुत, दुष्ट रावणरूपी आकाश की पापरूपी घनो घटाओं मे आपकी तलवार (खाग) दामिनि के रूप में चमकी थी (खिंवो) ॥६॥ हे सराधर प्रभु ! जो कुछ, गाथायें, कवित्त, छद, गोत, दूहा इत्यादि मैंने कहे हैं, वे सब आपको समर्पित कर दिये। अतएव वे पवित्र होगये ॥७॥

(२) अथ कृष्णस्तुति :—

रथ वणियो पंखराव, वामै अंग राधा वणी।
बीच ताहरो वणाव, वणियो वसदेरावउत ॥ १ ॥

आणन्द घण उर आण, आणन्द, आणन्दिया नहीं।
तै दीखै दीवाण, विलखा वसदेरावउत ॥ २ ॥

जपियो ज्यां जगदीश, जगदीसर जपियो नहीं।
वधिया घटिया वीस, विसवा वसदेरावउत ॥ ३ ॥

ओवर सूँ विन सॉच, जेहो मणि मानव जनम।
केशव थियो सु कॉच, विनसै वसदेरावउत ॥ ४ ॥

महारी थई मुरारि, गोविन्द तूँ लागी गुणां।
सुकियारथी सॅसार, वाणी वसदेरावउत ॥ ५ ॥

नायक जग तुव नाम, लिखमीवर थिया लागतां।
सुजु फलदायक श्याम, वायक वसदेरावउत ॥ ६ ॥

पूज तम्हीणां पाग, करतां सुणतां कीरतन ।
लागी लेखे लाग, वेला बसदेरावउत ॥ ७ ॥
गोविंद विन तुव गाथ, जाहि जके जगदीश वर ।
निशा सरीखा नाथ, वासर बसदेरावउत ॥ ८ ॥
किरि कूटियै कपाल, त्रीकम तूँ विमुखाँ तणाँ ।
घड़ी घड़ी घड़ियाल, वाजै बसदेरावउत ॥ ९ ॥
जाप तम्हीणां जेज, परमेशर करतां पड़ी ।
तै भांजै ता भांज, वेथी बसदेरावउत ॥ १० ॥
अवतरियो अवतार, तो मेटण भगतां तणां ।
भगवत टालण भार, वसुधा बसदेरावउत ॥ ११ ॥
पाहव तैं मुख माँह, जननी दाखविया जगत् ।
कन्ह भखण मृद काह, ब्याजै बसदेरावउत ॥ १२ ॥

अर्थात्, हे वासुदेव, खगपति गरुड़ आपके रथ बन कर शोभायमान हैं और वाम अङ्ग मे राधाजी शोभायमान हैं। बीच में आपकी अद्भुत छबि खूब बनी है ॥१॥

जो आनन्दघन को हृदय में धारण कर उनके दर्शनानन्द के आनन्द से आनन्दित नहीं हुए, वे पुरुष चाहे समस्त सांसारिक सम्पदा के ही मालिक क्यों न हों, बिलखे अर्थात् व्याकुल प्रतीत होते हैं ॥२॥

जिन्होंने एक जगदीश अर्थात् इष्ट-देव का जप किया परन्तु समस्त संसार के स्वामी को नहीं जपा, वे क्रमशः निश्चय करके, नाश और समृद्धि को प्राप्त हुए ॥३॥

लक्ष्मीनाथ के साथ मनसा, वाचा, कर्मणा, असत्यता का व्यवहार करने के कारण, अमूल्य मणि जैसा मानव-जन्म अकिंचन काँच के मूल्य की तरह तुच्छ होकर विनष्ट होगया ॥४॥

हे वासुदेव, हे मुरारि, हे गोविन्द, तुम्हारे गुणानुवाद में लगकर मेरी वाणी संसार में रहते हुए भी सुफल होगई ॥५॥

हे वासुदेव, जगनायक, लक्ष्मीवर, श्याम, तुम्हारे नाम का जाप कर मेरी वाणी फलदायिनी (धर्मार्थ काममोक्षदायिनी) बन गई है ॥६॥

हे वासुदेव, तुम्हारे चरणकमलों का पूजन कर, तुम्हारा ही कीर्त्तन करते और सुनते हुए मेरे जीवन की वेला (समय) सत्यपथ पर लग गई, अर्थात् व्यर्थ न गई ॥७॥

हे वासुदेव, जगदीश्वर, गोविन्द, तुम्हारी गाथा (संकीर्त्तन) के बिना मेरे जो दिन व्यतीत होते हैं, वे रात्रि के बराबर हैं ॥८॥

हे वासुदेव, हे त्रिविक्रम, तुमसे विमुख होकर चलनेवाले जीवों का कपाल कूट कूट कर प्रत्येक घड़ी, यह घड़ियाल (घड़ी) बजकर उनको चेतावनी देता रहता है ॥९॥

हे वासुदेव, हे परमेश्वर, तुम्हारा जाप करने में विक्षेप (जेज) पड़ गई है। इस विक्षेप से तुम्हारे और मेरे बीच में जो वेथी (अन्तर, दूरी) पड़ गई है, उसे नष्ट करना हो तो नष्ट कर, अन्यथा मैं तो नष्ट हो चुका ॥१०॥

हे वासुदेव भगवान्, आपने अपने भक्तों का उद्धार करने और वसुधा का भार उतारने के लिए अवतार लिया है ॥११॥

हे वासुदेव, हे माधव, हे कान्ह, आपने मिट्टी खाने के मिस से बाल-लीला करते हुए माता यशोदा को जगत् का रहस्य दिखला दिया था। आपके लिए मेरा उद्धार करना कठिन नहीं है। मुझे भी प्रज्ञा-चक्षु दीजिए ॥१२॥

(३) अथ गङ्गास्तुति :—

काया लागा काट, सिकलीगर सुधरै नहीं ।
निरमल हुवै निराट, भेट्यां सूँ भागीरथी ॥ १ ॥

गंगा ऊजल गात, सिर सोहै शंकर तणी ।
मुकुट जटा में मात, भलकै तूँ भागीरथी ॥ २ ॥

गंगाजल गुटकीह, निरखै ही लीधा नहीं ।
भव भव में भटकीह, भूत हुआ भागीरथी ॥ ३ ॥

गंगा अरु गीताह, श्रवण सुणी अरु साँभली ।
जुग नर वह जीताह, वेद कहै भागीरथी ॥ ४ ॥

मौड़ो आयो मात, तैं वेगो ही तारियो ।
पड़ियो रहसूँ पाँय, भाठो हुय भागीरथी ॥ ५ ॥

जाल्या पुत्र जकेह, साठ सहस सागर तणा ।
तैं तारिया तकेह, भेला ही भागीरथी ॥ ६ ॥

लाखाँ देवाँ लोय, मात न हूँ भजताँ मुगत ।
हाडाँ पड़ियाँ होय, भीतर तोय भागीरथी ॥ ७ ॥

हरि गंगा हेकार, कहे जकै मंजण करै ।
भूंडाँ ही क्रम भार, भव न हुवै भागीरथी ॥ ८ ॥

कीया पाप जकेह, जनम जनम में जूजुवा ।
तैं भाँजिया तकेह, भेला हीं भागीरथी ॥ ९ ॥

सुरसरि दीपै सात, नवखंडै चहवै निगम ।
तूँ मानीजै मात, भवनै ही भागीरथी ॥ १० ॥

देवी तूँ देवेह, जननी करि सारी जगति ।
मानी मानवियेह, भमगाही भागीरथी ॥ ११ ॥

सुरसरि वांछे श्रेव, थाहरे तट कीटहि थयो ।
देवन वाँछू देवि, भूपति हुय भागीरथो ॥१२॥

नित नित नवाँ नवाँ, मंजण करताँ मानव्याँ ।
भव टालियै भवाँह, भव कीजै भागीरथी ॥ १३ ॥

तूझ सिनानाँ तोय, माता थ्याँ लाभइ मुगति ।
हरि अधिकारी होय, तइ भजताँ भागीरथी ॥ १४ ॥

अनि तीरथे अघात, अनि देवते न आपियइ ।
मात मुगति तिलमात, तो भाये भागीरथी ॥ १५ ॥

लागी साँकल् लोय, छूटै छांट तुहायली ।
तणी करम्माँ तोय, भीले. ही भागोरथी ॥ १६ ॥

नव तिल जितरो जाय, हेक कणूँ काँ हाडरो ।
मुवाँ पछे ही माय, भेलै गत भागीरथी ॥ १७ ॥

पुलियै मग पुलियाह, हुवै दरस अदरस हुवा ।
जल् पैठाँ जलियाह, मंदाक्रम मंदाकिनी ॥ १८ ॥

अर्थात्, इस पञ्चभौतिक काया में लगा हुआ माया का ज़ंक (काठ) किसी मामूली सिकलीगर अर्थात् शस्त्रों, यथा तलवारादि का ज़ंक मिटाकर शाण पर तेज करनेवाले लोहकार के मिटाये नहीं मिट सकता। यह कलिमलकलङ्क तो, हे भागीरथी ! तेरे भेंटने से ही अर्थात् गङ्गा-स्नान से ही धुल सकता है ॥१॥

उज्ज्वलधारवाली गङ्गा महादेव के मस्तक पर शोभा देती है। हे माता ! तू हर की जटा में मुकुट की तरह देदीप्यमान हो रही है ॥२॥

जिसने प्रातःकाल उठते ही गङ्गाजल की गुटकी नियमपूर्वक नहीं ली अर्थात् आचमन नहीं किया, वह जन्मजन्मान्तर में भूत हुआ भटकता रहा ॥३॥

जिसने नियमपूर्वक गङ्गाजल का नित्यप्रति आचमन किया और गीता का नियमपूर्वक श्रवण किया, बुद्धिमान् मनुष्य और धर्मशास्त्र उसीको "जीता है" इस पद से समायुक्त समझते हैं। इनके सेवन बिना संसार में मनुष्य, "श्वसन्नपि न जीवति" ॥४॥

हे माता! मैं बहुत जिन्दगी बीतने पर सँभला और अब देर से तेरी शरण में आया हूँ, परन्तु तूने तो मुझे आते ही तार दिया। *अतएव, अब मैं संसार से पूर्णतया विरक्त होगया हूँ और तेरे चरणों* में अर्थात् स्रोत में कंकड़ (भाठो) होकर सदा के लिए पड़ा रहूँगा—यह मेरी इच्छा है ॥५॥

ऋषि कपिल ने सगर के जिन साठ हजार पुत्रों को भस्म कर दिया था, उन सबको एक साथ ही तूने पुनर्जीवित कर दिया—ऐसा तेरा यश है ॥६॥

संसार के जीव जीते जी लाखों देवों से लौ लगाकर उनकी भक्ति करते हैं, परन्तु उनको भजते हुए मुक्ति नहीं पाते। परन्तु मरने पर उनके हाड भी यदि तेरे वक्ष में गिर जायँ, तो उनकी भूतयोनि से मुक्ति हो जाती है ॥७॥

जो मनुष्य अपने जीवन में एक बार भी सच्चे मन से हरि का स्मरण कर ले अथवा एक बार ही शुद्ध अन्तःकरण से तेरे जल में स्नान कर लें तो उनके पापकर्मों का समस्त भार धुल जाय और वे पुनर्जन्म से मुक्त हो जायँ ॥८॥

हे भागीरथी! मैंने अनेकानेक (जूजुवा = जुदा जुदा) जन्म में जो जो पाप किये उन सबको तूने एक सारगी (भेला) ही नष्ट कर दिया ॥९॥

हे सुरसरि भागीरथी ! सात द्वीप, नवखंड और चौदह भुवन तथा निगम अर्थात् शास्त्रों में तू मानी गई है ॥१०॥

हे देवि भागीरथी ! तुझको न केवल मानवों ने वरन देवताओं तथा निम्नसृष्टि के कीट पतंगादि ने (भमरों) भी माता मानकर श्रद्धा और भक्तिपूर्वक सम्मान किया है ॥११॥

हे सुरसरि ! मेरी ऐसी श्रद्धा होती है कि मैं तेरे तट पर एक तुच्छ कीट बनकर निश्रयस् प्राप्ति की इच्छा करता रहूँ परन्तु मैं भूपति बनकर के भी अन्य देवता से निश्रेयस् प्राप्ति की आशा नहीं करूँगा। क्योंकि उनसे मुझे कोई आशा नहीं है ॥१२॥

हे भागीरथी, तेरे निर्मल जल में प्रतिदिन भजन करते हुए अनेकानेक मनुष्यों के जन्मान्तर का आवागमन तूने टाल दिया। अतएव मेरा भी अब कल्याण (भव) कर ॥१३॥

हे माता, तेरे जल में स्नान करते हुए और तुझे भजते हुए मनुष्य की जीवन्मुक्ति हो जाती है और वह हरि का अधिकारी हो जाता है ॥१४॥

जो मुक्ति अन्य तीर्थों का स्नान करने से अथवा अन्य देवताओं का भजन करने से नहीं प्राप्त होती, तेरे लिए अपने भक्त को वह मुक्ति देना तिलमात्र की तरह है अर्थात् सहज है ॥१५॥

कर्म-बंधनों से बँधकर बनी हुई यह लोहशृंखला जो प्राणियों को संसार से बाँधती है, वह सहज ही में तेरे पावन जल की एक छींट से ही छूट जाती है ॥१६॥

अगर मरने के पश्चात् एक जव अथवा तिलकण जितना हाड़ का टुकड़ा (कणूँका) भी तेरे पावन जल में पड़ जायगा, तो निश्चय ही मेरी गति हो जायगी ॥१७॥

हे मंदाकिनी, जब मैं प्रतिज्ञा करके भक्तिपूर्वक तेरी ओर चला, तो मेरे (मंदाक्रम) मंद कर्मों (पाप कर्मों) का भाग भी चलायमान हुआ (पुलियो); जब तेरा दर्शन हुआ तो मेरे मंदे कर्म अदृष्ट होकर

नष्ट होने लगे; अन्त में जब मैं तेरी पतितपावनी जल-धार में पैठा—प्रविष्ट हुआ, तब तो मेरे पापकर्म एकदम जलकर भस्म हो गये ॥१८॥

उपर्युक्त क्रमबद्ध ईशस्तवनात्मक काव्यों के अतिरिक्त पृथ्वीराज के अन्य प्रकीर्णक दोहे, सोरठे, पद इत्यादि भी यत्र तत्र उपलब्ध होते हैं। इनके कुछ प्रस्तावनात्मक, वैराग्य, नीति एवं अन्य गंभीर विषयों के दोहे हम नीचे उद्धृत करते हैं। इन दोहों में से किन्हीं किन्हीं में इतनी उच्च कोटि का काव्य-चमत्कार भरा है कि रसज्ञों के आस्वादन करते ही बनता है। प्रशंसा अथवा अन्य कवि से तुलना करना वृथा होगा। उदाहरणतः—

मैं हरि तजि गुण मानव्यां, जोड़े किया जतन्न।
जाणि चितभ्रम बांधिया, गलि गाधाह रतन्न ॥ १ ॥

पिथु जु मैं अवरापणे, गुण छंडे गोपाल।
मणि गूँथे मोताहलाँ, मड़गल घाती माल ॥ २ ॥

हरि परिहरि करि अंबर मूँ, जास विलूँबी वाण।
तरु छंडे लागी लता, पत्थर के गल जाण ॥ ३ ॥

तूंबी ही तारण समथ, जल ऊपर पाखाण।
ताइ तारिये, जागतारण, तह केहा वाखाण ॥ ४ ॥

खिण वसतां ऊजड़ करैं, खिण ऊजड़ खिण वास।
यह जग अरहट की घड़ी, देख डरयो पृथुदास ॥ ५ ॥

पिथु प्रभु पंथी प्रेम को, नयने दीप दिखाय।
मो मन लागर तुरंग ज्यों, ज्यों खंचै तिम जाय ॥ ६ ॥

जात वलै नहिं दीहड़ा, जिम गिर निरझरणाइ।
उठ रे आतम धरम कर, सुवै निचिंता काइ ॥ ७ ॥

अर्थात्:—मैंने हरि के गुणों को छोड़कर साधारण मानवों के गुणों में यत्नपूर्वक प्रीति जोड़ी। मानो पागल (चित्तभ्रम) ने अन्य उपयुक्त पात्रों को छोड़कर गदहे के गले में अमूल्य रत्न को बाँध दिया ॥१॥

पृथ्वीराज कहते हैं, मैंने अज्ञानवश गोपाल के गुणों को छोड़ दिया और अन्य सासारिक गुणों का सेवन किया। मानों मणियुक्त मुक्तामाला को मृतक शरीर के गले में डाल दिया ॥२॥

हरि के गुणों को छोड़कर जिसकी वाणी अन्यत्र मायालिप्त (विलूँबी) हो गई, तो मानो, लता तरु के आधार को छोड़कर पत्थर के गले लग गई है ॥३॥

जब तूँबी जैसी तुच्छ वस्तु ही पत्थर को पानी के ऊपर तैराने का सामर्थ्य रखती है, तब तो समस्त ससार के स्वामी यदि पाप के भार से बोझल पापियों को भवसागर से पार उतार दे, तो इसमे क्या आश्चर्य्य है ॥४॥

यह काल का चक्र विचित्र है। क्षणेक मे तो यह अच्छी तरह से व्यवस्थित जीवों और पदार्थों को ऊजड कर देता है और क्षणेक में ऊजड को बसा देता है। अरहट (ग्रामीण कुओं मे से पानी निकालने का यत्र, जिसमे मिट्टी के पात्रों का बना एक शृंखला होती है) की शृंखला की तरह, कि जिसका पात्र क्षणेक में भर जाता है और क्षणेक मे रिक्त हो जाता है, इस काल-परिवर्त्तन-चक्र को देखकर पृथु डरता है ॥५॥

हे प्रभु, यह पृथ्वीराज, आपका दास, आपके प्रेम-पथ का पथिक है। इसे प्रज्ञाचक्षु दीजिए जिससे यह सत्य प्रेम-पथ पर विचलित न हो, अन्यथा मेरा मन तो चपल तुरग की तरह चचल हो रहा है और ज्यो ज्यो में उसको खैंचता हूँ अर्थात् योगस्थित करना चाहता हूँ, त्यों त्यो वह कुमार्ग पर जाता है ॥६॥

दिन, एक बार जाकर वापिस नहीं लौटते, जिस प्रकार पर्वत के झरने पर्वत से निकल कर वापिस नहीं लौटते, अतएव, हे ससारी जाव, अपनी मोह निद्रा से उठ, अपना कर्त्तव्य कर, निश्चिन्त होकर क्यों सो रहा है ॥७॥

इसी प्रकार पृथ्वीराज का एक भक्तिरसपूर्ण डिंगलपद भी सुनने में आया है, जो नीचे उद्धृत है:—

हरि जेम हलाड़ो[1] जिम हालीजै, कॉय धणियां[2]सूँ जोर कृपाल।
मौली[3] दियो दिवो छत्र माथै, देवो सो लेऊँ स दयाल।
रीस करो भावै रलियावत[4], गज भावै खर चाढ़ गुलाम।
माहरै सदा ताहरी माहव, रज़ा[5] सजा सिर ऊपर राम।
मूझ उमेद बड़ी महमँहण[6], सिन्धुर पापै केम सरै।
चीतारो[7] खर सीस चित्र दै, किमूँ पूतलियाँ[8] पाँण करै।
तू स्वामी पृथुराज ताहरो, बलि बीजा[9] को करै विलाग[10]।
रूड़ो[11] जिको प्रताप रावलो[12], भूंड़ो[13] जिको हमीणो भाग॥

अर्थ स्पष्ट है।

पृथ्वीराजकृत राधाकृष्ण के नखशिखस्पष्ट शृंगारवर्णन के हिन्दी में कुछ छप्पय भी हमारे देखने सुनने में आये हैं, परन्तु उनकी प्रामाणिकता के विषय में हमें सन्देह है। ये छप्पय सूरदासजी के कई प्रसिद्ध कूट पदों के ढंग के हैं और इनका अर्थ समझना बड़ा कठिन है। अतएव इनका उद्धृत करना यहाँ अनावश्यक है। इस प्रकार के छप्पयों की अन्तिम पंक्ति इस प्रकार है:—

"ईह सरूप पृथिराज कह, मिलो कृष्ण राधारमन।"

पृथ्वीराज के कई एक उत्कृष्ट डिंगलगीत भी राजस्थान में सुप्रसिद्ध हैं और चाव के साथ रसज्ञ समाज में पढ़े-सुने जाते हैं। इनमें से बहुतों के विषय में प्रामाणिक होने का हमारे पास विशेष प्रमाण न होते हुए भी जनश्रुति के आधार पर और काव्य की

---

१ चलावो। २ स्वामी। ३ सूत्रधन्धन। ४ जाड़ करो। ५ कृपा। ६ महतोऽपि महन्तम्। ७ चित्रकार। ८ काष्ठ-प्रतिमा। ९ फिर, दूसरा। १० विच्छेद, वियोग। ११ भला। १२ आपका। १३ खराब।

उत्कृष्टता और भाषा-सौष्ठव को देखते हुए हमे उनके पृथ्वीराज के होने में सन्देह नहीं है। हम नीचे वैराग्यविषयक एक उत्कृष्ट गीत उद्धृत करते हैं, जो कलिकालग्रसित ("कलिया") मायालिप्त, विषय-वासना-संवलित एवं सौख्य-समृद्धि हरि-विमुख साधारण जन के लिए उपयुक्त हो सकता है। कई लोग इस गीत को किसी व्यक्तिविशेष पर किये हुए आक्षेप के रूप मे देखते हैं। परन्तु हमको ऐसा नहीं प्रतीत होता। हमारी समझ मे 'कलिया' शब्द से कलियुगी जीव का अर्थ स्पष्ट निकलता है और इस अर्थ का समर्थन गीत के आशय से भली भाँति हो जाता है। गीत यह है:—

सुख-राश रमन्तां पास सहेली, दास खवास[1] मोकला[2] दाम।
न लिया नाम पखं नारायण,[3] 'कलिया[4]' उठ चलिया बेकाम ॥१॥
माया पास रही मुलकन्ती[5], सजि सुंदरी कीधाँ[6] सिणगार।
बहु परिवार कुटुम्ब चौ वाधाँ[7], हरि बिन गयो जमारो[8] हार ॥२॥
हास हसंता रह्या घोलहर[9], सुख में रासत ज्यों संसार।
लाखां धणी[10] पयाणै[11] लाम्बै, जाताँ नह भेजिया जुहार[12] ॥३॥
भाई बन्ध कहूँ वो भेलो[13], पिंड[14] न राखो हेक पुल।
चापरि[15] करै अङ्ग सिर चाढ़ो, काढ़ो काढ़ो कहै कुल ॥४॥
असिया[16] रह्या पग आफलता[17], मदभर खलहलता मैंमन्त[18]।
वहलो[19] धणी सिंगासणवालो, पालो[20] होय हालियो[21] पंथ ॥५॥

---

१ मरजीदान। २ पर्याप्त। ३ नारायण के पक्ष का। ४ कलिमल ग्रस्तजीव। ५ मुसकराती हुई। ६ किये हुए। ७ की वृद्धि। ८ मनुष्यजन्म। ९ महल, प्रासाद। १० लाखों मनुष्यों का स्वामी। ११ यात्रा। १२ अभिवादन। १३ एकत्र कुटुम्ब। १४ शरीर। १५ शीघ्रता। १६ अश्व, घोड़े। १७ खुरों से पृथ्वी को खोदते हुए। १८ खलबलाते हुए मदमस्त हाथी। १९ सवारी के अभ्यासवाला। २० पैदल। २१ चला।

देहली[1] लग महली[2] पिण डाँडी, फलसा लग[3] मा बहण फिरी ।
मड़हट[4] लागो कुटुँब चो मेलो, किणियन[5] सुखदुख बात करी ॥६॥
कोमल अंग न सहतो कलियाँ, ताती झलियाँ[6] सहै तप ।
घड़ी घड़ी कर तड़ी ध्रीवियो[7], चड़ चड़ी बालियो[8] वप ॥७॥
केसर चनण चरचतो काया, भणहणता[9] ऊपर भ्रमर ।
रजियो[10] राखत सौ पूगरो, घणां मुसाण[11] बीच घर ॥८॥
खाटी सो दाटी घर खोदे, साथ न चाली हेक सिली[12] ।
पवन ज जाय पवन बिच पैठो, माटी माटी माँहि मिली ॥९॥

अर्थ स्पष्ट है ।

शब्द-सौष्ठव एवं अर्थ-गौरव के लिए वैराग्य एवं शान्त-रस का दूसरा इसके जोड़ तोड़ का गीत डिंगल में मिलना कठिन है । 'वेलि' में उच्च श्रेणी के शृंगार का निर्वाह करनेवाले एवं अन्यत्र वीर-रस-सम्बन्धी उत्कृष्ट कविता की रचना करनेवाले पृथ्वीराज का यह शान्त-वैराग्य-रस प्रधान गीत पढ़कर पाठकों को उनकी प्रतिभा की व्यापकता का विचक्षण प्रमाण मिलेगा ।

वेलि

निस्संदेह, महाराज पृथ्वीराज की काव्यमयी प्रतिभा की सर्वोत्कृष्ट कृति **"वेलि, क्रिसन रुकमणी री"** है । यह पुस्तक संवत् १६३७ में लिखी गई थी, जैसा कि उक्त पुस्तक के अन्तिम दोहे में प्रकट किया गया है । वेलि बहुत समय तक अमुद्रित

---

१ द्वार की देहली । २ स्त्री । ३ बाहरी दरवाजे तक । ४ मरघट । ५ किसी ने भी नहीं । ६ अग्नि की लपटें । ७ चांग से ठोक ठोंक कर घृत से कपालक्रिया की । ८ सूक्ष्म से सूक्ष्म अंश तक शव को जलाया । ९ भनभनाते । १० अनुरक्त । ११ श्मशान । १२ शलाका, सूई तक ।

रही। परन्तु अपने निर्माण-काल से आज तक समस्त राजस्थान में इस काव्य ग्रंथ की ख्याति सुचारुरूपेण विस्तृत रही है। इसी प्रमाण से सिद्ध होता है कि राजस्थान के विद्वानों, कवियों और भक्तों को इस पुस्तक के काव्य-गुण भली भाँति विदित थे। वेलि की परम्परागत प्रशंसा के कई छन्द उपलब्ध होते हैं, जिनमें से एक में आढाजी दुरसा नामक सम-सामयिक चारण कवि इसे "पाँचवाँ वेद" की उपमा देते हैं, यथा —

> रुकमणि गुण लखण रूप गुण रचवण।
> 'वेलि' तासु कुण करै वखाण।
> पाँचमौ वेद भाख्यौ पीथल।
> पुणियौ उगणीसवौं पुराण।

एक अन्य राजस्थानी कवि का वेलि की प्रशंसा में निम्नलिखित रूपक उपलब्ध होता है:—

> वेद बीज जल विमल, सकति जिण रोपी सद्धर।
> पत्र दोहा गुण पुहप, वास लोभी लखमीवर॥
> पसरी दीप प्रदीप, अधिक गहरी आडम्बर।
> जिके शुद्ध मन जपै, तेउ फल पामै अम्मर॥
> विस्तार कीध जुगजुग विमल, धन्य कृष्ण कहणार धन।
> अमृत वेलि पीथल अचल, तैं रोपी कल्याण तन॥

राजस्थान में, चारण जाति में वंशपरम्परा से कविता होती आई है। इस उत्कृष्ट गुण का उन्हें बडा अभिमान होना स्वाभाविक ही है। बडे बडे प्रतिभाशाली कवि इस जाति में हो गये हैं। कहा जाता है कि पृथ्वीराज के इस ग्रन्थ की ख्याति सुनकर सामयिक कई चारणों का विचार हुआ कि इतनी ऊँचे दरजे की कविता सिवाय

चारण के अन्य कवि के लिए रचना असम्भाव्य है; अतएव, 'वेलि' पृथ्वीराज की बनाई हुई नहीं है। इस पर पृथ्वीराज ने मारवाड़ के प्रसिद्ध चारण कवि माधोदास दधवाड़िया, केशव गाडण, माला साँदू और दुरसा आढा को बुलाकर ग्रंथ सुनाया। ग्रंथ सुनकर माधव और केशव का तो महाराज की भगवद्भक्ति के कारण उनके ग्रंथ-रचयिता होने का सन्देह जाता रहा। परन्तु माला और दुरसा का सन्देह दूर न हुआ। पृथ्वीराज ने माधा और केशव की गुणग्राहकता और उदार-हृदयता की प्रशंसा करते हुए एक एक दोहा लिखा तथा माला और दुरसा के वृथाभिमान और हठ का वर्णन करते हुए एक दोहे में उनके गर्व का युक्तिपूर्ण खंडन किया, यथा:—

माधो के लिए:—

चूंडे चत्रभुज सेवियो ततफल लागो तास।
चारण जीवो चार जुग मरो न माधोदास॥

केशव के लिए:—

केशो गोरखनाथ कवि, चेलो कियो चकार।
सिधरूपी रहता शबद, गाडण गुणा भंडार॥

माला और दुरसा के लिए:—

वाई वारे खालियाँ काई कही न जाय।
ऊदे मालो ऊपनों मेहे दूरसा थाय॥

परन्तु दुरसा आढा के सम्बन्ध की यह कल्पना उसकी लिखी हुई "पाँचमो वेद" वाली उक्ति का विरोध करती है। अथवा, दुरसा ने बाद में वेलि के काव्य गुणों से सन्तुष्ट होकर, सन्देह को दूर कर अपना मत बदल दिया हो, यह भी सम्भव है।

और भी, कहते हैं कि मांड़ियाँ जाति के भूला चारण ने, "रुक्मिणिहरण" नामक ग्रन्थ उसी समय बनाया था। यह और "वेलि" दोनों ग्रन्थ एक साथ बादशाह अकबर को निरीक्षणार्थ भेजे गये। बादशाह ने पहले 'वेलि' को सुनकर "हरण" को सुना। अन्त में, "हरण" की रचना को श्रेष्ठतर निर्णीत करके श्लेष और व्यंग्य में पृथ्वीराज से कहा; "पृथ्वीराज, तुम्हारी वेलि को चारण बाबा की हरिणियाँ चर गईं।" इस प्रकार 'रुक्मिणिहरण' की तारीफ़ की। परन्तु ये सब किंवदन्तियाँ-मात्र हैं। इनसे तात्पर्य यही होता है कि 'वेलि' की ख्याति को सुनकर अनेक नामधारी कवि ईर्ष्यान्वित होते थे और स्पर्धा करने का प्रयत्न करते थे। यह स्वाभाविक ही है।

इस प्रकार प्रशंसा की परम्परा श्रेणी पर आरूढ़ 'वेलि' की सन् १९१७ के लगभग डाकृर एल० पी० टैसीटरी ने तीन उपलब्ध प्राचीन टीकाओं तथा कई एक चारण कवियों और विद्वानों की सहायता से एक संक्षिप्त भूमिका लिखी, जो मूल कविता तथा संक्षिप्त अँगरेज़ी नोटों के सहित एशियाटिक सोसायटी आफ़ बंगाल से प्रकाशित हुई। इस संस्करण में 'वेलि' के विषय में डाकृर टैसीटरी लिखते हैं:—

"The 'Veli of Krsna and Rukmini' by Rathora Prithi Raja of Bikaner...........is one of the most *fulgent gems in the rich mine of the* Rajasthani literature. Composed in the luminous days of Akbar, this master-piece of the Rajput Muse has been awarded the palm by the consensus of all the bards who have sat in the tribunal of critic from those times to this day," "..........is one of the most perfect productions of the Dingala literature, a marvel of poetical ingenuity, in

which like in the Taj of Agra, elaborateness of detail is combined with simplicity of conception, and exquisiteness of feeling is glorified in immaculateness of form."

अर्थात् "राठौड़ पृथ्वीराज, बीकानेर, द्वारा रचित 'वेलि क्रिसन रुकमणी री' राजस्थानी साहित्यरूपी रत्नगर्भा खान के अत्यन्त देदीप्यमान रत्नों में एक श्रेष्ठ रत्न है। अकबर बादशाह के चमत्कार पूर्ण ज़माने में निर्मित हुई राजस्थानी कविता-क्षेत्र की इस सर्वोत्कृष्ट रचना को उस समय से अब तक के साहित्य के समालोचकों और निर्णायकों ने सर्वसम्मति से काव्य में सर्वोत्कृष्ट स्थान प्रदान किया है।...... डिंगल-साहित्य की यह सर्वांग सम्पूर्ण कृति है। काव्य-कला की दक्षता का एक विचक्षण नमूना है, जिसमे, आगरे के ताजमहल की तरह, भाव की एकाग्रसहजता के साथ अनेकानेक काव्य-गुण-विस्तार का सुखद सम्मिश्रण हुआ है और जिसने रस और भाव का सर्वोत्कृष्ट सौन्दर्य्य और काव्य के बाह्य आकार की निष्कलङ्क शुद्धता को जाज्वल्यमान स्वरूप में प्रदर्शित करता है।"

वेलि की प्राचीन टीकाएँ

'वेलि' की भाषा साहित्यिक डिंगल है जो क्लिष्ट होने के कारण, न केवल हिन्दी भाषा जाननेवालों के लिए वरन राजस्थानवासियों के लिए भी सरल बोधगम्य नहीं है। भाषा-शास्त्र का यह साधारण नियम है कि साहित्य की भाषा बोल-चाल की भाषा से भिन्न और उसकी अपेक्षा अधिक कठिन होती है। यही अन्तर वेलि में प्रयुक्त साहित्यिक डिंगल भाषा और राजस्थान की बोलचाल की भाषा में है। वेलि में प्रयुक्त भाषा चारण कवियों की वह परम्परागत काव्यप्रयुक्त

भाषा है जिसका वे पुरातन काल से छन्दोबद्ध कविता मे उपयोग करते आये हैं और जो प्रत्येक काल में उस काल की स्थानीय बोलचाल की भाषा से भिन्न रही है। पुस्तक की इस क्लिष्टता का निवारण करने के साधन-स्वरूप अब तक वेलि की कई टीकाएँ हो चुकी हैं, जिनमें मुख्यत: तीन टीकाएँ सुप्रसिद्ध हैं और जिनके आधार पर डा० टैसीटरी ने भी पुस्तक-सम्बन्धी अपना प्राथमिक सम्पादन-कार्य किया था। इनमें से दो तो राजस्थान की तत्सामयिक बोलचाल की भाषाओं में लिखी हुई हैं, और तीसरी उन्हीं दोनों के आधार पर संस्कृत भाषा मे लिखी गई है। इन टीकाओं में सबसे पुरानी टीका ढूँढाड़ प्रान्तीय प्राचीन पूर्व राजस्थानी भाषा में लिखी हुई है जो कवि के जीवित काल मे निर्मित हुई प्रतीत होती है। दूसरी पश्चिमी राजस्थान की प्राचीन बोलचाल की मारवाड़ी भाषा में लिखी हुई है। यह टीका ढूँढाड़ी टीका से उत्तरकाल में निर्मित प्रतीत होती है। तीसरी, संस्कृत टीका वाचक सारंग पाल्हणपुर-निवासी की सं० १६७८ की बनाई हुई है। डा० टैसीटरी को इस टीका की सं० १७८१ में ऊदासर मे लिखी हुई प्रति मिली थी, जिसका उन्होने अपने संपादन-कार्य मे अधिक प्रयोग किया है। परन्तु खोज करने पर हमें उसी टीका की सं० १६८३ में लिखी हुई—अतएव डा० टैसीटरी की प्रति से लगभग सौ वर्ष पूर्व की— प्रति मिली है। दोनों में यह ज्यादा प्रामाणिक है, इसमें कोई संदेह नहीं है; क्योंकि मौलिक टीका के पाँच ही वर्ष बाद में यह प्रति लिखी गई थी। पहली दोनो राजस्थानी टीकाओं के लेखकों के नाम अब तक विदित नहीं हैं, परन्तु इसमें सन्देह नहीं है कि वे दोनों किसी चारण विद्वान् की रचना प्रतीत होती हैं। हमारी समझ मे सबसे प्राचीन टीका ही मूलार्थ के विषय में प्रामाणिक कही जा सकती है, क्योंकि समसामयिक होने

के कारण, स्वभावतः ही वह 'वेलि' के भावों को ज्यादा स्पष्टतः समझा सकने में समर्थ होना चाहिए। अतएव प्रकृत ग्रन्थ के भावार्थों को बोधगम्य कराने के लिए अधिकतर ढूँढाड़ी टीका को ही आधार रखा गया है। डा० टैसीटरी के मतानुसार ये सब टीकाएँ मूल ग्रन्थ के लिखे जाने के बाद ५० वर्ष की अवधि के अन्दर अन्दर लिखी जा चुकी थीं। यह भी संभव है कि ढूँढाड़ी और मारवाड़ी दोनों टीकाएँ कवि के जीवन-काल में ही बन गई हों, परन्तु ये हैं दोनों अवश्य स्वतन्त्र और उन दोनों में भी ढूँढाड़ी टीका अपेक्षाकृत पूर्वकालीन और ज्यादा प्रामाणिक जँचती है। संस्कृत टीका विशेषतः मारवाड़ी टीका के आधार पर बनी है, यह बात दोनों के मिलाने से स्पष्ट हो जाती है।

वेलि का प्रकाशनः उसकी आवश्यकता

हिन्दी-साहित्य के लिए अत्यन्त सौभाग्य की बात है कि 'वेलि' जैसे उच्च श्रेणी के काव्य की प्रख्याति को विस्तृत करनेवाली एवं उसके काव्यरसामृत को भाषा-रसिकों के सामने प्रकट करनेवाली ये प्राचीन टीकाएँ प्राप्य हैं। प्रायः देखा जाता है कि साहित्यज्ञों को इस प्रकार के पुराने ग्रन्थों को काव्य-रसिकों के समक्ष रखते हुए, उनके काव्यरस चमत्कार को पूर्णरूप से व्यक्त करने में आंशिक सफलता ही प्राप्त होती है। इस न्यूनता को बहुत अंश में ये टीकाएँ, सहायक बनकर, अवश्य दूर करती हैं, और साहित्य-प्रेमी का कार्य बहुत कुछ हलका कर देती हैं। परन्तु इन टीकाओं के होते हुए भी अब तक हिन्दी-साहित्यज्ञों को इस उत्कृष्ट काव्य-ग्रन्थ के विषय में बहुत कम जानकारी है। इसके कई कारण हैं। हमको स्वर्गीय डा० टैसीटरी का धन्यवाद करना चाहिए कि जिन्होंने पहले-पहल सन् १९१७ में 'वेलि' काव्य की महत्ता का परिचय कराते हुए, मूलग्रंथ का प्रकाशन किया और एक सारगर्भित

भूमिका लिखी। उन्होंने हिन्दी मे इस ग्रंथ का नूतन जन्म होने की सूचना दी। परन्तु डा० टैसीटरी ने डिंगल-भाषा-शास्त्र-सम्बन्धी कुछ अपर्याप्त नोटों के सहित केवल भूमिका-मात्र लिखकर न केवल साहित्य-प्रेमियों की उत्कण्ठा को बढ़ा दिया, वरन् उनके हृदय मे यह आशङ्का पैदा कर दी कि शायद उक्त काव्य को और ज़्यादा सरल और बोधगम्य करना असाध्य हो। अतएव यह आवश्यकता हुई कि कोई राजस्थानी विद्वान ही अपने स्वदेश प्रेम से प्रेरित होकर, एवं उक्त टीकाओं का पूर्ण उपयोग कर, भली भाँति से वेलि के लोकोत्तर आनन्ददायी काव्यरसामृत का आस्वादन समस्त हिन्दी-जगत् को शीघ्र ही कराता।

प्रकृत टीका और इसकी विशेषताएँ

हमें यह प्रकट करते हुए अत्यन्त प्रसन्नता होती है कि इस पवित्र और साहित्योपकारी कार्य को, अपने प्रतापी पूर्वजों के उज्ज्वल गौरव से गौरवान्वित होकर उन्हीं कविवर महाराज पृथ्वीराज के वंशज श्रीमहाराज जगमालसिंहजी महोदय ने, सम्पादित करके न केवल अपने पुण्यश्लोक पूर्वजों के पितृ-ऋण को चुकाया है, वरन राजस्थान-साहित्य का सदा के लिए मुख उज्ज्वल किया है। इस उत्कृष्ट साहित्योपकार के लिए वे हमारे हार्दिक धन्यवाद के पात्र हैं। हमारा दृढ़ विश्वास है कि यह टीका पूर्व टीकाओं की सब त्रुटियों और बाधाओं को हटा कर पुस्तक के उच्च भावों को सरल और सर्वप्रिय बनाने मे अत्यन्त सहायक होगी। फिर आजकल कई एक विश्वविद्यालयो तथा हिन्दी-साहित्य-संस्थाओं की उच्च कक्षाओं की हिन्दी-परीक्षा में यह काव्य कोर्स के रूप मे निर्दिष्ट है। बङ्गाल एशियाटिक सोसायटी में प्रकाशित हो जाने के अनन्तर इस पुस्तक के मूल को विद्यार्थी प्राप्त तो अवश्य कर लेते हैं, परन्तु हिन्दी जाननेवाले क्या विद्यार्थी, क्या अध्यापक, क्या साधारण

पेतुः क्षितौ गजरथाश्वगता विमूढा
यात्राच्छलेन हरयेऽर्पयतीं स्वशोभाम् ॥५४॥

वेलि:—आकरसण वसीकरण उनमादक,
परठि, द्रविण सोखण सर पञ्च।
चितवणि हसणि लसणि गति सँकुचणि,
सुन्दरि द्वारि देहुरा सञ्च ॥१०९॥

मनपगु थियौ सहु सेन मूरछित,
तइ नँह रहा सम्पेखतै।
नीपायाँ किरि तदि त्रिकुटी श्रै,
मठ पूतली पाखाणमै ॥११०॥

अब यदि देखा जाय तो पुराण के "तदुदारहासव्रीड़ा-ऽवलोकहृतचेतस्" वर्णन में कवि की प्रतिभान्वित अन्तर्दृष्टि ने जो पाँच पृथक् पृथक् भाव देखे हैं और उन्हें मानव-स्वभावानुगत मनोवेगों की प्रकृति के जिन विविध प्राकृतिक रङ्गों से रंगकर पुष्पसर के पाँच सरों के चित्ररूप मे उपस्थित किया है, वह कार्य एक उच्चकवि की कल्पना के योग्य ही है। काव्य में कल्पना के सहारे रमणीयता—स्वभावसुन्दर, प्राकृतिक रमणीयता—उत्पादन करना इसे ही कहते हैं।

वेलि, दोहला, ५७-५८ मे रुक्मिणी ने श्रीकृष्णजी के प्रति ब्राह्मण को न केवल मौखिक संवाद ही लेकर भेजा है वरन् एक लिखित पत्र भी प्रेषित किया है जो दोहला ५८ से ६६ तक वर्णित है। परन्तु भागवत में उस पत्र का कोई उल्लेख नहीं पाया जाता।

वल्ली तसु बीज भागवत वायौ,
महि थाणौ पृथुदास मुख।
मूल ताल जड़ अरथ मण्डहे,
सुथिर करणि चढि छाँह सुख ॥२९१॥

'वेलि' रूप बल्लि का बीज श्रीभगवद्भक्त महाराज पृथ्वीराज श्रीमद्भागवत से उद्धृत करके अपने अन्तःकरणरूपी क्षेत्र में बोया र वह भगवान की स्तुति के रूप में उनके मुख से वर्त्तमान काव्य तरह प्रकट हुआ। श्रीमद्भागवत के कथातन्त्र की वर्णनशैली, षा और भाव का वेलि की वर्णनशैली, भाषा और भाव से मिलान रने पर हमको यही निश्चय होता है कि कवि ने पुराण के आश्रय प्रायः स्वतन्त्र होकर ही अपनी प्रतिभा का स्वच्छन्दरूप में रिचय दिया है। उन्होंने केवल मात्र कथातन्त्र के सम्बद्ध भाव को कर अपने स्वतन्त्र काव्य का निर्माण किया है। कहीं कहीं तो काव्य-रङ्गिणी के उल्लास में कवि ने कथातन्त्र को अपनी काव्यमयी ल्पना के रङ्ग में रङ्ग डाला है। इससे कवि की मौलिक प्रतिभा की वरता का पर्याप्त परिचय मिलता है। परन्तु साधारणतः कवि ने धिवत् मूलकथा का अनुगमन करते हुए अपनी ही शैली के अनु-कूल काव्य-विस्तार किया है। इस प्रकार के चमत्कारपूर्ण काव्य-विस्तार के ढङ्ग का एक साधारण नमूना हम आगे उदाहरणवत् देते हैं जिसमें भागवत दशमस्कंध अ० ५३ श्लोक ५३-५४ के अन्तर्गत वर्णित एक छोटे से वर्णन को वेलि, छंद १०९-११० में असाधारण काव्यमय, चमत्कारपूर्ण स्वरूप देकर विस्तार किया गया है यथा.—

पुराण:—

यां वीक्ष्य ते नृपतयस्तदुदारहास-
व्रीडाऽवलोकहृतचेतस् उज्झितास्त्राः ॥५३॥

काव्य-रसिक सभी के लिए इसके मूल के गर्भ में छिपे हुए भावों को समझना कठिन ही नहीं, असंभव होता है। हमें विश्वास है, कि जिस प्रकार 'पृथ्वीराजरासो' अथवा 'बीसलदेवरासो' जैसे प्राचीन काव्यों का भावार्थ समझने में विद्यार्थियों और रसिकों को जो जो कठिनाइयाँ होती हैं, वे इस ग्रंथ के सम्बन्ध में अब से न रहेंगी। फिर, अब तक तो हिन्दी में महाराज पृथ्वीराज केवल फुटकर, दोहा, सोरठा, कवित्त, छप्पय इत्यादि लिखनेवाले अकबर के दरबार में एक "साधारण श्रेणी" के कवि माने जाते थे। परन्तु आशा की जाती है कि इस प्रयास के फलस्वरूप, इस काव्य के श्रेष्ठ गुण जब काव्यमर्मज्ञों के हृदय में घर कर लेंगे, तो अवश्य उनको कवि के काव्य की सच्ची उत्कृष्टता का पता लगेगा और हिन्दी-कवियों की श्रेणी में कवि को अपना यथोचित आसन प्राप्त होगा।

वेलि का आधार

जिस पुराण ग्रंथ में से और जहाँ से कथा का बीजरूप आश्रय ग्रहण कर ग्रंथ-निर्माण किया गया है; जिस प्रकार उस सूक्ष्म बीज के आधार पर कथा का विस्तार किया गया है, तथा मौलिक बीज-रूप कथानक में और कवि के प्रकृत काव्यान्तर्गत कथानक में, उन दोनों की शैली और काव्यसम्पादन के ढङ्ग में जो जो अन्तर है, उनके गुण-दोषों का यहाँ विवेचन करना आवश्यक है।

श्रीमद्भागवत पुराण और वेलि

श्रीमद्भागवत पुराण, दशमस्कन्द के अन्तर्गत अध्याय ५२-५३-५४-५५ में से वेलि की कथा का बीजरूप आश्रय उद्धृत किया हुआ है। यह बात स्वयं कवि ने ग्रन्थान्तर्गत छन्द २९१ में बड़े सुचारु रूपक के ढङ्ग में वर्णन करते हुए स्वीकृत की है:—

वल्ली तसु बीज भागवत वायौ,
महि थाणौ पृथुदास मुख ।
मूल ताल जड़ अरथ मण्डहे,
सुथिर करणि चढि छाँह सुख ॥२९१॥

'वेलि' रूप बल्लि का बीज श्रीभगवद्भक्त महाराज पृथ्वीराज ने श्रीमद्भागवत से उद्धृत करके अपने अन्तःकरणरूपी क्षेत्र में बोया और वह भगवान की स्तुति के रूप में उनके मुख से वर्त्तमान काव्य की तरह प्रकट हुआ । श्रीमद्भागवत के कथातन्त्र की वर्णनशैली, भाषा और भाव का वेलि की वर्णनशैली, भाषा और भाव से मिलान करने पर हमको यही निश्चय होता है कि कवि ने पुराण के आश्रय से प्रायः स्वतन्त्र होकर ही अपनी प्रतिभा का स्वच्छन्दरूप में परिचय दिया है । उन्होंने केवल मात्र कथातन्त्र के सम्बद्ध भाव को लेकर अपने स्वतन्त्र काव्य का निर्माण किया है। कहीं कहीं तो काव्य-तरङ्गिणी के उल्लास में कवि ने कथातन्त्र को अपनी काव्यमयी कल्पना के रङ्ग में रङ्ग डाला है । इससे कवि की मौलिक प्रतिभा की प्रखरता का पर्याप्त परिचय मिलता है । परन्तु साधारणतः कवि ने विधिवत् मूलकथा का अनुगमन करते हुए अपनी ही शैली के अनुकूल काव्य-विस्तार किया है । इस प्रकार के चमत्कारपूर्ण काव्य-विस्तार के ढङ्ग का एक साधारण नमूना हम आगे उदाहरणवत् देते हैं जिसमें भागवत दशमस्कंध अ० ५३ श्लोक ५३-५४ के अन्तर्गत वर्णित एक छोटे से वर्णन को वेलि, छंद १०९-११० में असाधारण काव्यमय, -चमत्कारपूर्ण स्वरूप देकर विस्तार किया गया है यथाः—

पुराणः—

यां वीक्ष्य ते नृपतयस्तदुदारहास-
व्रीडाऽवलोकहृतचेतस उज्झितास्त्राः ॥५३॥

पेतुः क्षितौ गजरथाश्वगता विमूढा
यात्रान्छलेन हरयेऽर्पयतीं स्वशोभाम् ॥५४॥

वेलिः—आकरसण वसीकरण उनमादक,
परठि, द्रविण सोखण सर पञ्च ।
नितवणि हसणि लसणि गति सँकुचणि,
सुन्दरि द्वारि देहुरा सञ्च ॥१०९॥

मनपगु थियौ सहु सेन मूरछित,
तह नह रहो सम्पेखतै ।
नीपायौ किरि तदि निकुटी नै,
मठ पूतली पाखाणमै ॥११०॥

अब यदि देखा जाय तो पुराण के "तदुदारहासव्रीडा-ऽवलोकहृतचेतस्" वर्णन में कवि की प्रतिभान्वित अन्तर्दृष्टि ने जो पाँच पृथक् पृथक् भाव देखे हैं और उन्हें मानव-स्वभावानुगत मनोवेगों की प्रकृति के जिन विविध प्राकृतिक रङ्गों से रंगकर पञ्चसर के पाँच सरों के चित्ररूप मे उपस्थित किया है, वह कार्य एक उच्चकवि की कल्पना के योग्य ही है। काव्य मे कल्पना के सहारे रमणीयता—स्वभावसुन्दर, प्राकृतिक रमणीयता—उत्पादन करना इसे ही कहते हैं।

वेलि, दोहला, ५७-५८ में रुक्मिणी ने श्रीकृष्णजी के प्रति ब्राह्मण को न केवल मौखिक संवाद ही लेकर भेजा है वरन् एक विस्तृत पत्र भी प्रेषित किया है जो दोहला ५८ से ६६ तक वर्णित है। परन्तु भागवत मे उक्त पत्र का कोई उल्लेख नहीं पाया जाता।

वहाँ ब्राह्मण केवल मौखिक संवाद ही ले गया था। देखो—पुराण—स्कन्ध १० श्लोक २६, ३६।

> तद्वेत्यासितापाङ्गी वैदर्भी दुर्मना भृशम् ।
> विचिन्त्याप्तं द्विजं कञ्चित् कृष्णाय प्राहिणोद्‌द्रुतम् ॥२६॥
> एवं संपृष्टसंप्रश्नो ब्राह्मण परमेष्ठिना ।
> लीलागृहीतदेहेन तस्मै सर्वमवर्णयत् ॥३६॥

स्पष्ट है कि कवि ने पत्र का भेजा जाना अपनी ओर से कल्पित किया है। पत्र के भावों को पढ़कर सहृदय पाठकों को विदित होगा कि कवि ने उक्त नूतन साधन का प्रयोग करते हुए, उसके द्वारा काव्य में श्रीकृष्ण-रुक्मिणी की आन्तरिक प्रीति, उनके अलौकिक सम्बन्ध एवं आदर्श गुणों का निदर्शन करके ग्रंथ को कितना भावुक और स्वाभाविक सौन्दर्य्य दे दिया है। काव्यों में इस प्रकार के अवसरों पर प्रेम-पत्रों का उपयोग संस्कृत के बड़े-बड़े कवियों ने अपने काव्यों में भी किया है, यथा, शकुन्तला के दुष्यन्त के प्रति प्रणयपत्र में कविवर कालिदास ने।

रुक्मिणी का नखशिखरूपवर्णन, वसन्तादि षट्ऋतुओं का वर्णन, यही क्यों, प्रायः सभी विस्तृत वर्णन जो मुख्य कथा से विशेष सम्बन्ध नहीं रखते वरन् काव्याडम्बर की तरह उपयुक्त हुए हैं,—ये सब कवि की स्वतन्त्र कल्पना के आधार पर ही वर्णित हैं। इनका आधार पुराण में नहीं पाया जाता।

रुक्मिणी-हरण के उपरान्त जो युद्ध-वर्णन है, वह भागवत के उल्लेख से विशेष समानता नहीं रखता, वरन् इस बात को प्रमाणित करता है कि एक क्षत्रिय कवि, जिसको बड़े-बड़े युद्धों का प्रचुर अनुभव प्राप्त होता है, वीर-रस के वर्णनों में स्वभावतः ही कितना सिद्ध-हस्त होता है और कितना सहज दाक्षिण्य रखता है कि अवसर

और अनवसर की ओर कुछ ध्यान न देता हुआ अपने स्वभावगत गुण के लोभ का संवरण नहीं कर सकता।

इसी प्रकार प्रेयसी रुक्मिणी के अनुरोध से भगवान का प्रसन्न होकर रुक्म के मस्तक पर हाथ फिराना और तत्क्षण उसके मुँड़े हुए सिर पर केशों का पूर्ववत् फिर से उग जाना—यह वृत्त भी कवि-कल्पित ही है। कवि ने ऐसा करके युद्ध के परिणाम में रुक्म-विरूपण की उस दुःखान्त घटना को अपनी कल्पना से सुखान्त करके काव्य-सौष्ठव को और अधिक बढ़ाने की चेष्टा की है।

यह तो हुई विभिन्नताएँ। अब यदि दोनों ग्रन्थों में समानताओं का अन्वेषण किया जाय, तो बहुत कम स्थल ऐसे 'वेलि' में मिलेंगे जिनको हम पुराण का अक्षरशः अथवा भाव का ज्यों का त्यों अनुकरण कह सकते हैं। डा० टैसीटरी ने बड़े परिश्रम के साथ तीन चार समान स्थलों को उद्धृत किया है, परन्तु उनमें ऐसा कोई भाव नहीं है कि जिसके आधार पर हम कवि को भावापहरण का दोष लगा सकें। हाँ, इन समानताओं के विषय में इतना हम अवश्य कहेंगे कि कवि ने केवल कथानक के सूत्र का निर्वाह करने के लिए बाध्य होकर कहीं कहीं कथा का अनुकरण उसी ढङ्ग से किया है। अपनी प्रतिभा की मौलिकता पर इतना विश्वास रखते हुए भी महाराज पृथ्वीराज की श्रीमद्भागवत पुराण के प्रति कृतज्ञता एवं निस्सीम श्रद्धा का प्रमाण इसी बात से मिलता है कि उनको भागवत का उपकार कभी नहीं भूलता। उदाहरणतः वेलि, दोहला ९८ में उन्होंने भागवत का बड़ी श्रद्धा के साथ नामोल्लेख किया है:—

नासा अग्रि मुताहल निहसति।
भजति कि सुक मुखि भागवत ॥९८॥

काव्य का नाम 'वेलि' क्यों पड़ा, यह बात स्वयं कवि ने ही उत्तर भाग में कई एक सुन्दर छन्दों में स्पष्ट कर दी है। दोहला: २९१-९२ में ग्रन्थ के नामान्तर्गत सुन्दर प्राकृतिक रूपक का स्पष्टीकरण यों किया गया है:—

नामकरण-वेलि

वल्ली तसु बीज भागवत् वायौ,
महि थाणौ पृथुदास मुख।
मूल ताल जड़ अरथ मण्डहे,
सुथिर करणि चढि छाँह सुख॥
पत्र अक्खर दल द्वाला जस परिमल,
नव रस तन्तु विधि अहो निसि।
मधुकर रसिक सु भगति मंजरी,
मुगति फूल फल भुगति मिसि॥

भागवत-वर्णित भगवद्भक्तिरूपी बीज महाराज पृथ्वीराज जैसे भक्त की हृदयस्थली में बोया गया, जिसके परिणाम-स्वरूप उनके मुखरूपी आलवाल से यह भक्ति-'वेलि' अंकुरित होकर प्रकट हुई। इस रचना-रूपी वेल के मूल दोहलों की लय और संगीत ही इसकी दृढ़ जड़ें हैं जिनके आधार पर यह स्थित है और उनका भाव और आशय वह मण्डप है जिस पर इस काव्य-वल्ली की शाखा प्रशाखाओं का विकास-मार्ग निर्दिष्ट है। यह वेलि भक्त और काव्यरसिक पाठकों की रुचि और श्रद्धा को पाकर अपनी शाखा-प्रशाखाओं को फैलाती हुई उनके हृदय को अपनी भगवद्भक्तिरूपी सघन छाँह के नीचे चिर-शान्ति और अनन्त आनन्द प्रदान करेगी। इस वेलि के अक्षर ही इसके पत्ते हैं और भगवान् का यशोगान और उनकी महिमा—यही इसकी मनोहारिणी सुगन्धि। इसके विस्तृत तन्तुजाल इसके वर्णना-

न्तर्गत नवरसों का समूह है। सहृदय काव्यप्रेमी पाठक लोभी भ्रमर की तरह इसके भावार्थरूपी मधुसौरभ का आस्वादन करते हुए प्रेमानन्द में लीन होकर इसके चारों ओर मँडराते रहते हैं। इसको पढ़कर पाठकों के हृदय में भक्ति का जो स्वाभाविक उद्रेक होगा, वही इस वेलि पर मञ्जरी का लगना है। तदनन्तर और ज्यादा अनुशीलन करने पर भक्त पाठकों को मुक्ति के रूप में इस वेलि का सुगन्धित पुष्प प्राप्त होता है और संसार में रहते हुए भगवान् की अनुकम्पा से ऐसे भक्त पाठकों की बुद्धि निर्मल होकर उनको अनेक ऐश्वर्य भोग के साधन प्राप्त होते हैं। वही मानो इसका इहलौकिक फल है। ऐसी है यह "वेलि"।

कालिदास और पृथ्वीराज (कविप्रथानुगमन)

कवि ने दोहला १-८ तक ग्रन्थ के गम्भीर विषय का परिचय देते हुए इस महानकार्य को सम्पादन करने में अपनी अपेक्षाकृत दीनता एवं असामर्थ्य के भाव प्रकट किये हैं। प्राय: संस्कृत और भाषा के कवियों में इस प्रकार की विनय-परम्परा पुरातनकाल से प्रथारूप में चली आ रही है। इसमें कवि ने कालिदास, तुलसीदासादि महाकवियों के मार्ग का सब प्रकार से अपनी ही शैली में अनुकरण किया है। यह वर्णन विशेषरूप से कालिदास के रघुवंशान्तर्गत विनय की छाया सा प्रतिफलित होता है। इससे यह प्रमाणित नहीं होता कि पृथ्वीराज ने उक्त कवि का भावापहरण किया। परन्तु इतना अवश्य स्पष्ट है कि कवि के विचार के अग्रभाग में इस महाकवि का उक्त महाकाव्य एवं इतर काव्य अवश्य थे।

कालिदास ने रघुवंश के प्रारम्भ में, विषय की गहनता की अपेक्षा, अपनी काव्य-सम्पादन की सामर्थ्य की दीनता को इस प्रकार व्यक्त किया है:—

रघुवंशः—

"तितीर्षुर्दुस्तरं मोहादुडुपेनास्मि सागरम्" ॥२॥
"मन्दः कवियशःप्रार्थी गमिष्याम्युपहास्यताम् ।
प्रांशुलभ्ये फले लोभादुद्वाहुरिव वामनः" ॥३॥

इसी प्रकार महाराज पृथ्वीराज ने ग्रन्थ के प्रारम्भ में दूसरे शब्दों में उन्हीं भावो को प्रकट करते हुए विषय की गहनता की अपेक्षा अपनी असामर्थ्य बताई है:—

"किरि कउचीत्र पूतली निज करि । चीत्रारै लागी चित्रण" ॥२॥
"जाणे वाद माँडियौ जीपण । वागहीणि वागेसरी" ॥३॥
"पङ्गी कवण गयण लगि पहुचै । कवण रङ्क करि मेरु करै" ॥६॥

इस विनयशृंखला के भावों का संक्षेप में यहाँ परिहार कर आगे चल कर कालिदास ने अपने प्रकृत विषय को सम्पादन करने की आवश्यकता का कारण बताया है:—

रघूणामन्वयं वक्ष्ये तनुवाग्विभवोऽपि सन ।
तद्गुणैः कर्णमागत्य चापलाय प्रणोदितः ॥९॥ रघु० ।

और इसी प्रकार अपनी विनयशृंखला के उपरान्त पृथ्वीराज ने असमर्थ होते हुए भी, भगवान् की लीला का वर्णन करना अपना आवश्यक कर्त्तव्य समझा है:—

जिणि दीध जनम जगि मुखि दे जीहा । क्रिसन जु पोखण भरण करै ।
कहण तणो तिण तणौ कीरतन । स्रम कीधा त्रिणु केम सरै ॥७॥

जिस प्रकार अपने विषय में प्रवेश करते समय कालिदास पूर्व-कवियों के प्रति कृतज्ञता को नहीं भूल गये हैं, उसी प्रकार पृथ्वीराज ने भी पूर्व भगवद्भक्त कवियों का कृतज्ञता-पूर्ण स्मरण किया है:—

रघुवंशः—

अथवा कृतवाग्द्वारे वंशेऽस्मिन् पूर्वसूरिभिः ।
मणौ वज्रसमुत्कीर्णे सूत्रस्येवास्ति मे गतिः ॥४॥

वेलिः—

सुकदेव व्यास जैदेव सारिखा । सुकवि अनेक ते एक सन्थ ॥८॥

इस प्रकार का विनय-वर्णन ग्रन्थारम्भ मे तुलसीदासजी के रामचरितमानस में भी उपलब्ध होता है। पाठक स्वयं अपने लिए देख लेंगे। हम केवल एक दो उदाहरण पूर्वक्रमानुसार रामचरितमानस से उद्धृत कर देते हैं:—

(१) विषय की गहनता और अपनी असामर्थ्य ।

शारद शेष महेष विधि, आगम निगम पुराण ।
नेति नेति कहि जासु गुन करहि निरन्तर गान ॥

(२) स्वकीय प्रयास की आवश्यकता ।

"सब जानत प्रभु प्रभुता सोई, तदपि कहे बिन रहा न कोई"।

(३) पूर्वकवियों की बन्दना ।

"व्यास आदिकवि पुङ्गव नाना, जिन सादर हरिसुजस बखाना।
चरन कमल बन्दौं तिन केरे " ...."॥

दोहला ८-९ मे कवि ने, शृङ्गाररस प्रधान होने के कारण, वेलि के वर्णन में कृष्ण की अपेक्षा रुक्मिणी के वर्णन को प्रधानता दी है और इस विषय में शास्त्रोल्लेख किया है:—

"स्रीवरणण पहिलौ कीजै तिणि । गूँथियै जेणि सिङ्गार ग्रन्थ" ॥८॥

इस विषय में कवि ने पूर्व महाकवियों के दृष्टान्तों का ही अनुसरण किया है। प्रायः सभी शृङ्गारग्रन्थों मे संस्कृत कवि सदा नायिका के वर्णन को नायक के वर्णन से पहले स्थान देते आये हैं, क्योंकि शृङ्गाररस का स्थायिभाव रति पुरुष की अपेक्षा स्त्री मे शास्त्रा-

नुसार ज्यादा माना गया है। जयदेव कवि ने 'गीतगोविंद' के प्रथम श्लोक में ही, "राधामाधवयोर्जयन्ति यमुनाकूले रहः केलयः" कह कर स्त्री के प्रति अपना विशेष सम्मान शास्त्रनियमानुसार प्रदर्शित किया है। इसी प्रकार महाकवि कालिदास ने रघुवंश में, "पार्वती-परमेश्वरौ" की वन्दना कर, मल्लिनाथ की टीका के शब्दों में, "मातुरभ्यर्हितत्वात्" माता की, पिता की अपेक्षा प्रधानता प्रकट की है।

प्रसिद्ध साहित्यकार विश्वनाथ कविराज ने लिखा है:—

"आदौ वाच्यः स्त्रियाः रागः पुंसः पश्चात्तदिङ्गितैः॥"

(सा० द० ३ परि० २१६)

दोहला ११-२४ तक रुक्मिणी का रूप-वर्णन अतीव सुन्दर काव्यमयी कल्पनाओं के रूप में किया गया है। यहाँ पर भी कवि को कालिदास का अभ्यस्त काव्यपथ नहीं भूला है और उन्होंने रुक्मिणी का शैशवकाल से प्रारम्भ कर, क्रमागत यौवनावस्था तक के विकास-क्रम का वर्णन करते हुए कुमारसंभवान्तर्गत पार्वती के रूप वर्णन की शैली का आधार लिया है। दोनों कवियों की शैली की समानता अथवा पृथ्वीराज के शैल्यनुकरण का निर्देश करते हुए हम यह बताना चाहते हैं कि कवि ने केवल काव्य-मार्ग में कविसम्राट् के आदर्श का अवलम्बन किया है।

दोहला १२ में रुक्मिणी-जन्म का परिचय यों दिया गया है:—

रामा अवतार नाम ताइ रुकमणि। मानसरोवरि मेरुगिरि।
बालकति किरि हंस चौ बालक। कनक-वेलि बिहुं पान किरि॥१२॥

कालिदास ने पार्वती का जन्म-परिचय इस प्रकार दिया है:—

तया दुहित्रा सुतरां सवित्री, स्फुरत्प्रभामण्डलया चकाशे।
विदूरभूमिर्नवमेघशब्दात्, उद्भिन्नया रत्नशलाकयेव॥२४॥

(कुमारसम्भव)

दोनों वर्णनों की समानता इस बात में है कि पार्वती तो "स्फुर-त्प्रभा-रत्नशलाका" होने के कारण दिव्य सौन्दर्य्य की प्रतिमा है और रुक्मिणी "कनक-वेलि" होने के कारण। परन्तु इनकी उत्पत्ति के विषय में दोनों कवियों में मतभेद है। महाकवि कालिदास की पार्वती, 'नये मेघ की गर्जन से फटी हुई वैदूर्य्यमणिमय भूमि पर अकस्मात् प्रकट हुई रत्नशलाका की तरह' शोभायमान है और पृथ्वीराज की रुक्मिणी 'सुमेरु पर्वत पर अकस्मात् प्रस्फुटित हुई कोमल कोमल दो हरे पत्तोंवाली सुवर्णलता' की तरह है। रङ्गों की विचित्र भिन्नता दोनों ओर वर्णन में सौन्दर्य की स्थापना करती है। एक में नीलवर्ण की वैदूर्य्य भूमि पर विभिन्न रङ्ग की रत्नशलाका—संभवतः सुवर्ण रङ्ग की ज्वलन्त रेखा; दूसरे में सुवर्ण पर्वत पर विभिन्न रङ्ग की—संभवतः नील, वानस्पत्य रङ्ग की कनकवेलि प्रकट हुई है। परन्तु कालिदास की कल्पना इस बात में अनोखी है कि यह 'रत्नशलाका,' 'नवमेघ-शब्दात् उद्भिन्नया विदूरभूमि' पर अलौकिक चमत्कार-पूर्ण कारण से उत्पन्न हुई है और जड़ प्रकृत्यन्तर्गत खनिज पदार्थों की सृष्टि में एक अद्भुत नवीनता उत्पन्न करके मानव-दृष्टि को अपनी अद्भुत रमणीयता से चमत्कृत एवं आश्चर्य्यान्वित कर देती है। पृथ्वीराज का वर्णन इस बात में अनोखा है कि यह कनक-लता सुमेरु जैसे प्रसिद्ध पौराणिक पर्वत पर जीवन स्फूर्त्ति के स्वरूप में प्रकट हुई है; अतएव हमारे सहधर्मी जीवन के अन्तर्वाही प्रेम और भक्ति के सहज भावों के साथ प्राकृतिक सहानुभूति उद्भासित करती हुई यह हमारे प्रेम और सौहार्द्य का अपनी ओर स्वभावतः ही आकर्षण करती है। एक में जीवनमय प्रकृति के लौकिक एवं स्वाभाविक सौन्दर्य्य की जगमगाहट है; दूसरे में जड़ प्रकृति के अलौकिक एवं अनोखे सौन्दर्य्य की प्रभा है।

इसी प्रकार महाकवि केशवदास ने 'रामचन्द्रिका' में अयोध्या-वर्णन के प्रसंग में स्त्री-सौन्दर्य्य में "स्वर्णलता" की उत्प्रेक्षा की है।

अयोध्या में सुन्दरियाँ अटारी पर चढ़ीं ऐसी शोभा दे रही हैं मानो, "ऊपर मेरु मनो मनरोचन। स्वर्णलता जनु रोचति लोचन।" परन्तु "विहुधान किरि" वाले जीवन-स्रोत का वहाँ भी अभाव ही है।

आगे के दोहले में रुक्मिणी का क्रमागत वयोविकास इस प्रकार प्रदर्शित है:—

अनि वरिस वधै ताइ मास वधै ए, वधै मास ताइ पहर वधन्ति।
लखण बत्रीस बालुलीलामैं, राजकुँअरि हूलड़ी रमन्ति ॥१३॥

इस विषय में कुमार-संभव में पार्वती के वय-विकास-क्रम का वर्णन इस प्रकार है:—

दिने दिने सा परिवर्धमाना,
लब्धोदया चान्द्रमसीव लेखा।
पुपोष लावण्यमयान् विशेषान्।
ज्योत्स्नान्तराणीव कलान्तराणि ॥२५॥

समानता इस बात में है कि दोनों कवियों ने क्रमशः रुक्मिणी और पार्वती के परिवर्द्धन के सम्बन्ध में, थोड़े समय में अधिक उन्नति होना बताया है। कालिदास ने, "दिने दिने" मात्र में विकास के प्रवाह की द्रुतगति दरसा कर अपनी प्रसादगुणमयी शब्दयोजना की प्रतिभा दरसाई है और पृथ्वीराज ने इसी विकास-क्रम की शीघ्रगति के बताने के लिए बरस, मास और प्रहर तक की उन्नति के परिमाण की सूक्ष्म सूचना देकर विषय को ज़्यादा हृदयग्राही और प्रभावोत्पादक बनाना चाहा है, परन्तु साथ ही पूर्वोक्त महाकवि की तरह लौकिक परिवर्द्धन के क्रम की उपेक्षा करके विषय को अलौकिक वैभव नहीं दिया है। कालिदास ने उपमानरूप में चन्द्र को नियुक्त कर

उसकी कलाओं की वृद्धि के क्रम के साथ पार्वती के अवयव-संवर्धन की समानता की है और इस विषय में अपनी कल्पना को अलौकिक सौन्दर्य्य का स्वरूप दे दिया है। महाराज पृथ्वीराज ने मानव-शृङ्गार शास्त्रानुमत ३२ लक्षणमय अवयव-परिवर्द्धन-सम्बन्धी विशेषताओं का निदर्शन कर रुक्मिणी को मानव सौन्दर्य्य के लौकिक आदर्श पर स्थापित किया है। महाकवि कालिदास की पार्वती, निस्संदेह, 'देवतात्मा' हिमालय की पुत्री होने के कारण दिव्य शक्ति है। उसका सौन्दर्य्य, तेज, वैभव चमत्कारी अवश्य है परन्तु अनभिगम्य और वन्द्य है—लोक से परे है। महाराज पृथ्वीराज की रुक्मिणी भक्तों के हृदय में वास करनेवाली वह देवी है जो अपने भक्त की अटल भक्ति के वशीभूत होकर उसी के मानव आदर्श को दिव्यरूप में धारण कर लेती है। अतएव वह हमको विशेष प्रिय है; वह हमारी श्रद्धा और भक्ति को स्वभावतः ही ज़्यादा सहजता से आकर्षित कर सकती है।

दोहला १५-२४ पर्यंत इसी प्रकार की उच्च शृङ्गारप्रधान भावमयी उक्तियाँ भरी हैं। इन कल्पनाओं की सूझ की गहनता पर मनन करनेवाले रसिकों को मुक्तकंठ होकर पृथ्वीराज को हिन्दी के श्रेष्ठ कवियों की श्रेणी में आदर देना पड़ेगा। हम इन सब दोहलों के विचित्र सौन्दर्य्य पर अलग अलग आलोचना करना यहाँ पर अनावश्यक समझ कर केवल दोहले १५ पर कुछ अपने विचार प्रकट कर देना पर्याप्त समझते हैं, जिसका लोभ हम संवरण नहीं कर सकते। शेष दोहले विद्वान् रसज्ञों के मनन एवं अनुशीलनार्थ छोड़ देते हैं।

सैसव तनि सुखपति जोव्रण न जाग्रति, वेस सन्धि सुहिणा सुवरि।
हिव पल् पल् चढ़तौ जि होइसै, प्रथम ग्यान एहवी परि॥१५॥

इस दोहले के भावार्थ पर मनन करते हुए पाठकों का ध्यान हम दो विशेषताओं पर आकृष्ट करते हैं। एक तो यह कि कवि ने किस सहजता के साथ मानव-विज्ञान अथवा दर्शनशास्त्र-संमत सुषुप्ति, स्वप्न और जाग्रतावस्थाओं जैसी सूक्ष्म वृत्तियों को उपमारूप में प्रकट कर अपने गम्भीर शास्त्रज्ञान का परिचय दिया है। दूसरे, देवी रुक्मिणी के यौवनागम का वर्णन करते हुए कवि ने किस विलक्षण दक्षता के साथ, दर्शनशास्त्र के सूक्ष्म एवं प्रकृत प्रसंगवश सहज ही बुद्धिगम्य होनेवाले पवित्र सिद्धान्तों को अवरोधरूप में डाल कर साधारण जन के विचारों को दूषित हो जाने की सम्भावना से बचाया है। इसको उच्चतम श्रेणी का काव्य-चातुर्य कहते हैं और परम ज्ञानी कवि का यह एक लक्षण है। उपमा की सहजता एवं स्वाभाविक प्राकृतिकता के सम्बन्ध में इतना ही कहना अलम् होगा, कि काव्य-शास्त्र में यह एक अनोखी सूझ है। दोहला १६ भी इसी बात का द्योतक है कि जगन्माता विष्णुपत्नी के रूप, यौवन और अवयव-विकास का वर्णन करते हुए कवि ने समझ बूझ कर प्रकृति के उन शुद्ध उपमानों एवं पवित्र प्राकृतिक दृश्यों का आधार लिया है, जिनकी भावुकता पर मनन करने से काव्य-रसिकों की चित्तवृत्ति में किसी प्रकार का दूषित विकार नहीं उत्पन्न होने पाता। उषःकालीन अरुणोदय-रूपी यौवन-स्फूर्ति और स्वरूप-लालिमा के विकास-काल में अवयव विशेषरूपी ऋषियों का जागृत होना और ईश-उपासना में लगना, प्रकृत विषय में किस उच्चश्रेणी की पवित्रता का समावेश करता है, यह ज्ञानी और भक्त रसज्ञ स्वयं जान लेंगे। दोहले १७ में उस क्रमागत अवस्था का वर्णन है जिसको वय:सन्धि अथवा Adolescent age कहते हैं। अपने प्रिय बाल्यकाल को गया हुआ देखकर और उसके स्थान पर स्थानापन्न जीवन के एक अद्भुत, नवीन स्फूर्तिकारी बसन्त-सदृश जीवन-प्रवाह को आया

पत्र के भाव, उसमें प्रयुक्त उपमाएँ एवं प्रसंग (Allusions) प्रधानतः पौराणिक हैं और उनमें आदिपुरुष विष्णु और आदि प्रकृति-स्वरूप महामाया लक्ष्मी के अनादिकालीन पतिपत्नीसम्बन्धों के युगयुगान्तर में निर्वाह का निदर्शन किया गया है और उसी अनादि सम्बन्ध के अधिकार पर रुक्मिणी श्रीकृष्ण से सहायता एवं परित्राण की आशा करती है। यह सब बात रुक्मिणी के भगवत्स्वरूप के पूर्वज्ञान का पर्याप्त परिचय देती है। हमारी दृष्टि में रुक्मिणी का यह संदेश एक जीवात्मा का विश्वात्मा के साथ सायुज्य स्थापित करने का प्रयत्न है। "ज्ञानाग्निदग्धकर्माणि" ने (जैसा कि हम ऊपर प्रमाणित कर आये हैं) रुक्मिणी के जीवात्मा को वह दिव्यदृष्टि दे दी है कि जिससे वह संसार के मायावी अवरोधों को हटा कर उस विश्वात्मा के दिव्यस्वरूप को भक्ति की दृष्टि से और सायुज्य-प्राप्ति की उत्कंठा से देख सकती है और अनन्त प्रेम के समुद्र में लीन हो सकती है, कि जो उसका अनादि निवासस्थान था और अन्तिम विश्रामस्थल होगा। बस, मोक्ष की अवस्था में और इस अवस्था में विशेष अन्तर नहीं है। यह तो हुआ पत्र का दार्शनिक विवेचन।

पत्र का प्रासंगिक विवेचन करते हुए हम अनुमान कर सकते हैं कि संभव है, कवि ने पुराण के कथानक से मतभेद करते हुए यह विचार, अन्य विचारों की तरह, अपने काव्य-गुरु कालिदास से लिया हो। हमारा यह कल्पना-मात्र है; वास्तविकता इसमें कहाँ तक है, हम नहीं कह सकते। 'अभिज्ञान-शाकुन्तल' में शकुन्तला का प्रायः इसी प्रकार की दुःख-पूर्ण अवस्था में अपने प्राणप्यारे को पत्र लिखना शायद कवि को स्मरण रहा हो। दोनों पत्रों में विशेष भाव-सादृश्य दृष्टिगोचर नहीं होता, कारण, दोनों विभिन्न दशाओं में विभिन्न प्रकार की नायिकाओं द्वारा प्रेषित किये गये हैं।

हुआ जानकर, एक साधारण गृहस्थ-कन्या की तरह रुक्मिणी को भी एक प्रकार की विचित्र परिवर्त्तन-जन्य मनोज्ञवेदना होती है, जो अत्यन्त स्वाभाविक है। वे कहती होंगी; 'कौन ले गया लूट, हाय! मेरे बालकाल का सुख-भंडार'। उनके इस प्रकार के प्राकृतिक भावों में कैसा गंभीर मनोवैज्ञानिक और स्वाभाविक तथ्य कूट कूट कर भरा है, यह बात मानव-जीवन की सूक्ष्मताओं का अध्ययन करनेवाले किसी भी पुरुष से छिपी नहीं है। कविवर रवीन्द्रनाथ ठाकुर अपनी वय:सन्धि-विषयक आख्यायिकाओं और उनकी स्वाभाविकता के लिए विश्वप्रसिद्ध हैं। यदि पाठक इस छंद के आन्तरिक सन्देश को उनकी कई एक ऐसी आख्यायिकाओं से मिलान करके देखें तो उनको सहज ही में कवि की गंभीरता का पता लग सकेगा। आगे चलकर कवि ने विषय की पवित्रता को ध्यान में रखते हुए रुक्मिणी के वय:विकास की तुलना, जहाँ तक हो सका है, ऋतु-विकास के प्राकृतिक परिवर्त्तनों और तज्जन्य विविध चिह्नों के साथ की है, जो विषय को मनोविकार-दूषण-रहित करने के साथ ही साथ उसको अत्यन्त स्वाभाविक और मनोज्ञ कर देता है और कवि के सूक्ष्म प्रकृति-परिशीलन का प्रचुर परिचय देता है। इस प्रकार के वर्णनों के उच्च काव्य-सौष्ठव के आधार पर हम मुक्तकंठ से कह सकते हैं कि महाराज पृथ्वीराज हिन्दी के सर्वश्रेष्ठ कवियों की श्रेणी में पूजनीय हैं।

दोहला २४-२७ तक अवयव-विशेष के सौन्दर्य का उपयुक्त २ उपमाओं की तुलना करके वर्णन किया गया है। इस विषय में पाठक कुमार-संभव प्रथम सर्ग, श्लोक ३४-४८ तक पार्वती का नख-शिख-वर्णन तुलनात्मक दृष्टि से पढ़कर विशेष लाभ उठा सकेंगे। छंद २८ में कवि ने संक्षेप में रुक्मिणी के विविध-शास्त्र-विषयक ज्ञानोपार्जन की चर्चा करते हुए और साथ ही उसी ज्ञान को भगवद्भक्ति का कारण रूप स्थापित करते हुए, ज्ञान-जन्य पवित्रता के

फल-स्वरूप रुक्मिणी का श्रीकृष्ण के प्रति आन्तरिक प्रेम का अंकुर जमना बताया है। यहाँ आकर कवि का दार्शनिक सन्देश विशेष व्यक्त रूप में प्रकट होता है। उन्होंने यहाँ भी कालिदास से विभिन्नता रखते हुए, विषय को अलौकिकता की अनभिगम्य दैवी श्रेणी से उतार कर मानव-दृष्टि-केन्द्र की संकुचित सीमा में लाने की चेष्टा की है। कालिदास के अनुसार पार्वती का शंभु के साथ अनुराग केवल नारद की भविष्य वाणी के आधार पर हुआ था:—

तां नारदः कामचरः कदाचित्, कन्यां किल प्रेक्ष्य पितुः समीपे।
समादिदेशैकवधूं भवित्रीं, प्रेम्णा शरीरार्द्धहरां हरस्य ॥५०॥

परन्तु इसके विपरीत रुक्मिणी के प्रेम का मुख्य कारण महाराज पृथ्वीराज ने यों प्रकट किया है:—

व्याकरण, पुराण, समृति सासत्र विधि।
वेद च्यारि खटअङ्ग विचार।
जाणि चतुरदस चौसठि जाणी।
अनँत अनँत तसु मधि अधिकार ॥२८॥
सांभलि अनुराग थियो मनि स्यामा।
वर प्रापति वञ्छती वर।
हरि गुण भणि ऊपनी जिका हर।
हर तिणि वन्दे गवरि हर ॥२९॥

उपरोक्त दोहलों के आशय से हमको कवि के दार्शनिक सिद्धान्तों का पता लगता है। हम जानते हैं कि वे न केवल कृष्ण के कोरे भक्त ही थे वरन् गीता के पंडित भी थे। गीता के सिद्धान्तों ने उनके जीवन को विशेषरूप से प्रभावान्वित किया था। उनके ज्ञान-मय व्यक्तित्व पर विचार करते हुए; भक्ति-मार्ग में उनको अपना

उपयुक्त स्थान निर्दिशित करते हुए, एवं उनके ज्ञान और भक्ति के आदर्शों का पारस्परिक सम्बन्ध बताते हुए, हम आगे चलकर उनके दार्शनिक विचारों को पाठकों के समक्ष रखेंगे। यहाँ पर प्रसंगवश इतना ही कहना पर्याप्त होगा कि महाराज पृथ्वीराज का जीवन गीता के उपदेशों के आधार पर निर्मित जीता-जागता गीता का एक उदाहरण है। वे गीतानुमत कर्म, ज्ञान और भक्ति-मार्गों को, जीवन के मोक्षरूप उद्देश्य को प्राप्त करने के लिए पृथक् पृथक् तीन साधन-रूप मार्ग न समझ कर, उन तीनों को अन्योन्याश्रित एक ही मार्ग के भिन्न भिन्न स्वरूप जानते थे।

दोहला ३०-४२ पर्यंत रुक्मिणी के लिए उपयुक्त वर का अन्वेषण होना, रुक्मिणी के माता-पिता का श्रीकृष्ण के गुण, लक्षण, ओज, तेज और दैवी वृत्तियों की चर्चा सुनकर उनको रुक्मिणी के योग्य वर निश्चय करना; परन्तु इस प्रस्ताव का विमूढ़बुद्धि, सांसारिक विषय-वासनाओं में लिप्त, रुक्मिणी के भाई रुक्म द्वारा विरोध एवं घोर विक्षेप किया जाना, एवं चंदेरी के राजा शिशुपाल को श्रेष्ठतर वर प्रमाणित कर उसका पक्ष करना और उसको बुला भेजना—यह वृत्त वर्णित है। दोहला ४२-४३ में कवि ने रुक्मिणी की मनमलीन दशा की धूमिल झलक-मात्र दिखाकर, दुष्टहृदय रुक्म के दुराग्रह-जनित दुष्परिणाम की आशंका बताई है। परन्तु जिस प्रकार संयत मन योगीश्वर का चित्त अनेक आधि-भौतिक आपत्तियों से घिरा हुआ भी "पद्मपत्रमिवांभसा" उनसे अस्पष्ट रह सकता है और अपने कल्याणमार्ग की ओर अनवरुद्ध अग्रसर हो सकता है, उसी प्रकार रुक्मिणी भी अपने हृदय-संकल्पित प्राणेश्वर को अपने संकट की सूचना देने की एवं उनकी सहायता से अपना मनोरथ सफल करने की चेष्टा में संलग्न है। दोहला ४४-६६ पर्यंत रुक्मिणी-द्वारा एक उदारचित्त, शुद्धाचरण ब्राह्मण को संदेश और पत्र लेकर द्वारिका

भेजा जाना; ब्राह्मण का प्रसन्नमन प्रस्थान, मार्ग में उपस्थित होने-वाले अनेक दृश्यों एवं अनुभवों का स्वाभाविक वर्णन, द्वारिका का दूर से वर्णन, समीप पहुँच कर द्वारिका का वर्णन; द्वारिका के तीर्थ-स्थलों, वहाँ के जप, तप, यागादि सात्त्विक वायु-मण्डल से परिपूर्ण जीवन का चित्रण इत्यादि दृश्य कवि ने बड़े रोचक ढंग से, कला के संक्षेप माधुर्य्य को दरसाते हुए चित्रित किये हैं।* तदुपरान्त ब्राह्मण का भगवान् से साक्षात्कार—दर्शन; अन्तर्यामी भगवान् का जान बूझकर ब्राह्मण को शिष्टाचार के साथ कुशल-प्रश्न कर, आने का प्रयोजन पूछना और ब्राह्मण का उत्तर के साथ पत्र देना, वर्णित है।

दोहला ५८-६६ पर्यंत पत्र का विषय है। पत्र के सम्बन्ध में विचार करते हुए हमारा विचार स्वभावतः श्रीमद्भागवत की ओर जाता है। परन्तु, वहाँ पत्र की जगह केवल मौखिक संदेश से ही प्रयोजन सिद्ध हो जाता है। पत्र की मौलिकता के विषय पर विचार करने से पहले हम यहाँ कवि के पत्राधिगत एक भाव का पुराण के भाव के साथ तादृश्य बता देते हैं, जो भाव-सामञ्जस्य हमारी समझ में आकस्मिक है, अनुकरण कदापि नहीं।

पुराण:—

> "मा वीरभागमभिमर्शतु चैद्य आरात्,
> गोमायुवन्मृगपतेर्बलिमम्बुजाक्ष ॥" भा० १०। ५२। ३९

वेलि:—

> "बलिबन्धण मूझ स्याल सिङ्घ बलि,
> मासै जो बीजो परणै"॥ ५९ ॥

---

* यह द्वारिका-नगर-वर्णन केशवदास के अयोध्या-वर्णन के साथ कुछ समानता रखता है। 'रामचन्द्रिका' के प्रथम और अष्टम प्रकाश के साथ साथ इसे पढ़ने से पाठकों को विशेष आनन्द-लाभ हो सकता है।

पत्र के भाव, उसमें प्रयुक्त उपमाएँ एवं प्रसंग (Allusions) प्रधानतः पौराणिक हैं और उनमें आदिपुरुष विष्णु और आदि प्रकृति-स्वरूप महामाया लक्ष्मी के अनादिकालीन पतिपत्नीसम्बन्धों के युगयुगान्तर में निर्वाह का निदर्शन किया गया है और उसी अनादि सम्बन्ध के अधिकार पर रुक्मिणी श्रीकृष्ण से सहायता एवं परित्राण की आशा करती है। यह सब बात रुक्मिणी के भगवत्स्वरूप के पूर्वज्ञान का पर्याप्त परिचय देती है। हमारी दृष्टि में रुक्मिणी का यह संदेश एक जीवात्मा का विश्वात्मा के साथ सायुज्य स्थापित करने का प्रयत्न है। "ज्ञानाग्निदग्धकर्माणि" ने (जैसा कि हम ऊपर प्रमाणित कर आये हैं) रुक्मिणी के जीवात्मा को वह दिव्यदृष्टि दे दी है कि जिससे वह संसार के मायावी अवरोधों को हटा कर उस विश्वात्मा के दिव्यस्वरूप को भक्ति की दृष्टि से और सायुज्य-प्राप्ति की उत्कंठा से देख सकती है और अनन्त प्रेम के समुद्र में लीन हो सकती है, कि जो उसका अनादि निवासस्थान था और अन्तिम विश्रामस्थल होगा। बस, मोक्ष की अवस्था में और इस अवस्था में विशेष अन्तर नहीं है। यह तो हुआ पत्र का दार्शनिक विवेचन।

पत्र का प्रासंगिक विवेचन करते हुए हम अनुमान कर सकते हैं कि संभव है, कवि ने पुराण के कथानक से मतभेद करते हुए यह विचार, अन्य विचारों की तरह, अपने काव्य-गुरु कालिदास से लिया हो। हमारी यह कल्पना-मात्र है; वास्तविकता इसमें कहाँ तक है, हम नहीं कह सकते। 'अभिज्ञान-शाकुन्तल' में शकुन्तला का प्रायः इसी प्रकार की दुःख-पूर्ण अवस्था में अपने प्राणप्यारे को पत्र लिखना शायद कवि को स्मरण रहा हो। दोनों पत्रों में विशेष भाव-सादृश्य दृष्टिगोचर नहीं होता, कारण, दोनों विभिन्न दशाओं में विभिन्न प्रकार की नायिकाओं द्वारा प्रेषित किये गये हैं।

दोहला ६७-११२ पर्यंत कृष्ण का तत्काल रथारोहण कर कुन्दनपुर को आना; कृष्णद्वारा लौटाये हुए संदेशवाहक ब्राह्मण का रुक्मिणी के पास आकर प्रभु के आगमन का संवाद सुनाना; तदनन्तर कृष्ण को अकस्मात् द्वारिका से पधारे जान कर बलराम का शंकित होकर कटक-सहित सहायतार्थ आ पहुँचना; इधर रुक्मिणीजी का माता से अम्बिका-पूजनार्थ मंदिर को जाने की आज्ञा प्राप्त करना और तदुपरान्त सम्पूर्ण शृंगार, वस्त्राभूषणादि से सुसज्जित होकर प्रियमिलन की दृढ़ आशा से अम्बिकालय को प्रस्थान करना; पूजा के अनन्तर सुदूर स्थित सेनाओं के दल का सिंहावलोकन करना और अपनी मोहिनी दृष्टि की माया से सब दल को विस्मयाकुल और जड़धी कर देना, इसके अनन्तर श्रीकृष्ण का वेगवान् रथ पर आना और सबके देखते रुक्मिणी को रथ में बिठा कर द्वारिका को चल देना—यह वृत्तान्त वर्णित है।

मौलिकता और कवि का अनुभव

इस वर्णन को ध्यान से पढ़नेवाले किसी भी सहृदय पाठक से यह बात छिपी नहीं रह सकती कि कवि ने रुक्मिणी के शृंगारवर्णन, उनके वस्त्राभूषणादि से सुसज्जित होने के ढंग एवं शैली के वर्णन में अपने निजी अनुभव से काम लिया है। इस वर्णन को ध्यानपूर्वक पढ़ते हुए पाठक को यह बात न भूल जानी चाहिए कि एक उत्तम राजघराने के उच्च कुल में पैदा होकर, तथा ऐश्वर्य्य, वैभव और विपुल सम्पत्ति-जनित समस्त सौख्य साधनों का पूर्ण रूप से उपभोग करते रहने के कारण, कवि के तत्सम्बन्धी वैभव और विलासिता के अनुभव का भंडार अन्य शृंगारी कवियों की अपेक्षा कहीं ज़्यादा बढ़ा चढ़ा हुआ था। कवि को यह आवश्यकता न थी कि शृंगारवर्णन के उपयुक्त साधनों को ढूँढ़ने के लिए वह साहित्यिक रूढ़ियों एवं प्रथाओं अथवा पूर्वकवियों की परम्परागत जटिल कल्पनाओं के

आधार को टटोलना। यही कारण है कि पश्चिमी राजस्थान मौख्य प्रथाओं से परिचय रखनेवाला कोई भी रसिक, कवि के रा स्थानी होने का प्रमाण इन वर्णनों से निकाल लेगा। यही कारण है महाराज पृथ्वीराज की रचना में अन्य शृंगारी कवियों की अपे मौलिक कल्पनायें बहुतायत से पाई जाती हैं। हम केवल थोड़े दृष्टान्त देकर प्रमाणित करेंगे कि कवि ने निज देशीय परम्परा, देश प्रथा, देशीय रूढ़ियाँ एवं देशीय सभ्यता के साधनों का पर्याप्त उ योग कर राजस्थान जीवन को 'वेलि' में कैसा ज्वलन्त काव्यमय र दे दिया है।

संदेशवाहक ब्राह्मण अब तक श्रीकृष्ण का संदेश लेकर न लौटा। रुक्मिणीजी का हरि के आगमन की आशंका करना स्वा विक है। वे चिन्ताग्रस्त हैं परन्तु इतने ही में छींक होती यथा :—

> चिन्तातुर चित इम चिन्तवती।
> थई छींक तिम धीर थई ॥ ७० ॥

इसी विषय में पुराणकार यों लिखता है :—

> एवं वध्वाः प्रतीक्षन्त्याः गोविन्दागमनं नृपः।
> वाम ऊरुर्भुजो नेत्रमस्फुरन्प्रियभाषिणः॥ भा० १०।५३। २

उपरोक्त वर्णनों की विभिन्नता इस बात को प्रमाणित करती कि कवि ने उस शकुनसूचक प्रचलित साहित्य-रूढ़ि को ग्रहण न क देशीय-शकुन-प्रणाली का ही सम्मान करना श्रेष्ठ समझा, यद्य अशुभ की आशंका होने के अवसर पर वाम नेत्र, उरु, भु आदि का फड़कना और छींक होना—सब एक ही आ रखते हैं।

दाहले ७१ मे —

> चलपत्र पत्र थियो दुज देखे चित,
> सकै न रहति न पूछि सकन्ति ॥ ७१ ॥

अर्थात् अकस्मात् द्विज को लौटे हुए देखकर रुक्मिणीजी का विरहशङ्कित हृदय और भी आशङ्कित हो उठा। न मालूम यह ब्राह्मण क्या समाचार लाया होगा इत्यादि सोच के कारण चित्त का गति पीपल के काँपते हुए पत्ते की तरह होगई।

पहले तो चित्त की चपलता के साथ पीपल पात के काँपने की यह उपमा ही बड़ा उपयुक्त है। दूसरे पीपल विशेषत राजस्थानी वृक्ष है। कवि ने अपनी जन्मभूमि में अनेक पीपल के वृक्षों पर घटित होते हुए इस प्राकृतिक ताण्डव नृत्य का देखा होगा। सचमुच, मरुस्थल का प्रकृति न उनकी प्रतिभा को बहुत अश में प्रभावान्वित किया था। यह बात और स्पष्ट रूप में आगे चल कर उनके ऋतुवर्णनों की कल्पनाओं में प्रमाणित हो जायगी। रुक्मिणा का "कुमकुमै मजण" करना, पश्चात्, "बिहुँ करै धूपणे लोधे लागी" तदनन्तर 'बाजोटा' अर्थात् स्नान क पट्टे से उतर कर शृंगार करना, यही क्यों, क्रमानुसार शृंगार के प्रत्येक गहने का नाम एव उसके धारण करने के ढग में राजस्थान और विशेषत मारवाड क उच्च घरानों में बरती जानेवाला पुरानी प्रथाओं की, जो आज तक चला आ रही हैं, गहरी छाप लगी हुई है। उपरान्त 'चकडाल' पर सवार होकर, एक राजपूत राजकुमारी अथवा महारानी की तरह, सुसज्जित सैनिक घुडसवारों से रक्षित होकर, सवारी में, रुक्मिणीजी का अम्बिकालय को पधारना—(१०४ १०५) यह वर्णन भी देशीय प्रथा के रग म सुरंजित है। हम विस्तारभय से इस बिलकुल मौलिक शृंगारवर्णन का आलोचना का सक्षेप करते हैं

परन्तु इन छंदों में वर्णित कवि को मौलिक प्रतिभा और अनुभव-जनित, सारगर्भित, अनोखी एवं अद्वितीय सूझ को उत्कृष्ट स्वाभाविकता और मनोज्ञता का रसास्वादन करते हुए कवि की भावुकता की प्रशंसा करते ही बनती है।

दोहले ८३ और ८६ में कवि ने अपने ज्योतिष् के ज्ञान का परिचय देते हुए ग्रंथ के उत्तर भाग में अंकित—"जोतिषी वैद् पौराणिक जोगी",—(दो० २८६) उन आत्मश्लाघा के शब्दों को चरितार्थ किया है, जिनको पढ़नेवाला कोई पाठक, शायद, मिथ्याभिमान कह कर टाल दे।

रुक्मिणी-हरण के उपरान्त दोहला ११३ में शृंगारवर्णन का सरस प्रवाह एकदम सूख कर उसकी जगह देशीय राजपूत-युद्ध-पद्धति के अनुसार केशरिया रंग के वस्त्रों और शस्त्रास्त्रों से सुसज्जित वीर एकत्रित होते हैं। यहाँ हमको भावी समर की भयङ्करता और वीररस के आविर्भाव की सूचना मिलती है। युद्ध के इस अनवस्थित विशद वर्णन से इस शृंगारप्रधान खण्ड-काव्य को यदि किसी प्रकार रस-पुष्टि होती है, तो केवल इसी प्रकार कि परिणाम में नायक का अभ्युदय सूचित होता है। परन्तु प्रसंगवश अचानक ही इस प्रकार काव्य में रस-परिवर्त्तन के उपस्थित हो जाने के कारण, संभव है, पाठकों के हृदय में रस-विरोध-सम्बन्धी आक्षेप उपस्थित हो जाय। और यह स्वाभाविक भी है। अतएव इस आक्षेप को अपनी ओर से कल्पित करके हम इसके सत्यासत्यनिर्णय के विषय पर अपने विचार एवं शास्त्रसम्मति प्रकट करेंगे।

रस-विरोध

दोहला ११३-१३७ में वीर-रस-प्रधान युद्धवर्णन है। यह युद्ध रुक्म और शिशुपाल की सेनाओं ने कृष्ण के पक्ष की द्वारिका के प्रति प्रस्थान करती हुई सेनाओं के साथ किया था। इस वर्णन के सम्बन्ध में हमें सर्व-प्रथम एक बात

हमेशा ध्यान में रखनी चाहिए और वह यह, कि यह युद्ध-वर्णन एक क्षत्रिय वीर कवि का किया हुआ है, जिसने स्वयं कई बार रणक्षेत्र में तलवार लेकर घमासान युद्ध किया था एवं जिसकी जातीयता का सबसे प्रधान गुण और गौरव युद्ध-प्रियता और शौर्य्य था। वर्णन की उत्कृष्ट स्वाभाविकता ही हमारे इस कथन की कसौटी है। वीररस के आदर्श को दृष्टिगत रखते हुए इन वर्णनों की आलोचनात्मक प्रशंसा करना सूर्य को दीपक दिखाना होगा। प्रत्येक छंद में ओजगुण की प्रधानता इतनी व्यक्त है कि मानो उसका आतंक डरावने श्याम बादलों की घटा के रूप में गंभीर घड़घड़ाहट के साथ हमारे ऊपर घिरा पड़ता है। संस्कृत-साहित्य के कवियों में इस समय हमको कालिदास की प्रसाद-माधुर्य्य-पूर्ण शैली का विलास भूल कर *भवभूति की ओजस्विनी शैली का स्मरण हो जाता है।* यथा :—

कलकलिया कुन्त किरण कलि ऊकलि।
वरसति विसिख विवरजित वाउ॥
धड़ि धड़ि धवकि धार धारूजल।
सिहरि सिहरि समरवै सिलाउ॥११९॥

भवभूति की शैली का एक उदाहरण इससे मिलाकर देखिए :—

आगुञ्जद्गिरिकुञ्जकुञ्जरघटा विस्तीर्णकर्णज्वरम्।
ज्यानिर्घोषममन्ददुन्दुभिरवैराध्मातमुज्जृम्भताम्॥
वेलद्भैरवरुण्डमुण्डनिकरैर्वीरो विधत्ते भुवः।
तृप्यत्कालकरालवक्त्रविघसव्याकीर्णमाणा इव॥

(उत्तरचरित)

परन्तु साथ ही, निस्संकोच होकर हमको यह कहना पड़ता है कि "वेलि क्रिसन रुकमणी री" जैसे शृंगार-रस-प्रधान ग्रंथ में इस

परन्तु इन छंदों में वर्णित कवि की मौलिक प्रतिभा और अनुभव-जनित, सारगर्भित, अनोखी एवं अद्वितीय सूझ की उत्कृष्ट स्वाभाविकता और मनोज्ञता का रसास्वादन करते हुए कवि की भावुकता की प्रशंसा करते ही बनती है।

दोहले ६३ और ६६ में कवि ने अपने ज्योतिष् के ज्ञान का परिचय देते हुए *ग्रंथ के उत्तर भाग में अंकित—"जोतिषी वैद् पौराणिक जोगी"*,—(दो० २६६) उन आत्मश्लाघा के शब्दों को चरितार्थ किया है, जिनको पढ़नेवाला कोई-पाठक, शायद, मिथ्या-भिमान कह कर टाल दे।

रुक्मिणी-हरण के उपरान्त दोहला ११३ में शृंगारवर्णन का सरस प्रवाह एकदम सूख कर उसकी जगह देशीय राजपूत-युद्ध-पद्धति के अनुसार केशरिया रंग के वस्त्रों और शस्त्रास्त्रों से सुसज्जित वीर एकत्रित होते हैं। यहाँ हमको भावी समर की भयङ्करता और वीररस के आविर्भाव की सूचना मिलती है। युद्ध के इस अनवस्थित विशद वर्णन से इस शृंगारप्रधान खण्ड-काव्य की यदि किसी प्रकार रस-पुष्टि होती है, तो केवल इसी प्रकार कि परिणाम में नायक का अभ्युदय सूचित होता है। परन्तु प्रसंगवश अचानक ही इस प्रकार काव्य में रस-परिवर्त्तन के उपस्थित हो जाने के कारण, संभव है, पाठकों के हृदय में रस-विरोध-सम्बन्धी आक्षेप उपस्थित हो जाय। और यह स्वाभाविक भी है। अतएव इस आक्षेप को अपनी ओर से कल्पित करके हम इसके सत्यासत्यनिर्णय के विषय पर अपने विचार एवं शास्त्रसम्मति प्रकट करेंगे।

रस-विरोध

दोहला ११३-१३७ में वीर-रस-प्रधान युद्धवर्णन है। यह युद्ध रुक्म और शिशुपाल की सेनाओं ने कृष्ण के पक्ष की द्वारिका के प्रति प्रस्थान करती हुई सेनाओं के साथ किया था। इस वर्णन के सम्बन्ध में हमें सर्व-प्रथम एक बात

हमेशा ध्यान में रखनी चाहिए और वह यह, कि यह युद्ध-वर्णन एक क्षत्रिय वीर कवि का किया हुआ है, जिसने स्वयं कई बार रणक्षेत्र में तलवार लेकर घमासान युद्ध किया था एवं जिसकी जातीयता का सबसे प्रधान गुण और गौरव युद्ध-प्रियता और शौर्य्य था। वर्णन की उत्कृष्ट स्वाभाविकता ही हमारे इस कथन की कसौटी है। वीररस के आदर्श को दृष्टिगत रखते हुए इन वर्णनों की आलोचनात्मक प्रशंसा करना सूर्य को दीपक दिखाना होगा। प्रत्येक छंद में ओजगुण की प्रधानता इतनी व्यक्त है कि मानो उसका आतंक डरावने श्याम बादलों की घटा के रूप में गभीर घड़घड़ाहट के साथ हमारे ऊपर घिरा पड़ता है। संस्कृत-साहित्य के कवियों में इस समय हमको कालिदास की प्रसाद-माधुर्य्य-पूर्ण शैली का विलास भूल कर भवभूति की ओजस्विनी शैली का स्मरण हो जाता है। यथा :—

> कलकलिया कुन्त किरण कलि ऊकलि।
> वरसति विसिख विवरजित वाउ॥
> धड़ि धड़ि धवकि धार धारूजल।
> सिहरि सिहरि समरवै सिलाउ॥११९॥

भवभूति की शैली का एक उदाहरण इससे मिलाकर देखिए :—

> आगुञ्जद्गिरिकुञ्जकुञ्जरघटा विस्तीर्णकर्णज्वरम्।
> ज्यानिर्घोषममन्ददुन्दुभिरवैराध्मातमुज्जृम्भयन्॥
> वेलद्भैरवरुण्डमुण्डनिकरैर्वीरो विधत्ते भुवः।
> तृष्यत्कालकरालवक्त्रविघसव्याकीर्णमिवाशा इव॥
> (उत्तरचरित)

परन्तु साथ ही, निस्संकोच होकर हमको यह कहना पड़ता है कि "वेलि क्रिसन रुकमणी री" जैसे शृंगार-रस-प्रधान ग्रंथ में इस

प्रकार विशद और व्यक्तरूप में सांगोपांग भयानक, वीर एवं तदनुगत बीभत्स रस (देखो दो० १२०-१२५) के दृश्यों का समावेश करना काव्य के एक रसत्व (Unity) और उसके, "रसभाव-निरन्तरम्" के निर्वाह के विषय में सन्देह अवश्य उपस्थित करता है। शास्त्रदृष्टि से श्रेष्ठ काव्य वह गिना जाता है जिसमें समतापूर्वक एक प्रधान रस हो तथा अन्य सहकारी एवं संपोषक भाव, विभाव, अनुभाव, उद्दीपन विभाव, व्यभिचारि भावादि गौणरूप से उस प्रधान रस की इस प्रकार से पुष्टि करें, जिस प्रकार एक प्रधान सरिता को अनेक नद, स्रोत, शाखा अपना जल प्रदान कर परिपुष्ट करते हैं।

शास्त्र विवेचन

महाकाव्य का लक्षण निर्दिष्ट करते हुए दण्डिन का, "रसभाव-निरन्तरम्" गुण की प्रधानता प्रकट करने से यही प्रयोजन है कि काव्य का प्रधान रस एवं भाव निरन्तर और अबाधित रूप में संरक्षित रहे तथा विरोधी रस उपस्थित होकर उसकी वृद्धि का विच्छेद न कर सके। इसी प्रकार शृंगाररस का विवेचन करते हुए विश्वनाथ कविराज ने लिखा है, "रसविच्छेदहेतुत्वात् मरणं नैव वर्ण्यते"। सामान्य दृष्टि से भी यदि देखा जाय तो पास पास ही एक काव्य में दो विरुद्धधर्मी रसों का वर्णन शोभा नहीं देता एवं काव्यकलासौष्ठव की दृष्टि से काव्य की मनोज्ञता को कम कर देता है; कहा भी है:—

यस्मिन् श्रुते च चित्तस्य वैरस्यं न च हृद्यता।
तानि वर्ज्यानि पद्यानि प्रसिद्धिप्रच्युतानि च॥

रस-विरोध-सम्बन्धी शास्त्र पर विचार करते हुए हमको मुख्यत: दो बातों का ध्यान रखना चाहिए। वे ये हैं कि (१) रस को परिपुष्टि करने में उन व्यभिचारी भावों का भी भाग होता है, जो

प्रस्तुतप्रधान रस से इतरधर्मी रस के लक्षणों का पोषण करने में भी उपयुक्त होते हैं और (२) कई एक रसों का प्रत्यक्ष में परस्पर विरोध प्रतीत होने पर भी उनका अङ्गाङ्गिसम्बन्ध विरोधकता का अपहार कर देता है। परन्तु काव्य-कला-निष्णात कवि को अपनी सूक्ष्म दृष्टि से देखना यह चाहिए कि विशेषत: रति स्थायि भाव को पुष्ट करने के लिए केवल उन्हीं व्यभिचारि भावों का प्रयोग औचित्य के साथ हो सकता है कि जो मुख्य रस का आन्तरिक विरोध न करते हुए, किसी अंश में और किसी सीमा तक, परिपोषण ही करते हों। यथा, शृंगाररसप्रधान काव्य में उग्रता, मरण, आलस्य, जुगुप्सा— इन व्यभिचारी भावों को साहित्यकारों ने निषिद्ध बताया है :—

"त्यक्त्वौग्र्यमरणालस्य जुगुप्सा व्यभिचारिणः" ॥ सा० दर्पण ॥

इस सम्बन्ध में ध्वन्यालोककार ने लिखा है :—

विरोधमविरोधं च सर्वत्रेत्थं निरूपयेत् ।
विशेषतस्तु शृङ्गारे सुकुमारतरो रसः ॥ उद्योत ३० श्लो० २८

अर्थात् रस के विषय में विरोध और अविरोध का निरूपण कवि को साधारणत: सभी रसों के काव्यों में करना उचित है परन्तु विशेषत: इन बातों का ध्यान शृङ्गारप्रधान काव्य में अवश्य रखना चाहिए कारण, यह रस अत्यन्त सुकुमार है।

अस्तु, 'वेलि' जैसे शृङ्गाररसप्रधान काव्य के विषय में उपरोक्त कल्पित रसविरोध की शास्त्रसमीक्षा करना हमने इस भूमिका का उचित प्रयास समझा है।

रस के विरोध और अविरोध के विषय में ध्वन्यालोककार ने आगे चल कर कहा है:—

अविरोधी विरोधी वा, रसोऽङ्गिनि रसान्तरे ।
परिपोषं न नेतव्यस्तथा स्याद‍विरोधिता ॥ उ० ३।२४।

अर्थात् विभिन्न धर्मवाले अङ्गिरस् अथवा प्रधान रस में कवि को अविरोधी वा विरोधी किसी भी दूसरे अङ्गभूतरस का स्वतन्त्ररूप में परिपोषण कभी नहीं करना चाहिए। इस बात का पूरा पूरा ध्यान रखनेवाला कवि ही अपने काव्य में निष्कलङ्क अविरोधिता का प्रतिपादन कर सकता है।

यही बात दूसरे २ श्लोकों में यों कही गई है:—

विवक्षिते रसे लब्धप्रतिष्ठे तु विरोधिनाम्।
बाध्यानामङ्गभावं वा प्राप्तानामुक्तिरच्छला ॥

· उ० ३। श्लो० २० ध्वनि

प्रसिद्धेऽपि प्रबन्धानां नानारसनिबन्धने।
एकोरसोऽङ्गीकर्त्तव्यस्तेषामुत्कर्षमिच्छता ॥ उ० ३ श्लो० २१।
रसान्तरसमावेशः प्रस्तुतस्य रसस्य यः।
नोपहन्त्यङ्गिता सोऽस्य स्थायित्वेनावभासिनः ॥

उ० ३ श्लो० २२।

उपरोक्त शास्त्रावतरण से हमारे विचार-केन्द्र में दो बातें उपस्थित होती हैं—वे अविरोधी और विरोधी रस कौन से हैं और उनसे रीतिकार का क्या आशय है?

हमारी समझ में अविरोधी रसों से तात्पर्य उन विभिन्न रसों का है जो अङ्गिरस् का येन केन प्रकारेण परिपोषण करने के लिए कविद्वारा व्यभिचारी भावों के रूप में उपस्थित किये जाते हैं। कवि के लिए ऐसा करना शास्त्रसम्मत भी है—

"रत्यादयोऽप्यनियते रसे स्युर्व्यभिचारिणः"

(सा० दर्पण, ३ परि० २०३)

अर्थात् रति आदि स्थायिभाव भी अन्य प्रधान रस के परिपोषण के लिए व्यभिचारि भावों के रूप में प्रयुक्त हो सकते हैं। अब,

पुरातन शास्त्र-परिपाटी के अनुसार कई रस तो ऐसे हैं जो परस्पर-विरोधी नहीं माने जाते एवं जिनका अङ्गाङ्गि-भाव शास्त्रनियमानुमत है। दूसरी ओर कई रस ऐसे हैं जिनका स्वभाव-विरुद्ध होने के कारण, परस्पर-विरोध माना गया है एवं जिनमें पारस्परिक अङ्गाङ्गि-भाव स्थापित नहीं हो सकता है। हम यहाँ पर "वेलि" में प्रयुक्त रसों की विरोधकता अथवा अविरोधकता के विषय में रीतिकारों की सम्मति उद्धृत करेंगे:—

ध्वनिकार ने "वीरशृङ्गारयो:" "रौद्रशृङ्गारयो:" का अविरोध माना है क्योंकि उनका अङ्गाङ्गिभाव संघटित होना संभव है। "तत्र भवत्वङ्गाङ्गिभाव:"। परन्तु इन्होंने "*शृङ्गारबीभत्सयो:*" का बाध्य-बाधक भाव माना है अर्थात् शृङ्गार और बीभत्स का अङ्गाङ्गि-भाव संघटित नहीं होता।

यही मत जगन्नाथ पण्डितराज ने भी रसगङ्गाधर में प्रकट किया है। काव्यप्रकाशकार मम्मटाचार्य्य ने तो उपरोक्त रीति-*बन्धनों को और भी ज्यादा शिथिल कर दिया है और* भिन्न भिन्न रसों में प्रकृतित. किसी प्रकार का विरोध नहीं माना है। यथा:—

स्मर्यमाणो विरुद्धोऽपि साम्येनाथ विवक्षित:।
अङ्गिन्यङ्गमाप्तौ यौ तौ न दुष्टौ परस्परौ॥

(उल्लास ७ सू० ८६। ६५)

अर्थात् अङ्गिरस के साथ स्मरण किया जाता हुआ अथवा सामान्यरूप में विवक्षित विरोधी रस भी यदि अङ्गिरस का अङ्ग बन-कर *काव्य में उपस्थित हो जाय तो वह रसविच्छेद का* हेतु नहीं है। उदाहरणत: महाभारत में, समरभूमि पर पड़े हुए मृतक भूरिश्रवा के हाथ को देखकर उसकी स्त्री की यह करुणास्मृति शृङ्गाररस-पूर्ण

होने पर भी, दोनों रसों का परस्पर अङ्गाङ्गिभाव स्थापित हो जाने के कारण, रसविरोध नहीं उपस्थित करती—

अयं स रशनोत्कर्षी पीनस्तनविमर्दनः ।
नाभ्यूरुजघनस्पर्शी नीवीविस्रंसनः करः ॥ का० प्र० ३३६ ॥

ध्यान में रहे कि प्रायः सभी आचार्यों ने "शृङ्गारकरुणयो" विरोध माना है परन्तु "स्मर्यमाणो विरुद्धोऽपि" के नियम से मम्मट ने इन दोनों रसों का अविरोध प्रमाणित किया है।

इसी प्रकार निम्नोद्धृत दूसरे उदाहरण में साम्यविवक्षा होने के कारण परस्परविरोधी शृङ्गार और बीभत्स रसों अथवा शृङ्गार और शान्त रसों का भी अविरोध माना है।

दन्तक्षतानि करजैश्च विपाटितानि,
प्रोद्भिन्नसान्द्रपुलके भवतः शरीरे ।
दत्तानि रक्तमनसा मृगराजवध्वा,
जातस्पृहैर्मुनिभिरप्यवलोकितानि ॥ का० प्र० ३३७ ॥

एक समय वन में अपने सद्यःप्रसूत बच्चे को खाने की चेष्टा करती हुई एक सिंहिनी को देखकर दयावीर बोधिसत्व भगवान् बुद्ध ने बच्चे की रक्षा करने के निमित्त सिंहिनी को अपना शरीर खाने के लिए अर्पित कर दिया था। सिंहिनी द्वारा क्षत बुद्ध के शरीर को कल्पित करके किसी पुरातन कवि की यह उक्ति है। यहाँ "दन्तक्षतानि," "सान्द्रपुलके शरीरे" "रक्तमनसा" तथा "जातस्पृहै" शब्दों से *शान्त और शृङ्गार दोनों रसों की बराबर पुष्टि होती है अतएव* साम्य-विवक्षा है।

सारांश, मम्मट के मतानुसार

"प्राक्प्रतिपादितस्य रसस्य रसान्तरेण न विरोधः नाप्यङ्गाङ्गिभावो भवति। उक्तं हि—

गुणकृतात्मसंस्कारप्रधानं प्रतिपद्यते ।
प्रधानस्योपकारे हि तथा भूयसि वर्त्तते ॥ का० प्र०....

अर्थात् पहले प्रतिपादित रस का दूसरे रस के द्वारा विरोध होना संभव नहीं है और न उन दोनों का पारस्परिक अङ्गाङ्गि-भाव संघटित होना ही संभव है; कारण, गुण अर्थात् अङ्गभूत रस अपना संस्कार करने के निमित्त एवं प्रधान रस (अङ्गिरस) की पुष्टि करने के निमित्त प्रयुक्त होने के कारण स्वतः ही प्रधान रसता को प्राप्त हो जाता है और ऐसी दशा में वह अङ्गिरस का महान उपकारक सिद्ध होता है। सारांश, अङ्गरस अङ्गिरस का उपकारक होने के कारण उसी में विलीन हो जाता है। द्वित्व का भाव मिटकर अङ्गि का एकत्व रह जाता है। अतएव विरोध के लिए कोई अवकाश नहीं रह जाता।

यह तो हुआ रससम्बन्धिनी विविध-शास्त्र-सम्मतियों का उल्लेख। अब देखना यह है कि "वेलि" दो० ११३-१३७ के अन्तर्गत वर्णन में आशङ्कित रसविरोध वास्तविक विरोध है अथवा नहीं।

इसमें संदेह नहीं है, "वेलि" शृङ्गाररसप्रधान काव्य है और उसका स्थायिभाव रति है जिसका निर्वाह समस्त कथासूत्र में कवि ने अच्छे ढङ्ग से किया है। "वेलि" के अनेक स्थलों पर प्रधान रस की परिपुष्टि के लिए इतररस-सम्बन्धी भावविभावादि का भी प्रचुरता से प्रयोग किया गया है जो युक्तिसंगत एवं शास्त्रसम्मत है:—

रत्यादयोऽपि अनियते रसे स्युर्व्यभिचारिणः ।
(सा० द० परि० ३ । २०३)

परन्तु इस प्रकार प्रयुक्त हुए इतर रस-सम्बन्धी भावविभावादि प्रकृत ग्रंथ में साधारणतया व्यभिचारी भावों ही की तरह उपस्थित हुए

हैं, और अपने अपने स्थलों पर, "विशेषादाभिमुख्येन चरन्तो व्यभिचारिणः स्थायिन्युन्मग्ननिमग्ना" धर्म का पालन करते हैं।

अब यदि "वेलि" दो० ११३-१३७ के अन्तर्गत रस का विश्लेषण किया जाय तो क्रमशः प्रधान रस वीर, रौद्र और बीभत्स उपलब्ध होते हैं। और उनमें औग्र्य, मरण एवं जुगुप्सादि निषिद्ध व्यभिचारी भावों का समावेश भी मिलता है। युद्ध का प्रसंग आ जाने पर इस वर्णन में वीर-रस-सम्बन्धी अधिकांश उत्साहपूर्ण दोहले, हमारी समझ मे, अङ्गिरस के बाधक न होकर अङ्गरूप मे उसका परिपोषण ही करते हैं। यही नहीं, हम यह भी मानते है कि उनकी स्थिति से काव्य का उत्कर्ष प्रमाणित होता है और नायक का अभ्युदय प्रदर्शित होता है। और शास्त्रकारों ने भी "वीरशृङ्गारयोश्च अविरोध." माना है। अस्तु।

परन्तु दो० १२०, १२१, १२२, १२४, १२५ तथा १२८ में पहुँच कर यही वीररस क्रमशः रौद्र और बीभत्स पदवी पर आरूढ़ हो जाता है और पाठक के हृदय मे आंशिकरूप मे अङ्गिरस अर्थात् शृङ्गाररस का अननुसंधान होने लगता है जिसको काव्यप्रकाशकार ने रसदोष का एक भेद माना है। निस्संदेह "वेलि" जैसे उच्च कोटि के शृङ्गार-ग्रंथ में

(१) "परनाले. जल रुहिर पड़ै" (१२०)

(२) "चोटियाली कूदै चौसठि चाचरि,
ध्रूहलियै ऊकसै धड़" (१२१)

(३) "रिण अङ्गिणि तेणि रुहिर रलतलिया,
घणा हाथ हूँ पड़ै घणा।
ऊंधा पत्र बुदबुद जल आकृति,
तरि चालै जोगणी तणा।" (१२२)

(४) त्रूटै कंध मूल जड़ त्रूटै। (१२४)
(५) ऊँच छिछ ऊछलै अति। (१२५)
(६) चारो पल ग्रीधणी चिड़। (१२८)

इत्यादि जुगुप्साजनक बीभत्स वर्णन पर असंगतता और अनौचित्य का दोष आरोपित हो सकता है। रसगंगाधर-कर्त्ता ने लिखा है:—

"कदर्यवस्तुविलोकनजन्मा विचिकित्साख्यश्चित्तवृत्तिविशेषो जुगुप्सा।"।

शास्त्रदृष्टि से देखा जाय तो "शृङ्गारबीभत्सयोः विरोधः" (ध्वनि) माना गया है। परन्तु काव्यप्रकाशकर्त्ता ने रसों में किसी प्रकार का पारस्परिक प्राकृतिक विरोध नहीं माना है अतएव देखना चाहिए कि यदि यह बीभत्स वर्णन साम्य-विवक्षा की दशा में अथवा स्मृति के रूप में उपस्थित हुआ है तब तो विरोधी होते हुए भी चम्तव्य है, क्योंकि :—

स्मर्यमाणो विरुद्धोऽपि साम्येनाथ विवक्षितः।
अङ्गिनि अङ्गमाप्तौ यौ तौ न दुष्टौ परस्परौ॥ का० प्र०

परन्तु ऐसी बात नहीं है। न तो यह उपरोक्त वेलि का वर्णन स्मृतिजन्य व्यभिचारिभाव के रूप में उपस्थित हुआ है और न उसको प्रधानरस के साथ साम्यविवक्षा ही की गई है। प्रत्युत, आवश्यकता से ज़्यादा प्रधानता दे देने के कारण यह बीभत्स स्थल काव्यरसिकों को अखरता है। हमारा विश्वास है, यदि इस स्थल पर कवि ने अपने उत्साह का नियमन किया होता तो बहुत ही सहज में वीररस को बीभत्स की परिपक्वता प्राप्त करने से रोक कर गौण-रूप दे देते और ऐसा करने से वह शास्त्रानुसार चम्तव्य-श्रेणी में

आ जाता। परन्तु जान पड़ता है, ऐसा करना उनके लिए प्रकृतितः विरुद्ध एवं असम्भव था।

एक और शास्त्रीय दृष्टिकोण है जिससे हम उपरोक्त रस-विरोध-सम्बन्धी प्रकरण का विवेचन कर सकते हैं।

शास्त्रकारों ने ध्वनिभेद से उत्तम काव्य के कई लक्षणों तथा आवश्यक पदार्थों का विवेचन किया है। वहाँ पर वस्तु और अलंकार-व्यंग्य के अतिरिक्त काव्य में रसभावादि के निर्वाह के सम्बन्ध में रसादि ८ पदार्थों का विवेचन किया गया है, यथा, रस, भाव, रसाभास भावाभास, भावशान्ति, भावोदय, भावसन्धि और भावशबलत्व है। इनसे भी ध्वनि-काव्य में एक विशेष प्रकार का चमत्कार उत्पन्न होता है। इस दृष्टि से देखा जाय तो 'वेलि' के उपरोक्त रसविरोध-प्रकरण में हम भावध्वनित्व का भी अनुसन्धान कर सकते हैं। प्रस्तुत प्रकरण में जहाँ रुक्मिणी और कृष्ण-सम्बन्धी शृङ्गाररस के स्थायि-भाव-रति की प्रवृत्ति हो रही थी वहाँ अकस्मात् किसी कारणवशात् विरुद्ध भाव के उपस्थित होने पर पूर्व भाव (रति) की शान्ति हुई और अपर भाव अर्थात् क्रमशः रणसम्बन्धी वीर, रौद्र और बीभत्स भावों का व्यभिचारियों के रूप में उदय हुआ। इस पूर्व भाव शान्ति और अपर भावोदय के हेर फेर का परिणाम यह हुआ कि अङ्गिरस अथवा स्थायि भाव-रति के ऊपर अपर भाव का प्रधानत्व हो गया। जैसे किसी राजा का भृत्य अपने विवाह में दूलह बन कर बरात के आगे आगे चलता है और उसका स्वामी अर्थात् राजा उसकी प्रीति के लिए उसके पीछे पीछे चलता है। ऐसी अवस्थाविशेष में कहीं कहीं अपर (व्यभिचारी) भाव भी स्थायिभाव पर प्रधानता पा जाता है। काव्य में उसे भाव-ध्वनि का चमत्कार कहते हैं—उसे दोष नहीं गिनते।

परन्तु वेलि में जिस स्थल पर, जिस प्रकार और प्रधान रस के विकास की जिस दशा में, अपर भाव की प्रधानता हुई है, उसका अनुभव करते हुए सहृदय रसज्ञ, यह कभी नहीं कह सकते कि वह उत्तम काव्य के लिए उपकारी अथवा चमत्कारोत्पादक हुआ है। ज़्यादा युक्ति-संगत तो यह होगा कि हम इस रस-भाव-विरोध को मध्यम काव्य अर्थात् गुणीभूत व्यंग्य के अन्तर्गत अपराङ्ग व्यंग्य का एक उदाहरण मानें। प्रकृत प्रकरण में व्यंग्यरस अर्थात् रतिमूलक शृङ्गाररस दूसरे रस अथवा भाव का अङ्ग बन कर गौण हो गया है। अतएव गुणीभूत व्यंग्य हुआ। इस दृष्टि से देखने पर, "अयं स रशनोत्कर्षी" इत्यादि उदाहरण में शृङ्गाररस करुण का गुणीभूत व्यंग्य हो गया है और इसी प्रकार वेलि का प्रधान शृङ्गाररस युद्ध-सम्बन्धी अपर भावों का गुणीभूत हो गया है।

हम यह भी जानते हैं कि शास्त्रकारों की विभिन्न मतियाँ हैं। *कई रसविरोध को दोष मानते हैं; कई नहीं मानते और कई कई* विशेष अवस्था में मानते हैं, जैसा कि हम ऊपर संक्षेप में लिख आये हैं। हमें यह भी विश्वास है कि अन्वेषण करने पर शास्त्र में ऐसी अनुमति मिल सकती है, जिसके द्वारा इस दोष का सर्वथा परिहार हो सकता है। परन्तु ये सब सुविधायें उपलब्ध होने पर भी यह रस-गुण-दोष-संबन्धी विषय रसिकजनों के हृदय से ज़्यादा सम्बन्ध रखता है। इस विषय में प्रायः सभी रीतिकारों ने रसविरोध का स्वच्छन्दतापूर्वक खण्डन, मण्डन करते हुए भी एक साधारण सिद्धान्त को सर्वोपरि माना है और वह है रसिक आलोचक का हृदय, यथा:—

अनौचित्यादृते नान्यद्रसभङ्गस्य कारणम्।
प्रसिद्धौचित्यबन्धस्तु रसस्योपनिषत्परा ॥ (ध्वनि)

हम इसी सिद्धान्त को प्रमाण मानते हैं। हमारी समझ में उपरोक्त ५-६ दो हलों में वर्णित बीभत्स वर्णन शृङ्गारप्रधान "वेलि" के लिए अनुचित है। इसी बात के प्रमाण मे हमने पहले "यस्मिन् श्रुते च चित्तस्य वैरस्यं न च हृदयता, तानि वर्ज्यानि पद्यानि" का उल्लेख किया था।

परन्तु महाराज पृथ्वीराज के सम्बन्ध मे रसशास्त्र के अज्ञान की आशंका करना वृथा है। उपरोक्त अप्रासंगिकता के कई ऐसे कारण हैं जिनको दृष्टिगत करते हुए हम कवि को सर्वथा दूषण-रहित समझ सकते हैं। वे ये हैं:—

(१) प्रथम तो महाराज पृथ्वीराज जैसे एक राजपूत कवि के लिए अपने सहज वीर हृदय के उद्गारों को प्रकट करने के स्वभाव-जन्य लोभ का संवरण करना कठिन था और वह भी तब, जब कि कथासूत्र के निर्वाह के निमित्त प्रसंगवश युद्ध का वर्णन करना आवश्यक हो गया था। इस दशा मे वे अपने प्रकृतिगत उत्साह को नियमबद्ध न कर सके और न तत्परिणाम-भूत गुण दूषण ही पर यथार्थरूप में विचार कर सके। संभव है इस विषय में उनके स्वभाव ने उनके ज्ञान पर विजय पाई हो।

(२) हम ऊपर कह आये हैं कि दोहा ११३-३७ मे से अधिकाश दोहले वीररसप्रधान होने के कारण स्थायीरस का उत्कर्ष ही सम्पादन करते हैं। रसविरोध की आशङ्का तो केवल ५-६ दोहलों में उपस्थित होती है जिसमें प्रसंगवश वीररस अन्त में बीभत्स बन गया है। "वेलि" के समस्त दोहों की गणना को देखते हुए इन ५-६ दोहलों की संख्या अकिंचन है। फिर इन ५-६ दोहलों को कवि ने इस ढंग से और इस चतुरता से प्रयुक्त किया है कि बहुत कुछ अंश में दोष का परिहार हो जाता है। वह चतुरता इन बातों से प्रकट होती है:—

(क) बीभत्सरसप्रधान इन पाँच छः दोहलों को कवि ने दोनों ओर से अर्थात् पूर्वापर में, वीर-रस-सम्बन्धी भाव-विभावादि से

सवलित कर दिया है जिससे ये दोहले ग्रंथ के शृंगाररस-प्रधान पूर्वापर भाग से स्पर्श-संसर्ग नहीं रखते। अतएव ये स्थायिरस को किसी प्रकार की हानि नहीं पहुँचाते। ध्वन्यालोककार ने ऐसी स्थिति में रसविरोधदोष नहीं माना है, यथा:—

रसान्तरान्तरितयोरेकवाक्यस्थयोरपि ।
निवर्त्तते हि रसयो समावेशे विरोधिता ॥

"शृङ्गारबीभत्सयोस्तदङ्गयोर्वा वीररस-व्यवधानेन समावेशो न विरोधी॥" इस प्रकार इस वर्णन के पूर्व भाग में दोहा ११३-११९ और उत्तर भाग में दोहा १२९-१३७ अन्तराय अथवा व्यवधान रूप में उपस्थित होकर रसविरोध का निवर्त्तन अर्थात् परिहार कर देते हैं।

(ख) कवि ने जानबूझ कर इन पाँच छः दोहलों में वर्षा और कृषि-सम्बन्धी रूपकों का साम्य-विवक्षा की दृष्टि से उपयोग और निर्वाह करके जुगुप्सा के भावों को बहुत अंश में शिथिल और कमज़ोर कर दिया है। साराश "वेलि" के प्रकृतस्थल में रस-विरोध का आक्षेप उपस्थित करना विशेष गंभीरता नहीं रखता। रसज्ञों के लिए ऐसी दशा में ऐसी काव्यत्रुटि सर्वथा क्षन्तव्य समझी जाती है।

(३) वेलि के हिन्दी-पाठकों को सदा इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि प्रकृत काव्य डिंगलभाषा का शृंगारकाव्य है। उचित तो यह है कि हम डिंगल-काव्य का गुण-दोष-विवेचन करने के निमित्त डिंगल-रीति-ग्रन्थों का ही उपयोग करें। और हम यह भी नहीं कहते कि डिंगल में रीतिग्रन्थ है ही नहीं। रघुनाथरूपक डिंगल का अच्छा रीतिग्रंथ है। प्रकृत काव्य के छंद, व्याकरण, अलंकारादि की विवेचना करते हुए हमने रघुनाथरूपक का ही आधार लिया है।

इस रीतिग्रंथ में काव्यदोष का प्रकरण भी है और उसमें गिनाये हुए काव्य-दोषों को हमने पाठकों के परिचयार्थ एवं उपयोगार्थ भूमिका के उपसंहार में उद्धृत भी किया है। परन्तु रस-विरोध का प्रकरण इस ग्रंथ में उपलब्ध नहीं होता। इसका कारण यही हो सकता है कि डिंगल में उच्चश्रेणी के काव्यों की बहुत कमी है। काव्यों की अविद्यमानता में रसनिर्णय-सम्बन्धी आलोचना-शास्त्र का जन्म अथवा विकास होना असम्भाव्य है। अतएव डिंगल-शास्त्र-परिपाटी के अभाव में हमने संस्कृत के रीतिकारों की आज्ञाओं का उपयोग विवश होकर किया है।

संभव है, पृथ्वीराज की काव्यदृष्टि में, अपने समय की डिंगल-काव्य-परिपाटी के अनुसार उपरोक्त आक्षेप निर्मूल रहा हो।

भगवान् ने रुक्म को युद्ध में पराजित कर रुक्मिणी के अनुरोध से उसके प्राण हरण न किये, परन्तु उसके सिर के केश काट कर उसको विरूप कर लज्जास्पद बना दिया। बलरामजी ने, रुक्मिणी के भाई के प्रति भगवान् के इस व्यवहार को वक्रोक्तिद्वारा अनुचित बताया। तदनन्तर भगवान ने रुक्मिणी के सन्तोष और हर्ष के हेतु रुक्म के सिर पर पुन ज्यों के त्यों केश उत्पन्न कर दिये। यह आश्चर्यजनक वृत्त कवि की स्वतंत्र कल्पना और काव्यकौशल का फल है। भागवत में इसका उल्लेख नहीं पाया जाता।

छंद १३७-१५८ पर्यन्त श्रीकृष्ण का द्वारिका के प्रति प्रस्थान करना; द्वारिकावासियों का भगवान का स्वागत करना तदनन्तर शास्त्रविधि के अनुसार भगवान् और रुक्मिणीजी का ब्याह होना इत्यादि गाथा वर्णित है।

इस वर्णन में कवि पुन: अपने पूर्व पथ पर आरोहण कर समयोचित शृंगार के वर्णन को नये सिरे से उठाने की चेष्टा करता है परन्तु उसका विशृंखलित प्रयास इस उत्तरार्द्ध के वर्णन में अपने

पूर्व आदर्श की अपेक्षा बहुत न्यूनतर रह जाता है। यों तो ये वर्णन भी कवि के सूक्ष्मदर्शन और अनुभव-भंडार की पूर्णता को प्रमाणित करते हैं। परन्तु वह चमत्कार, वह स्वाभाविकता, वह रसगांभीर्य्य, जो युद्ध-वर्णन से पूर्व प्रचुर परिमाण में प्रदर्शित होते थे, नहीं दिखाई पड़े। ये वर्णन अपेक्षाकृत फीके और शुष्कप्राय हैं। हाँ, यदि इनमें कुछ भी विशेषता है तो यह है कि कवि ने अपनी प्रतिभा के अभाव की पूर्त्ति अपने सांसारिक वस्तुज्ञान के प्रयोगद्वारा करने की चेष्टा की है। भगवान के स्वागतार्थ द्वारिका नगरी की सजावट, नागरिकों के आमोद-प्रमोद-सूचक व्यवसाय, तदुपरान्त विवाह-सम्बन्धी मंगल-विधियाँ और कर्मकाण्डानुगत व्यापारों की सूक्ष्मताओं का सविस्तर उल्लेख कवि के वस्तुज्ञान, अनुभव एवं देशीय प्रथाओं के ज्ञान का प्रचुर परिचय देते हैं। परन्तु इन सबसे काव्यगुणों के अभाव की पूर्त्ति होना कठिन है।

वेलि का सर्वोत्तम काव्य-स्थल

दोहले १५९ तक पहुँच कर कवि पुन: अपने पूर्वाभ्यस्त प्रतिभा-प्रदीप्त मार्ग को पा जाता है। दोनों ओर पति-पत्नी के प्रथम-मिलन का रति-उद्दीपक सामान जुटाया जा रहा है। इधर रुक्मिणी कृष्णजी से मिलने को अकुलाती हुई संकुचित हो रही हैं; उधर भगवान् बेचैन हैं। यहाँ, हम कृष्ण-रुक्मिणी के प्रेम को सांसारिक नायक-नायिका के प्रेम-व्यवहार के आदर्श के रूप में देख रहे हैं। कवि ने इस "राधा-माधवयो: रह:केलय:" के वर्णन में शृङ्गाररस को संक्षेपत: साङ्गोपाङ्ग वर्णित कर रतिभाव का भली भाँति उत्पादन और संपोषण किया है। दोहला १६२-६३ में प्रथम रात्रि की पूर्व संध्या का वर्णन पढ़कर तो रसिकों का हृदय फड़क उठेगा :—

सङ्कुड़ित समसमा सन्ध्या समयं,
रति वञ्छति रुकमणि रमणि।

पथिकवधू द्रिठि पङ्क पङ्खियाँ,
कमल पत्र सूरिज किरणि ॥१६२॥
पति अति आतुर त्रिया मुख पेखण,
निसा तणौं मुख दीठ निठ ।
चन्द्र किरण कुलटा सुनिसाचर,
द्रवड़ित अभिसारिका द्रिठ ॥१६३॥

यह न केवल सन्ध्या के संकोच और विस्तार रूपी द्वैध-भाव से पूर्ण शंकित-हृदय के प्राकृतिक दृश्य का ही चित्र है। वरन्, तज्जन्य, नायक-नायिका के प्रेम-पूर्ण हृदयों में रति-भावोदय का पृथक् पृथक् रागों से रंजित भाव चित्र भी है। यह स्वाभाविक मानवधर्म है कि प्रेम का प्रथम उद्रेक शीलधर्मा स्त्री के हृदय में संकोच को लिये हुए उद्भासित होता है और पुरुष के हृदय में उत्सुकता और सामीप्य-वाञ्छा को लिए उत्पन्न होता है। एक मे हृदय के भावों का संकोच और दूसरे में उनका विस्तार होता है। एक का धर्म निषेधात्मक है दूसरे का विधेयात्मक। जड़ प्रकृति में दोनों के संमिश्रण से वह अनिर्वचनीय प्राकृतिक अवसर उत्पन्न होता है जिसे सन्ध्या कहते हैं। मानव-प्रकृति मे दोनों के संमिश्रण से वह अवर्णनीय भाव उत्पन्न होता है जिसे 'रति' कहते हैं। कवि ने अपने प्रतिभा-बल की तीव्र सूझ से दोनों प्रकृतियों को पारस्परिक सहानुभूति और एकत्व के सूत्र में संगठित कर अद्भुत काव्य-गुण और सौष्ठव उत्पादित किया है। पदार्थ-विज्ञान का भी यह सिद्धान्त है कि प्रकृति में संघर्ष और संकोच इन दो सिद्धान्तों के संघट्ट से ही भौतिक सृष्टि की उत्पत्ति है। इस वर्णन के अपूर्व सौन्दर्य्य और गंभीर सैद्धान्तिक एवं दार्शनिक तत्त्वों पर विचार करते हुए हमें ऋग्वेद १० मण्डलान्तर्गत उस पुरातन स्वर्गीय वर्णन का स्मरण होता है जब

उषस् और रात्रि का पारस्परिक सम्बन्ध कल्पित करते हुए हमारे पूर्वज ऋषियों ने उच्चतम काव्यमयी भाषा में उन्हें एक पिता की दो पुत्रियाँ बताया है जो उभय सन्ध्या-कालों में उत्कंठा और संकोच के भावों को हृदय में भर कर मिलन करती हैं और पुनः बिछुड़ जाती हैं।

दो० १६४-१७४ पर्यंत इसी प्रकार कवि ने प्रथम मिलन के मनोहर अवसर को अनेक नवीन नवीन उपमाओं, रूपकों, अनोखी सूक्तियों एवं स्वाभाविक वर्णनों से सुसज्जित किया है। विस्तारभय से हम उनका उल्लेख करना उचित नहीं समझते। एक बात पर, इस सम्बन्ध में, हम पाठकों का ध्यान अवश्य आकर्षित करेंगे कि कवि इस शृङ्गार-वर्णन को भली भाँति सम्पादित करने में अत्यन्त सफल हुआ है। हमारी समझ में शृङ्गार-काव्य की दृष्टि से यह वर्णन ग्रंथ में सर्वश्रेष्ठ है। इसका अनुशीलन करते हुए और इसकी मौलिक उपमायें, रूपकों, शब्द और अर्थालङ्कारों तथा भाषा और भाव-सौष्ठव पर मनन करते हुए पाठकों को यह नहीं भूलना चाहिए कि कवि को इस आश्चर्यजनक सफलता का मुख्य कारण वास्तव में यह है कि वे इस प्रकार के अनुभवों को पर्याप्त परिमाण में स्वयं अनुभव कर चुके थे।

दो० १७४-१७९ पर्यंत रत्यन्त का अत्यन्त गाष्य और रोचक वर्णन है। दो० १८१-८६ में रति-क्रीड़ा के उपरान्त प्रातःकाल का बड़ा ही सुहावना और सुन्दर दृश्य चित्रित किया गया है जो अपनी रमणीयता के लिए अनोखा है। पाठक इस सम्बन्ध में अभिज्ञान शाकुन्तलम्, चतुर्थाङ्क में कण्व के शिष्य के मुख से वर्णित कालिदास के प्रभात-वर्णन से इस वर्णन की तुलना करके विशेष आनन्द-लाभ कर सकते हैं। दोहला १८४ कवि की क्रान्तिदर्शिनी अन्तर्दृष्टि के रहस्यवाद का एक ज्वलन्त उदाहरण है।

ग्रंथ के उत्तर भाग में कवि ने षट्-ऋतुओं का वर्णन किया है जो कथानक के लिए अनावश्यक है, परन्तु जो अप्रासंगिक इसलिए नहीं कहा जा सकता क्योंकि कवि ने ऋतुओं के वर्णन का पृष्ठ दृश्यों (Background Scenes) की तरह उपयोग कर इनके सहारे इनके भोक्ता भगवान और रुक्मिणी के विविध ऋतु-सम्बन्धी आमोद-प्रमोदों और आदर्श दाम्पत्य-प्रेम के मुख्य दृश्यों का मनोरम चित्रण किया है और साथ ही काव्य-कला के नियमानुसार इन विविध ऋतुओं को अन्तराय की तरह उपस्थित कर रुक्मिणी कृष्ण के विशुद्ध प्रेम के फलस्वरूप प्रद्युम्नकुमार के जन्म होने के पहले उपयुक्त अवकाश दिया है।

ऋतु वर्णन

दोहला १८७-१६२ पर्यन्त ग्रीष्म-वर्णन है। वर्णन की विशेपता यह है कि इसमें राजस्थानी ग्रीष्म के बहुत से प्रान्तीय अनुभवों का समावेश है। छंद १६१ में राजस्थान के प्रचड ग्रीष्म और लू की लपेटों का चमत्कार भरा है।

दो० १६३-२०५ पर्यन्त वर्षा-ऋतु का वर्णन है। यह ऋतु मरुस्थल के लिए एक विशेष आनन्द का सन्देश लाती है। मारवाड़ में वर्षा-ऋतु अन्य सभी ऋतुओं की अपेक्षा ज्यादा रमणीय और उपादेय समझी जाती है। अतएव स्वभावत कवि ने स्वदेशप्रेम से उत्साहित होकर वर्षा-ऋतु का उसी प्रकार काव्यमय हृदय से स्वागत किया है जिस प्रकार किसी मरुस्थलवासी जड़, चेतन जीव को करना योग्य है। परिणामत: और ऋतुओं की अपेक्षा वर्षा का वर्णन ज्यादा स्वाभाविक, ज्यादा उत्साह-पूर्ण एवं ज्यादा काव्यगुण-सम्पादित है। इस वर्णन की विशेषता यह है कि कवि ने वर्षा-सम्बन्धी ज्योतिष्, अनेकानेक स्थानीय विश्वास; यथा अमुक दिशाओं में वायु का परिवर्त्तन और तत्परिणामस्वरूप वर्षा होने की सम्भावना में न्यूनाधिकता का परिवर्त्तन—यही क्यों—अनेकानेक स्थानीय

सूक्ष्मताओं यथा "गर्भगलना" "कोरणा" बनना तथा बादलों का रङ्ग और आकार और उनका लोकमत के अनुसार अभिप्राय इत्यादि का उल्लेख किया है। सारांश, वर्षा-वर्णन मारवाड़ के अनुभवों के गंभीर रङ्गों से सुरंजित है।

दो० २०६ से २२५ पर्यंत हेमन्त और शरत् का वर्णन है।

दो० २२६ से २२६ पर्यंत शिशिर का वर्णन है।

दो० २२६ से २६६ तक वसन्त का वर्णन है।

यों तो साधारणतः सभी ऋतुओं के वर्णन में कवि ने अपनी मौलिक प्रतिभा का प्रदर्शन किया है परन्तु इनकी कल्पनाओं के सम्बन्ध में एक अद्वितीय विचित्रता यह है ये सब कल्पनायें इनके अखण्ड-वस्तु ज्ञान-भंडार एवं निजी सांसारिक अनुभवों पर आश्रित हैं। मौलिकता इनका प्रधान गुण है और अत्यंत स्वाभाविक और युक्तितत्पर एवं हृदयग्राही होने के कारण ये हमको बहुत रोचक लगती हैं। इन विशेषताओं की दृष्टि से वसन्त-वर्णन सर्वश्रेष्ठ है।

ऋतु-वर्णन के क्रम पर विचार करते हुए हम कल्पना कर सकते हैं कि जिस प्रकार महाराज पृथ्वीराज ने अन्य विषयों में अपने काव्यगुरु कालिदास के प्रशस्त मार्ग का अनुगमन किया, उसी प्रकार यदि हम अनुमान करें कि 'वेलि' में ऋतुओं का क्रम यदि उन्होंने ऋतुसंहार के अनुसार ग्रीष्म से प्रारम्भ किया हो तो कोई आश्चर्य की बात नहीं है। हम 'ऋतुसंहार' और 'वेलि' के ऋतुवर्णनों में समता ढूँढ़ने का वृथा प्रयास नहीं करते, क्योंकि हमें आशा है कि दोनों कवियों के काव्य में ऐसी समता न मिल सकेगी कि जिसे हम अनुकरण कह कर उत्तरवर्ती कवि पर अपहरण का दोष मढ़ सकें। हम पहले भी देख आये हैं कि कवि को इस रचना में किसी न

किसी रूप में कालिदास के प्रायः सभी काव्य-ग्रन्थों ने पथ-प्रदर्शन का कार्य किया है। पीथल ने कालिदास से केवल उन काव्यसाधनों को लिया है जो काव्य-शरीर के बाह्य आकार को सजा सकते हैं। उनके भावों का उन्होंने कभी अपहरण करने की चेष्टा न की। हमारा तो यह विश्वास है कि भावापहरण करने की पृथ्वीराज को कभी आवश्यकता ही नहीं पड़ सकती थी। कालिदास की तरह इनकी प्रतिभा भी अनाश्रित, अत्यन्त प्रखर, मर्मभेदिनी एवं निस्सीम थी।

दोहला २६६ से २७७ पर्यंत जगन्माता-पितास्वरूप रुक्मिणी और भगवान् कृष्ण के प्रेम के फलस्वरूप प्रद्युम्न के रूप में कामदेव का रुक्मिणी के गर्भ में निवास और जन्म वर्णित है। तदनन्तर ग्रन्थ का उपसंहार करते हुए कवि शीघ्रता के साथ छः-सात छंदों में भगवान कृष्ण, महालक्ष्मी रुक्मिणी-पुत्र प्रद्युम्न और पौत्र अनिरुद्ध—इस प्रशस्त वंशावली के गुण-लक्षणों के माहात्म्य की संक्षेप में स्तुति करता है। ग्रन्थ का मूल कथानक छंद २७७ से समाप्त हो जाता है। ग्रन्थ-समाप्ति के मंगल अवसर पर कवि ने भगवान् का यशोगान कर उसे उपहार के रूप में भगवान् की भेंट चढ़ाना अपने जैसे एक अनन्य भक्त का कर्त्तव्य समझा। यही कारण है कि ग्रंथ का अन्तिम भाग उच्च भक्ति-पूर्ण प्रार्थना एवं पवित्र प्रभुगुणानुवाद से समायुक्त है।

दोहला ३००-३०४ पर्यंत कवि ने ग्रंथसमाप्ति के स्थल पर ग्रंथारंभ की तरह पुनः ईश-विनय और नमस्क्रिया की काव्य-प्रथा का निर्वाह करते हुए ग्रंथ की भक्ति-प्रधानता का प्रमाण दिया है; साथ ही अपनी अकिंचन काव्य-प्रतिभा तथा विषय की गहनता की तुलना करते हुए भगवान् से विनम्रतापूर्वक क्षमा-याचना की है।

ग्रन्थ-निर्माण-काल

अन्तिम दोहले ३०५ में कवि ने कविप्रथानुसार ग्रंथ-समाप्ति का समय स्पष्टत: सं० १६३७ बता दिया है। इस संवत् के विषय में किसी प्रकार के अपवाद अथवा विवाद को स्थान नहीं है। कवि ने ३२ वर्ष की अवस्था में इस ग्रंथ का निर्माण किया। संभव है, इस ग्रंथ को समाप्त करते ही महाराज पृथ्वीराज को बादशाह के आह्वान पर उनकी सेना का नायक बन कर उसके विद्रोही भाई मिरज़ा हकीम से लड़ने के लिए काबुल पर धावा करना पड़ा हो।

वेलि का माहात्म्य

दो० २७८–२९० तक वेलि के भक्तिपूर्ण पाठ का माहात्म्य दरसाया गया है। पृथ्वीराज ने इस ग्रंथ को भगवान् के स्तोत्र के रूप में प्रकट किया है। शुद्ध अन्तःकरण और विशुद्ध भक्तिभावना के साथ इसको पढ़नेवाले को सांसारिक सुख-वैभव, सम्पत्ति, ऐश्वर्य और अखण्ड यश की प्राप्ति होती है। और परलोक में परम गति प्राप्त होती है :—

> मन शुद्धि जपन्ताँ रुकमणि मङ्गल,
> निधि सम्पति थाइ कुसल नित।
> दुरदिन दुरग्रह दुसह दुरदसा,
> नासै दुसुपन दुरनिमित ॥ २८६ ॥

तथा—

> त्रिशुवेलि कि पँचविध प्रमिध्र प्रनाली,
> आगम निगम कजि अखिल।
> मुगति तणी नीसरणी मण्डी,
> सरग लोक सोपान इल ॥ २९४ ॥

गृहस्थ भक्तों को वेलि के भक्तिपूर्वक पाठ से सबसे बड़ा लाभ यह होता है कि उनका दाम्पत्य-जीवन परिशुद्ध होकर उनका

प्रेम कृष्ण-रुक्मिणी के प्रेम की तरह अखण्ड और अनन्त व्यापकता को प्राप्त हो जाता है जिससे जीवन्मुक्ति एवं पारलौकिक मोक्ष की प्राप्ति होती है। सारांश, वेलि के पठन-पाठन से आदर्श गृहस्थ को सुख प्राप्त होता है :—

> ऊपजै अहोनिशि आप आपमै,
> रुपमणि क्रिसन सरीख रति।
> कहै वेलि वर लहै कुँमारी,
> परणी पूत सुहाग पति ॥ २८१ ॥

दो० २९१–९४ मे "वेलि" ग्रंथ के नाम की सार्थकता बताते हुए ग्रन्थनामान्तर्गत रूपक का विश्लेषण कर उसके भावार्थ-सौन्दर्य्य को चतुरता के साथ व्यक्त किया गया है।

दो० २९५ मे गुणग्राहक सुकवि और समालोचकों तथा छिद्रान्वेषी दुरालोचकों एवं "परहित घृत जिनके मन माखी" कुकवियों के प्रति क्रमानुसार चलनी और सूप की उपमा देकर कवि ने अपने विचार उसी शैली में प्रकट किये हैं जिसमे महात्मा तुलसीदास ने रामायण के प्रारम्भ में, "बंदौं सन्त असज्जन चरणा" इत्यादि वन्दना की है।

इसी प्रकार दो० २९६-३०० तक पाठकों को वेलि का भक्तिमय संदेश सुना कर कवि ने इसको, "मोटाँ तणौं प्रसाद कहै महि" अर्थात् यह भक्ति-ग्रंथ गुरुजन और सज्जनों के सत्संग का फलस्वरूप प्रसाद है; जो मैंने सरस्वती की कृपा और भगवद्भक्ति के आश्रय पर पुनः रसिकों के समक्ष उपस्थित किया है—कह कर 'वेलि' को सज्जन भक्तों, गुणग्राही काव्य-पारखियों एवं काव्यरसज्ञों को विनम्रतापूर्वक अर्पण किया है।

अन्तिम दोहले ३०५ में कवि ने काव्य-प्रथानुसार ग्रंथ-निर्माण का संवत् स्पष्टतः बता दिया है, जिसके विषय में किसी प्रकार का अपवाद अथवा विवाद नहीं हो सकता।

इस प्रकार सहृदय पाठकों की सुविधा के लिए हमने 'वेलि' का विश्लेषण कर उनके सामने चित्ररूप में इस काव्य को उपस्थित किया है।

ग्रंथ के उत्तर भाग में कुछ छंदों का अध्ययन करते हुए, संभव है, रसज्ञ पाठकों को कवि की आत्मश्लाघा अथवा आत्माभिमान का भाव रुचिकर न हो।

आत्मश्लाघा-दूषण का परिहार

डाकृर टैसीटरी महोदय उत्तरार्द्ध के सम्बन्ध में अपनी भूमिका में लिखते हैं:—

"The conclusion which consists of twenty eight stanzas (278-305) is very noteworthy as the boldest possible self-eulogy which an author could compose"

अर्थात्—ग्रंथ के अन्तिम २८ दोहलों में कवि ने ऐसी अतिशयोक्ति-पूर्ण आत्मश्लाघा की है जिसमें प्रायः सभी कवियों को मात किया है।

इस यथार्थ आलोचना को पाठकों की ओर से आक्षेप के रूप में अपेक्षित समझ कर हम कवि के वास्तविक मन्तव्य को स्वयं डाकृर टैसीटरी के शब्दों में उद्धृत करते हैं:—

"Seeing that Pirthi-Raj's production is really incensurable, we may well forgive him this outburst of self-confidence, it is, on a small scale and in a different form, the same proud feeling which made Michael Angelo strike the knee of his Moses and say to the marble: Speak!"

अर्थात् यह जान कर कि महाराज पृथ्वीराज का ग्रंथ सब प्रकार से अदूषित है हम उनके आत्म-विश्वास के उत्साह को क्षन्तव्य समझते हैं। संक्षेप में और दूसरे आकार में यह वही आत्म-गौरव का भाव है जिसने मायकेल एंजेलो नामक प्राचीन पाश्चात्य कलाविज्ञ को अपनी बनाई हुई संगमरमर की मोजिज की मूर्त्ति के घुटने पर प्रहार कर आवेशपूर्वक यह कहने को प्रेरित किया, "बोल"।

और वास्तव मे बात भी कुछ ऐसी ही है। ऐसी दशा मे कवि के हृदय में आत्मगौरव का भाव उत्पन्न होना अत्यन्त स्वाभाविक ही है। पृथ्वीराज को यह विश्वास था कि उनका यह काव्य-प्रयत्न अत्यन्त सफल हुआ है और उन्होंने अपने स्वाभाविक भोलेपन मे यह विश्वास प्रकट कर दिया। ऐसा करने के कारण हम उनको मिथ्याभिमान का दूषण नहीं लगा सकते। यह संभव है कि कवि के कथनानुसार हमारे लिए वेलि का पाठ कामधेनु की तरह मनोवांछित फल एवं सुख, सम्पत्ति एवं समृद्धि का देनेवाला सिद्ध न हो; जोग, जाग, जप, तप, तीरथ, व्रत इत्यादि का फल देनेवाला भी न सिद्ध हो; यंत्र, मंत्र, तंत्र एवं भूत, प्रेत, डाकिनी, शाकिनी आदि आसुरी वृत्तियों से हमारा सर्वथा त्राण भी न कर सके। यह भी संभव है कि इसके पाठ से हमारा "त्रिविधताप" एवं त्रिविध रोग भी दूर न हो एवं भवसागर से भी पार न हुआ जाय, परन्तु जब हम इन सब फलाकांक्षाओं से अपने चंचल मन को हटा कर, *लीलामय भगवान् और महामाया लक्ष्मी के सांसारिक चरित्रों के रहस्य जानने में,* अध्यवसाय और निश्चल भक्तिपूर्वक चित्त को लगावें तो क्या इस ग्रंथ के पढ़ने से हमको मन शुद्धि प्राप्त न होगी। "मन शुद्ध जयन्ता रुकमणि मङ्गल"। और जब मन ही शुद्ध हो गया तो उपरोक्त आकांक्षाओं में से ऐसी कौन सी है जो सफल न हो।

परन्तु फलादेश के साथ ही कवि का यह भी कहना है कि मन-शुद्धि की प्राप्ति तभी हो सकती है जब श्रद्धा और भक्तिपूर्वक इस पवित्र कथा का अनुशीलन किया जाय। क्योंकि—

श्रद्धावाँल्लभते ज्ञानं तत्परः संयतेन्द्रियः।
ज्ञानं लब्ध्वा परां शान्ति अचिरेणाधिगच्छति ॥ गीता ४।३९॥

हमारी समझ मे तो, ग्रंथ की प्रस्तावना में ही विनयपूर्वक अपनी असामर्थ्य को प्रदर्शित करनेवाले महाराज पृथ्वीराज के काव्य में आत्मश्लाघा अथवा मिथ्याभिमान की आशंका करना निरी भूल है। और यदि साधारणतया देखा जाय तो महाराज पृथ्वीराज ने यह कोई अभूतपूर्व प्रणाली नहीं निकाली। महात्मा तुलसीदास ने भी रामचरितमानस में इसी प्रकार के भाव प्रकट किये हैं:—

सुनि समुझहिं जन मुदित मन, मज्जहिं अति अनुराग।
लहहिं चारि फल, अछततनु, साधुसमाज प्रयाग ॥

परन्तु उपरोक्त फलों का मिलना तभी सम्भव होता है जब, 'राम-कथा जग मंगल करनी' को पढ़ते पढ़ते भक्त रसिकों के, "उघरहिं विमल विलोचन हिय के, मिटहिं दोष दुख भव रजनी के"।

वेलि का आध्यात्मिक संदेश

वेलि का अध्ययन करते हुए पाठकों को उसके शृंगार-रसमय बाह्य सौन्दर्य्याडम्बर के गर्भ में निहित आन्तरिक, दिव्य, आध्यात्मिक सन्देश को कदापि नहीं भूलना चाहिए। यदि काव्य-सौष्ठव इस वेलि का शरीर है तो *वह आध्यात्मिक तथ्य इसकी आत्मा है। यह आध्यात्मिक सन्देश* ही कवि का मुख्य अभिप्राय था यह बात ग्रन्थ के कई स्थलों से भली भाँति व्यक्त होती है। स्पष्टतः इस सन्देश का उल्लेख ग्रन्थ के उत्तर भाग में उपलब्ध होता है, जिसका आंशिक रूप में वर्णन हम ऊपर कर आये हैं।

वेलि का मूल सन्देश भक्तिमय है। वह साधारण जीवन-निर्वाह के लिए एक आदर्श पद स्थापित करता है जिसके परिणाम में संसार में 'भुगति' अर्थात् ऐश्वर्य्य, समृद्धि, सुख इत्यादि और परलोक में 'मुगति' अर्थात् मोक्ष, मुक्ति, निश्रेयस् अथवा सद्गति प्राप्त होती है। यथा—

"मधुकर रसिक सुभगति मंजरी,
मुगति फूल, फल भुगति मिसि" ॥ २९२ ॥

अथवा—

"मुगति तणी नीसरणी मंडी,
सरग लोक सोपान इल ॥ २९४ ॥"

परन्तु उस भक्तिमार्ग का आदर्श पृथ्वीराज की दृष्टि में कैसा है—यह जरा विचारणीय विषय है। हम निस्संकोच होकर सप्रमाण कह सकते हैं कि पृथ्वीराज की भक्ति का आदर्श इहलौकिक साधनों पर आश्रित, व्यवहारणीय आदर्श है। वह ऐसा जटिल अथवा असाध्य आदर्श नहीं है जो साधारण जन की बुद्धिगम्य ही न हो सके। उस आदर्श को प्राप्त करने की इच्छा रखनेवाला मुमुक्षु, संसार में रहते हुए, 'भुगति' और ऐश्वर्य्य, समृद्धि, सुख इत्यादि का उपभोग करते हुए, त्रिविधताप और त्रिविध रोग से दूर होने की चिन्ता करते हुए भी अपने मार्ग पर निरवरोध आगे बढ़ने का अधिकारी हो सकता है।

कवि का स्पष्ट कथन है कि भगवान् के दिव्य स्वरूप का ज्ञान प्रज्ञाचक्षु के द्वारा होने के अनन्तर रुक्मिणी का लौकिक प्रेम उनकी ओर आकर्षित हुआ 'सांभलि अनुराग थयो मनि श्यामा'। रुक्मिणी ने ज्ञान-योग के द्वारा अपने परिमार्जित, विशुद्ध चित्त में

भगवत्प्रेम का अंकुर बोया। तदनन्तर उन्होंने भगवान के प्रेम से प्रेरित होकर उनको प्राप्त करने के लिए कर्म किया। (देखो, ब्राह्मण के हाथ पत्र का भेजना)। वह कर्म अनासक्त था फल-लिप्सु नहीं। उस कर्म की फल-कामना पहले से ही "ज्ञानाग्निदग्ध" हो चुकी थी। गीता के उपदेशानुसार सच्चे हृदय मे किये हुए अनासक्त कर्म का फल यह हुआ कि भगवान् को रुक्मिणी की भक्तिपूर्ण प्रार्थना स्वीकार हुई। भक्ति मार्ग पर रुक्मिणी की विजय हुई। रुक्मिणी को लौकिक जीवन मे वह भुगति और ऐश्वर्य्य-समृद्धि प्राप्त हुई जिसका वर्णन कवि ने किया है। उनको परलोक में वह 'मुगति' मिली, जिसका आदर्श प्रत्येक विष्णुभक्त के हृदय में अंकित है। रुक्मिणी ने अनन्त मोक्ष प्राप्त कर विष्णुस्वरूप अनादि ब्रह्म के साथ वह ऐक्य प्राप्त किया, जिससे मोक्ष और सद्गति का आदर्श स्थापित होता है। और यदि प्रत्येक स्त्री-पुरुष कवि के बताये हुए इस मार्ग पर चलने लग जायँ तो:—

"ऊपजै अहोनिशि आप आपमैं,
रुकमणि क्रिसन सरीख रति।"

जिसके परिणाम मे इस संसार में रहते आदर्श दाम्पत्य-सुख एवं समृद्धि अर्थात् भुगति की प्राप्ति हो और परलोक में मुगति। ऐसा होने से ससार सुखमय, प्रेममय हो जाय; प्रत्येक गृहस्थ में कृष्ण-रुक्मिणी के आदर्श दाम्पत्य प्रेम की मधुरिमा झलकने लगे। इससे परे सांसारिक मुक्ति अथवा पारलौकिक मोक्ष का और क्या अर्थ होता है। इस दृष्टि से देखने पर हमको कवि के प्रेम और सौन्दर्य्य के आदर्श में और सत्य में कोई अन्तर प्रतीत नहीं होता। सांसारिक सौन्दर्य्य जब ज्ञान और भक्ति की शक्ति से शुद्ध हो जाता है तो वह परमपद को पाकर सत्यस्वरूप परमात्मा से तादात्म्य प्राप्त

कर लेता है। कवि ने कृष्ण के चरित्र को दैवी स्वरूप दिया है, परन्तु दूसरी ओर रुक्मिणी को ससार के समस्त आडम्बरों से सजाकर बिलकुल लौकिक रूप दे दिया है। इसी विभिन्नता को ध्यान मे रखने से काव्य का दिव्य सन्देश समझ में आ जाता है। 'कुमारसंभव' का आध्यात्मिक आदर्श भी कुछ इसी प्रकार का है परन्तु भेद इतना ही है कि वहाँ सौन्दर्य्य और सत्य (शिवा और शिव) दोनों दिव्य जगत् की आदर्श विभूतियाँ हैं। लौकिकता से वे दोनों बची हुई हैं। अतएव वहाँ के दिव्य-जगत् स्थित सौन्दर्य्य को ज्ञानाग्नि-द्वारा आत्मपरिशुद्धि की इतनी ज्यादा आवश्यकता नहीं पडी। वहाँ मायावी, लौकिक, शरीरधारी कामदेव के रहते हुए सौन्दर्य्य को सत्य के साथ तादात्म्य लाभ करना कठिन था, अतएव उस एकमात्र सांसारिक अवरोध का नाश करना आवश्यक था। परन्तु "कुमारसम्भव" का सत्य की ज्वाला से 'भस्मसात्' हुआ कामदेव 'वेलि' मे आकर प्रद्युम्न के रूप मे पुन अवतरित हो जाता है। वह रुक्मिणी के प्रेम और भक्ति का फलस्वरूप, 'भुगति' अथवा सांसारिक प्रेम के रूप में पैदा होता है। साराश, सत्य चाहे किसी रूप में क्यों न हो, अपने दिव्य स्वरूप को नहीं छोड़ता। उसमे संसार को शुद्ध करने की स्वाभाविक शक्ति है। सत्य का अंश रखनेवाला और उसका आश्रित सौन्दर्य्य-जात प्रेम संसार के आवरणों से घिरा हुआ होने पर भी "पद्मपत्रमिवांभसा" अलिप्त रह कर अपने दिव्य स्वरूप को नहीं छोड़ता। ज्ञानाग्नि से दग्ध होने पर उसी प्रेम का नाम भक्ति है। ऐसे भक्तिमार्ग का अवलम्बन कर सब संसार को सफल करते हुए परमात्मलाभ करना चाहिए।

'पत्रं पुष्पं फलं तोयं' कुछ भी पदार्थ क्यों न हो, जो भक्तिपूर्वक भगवान् को "भक्त्या प्रयच्छति" अर्पित किया जाता है वह उनको

स्वीकृत होता है। वेलि में वर्णित समस्त शृङ्गारमय सौन्दर्य-वर्णन को कवि ने भक्तिपूर्वक भगवान के श्रीचरणों में भेंट कर उसे ईश्वरीय पवित्रता एवं दिव्य सौन्दर्य के पद पर आरूढ़ कर दिया है। इस दृष्टि से देखने पर वेलि की नायिका जीवन की सांसारिक वास्तविकता से समायुक्त होते हुए भी आदर्श के रंग मे रंजित प्रतीत होती है। रुक्मिणी के रूप में कवि ने नारी के ऐहिक आदर्श को प्रतिपादित करते हुए उसे दिव्य नारी के आदर्श से मिला दिया है। इससे यह सिद्ध होता है कि वह दिव्य आदर्श भी सासारिक आदर्श के क्रमागत विकास की सर्वोत्कृष्ट श्रेणी-मात्र है। इससे यह भी सूचित होता है कि ऐहिक शरीरादि मायावी आडम्बरों से परिवृत जीवात्मा यदि सच्ची भक्ति-पूर्वक परमात्मा से सायुज्य लाभ करना चाहे तो वह लोकयात्रा करते हुए भी रुक्मिणी की तरह अपने सर्वोत्कृष्ट आदर्श को प्राप्त कर सकता है। इस विषय मे जीवात्मा के मुक्तिरूपी ध्येय का साधक ज्ञानाश्रित कर्मयोग से युक्त केवल भक्ति-मार्ग ही एक सरल उपाय है।

वेलि का आन्तरिक स्वरूप और उसका दिव्य सन्देश हम ऊपर बता चुके। अब उसके बाह्य अलंकरणों के विषय में कुछ परिचय देते हुए इस निबन्ध का समाहार करेंगे।

खण्ड-काव्य

शास्त्रानुमत महाकाव्य के प्राय: समस्त लक्षण विद्यमान होते हुए भी कुछ के प्रधान गुणों की अविद्यमानता के कारण, कालिदास के मेघदूत की तरह वेलि एक खण्ड-काव्य कहा जा सकता है। "सर्गबन्धांशरूपत्वाद्" (दण्डिन्) महाकाव्य का यह उपभेद कई एक रीति-ग्रंथों में 'संघात-काव्य' नाम से भी कहा जाता है। विश्वनाथ कविराज ने खण्डकाव्य की परिभाषा यों की है; "खण्डकाव्यं भवेत् काव्यस्यैकदेशानुसारि च।" (सा० द०) अर्थात् खण्डकाव्य महाकाव्य का एक आंशिक रूप है जो महा-

काव्य की तरह अनेक सर्गों में विभक्त नहीं होता। बाक़ी सब गुणों में प्रायश: दोनों मिलते-जुलते हैं। महाकाव्य के लक्षणों का अन्वेषण करते हुए हमको आंशिक रूप में प्राय: सभी महाकाव्य के गुण इस खण्डकाव्य में मिलते हैं।

"आशीर्नमस्क्रिया वस्तुनिर्देशो वापि तन्मुखम्" इस शास्त्र-रीति के अनुसार ग्रंथ की निर्विघ्नसमाप्ति के हेतु कवि ने 'रघुवंश' की तरह, ग्रंथ के प्रथम छंद में नमस्कारात्मक मंगलाचरण किया है। कथानायक के स्वरूप के विषय में शास्त्रकारों का यह अनुशासन भी कवि ने सम्यक्तया पाला है यथा; "इतिहासकथोद्भूतमितरद्वा सदाश्रयम्। चतुर्वर्गफलोपेतं चतुरोदात्तनायकम्" (दण्डिन्) इस शास्त्राज्ञा के अनुसार कवि ने 'इतिहासकथोद्भूत' एवं 'सदाश्रय' श्रीमद्भागवतपुराण के कथानायक भगवान् श्रीकृष्ण जैसे चतुर धीरोदात्त नायक के पवित्र चरित्र का काव्यमय चित्रण करके काव्य-रसिकों के समक्ष 'वेलि' के रूप में धर्मार्थकाममोक्ष चतुर्वर्ग की प्राप्ति का एक सरल साधन उपस्थित कर दिया है। ग्रंथ के इस चतुर्वर्ग-फलप्राप्ति के सम्बन्ध में हम ऊपर लिख आये हैं। आगे चलकर रीतिकार ने महाकाव्य के विविध अलंकरण भी गिनाये हैं जिनसे उसकी शोभा एवं मनोज्ञता बढ़ती है। यथा—

नगरार्णवशैलर्तुचन्द्रार्कोदयवर्णनैः।
उद्यानसलिलक्रीडामधुपानरतोत्सवैः॥
विप्रलम्भैर्विवाहैश्च कुमारोदयवर्णनैः।
मंत्रदूतप्रयाणाजिनायकाभ्युदयैरपि॥
अलंकृतमसंक्षिप्तं रसभावनिरन्तरम्॥

'वेलि' में हमको द्वारिका नगरी का बड़ा विशद और सुन्दर वर्णन उपलब्ध होता है (देखो, १४३ और आगे के छंद) पर्वतों का वर्णन

वास्तविक तो नहीं वरन उपमानों के रूप में ग्रंथ के पृथक् पृथक् स्थलों पर बहुतायत से मिलता है। षट्-ऋतुओं का अत्यन्त रोचक वर्णन बड़े विस्तृत रूप में ग्रंथ के मध्यभाग को अलंकृत करता है। अर्कोदय के सुखद वर्णन की चर्चा हम आगे कर आये हैं। उद्यान, सलिल-क्रीड़ा एवं मधुपान यत्र तत्र वसन्त और ग्रीष्म ऋतुओं के वर्णनों में समायुक्त हैं और अपने अपने स्थलों को स्वाभाविक सौन्दर्य्य से सुशोभित करते हैं। विप्रलम्भ का एक बहुत ही संक्षिप्त और मृदुल परन्तु मनोज्ञ और सुखद चित्र रुक्मिणी के विवाह के उपरान्त प्रथम रात्रि-मिलन के पूर्व प्रदर्शित है, (दो० १६५) विवाह का विशद और स्वाभाविक वर्णन छंद १५२-५८ पर्यन्त बड़े अनुभव के साथ कवि ने सम्पादित किया है। रतोत्सव के विषय में हम स्वयं कुछ न कह कर रसज्ञ पाठकों पर ही छोड़ते हैं। वे ग्रंथ के सर्वोत्तम भाग मे उच्चकोटि का रति-वर्णन ही पावेंगे जिसका उल्लेख हम आगे कर आये हैं। कुमारोदय का वर्णन प्रद्युम्न के जन्म के रूप में ग्रंथ के उत्तर भाग में मिलेगा। 'मंत्रदूतप्रयाण' पर विचार करते हुए हमे रुक्मिणी का भेजा हुआ श्रीकृष्ण के प्रति ब्राह्मण सन्देश-वाहक का स्मरण होता है। नायक का अभ्युदय प्रदर्शित करने के निमित्त उसको युद्ध में (अजि) विजयप्राप्ति का प्रमाण भी पर्याप्त से अधिक रूप में हमें दो० ११३-३७ पर्यंत मिलता है। "अलंकृतम् असंक्षिप्तम्" के सम्बन्ध में इतना कहना पर्याप्त होगा कि वेलि के प्रत्येक छंद में शब्दालङ्कारों यथा वयण सगाई, यमक, अनुप्रास, श्लेषादि, और विविध अर्थालङ्कारों की चमत्कृति काव्यमर्मज्ञों को मुग्ध करती है।

इस सम्बन्ध मे हमको स्मरण रखना चाहिए कि उपरोक्त सब लक्षण शास्त्रकारों ने मुख्यत: एक महाकाव्य के बताये हैं जो अन्य

साधारण गुणों के अतिरिक्त निम्नाङ्कित मुख्य गुणों से भी विभूषित होता है:—

"सर्गबन्धो महाकाव्यम्... ....
सर्गैरनतिविस्तीर्णैः श्रव्यवृत्तसुसंधिभिः।
सर्वत्र भिन्नवृत्तान्तैरुपेतं लोकरञ्जनम् ॥"

परन्तु वेलि महाकाव्य नहीं है, वरन् एक सर्गवाला खण्डकाव्य है। महाकाव्य में अनेक सर्ग होते हैं जो उपयुक्त संधियों द्वारा अन्योन्याश्रित होते हुए भी स्वतंत्र होते हैं और "भिन्नवृत्तान्तोपेतं" होने के कारण उसके पृथक् पृथक् सर्गों में भिन्न भिन्न रसों की प्रधानता इतनी नहीं अखरती जितना कि एक खण्डकाव्य में अनेक रसों का मिश्रण अथवा रसशङ्कर अखरता है। शास्त्रकार ने युद्ध, विप्रलम्भादि वृत्तों के वर्णनों को शृङ्गारप्रधान महाकाव्य में सम्मिलित कर लेने की आज्ञा देकर रसविरोध की आशङ्का इस आधार पर नहीं की कि चतुर कवि महाकाव्य के बृहत् आकार एवं उसके सर्गों की व्याप्ति के अवकाश को पाकर काव्य के "रसभावनिरन्तरम्" गुण को नष्ट न होने देगा। परन्तु 'वेलि' जैसे रतिभावप्रधान खण्डकाव्य में एक ही सर्ग में विरोधी भाव यथा युद्ध, भयङ्करता बीभत्सादि का समावेश कर देना रस के नैरन्तर्य—उसकी एकरसता एवं रससौष्ठव को विच्छिन्न अवश्य करता है। अतः यदि किसी भी अंग में "वेलि" के खण्डकाव्यत्व होने में दोष आता है तो वह छंद ११३-१३८ पर्यंत, जिसका कारण रसविरोध दोष हो सकता है। 'वेलि' रूपी पूर्णचन्द्र की अपूर्व यशश्छटा में यह अंश कलङ्ककालिमा की तरह है। और जब यह अपूर्णता प्रकृति के सभी पदार्थों में और आदिस्रष्टा की कृतियों में भी पाई जाती है तब तो महाराज पृथ्वीराज की मानवी अपूर्णता हमारे हृदय में उनकी श्रद्धा को बिलकुल कम नहीं करती। अपूर्णता मानव-स्वभाव है।

हम ऊपर कह आये हैं कि वेलि में प्रयुक्त भाषा साहित्यिक डिङ्गल-भाषा है। लोग बहुधा डिङ्गलकाव्य के नाम से ही घबरा से जाते हैं। कर्णकटुता, कठोरता एवं कान्तगुणहीनता का दोष प्रायः इस भाषा पर आरोपित किया जाता है। हम उक्त निर्मूल अपवाद का परिहार नहीं करना चाहते। आंशिकरूप में यह दोष डिङ्गल-काव्य के सिर मढ़ा जाना स्वाभाविक ही है, क्योंकि अब तक साहित्य-रसिकों को डिङ्गल-साहित्य में सच्चे शृङ्गार-काव्य का दर्शन बहुत कम हो पाया है। डिंगल-भाषा वीररस-प्रधान काव्य के लिए विशेषतः उपयुक्त है; यह बात सत्य है; परन्तु यह भाषा शृङ्गार-काव्य के लिए अनुपयुक्त है, यह कथन सत्य से सर्वथा शून्य है। और इसी बात के प्रमाण में हम पाठकों के सामने 'वेलि' जैसे डिङ्गल के सर्वोत्तम शृङ्गारग्रंथ को रखते हुए यह विश्वास करते हैं कि इस ग्रंथ-रत्न के उच्चतम भाषा-सौन्दर्य्य, शब्द-सौष्ठव, छंद-माधुर्य्य, विविध अलंकृति और अर्थगौरव से मुग्ध होकर सहृदय पाठक न केवल डिङ्गल-भाषा-सम्बन्धी काठिन्य एवं श्रुतिकटुत्व के ही भावों को सदा के लिए विस्मृत कर देंगे, वरन् यह जान कर कि डिङ्गल में भी संस्कृत, परिमार्जित हिन्दी अथवा अन्यान्य उन्नत प्रान्तीय भाषाओं के समान समस्त काव्यगुणों को धारण करने की पूर्ण क्षमता है, अत्यन्त सन्तुष्ट होंगे। इस विषय में टैसीटरी लिखते हैं:—

डिङ्गल छंद और भाषा

"It is certain that had Prithi Raja chosen to compose his *Veli* in emasculated Pingala he would have given us a very different composition, not superior in musicality, and considerably inferior in naiveté."

अर्थात् इसमें सन्देह नहीं कि यदि महाराज पृथ्वीराज ने "वेलि" को ओजविहीन पिङ्गल में लिखा होता, तो वे एक अत्यन्त विभिन्न रचना कर पाते, जो कि संगीतमाधुर्य्य में वर्त्तमान ग्रंथ की अपेक्षा कदापि उत्तम न होती और स्वाभाविक सरलता में तो कमती रहती ही"

डिङ्गल-भाषा एक स्वतंत्र एवं स्वतःस्थित भाषा है। वर्त्तमान-कालीन हिन्दी की तरह इसका भी बृहत् शब्दकोष, विशद व्याकरण एवं स्वाधीन छंदःशास्त्र है। डिङ्गल-साहित्य का रीति-शास्त्र भी पृथक् है। अतएव डिङ्गल के किसी साहित्यिक ग्रंथ की आलोचना करते हुए हमको डिङ्गल ही के रीतिग्रन्थों एवं आचार्यों का आधार लेकर समीक्षा करनी उचित है।

वेलि का व्याकरण

'वेलि' जिस समय लिखी गई थी उस समय राजस्थानी का माध्यमिक काल आरम्भ हो चुका था परन्तु 'वेलि' की भाषा का ढाँचा प्राचीन राजस्थानी का ही है। माध्यमिक राजस्थानी की भी कतिपय विशेषतायें वेलि में उपलब्ध होती हैं जिनमें से एक वर्त्तनी (Spelling) से सम्बन्ध रखती है। 'वेलि' की वर्त्तनी सर्वथा माध्यमिक राजस्थानी की-सी है। 'वेलि' से लगभग ४५ वर्ष पूर्व 'वीठू सूजो' नामक एक कवि ने "राउ जइतसी रउ छन्द" नामक काव्य लिखा था जिसमें बीकानेर-नरेश राव जैतसी के एक युद्ध का वर्णन है। परन्तु इस काव्य की वर्त्तनी अधिकांश में प्राचीन राजस्थानी की-सी है। "राउ जइतसी रउ छन्द" यह नाम स्वयं पुरानी वर्त्तनी में है नवीन वर्त्तनी में यह "राव जैतसी रो छन्द" यों लिखा जायगा।

'वेलि' बोलचाल की राजस्थानी में नहीं किन्तु साहित्यिक राजस्थानी यानी डिङ्गल में लिखी गई है। परन्तु यह होते हुए भी वेलि की भाषा बड़ी स्वाभाविक है और शब्दों की कपालक्रिया बहुत ही कम हुई है। वयणसगाई (देखो अन्यत्र इसी भूमिका में) आदि समस्त डिङ्गल-काव्य के नियमों का पूर्ण अनुसरण किया गया है। डिङ्गल में कवि लोग शब्दों को मन में आवे उस प्रकार तोड़ मरोड़ सकते हैं और शायद ही कोई डिङ्गल-कविता इस तोड़-मरोड़ से बची हो परन्तु महाराज पृथ्वीराज ने बिना बड़ी आवश्यकता के कहीं यह

तोड़-मरोड़ नहीं की है। यहाँ पर 'वेलि' का संक्षिप्त व्याकरण दे देना पाठकों के लिए उपयोगी होगा।

अपभ्रंश की भाँति राजस्थानी में भी विभक्तियाँ बहुत कुछ घिस गई हैं और प्रायः सभी विभक्तियों में शब्द के एक से ही रूप बनते हैं। अपभ्रंशकाल में ही इस गड़बड़ झाले को दूर करने का प्रयत्न प्रारम्भ हो गया था एवं नये तरीकों से (नये विभक्ति-चिह्नों आदि से) भिन्न भिन्न विभक्तियों के सम्बन्ध सूचित किये जाने लगे थे। राजस्थानी में दोनों प्रकार के रूप मिलते हैं।

(१) विभक्ति, प्रत्यय

सं०	कारक	प्रत्यय
१	कर्त्ता	०, इ (२)
२	कर्म	०, ए (२), नै (६१)
३	करण	०, इ (२), ए (८१, १६१), सूं (६४, १०२) करि (६४), आं
४	संप्रदान	०, इ, ए, नै
५	अपादान	०, हू (६१), हुँतां (५६), हुँती, हुँवां, हुत (२१६), हुंतां (७२), हुंती (६३) हुतो (६१), प्रति (६)
६	संबन्ध	०, रो (२३, ७८), को (२७२), चो (१२) तण (१२२), तणो (७), तनि, आं (५, २२), कां (१२४)
७	अधिकरण	०, इ (५,६), ए (२०) मैं (१२), मांह (५०), परि, लगि (६), लगी (४४), लगँ (२६)

टिप्पणी—(१) स्वर से आरम्भ होनेवाले प्रत्यय जोड़ने के पूर्व शब्द के अंतिम स्वर का प्रायः लोप कर देते हैं।

(२) तणो, लगो, परि, प्रति आदि प्रत्यय कभी कभी शब्द के पूर्व भी रख दिये जाते हैं, यथा—

हुवो सुदरसण तणो हरि (४२) = हरि तणो सुदरसण हुवो;
देहि संदेस लगो दुआरिका (४४) = दुआरिका लगी संदेस देहि।

(३) संबन्धकारक के प्रत्ययों में परस्थ शब्द के लिङ्ग वचन के अनुसार लिङ्ग, वचन का परिवर्तन होता है, रो री रा; तणो तणी तणा।

(४) करण व सबन्ध का "आं" प्रत्यय केवल बहुवचनवाची शब्द के आगे आता है।

(५) कर्त्ता का 'इ' प्रत्यय केवल अकारान्त शब्द में लगता है।

(६) बहुवचन में अकारान्त शब्द के आगे प्रत्यय लगाने के पूर्व अंतिम अ का आं प्रायः हो जाता है।

(७) ओकारान्त शब्द बहुवचन में आकारान्त हो जाता है।

(८) हिन्दी के आकारान्त शब्द (राजा गण को छोड़कर) राजस्थानी में ओकारान्त हो जाते हैं।

(९) ईकारान्त व ऊकारान्त शब्द के आगे बहुवचन में आं या यां जोड़ देते हैं और अंतिम स्वर को ह्रस्व कर देते हैं।

(१०) इकारान्त व उकारान्त शब्दों का बहुवचन बनाते समय उनके आगे आं या यां जोड़ देते हैं।

(११) कहीं कहीं नपुंसकलिङ्ग रूप भी आये हैं। यद्यपि राजस्थानी में नपुंसकलिङ्ग एवं पुंलिङ्ग में कोई भेद नहीं है। यह नपुंसकलिङ्ग गुजराती में अब भी है। यथा घणू किसू तणू।

(१२) साधारणतः संज्ञाशब्दों के बहुवचन बनाने के लिए अे या एकारान्त रूप दे देते हैं। यथा सन्यासिए, तापसिए, खेतिए।

(१३) हिन्दी और संस्कृत शब्दों के बीच में आनेवाले रेफ को स्थानान्तरित करके शब्द को विकृत करने का भी साधारण नियम है। यथा—क्रम = कर्म; प्रब = पर्ब

(१४) जिन शब्दों में रेफ न हो उनमें रेफ का आगम भी किया जाता है। यथा—त्रघटित, भ्रग (भग)।

(२) सर्वनाम

१. हूँ = मैं

कर्त्ता—हूँ
कर्म—मूँ, हूँ, मूझ, अह्म
संवध—मूझ, माहरो, मो, मू, अम्होणो
अधिकरण—अह्मा

२. तू = तू

कर्त्ता—तूँ, तुम्ह, तुम्हाँ
कर्म—तुम्ह, तुम्हाँ
करण—तुम्हासूँ
संबन्ध—तूझ, ताहरो, तुम्हीणो, तूँ तणा
अधिकरण—राजि लगै

टिप्पणी—'आप' के अर्थ म 'राज' शब्द प्रयुक्त होता है,

३. जो = जो

कर्त्ता—जु, जो, जोइ, जेहि, जिणि, जेणि
कर्म—जेहि
करण—जो, जेणि
सबध—जसु, जासु

४. सो = सो (वह)

कर्त्ता—सो, सु, ते, ताइ, तिणि
कर्म—ताइ, तिहि
करण—तिणि
संबन्ध—तसु, तासु, ताइ, तिणितणौ
अधिकरण—तेणि

५. कुण = कौन

कर्त्ता—को, कवण, केइ, किणि, किणै
कर्म—किणि, किणै

६. ओ = यह

कर्त्ता—ओ, आ (स्त्री०) ऐ (Oblique form)

७. अन्य सर्वनाम—

अनि = अन्य
किसो = कौनसा
केहवो = कैसा
एक = एक
बिहुँ = दोनों
सहु = सब, सभी

(३) अव्यय

जई = यदि, जब। तई = तब। पुणि = फिर। वलें, वली = फिर। पुनह पुनह = फिर फिर। किरि = मानो। परि = ज्यों, समान। इहाँ = यहाँ। कुत्र = कहाँ। जाणे, जाणि = मानो। अने, ने = और। किम, केम = कैसे। काज = लिए। किसूं = कैसे। तिणि = इसलिए। नेड़ो = पास। साम्हा = सामने (त्रिलिंगी)। तिम = तैसे, त्यों। नहु = नहीं। म = मत। लगि, लगी, लगै = तक, में। तदि = तब। इ = ही।

सुदूर विधि

म० पु० बाधिज्जै

कर्मवाच्य

वर्त्तमान

प्र० पु० मण्डिज्जै

म० पु० मण्डिज्जसि

भूतकाल

एकवचन	बहुवचन	स्त्रीलिङ्ग
बाधियो	बाधिया	बाधी
बाधो	बाधा	बाधई
बाध्यो	बाध्या	
बाधि	बाधिग्रे	

२—सकर्मक क्रिया

मूकणो = छोड़ना

वर्त्तमान

प्र० पु०	मूकै, मूकइ, मूकति, मूकंति, मूकंत	मूकै, इत्यादि
म० पु०	मूकै, मूकइ, मूक,	मूकौ
उ० पु०	मूकूँ	(मूकाँ)

आज्ञा

म० पु०	मूक, मूकि, मूकहि	मूकौ

विधि

प्र० पु०	मूकै	मूकै
म० पु०	मूकै	मूकौ

भविष्य

प्र० पु०	मूकिसी, मूकिस्यै	
म० पु०		मूकिस्यौ,
उ० पु०	मूकिसि, मूकिस्यौ	मूकिस्या, मूकेस्या, मूकस्या

भूतकाल

(क्रिया कर्म के अनुसार)		स्त्रीलिङ्ग
मूक्यौ, मूकियो	मूकिया, मूक्या	मूकी,
	मूकिए, मूके,	मूकवी,
	मूकए, मूकव्या	मूकई

सुदूरविधि

मूकियै, मूकिजै मूकियौ, मूकिजौ

कर्मवाच्य–

मूकिजै

मूकीजै

टिप्पणी—(१) कहीं कहीं सकर्मक क्रियाएँ भी अकर्मक की भांति प्रयुक्त हुई है। देखो दोहला ६३।

(२) 'करणो' का भूतकाल कीध, देणेर का दीध, लेणो का लीध भी होता है

(३) 'फहरावणो' का भूत स्त्रीलिङ्ग = फहराणी।

(४) 'ऊपणो' का भूतकाल = ऊपनो।

(५) संजोवणो का भूतकाल स्त्रीलिङ्ग = संजोई।

३—'होना' क्रिया के विशेष रूप

वर्त्तमान—म० पु० हुइ = तू होता है

मुहरावाली तुक यही, मुहरा माँहि मुणन्त ।
वर्णे गीत इम वेलियो, आदगुरु लघु अंत ॥

यह तो डिंगलछंद:शास्त्र का वेलियो गीत के सम्बन्ध में साधारण नियम हुआ जिसका जानना वेलि के पाठकों के लिए अत्यन्त आवश्यक है और जिसका पालन महाराज पृथ्वीराज ने साधारणतया अपने ग्रंथ में किया है। परन्तु वेलि के सब छंदों की सूक्ष्म छानबीन करने पर ज्ञात होगा कि कवि ने इस शास्त्ररीति के जटिलबन्धन को कई स्थानों पर भंग किया है। पर केवल इसी एक आधार पर हमें उनको नियमभंग अथवा छंदोभंग का दोष नहीं लगा देना चाहिए; कारण, अर्द्धसममात्रिक छंदों में एक तो पहले से ही चरण की मात्राओं के विषय में कवि को स्वतंत्रता रहती है अर्थात् यह आवश्यक नहीं है कि सब चरण बराबर मात्राओं के हों, दूसरे इस छंद की शास्त्रनिर्दिष्ट विशेषता इस बात में है कि पहला चरण १८ मात्रा का और तीसरा १६ मात्रा का होना चाहिए और इस नियमबंधन को कवि ने तोड़ा ही नहीं। रही बात समचरणों की। उनमें कवि ने साधारणतया तो शास्त्ररीति का ही अनुगमन कर १५ मात्राओं का उपयोग किया है परन्तु विशेष विशेष स्थलों पर, चाहे छंद की संगीत-गति की रक्षा के निमित्त किंवा माधुर्य्य-वृद्धि के हेतु अथवा अन्य किसी अलक्षित कारणवश १३-१४-१५ मात्राओं का भी उपयोग किया है। ऐसा करते हुए भी उन्होंने दूसरी और चतुर्थ पंक्ति की सममात्रिकता का कहीं भी ह्रास नहीं होने दिया है और साथ ही आत्मकल्पित किसी नियम के साथ इस स्वच्छंदता का उपयोग किया है, जो यह है—ऊपर कहे हुए रीतिग्रंथों में तो "मुहरावाली तुक मही........आद-गुरुलघु अंत" कह कर, दूसरे, चौथे चरणों के क्रमश: १५ मात्राओं-वाले पदों के अन्त में गुरु लघु ऽ। का प्रयोग करने का अनुशासन-मात्र दिया गया है। परन्तु कवि ने, इसके अतिरिक्त, जब दूसरा,

वेलि में प्रयुक्त छंद, ग्रंथ के नाम से मिलताजुलता वेलिया गीत है। डिंगल-कविता में साधारणतया प्रयुक्त अनेकानेक मात्रिक छंदों की जाति में से "छोटीसैणोर" नामक जातिविशेष के चार उपभेदों में से "वेलियो गीत" भी एक है। कविवर मनसाराम, 'मंछ' कवि-कृत डिंगल-काव्य के रीतिग्रन्थ 'रघुनाथदीपक' में इसका लक्षण इस प्रकार वर्णित है:—

वेलियो गीत

चार भेद तिण रा चवै, कवियण वड़ ओकूव।
समझ वेलियो[१], सोहणो[२], पुड्द[३], जाँगड़ो[४], पूव ॥

आगे चल कर वेलियो गीत का स्वरूप इस प्रकार वर्णित है :—

सोल[१] कला विषम पद साजै, समपद पनरै कला समाजै।
धुर अठार मोहरा गुरु लघु धर, कहजै 'मंछ' वेलियो इम कर॥

अर्थात् विषम चरणों (अर्थात् १-३) की १६ मात्राएँ होती हैं और सम चरणों की (अर्थात् २-४ की) क्रमशः १५ मात्राएँ होती हैं। यह तो एक साधारण लक्षण है परन्तु पहले चरण अर्थात् दुवाले के प्रथम चरण (धुर) की विशेषता कहीं कहीं इस बात में देखी जाती है कि वह १८ मात्राओं का होता है और उसके मोहरे की तुक के अन्त में गुरु लघु ऽ। होता है। पिंगलशास्त्र के अनुसार इसको अर्द्धसममात्रिक छंद कहना चाहिए।

यही लक्षण और स्पष्ट शब्दों में डिंगल-कोष के रचयिता कविवर मुरारिदानजी ने इस छंद के सम्बन्ध में कहे हैं यथा:—

अठारह कल आदतुक, दूजी पनरह पेख।
तीजो तुक सोलातणी, पनरह चौथी पेख ॥
दूजां दोहां सूँ दुरस, सहक्रम जाण सुजाण।
सोलह पनरह कलस कल, एम वेलियो आण ॥

विधि— प्र० पु० हुवै = हो
आज्ञा —प्र० पु० हुइ = हों
भूतकाल—प्र० पु० हुओ, हूवौ-ओ, थ्यो,
थयो, थियो, थई (स्त्री०) हूँतौ (था)

अकर्मक से सकर्मक

अ० स०
मंडणो मांडणो (रूप मांडिजै, मंडिजै = रचा जाता है)

(५) प्रत्यय

१. शतृ (हिन्दी ता) = न्त, तो, त, वतो, न्तो
जपन्त = जपता हुआ
जपतो = जपता हुआ
जपत = ”
चिन्तवती = चिन्ता करती हुई
गुडन्तो = गिरता हुआ

२. तुं (हिन्दी को) = इवा या इबा, यथा—कहिवा
एवा या एबा, यथा कहेवा, कहेबा
अण—कहण

३. त्वा (हिन्दी करके) = इ यथा—करि, कहि = कह करके
ई यथा—कही = कहकर
ए यथा—वहे = चलकर
आवि यथा—सीखावि = सिखा कर
अणि यथा—

वेलि में प्रयुक्त छंद, ग्रंथ के नाम से मिलताजुलता वेलिया गीत है। डिंगल-कविता में साधारणतया प्रयुक्त अनेकानेक मात्रिक छंदों की जाति में से "छोटीसैंणोर" नामक जातिविशेष के चार उपभेदों में से "वेलियो गीत" भी एक है। कविवर मनसाराम, 'मंछ' कवि-कृत डिंगल-काव्य के रीतिग्रन्थ 'रघुनाथदीपक' में इसका लक्षण इस प्रकार वर्णित है:—

वेलियो गीत

चार भेद तिण रा चवै, कविजण वड़ ओक्रूव।
समझ वेलियो[1], सोहणो[2], पुन्द[3], जाँगड़ो[4], पूव ॥

आगे चल कर वेलियो गीत का स्वरूप इस प्रकार वर्णित है :—

सोलै कला विषम पद साजै, समपद पनरै कला समाजै।
धुर अठार मोहरा गुरु लघु धर, कहजै 'मंछ' वेलियो इम कर॥

अर्थात् विषम चरणों (अर्थात् १-३) को १६ मात्राएँ होती हैं और सम चरणों की (अर्थात् २-४ की) क्रमशः १५ मात्राएँ होती हैं। यह तो एक साधारण लक्षण है परन्तु पहले चरण अर्थात् दुवाले के प्रथम चरण (धुर) की विशेषता कहीं कहीं इस बात में देखी जाती है कि वह १८ मात्राओं का होता है और उसके मोहरे की तुक के अन्त में गुरु लघु ऽ। होता है। पिंगलशास्त्र के अनुसार इसको अर्द्धसममात्रिक छंद कहना चाहिए।

यही लक्षण और स्पष्ट शब्दों में डिंगल-कोष के रचयिता कविवर मुरारिदानजी ने इस छंद के सम्बन्ध में कहे हैं यथा:—

अठ्ठारह कल आदतुक, दूजी पनरह पेख।
तीजो तुक सोलातणी, पनरह चौथी पेख ॥
दूजां दोहां सूँ दुरस, सहक्रम जाण सुजाण।
सोलह पनरह कलस कल, एम वेलियो आण ॥

मुहरावाली तुक यही, मुहरा माँहि मुणन्त ।
वर्णों गीत इम वेलियो, आदगुरु लघु अंत ॥

यह तो डिंगलछंद:शास्त्र का वेलियो गीत के सम्बन्ध में साधारण नियम हुआ जिसका जानना वेलि के पाठकों के लिए अत्यन्त आवश्यक है और जिसका पालन महाराज पृथ्वीराज ने साधारणतया अपने ग्रंथ में किया है। परन्तु वेलि के सब छंदों की सूक्ष्म छानबीन करने पर ज्ञात होगा कि कवि ने इस शास्त्ररीति के जटिलबन्धन को कई स्थानों पर भग किया है। पर केवल इसी एक आधार पर हमें उनको नियमभंग अथवा छदाभंग का दोष नहीं लगा देना चाहिए, कारण, अर्द्धसममात्रिक छदों में एक तो पहले से ही चरण की मात्राओं के विषय में कवि को स्वतंत्रता रहती है अर्थात् यह आवश्यक नहीं है कि सब चरण बराबर मात्राओं के हों, दूसर इस छंद की शास्त्रनिर्दिष्ट विशेषता इस बात में है कि पहला चरण १८ मात्रा का और तीसरा १६ मात्रा का होना चाहिए और इस नियमबंधन को कवि ने तोड़ा ही नहीं। रही बात समचरणों की। उनमें कवि ने साधारणतया तो शास्त्ररीति का ही अनुगमन कर १५ मात्राओं का उपयोग किया है परन्तु विशेष विशेष स्थलों पर, चाहे छंद की संगीत-गति की रक्षा के निमित्त किवा माधुर्य्य-वृद्धि के हेतु अथवा अन्य किसी अलक्षित कारणवश १३-१४-१५ मात्राओं का भी उपयोग किया है। ऐसा करते हुए भी उन्होंने दूसरी और चतुर्थ पंक्ति की सममात्रिकता का कहीं भी ह्रास नहीं होने दिया है और साथ ही आत्मकल्पित किसी नियम के साथ इस स्वच्छंदता का उपयोग किया है, जो यह है—ऊपर कहे हुए रीतिग्रंथों में तो "मुहरावाली तुक मही········आद-गुरुलघु अंत" कह कर, दूसरे, चौथे चरणों के क्रमश· १५ मात्राओं-वाले पदों के अन्त में गुरु लघु ऽ। का प्रयोग करने का अनुशासन-मात्र दिया गया है। परन्तु कवि ने, इसके अतिरिक्त, जब दूसरा,

चौथा चरण क्रमश लघु लघु ॥ से अन्त होता है, तो केवल १३ मात्राओं का नियमत उपयोग किया है और जब लघुगुरु ।ऽ से अंत होता हो तो १४ मात्राओं का उपयोग किया है। अन्यत्र सब जगह १५ मात्राओं का साधरणतया उपयोग किया गया है।

छंद शास्त्र की तरह डिंगल का अलङ्कारशास्त्र भी पृथक् है। हिन्दी, संस्कृत की तरह उसके भी शब्दालंकार और अर्थालङ्कार दो मुख्य भेद हैं। यों तो हिन्दी और संस्कृत-साहित्य के रीतिग्रंथों में जो जो अलङ्कार साधारणत मिलते हैं उनका डिंगल मे भी उपयोग होता देखा गया है परन्तु कहीं कहीं नामों का भेद अवश्य है। साथ ही डिंगल-साहित्य का हिन्दी और संस्कृत-साहित्य से सर्वथा स्वतंत्र विकास होने के कारण कई विशेषताएँ इसके अलङ्कारों मे अनोखी पाई जाती हैं। इस विषय में परिश्रमशील पाठक हिन्दी और संस्कृत के रीतिग्रंथों के साथ डिंगलकोष, रघुनाथदीपक इत्यादि डिंगलरीतिग्रंथों का तुलनात्मक अनुशीलन करके विशेष लाभ उठा सकते हैं। हम यहाँ केवल वेलि में साधारणतया प्रयुक्त कुछेक विशेष अलङ्कारों का दिग्दर्शन कराना पर्याप्त एवं युक्तिसंगत समझते हैं।

अलङ्कार

शब्दालङ्कारों मे डिंगलकाव्य का एक प्रमुख अलङ्कार वयण-सगाई के नाम से प्रसिद्ध है जिसका डिंगल कविता मे प्रायश: सर्वत्र उपयोग किया जाता है। हिन्दी में इसे शब्दानुप्रास कह सकते हैं। परन्तु इतना कहने-मात्र से इसका स्वरुप व्यक्त नहीं हो जाता। शब्दार्थ तो इसका 'वर्णों' की सगाई अथवा सम्बन्ध-स्थापन' होता है और बहुत अंश में यही इस अलङ्कार की परिभाषा भी समझनी चाहिए। वेलि में इस प्रकार की वयण-सगाई प्राय: प्रत्येक छंद के प्रत्येक चरण अथवा पाद में पाई

वयणसगाई

जाती है परन्तु इसकी व्याप्ति की भी कुछ सीमा है और अपवाद (Exception) का भी इसमें अवकाश होता है। रघुनाथरूपक में इसका लक्षण इस प्रकार वर्णित है :—

आवै इण भाषा अमल वैण सगाई वेष।
दग्ध अगण वद दुगुण रो लागत नहिं लवलेश ॥

वयणसगाई के प्रयोग से काव्य का महत्त्व—

वयण सगाई वेश, मिल्यां साँच दोषण मिटै।
किणयक समै कवेश, थपियो सगपण ऊथपै॥

दृष्टान्त—

खून कियां जाणै खलक, हाड वैर जो होय।
वयण सगाई वरणतो, कलपत रहे न कोय॥

वर्णों का पारस्परिक सम्बन्ध-निरूपण करते हुए लिखा है—

आ, ई, ऊ, ए, अ, य, व, इम, जइ, वब, यफ, नण, जाण
तट, घढ़, दड़, चछ, गध तवो, ऐ आखर कवि आण।
इण अखरोटाँ आद दै, अवर अखर सुभियाण।
आद जिकोही अन्त में, जो ही अधिक सुजाण॥

अर्थात् ऊपर की दो पंक्तियों में वर्णित अक्षर-द्वन्द्वों में वयण सगाई के नियमानुसार अभेद माना जाना चाहिए यथा "रलयोर भेदात्"। आगे चल कर अक्षरों के धरने की विधि इस प्रकार बताई गई है—

वरण मित्त जू धरण विध, कवियण तीन कहंत।
आद अधिक, समसध अवर, न्यून अंक सो अंत॥

अर्थ स्पष्ट है।

साधारणतया पृथ्वीराज ने वयणसगाई का प्रयोग वेलि में शास्त्रनियमानुसार ही किया है परन्तु कई एक स्थलों पर नियम की जटिलता तोड़ कर स्वच्छन्दता का भी परिचय दिया है। ऐसे नियम-प्रतिकूल स्थलों पर भी हमको अनिवार्य्यरूप से वणयमगाई का प्रयोग मिलता है परन्तु विशेषता इस बात की होती है कि जैसा कि साधारण नियम है, चरण के प्रथम शब्द के प्रथम अक्षर में और चरण के अन्तिम शब्द के प्रथम अक्षर में संघटित न होकर वयणसगाई कहीं कहीं चरण के प्रथम शब्द के प्रथम अक्षर में और चरण के मध्यवर्त्ती किसी शब्द के प्रथम अक्षर में अथवा मध्य अक्षर में भी संगठित होती है। विकल्प करके कवि ने वेलि में कई स्थलों पर वयणसगाई का भिन्न भिन्न रूप इस प्रकार दिखाया है—

(१) **अन्तरङ्ग वयणसगाई का प्रयोग**—चरण को दो पृथक् विभागों में विभक्त कर साधारण नियम के अनुसार दो वयणसगाई उपस्थित करना, जिससे यह चमत्कार प्रतीत हो मानो चरण एक नहीं दो हैं।

दृष्टान्त—

(क) स्त्रीपति कुण सुमति, तूझ गुण जु तवति।
छं० ६ प्रथम चरण।

(ख) सैसव तनि सुखपति, जोवण न जाग्रति।
छं० १५ प्रथम चरण।

इसी प्रकार छंद २० के दूसरे चरण, छंद ४६ के प्रथम चरण, छं० ६२ के प्रथम चरण, छंद ८१ के प्रथम चरण, छंद ६० के प्रथम चरण, छंद ६३ के प्रथम चरण तथा छंद १८६ के दूसरे चरण में अन्तरङ्ग दो दो वयणसगाई संघटित होती हैं।

(२) चरण के प्रथम शब्द के प्रथम वर्ण का उसी चरण के अन्तिम शब्द के आदि मध्य अथवा अन्तवर्त्ती किसी भी अक्षर के साथ शब्दानुप्रास सङ्घटित हो जाने से भी वयणसगाई सुरक्षित रह सकती है। यह डिंगलरीति के नियमानुसार तो नहीं, वरन् कवि द्वारा मानित परिपाटी है। यथा—

"ग्रिह ग्रिह प्रति भीँति सुगारि हींगलू।" वे० छंद ३६ प्रथम चरण।

इस चरण में वयणसगाई अन्तिम शब्द के मध्यवर्त्ती वर्ण 'ग' से सङ्घटित हुई है। इसी प्रकार अन्य दृष्टान्तों के लिए छंद ४०, ६७, १०७, १०८, १०६, ११८, ११६, १४४, १६१, १७१, १७४, १७६, १७८, १७६, १८८, १६२; १६४, १६८, २०८, २०६, २१६, २२२ २४७, २५२, २६४, २६५, २८८, ३०५ में देखो।

(३) डिंगलभाषा में संज्ञा का कारकचिह्न (Case inflection) संस्कृत, बंगला इत्यादि अन्य संयोगात्मक (Synthetic) भाषाओं की तरह, संज्ञा से भिन्न होते हुए भी वयणसगाई की दृष्टि से उसका अभिन्न भाग ही गिना जाता है। अतएव यदि चरण के अन्तिम शब्द के स्थान पर कोई कारकचिह्न अथवा उपसर्ग हो यथा, 'किरि', चो, लगि, ची, सूँ, परि, तणों इत्यादि तो वह पूर्वगत संज्ञा शब्द का अभिन्न भाग ही गिना जाता है और वयणसगाई उस संज्ञा शब्द के प्रथम अक्षर के साथ संघटित होती है। यथा—

अम्ब जात्र अम्बिका तणीं। वे० छन्द ७९ चतुर्थ पंक्ति।

यहाँ पर 'तणीं' पृथक् शब्द नहीं गिना गया है वरन् 'अम्बिकातणीं' समस्त पद गिना गया है अतएव इस चरण का प्रथम शब्द 'अम्ब' और अन्तिम शब्द 'अम्बिकातणीं' है जिनमें यथानियम वयणसगाई संघटित है। इसी प्रकार छंद ८२, १०८, १४८ तथा १६२ में देखो।

(४) यदि कोई चरण क्रियाविशेषण अव्यय, सर्वनाम अव्यय, समुच्चयबोधक अव्यय अथवा अन्य किसी अव्यय या उपसर्ग अथवा कारकचिह्न से प्रारम्भ हो तो वह अव्यय, अथवा उपसर्ग अथवा कारकचिह्न चरण का प्रथम शब्द न गिना जाकर, वह संज्ञा जिसका वह सहायक है अथवा अंगीभूतभाग है, प्रथम शब्द मानी जाती है और इस संज्ञा के प्रथम अक्षर की वयणसगाई नियमानुसार चरण के अन्तिम शब्द के प्रथम अक्षर के साथ संघटित होती है।

यथा—

किरि वैकुण्ठ अयोध्यावासी। वे० छंद १०६ तीसरी पंक्ति।

यहाँ 'किरि' अव्यय 'वैकुण्ठ' संज्ञा से सम्बन्ध रखता है अतएव 'वैकुण्ठ' शब्द प्रथम माना जाकर उसकी वयणसगाई, विकल्प (२) के अनुसार अयोध्यावासी के 'वासी' के साथ संघटित हुई है। इसी प्रकार—

(क) किरि नीपायाँ तदि नीकुटेश्रे।
वे० छं० ११० तीसरा चरण।

(ख) तिणि आप ही करायाँ आदर।
वे० छं० १६८ तीसरा चरण।

(ग) जिम सिणगार अकीयै सोहति।
वे० छन्द २२८ तीसरा चरण।

(घ) करि परिवार सकल पहिरायाँ।
वे० छन्द २३७ तीसरा चरण।

(५) कहीं कहीं चरण के प्रथम शब्द के प्रथम अक्षर की वयणसगाई उस चरण के अन्तिम शब्द के अन्तिम अक्षर से बनती है। यथा—

(क) नीरासयै परि कमलिनी। वे० छ० १७४ अन्तिम चरण।

(ख) ग्रीवदनि पीतता चिति व्याकुलता।

वे० छ० १७६ प्रथम चरण।

(ग) कस छूटी छुद्रघण्टिका। वे० छ० १७८ अन्तिम चरण।

(घ) तरु लता पल्लवित त्रिणे अङ्कुरित।

वे० छ० १९८ प्रथम चरण।

इसी प्रकार छन्द १८८ तीसरी पंक्ति, छन्द २०८ दूसरी पंक्ति, छन्द २२१ तीसरी पंक्ति में भी।

(६) कहीं कहीं चरणों में वयणसगाई न होने पर भी उसका अभाव इसलिए नहीं अखरता कि उस छन्द में अथवा चरण में कवि ने पर्याप्तरूप में शब्दानुप्रास का अन्यरीति से उपयोग करके वयणसगाई को अनुपेक्षणीय समझ लिया है। यथा—

(क) निवै सहस नीसाण न सुणिजै।

वे० छ० ११५ तीसरी पंक्ति।

(ख) दस मास समा पति गरभदीध रति।

वे० छ० २२९ प्रथम पंक्ति।

(ग) अङ्गणि जल तिरय उरय अलि पीयति।

वे० छ० २४६ प्रथम पंक्ति।

(घ) दरयक कन्दरय काम कुसुमायुध।

वे० छ० २७४ प्रथम पंक्ति।

इसी प्रकार छन्द २८७ दूसरी पंक्ति, छन्द २८४ अन्तिम पंक्ति को देखो।

यह निश्चित बात है कि वयणसगाई के उपयोग से काव्य का भाषा-सम्बन्धी वाह्य सौन्दर्य बढ़ जाता है। परन्तु काव्य की

अन्तरात्मा अर्थात् अर्थ के दूषित हो जाने पर वयणसगाई भी उस दोष का परिहार नहीं कर सकती क्योंकि काव्य का वास्तविक लक्षण है "रसात्मकं वाक्यं काव्यम्" काव्य की आत्मा को वाह्याडम्बरों के अलंकरणों की आवश्यकता नहीं होती। मम्मट ने तो "अनलङ्कृति: पुन: क्वापि" कह कर इस भाव को स्पष्ट ही कर दिया है।

अब प्रश्न यह उत्पन्न होता है कि वे कौन से दूषण हैं जो—

"किणयक सर्म कवेश थपियो सगपण ऊथपे"। 'मंछ'

प्रसंगवश हम यहाँ पर संक्षेप में उनका नामोल्लेख-मात्र करना पर्याप्त समझते हैं। विस्तारभय से वेलिग्रंथानुगत अर्थ-सम्बन्धी दोषों पर डिंगलरीतिशास्त्र के अन्वेषक की दृष्टि से पर्यालोचन करने का सूक्ष्म काम हम इस विषय के रसिक विद्यार्थियों के लिए छोड़ देते हैं—

अथ काव्यदोषा:—

म्तं उकत को रूप अंध[१] सो नाम उचारैं,
कहै वलै छवकाल[२] विरूद्ध भाषा विस्तारैं।
हीणदेप[३] सो हुवै जात पित सुदो न जाहर,
निनङ्ग[४] जेणनैं निरप विकल बरणन विन ठौर॥
पांगलो[५] छन्द भाषै प्रकट वद घट कला बखाणजै,
विच अवर अवर ढालौ वणै, जातविरुध[६] सो जाणजै।
अपस[७] अमूझ्यो अरथ शब्द पिण विणा हित साजै,
नालछेद[८] जिण नाम जथा हीणां गुण साजै॥
कहै दोष पपतूट[९] जोड़ पनली अर जालम,
बहरो[१०] सो शुभ वयण सुडै, अणशुभ है मालम।
मरुभूम पाठ पिंगल मतां साहित वैदक सारनैं,
कहै मंछ भलां रूपकरो अैदश दोष निवारनैं॥

अर्थात्—(१) जहाँ उक्त विषय का निरबाध निर्वाह न हो सके एवं किसी चरण में उक्त विषय 'सम्मुख' एवं दूसरे में 'पराङ्मुख' हों उसे काव्य में "अंध" दोष कहते हैं। दण्डिन् के अनुसार हम इसे "व्यर्थ" दोष की संज्ञा प्रदान कर सकते हैं। देखो काव्यादर्श परिच्छेद ४ श्लोक ८।

(२) विरुद्ध भाषाओं अथवा विभिन्न भाषाओं के मिलान को—यथा, व्रजभाषा, खड़ी-बोली, पारसी अथवा अन्य किसी भाषा को डिङ्गल से मिला देने को—"छबकाल" दोष कहते हैं। इस दोष के पर्याय में दण्डिन् का "देशकालकला, न्याय, आगम" विरोधि दोष है। देखो काव्या० परि० ४। ४३-४५-६०।

(३) जिससे अर्थ का अनर्थ हो सकने की संभावना हो अर्थात् अर्थ शब्दों से स्पष्टतया व्यक्त न हो सके। जैसे राम के वर्णन में यदि उनकी जाति, पिता, वर्ण इत्यादि का स्पष्ट उल्लेख न हो। रामचन्द्र, परशुराम, बलराम इत्यादि का भ्रम हो सकता है। ऐसे भ्रामक स्थलों पर हीन दोष मानना चाहिए। दण्डिन् का "ससंशयम्" दोष इसका पर्यायवाची है।

(४) बिना ठिकाने का अट्टमसट्टम, किसी स्वाभाविक क्रम के विरुद्ध वर्णन को निनङ्ग दोष समझना चाहिए। यथा—काव्यादर्श में "अपक्रम" दोष।

(५) छन्द की शास्त्र-नियत मात्राओं से बढ़ती घटती मात्राएँ यदि भिन्न भिन्न चरणों में पाई जायँ तो वह "पाँगलो" दोष कहलाता है। इसे दण्डिन् की परिभाषा में "भिन्नवृत्तम्" का सर्वतोघृणित दोष समझना चाहिए।

(६) किसी छन्द में प्रथम चरण तो किसी जाति के छन्द का हो, दूसरा अन्य किसी जाति के छन्द का हो और इसी प्रकार

तीसरे चौथे चरणों में हो तो ऐसे छन्दों के शङ्कर को "जात विरुद्ध" दोष कहते हैं। यह दोष भी दण्डिन् की भिन्नवृत्तम् की व्याप्त परिभाषा में आ जाता है।

(७) अर्थ को घुमा फिरा कर चक्कर में डाल देना—सीधी तरह से न कह कर क्लिष्टरूप में कहना—इसे "अपस" दोष कहेंगे। यथा, विष्णु के लिए सीधे ही 'लक्ष्मीपति' न कह कर, नदीपति (समुद्र) तासु सुता (लक्ष्मी) तासु भगवान् (विष्णु) कहना। यथा, दण्डिन् का "अपार्थ" दोष।

(८) अनभिजात छन्द-सङ्कर के दोष को नाल छेद कहते हैं। यह दोष भी जातिविरुद्ध दोष से कुछ मिलता-जुलता है। यथा—छन्द के चार दुवालों (चरणों) से दो में तो किसी शास्त्रानुमत छंद का रूप बने; परन्तु बाकी दो छन्द सङ्कर हो जाय। यह दोष है।

(९) जहाँ छन्द के प्रथम दो चरणों में कची जोड़ और दूसरे दो में पकी जोड़ हो, वहाँ पषतूट दोष गिना जाता है। कची जोड़ उसे कहते हैं जिसमें कठ अर्थात् शब्दानुप्रास नहीं आता है और पकी जोड़ में शब्दानुप्रास रहता है। यथा—

कची जोड़—"तीर शेलां छुरां झोंक तरवारियाँ"

॥ शब्दानुप्रासहीन ॥

पकी जोड़—"तहक नीपाण गिरवाण हरण तन"

॥ शब्दानुप्रासयुक्त ॥

(१०) जिसमें शब्दयोजना ऐसी बेढंगी हो कि शब्दों का दुवरफ़ा अर्थ निकलकर भ्रम पैदा हो जाता है यथा—

"जीत लीधी जमीं कटैं घी जेगारी।
पराजै हुई नहै फतह पाई॥"

यहाँ पर "पराजय नहीं हुई वरन् फतह पाई" यह वास्तविक अर्थ है। परन्तु शब्दयोजना ऐसी वेढंगी है कि, "पराजय हुई, फतह नहीं पाई" यह उलटा अर्थ भी निकलता है।

उपसंहार

सम्भव है यह भूमिका विस्तृतरूप धारण कर लेने के कारण पाठकों को अनावश्यक और अरुचिकर मालूम होने लगे। साधारण स्थिति में हम भी इसे इतना विस्तृत करने का वृथा प्रयास न करते। परन्तु जब हमें ज्ञात है कि हिन्दी-संसार में महाराज पृथ्वीराज के काव्य को लोकप्रिय बनाने के लिए काव्यरसिकों को कुछ ऐसी विशेष बातें अथवा समस्याओं को जानने की अत्यन्त आवश्यकता होगी कि जो हिन्दी भाषा के लिए बिलकुल नवीन समस्याएँ हैं तब हमने साहित्य-हित की प्रेरणा से यह प्रयास प्रारम्भ किया। अब तक हिन्दी-प्रेमियों को महाराज पृथ्वीराज के विषय में बहुत कम जानकारी थी। वे साधारण श्रेणी के कवि गिने जाते थे। उनकी काव्य-प्रतिभा का चमत्कार कुछ एक गिने चुने प्रशस्तिगीत तथा छप्पय, दोहे इत्यादि तक सीमित गिना जाता था। इस भूमिका के आशय से सूचित होगा कि महाराज पृथ्वीराज ने सम्बद्ध-साहित्य (Sustained literature) एवं काव्यरचना के क्षेत्र में भी पर्याप्त सफलता प्राप्त की थी। महाराज पृथ्वीराज का काव्य-चमत्कार किस श्रेणी का है, हिन्दी-साहित्य में उनका कौन सा वास्तविक स्थान है, उनकी प्रतिभा का केन्द्र कितना विस्तृत है इत्यादि विषयों पर यथाशक्ति प्रकाश डाल कर हिन्दी-काव्य-रसिकों की इस कवि के सम्बंध में जानकारी बढ़ाना एवं उनका मनोरंजन करना इस विनम्र निवेदन का लक्ष्य है। आशा है, काव्यरसिक पाठक इस सेवा को स्वीकार कर हमें कृतज्ञ करेंगे।

महाराज पृथ्वीराज के सम्बन्ध में किया हुआ हमारा यह तुच्छ प्रयास यदि आंशिक परिमाण में भी हिन्दी-साहित्यज्ञों को रोचक सिद्ध हुआ अथवा उक्त कवि के विषय में उनकी ज्ञान-संवृद्धि का कारण हो सका, तो हम अपने आपको कृतकृत्य समझेंगे।

इस भूमिका के लिखने में मुझे महाराज श्रीजयमालसिंहजी एवं मित्रवर श्रीनरोत्तमदास स्वामी 'विरक्त', एम० ए०, 'विशारद' महोदय, ठाकुर श्रीरामसिंहजी महोदय, एम० ए० "विशारद" की सम्मति से समय समय पर सहायता प्राप्त हुई है। अतएव मैं उनका अत्यन्त कृतज्ञ हूँ।

पिलाणी (जयपुर राज्य)
शिवरात्रि सं० १९८६

सूर्यकरण पारीक

वेलि किसन रुकमणी री
राठौड़राज प्रिथीराज री कही

अथ वेलि
क्रिसन रुक्मणी री
राठौड़राज प्रिथीराज री कही ।

—:०:—

परमेसर प्रणवि प्रणवि सरसति पुणि
सदगुरु प्रणवि त्रिण्हे ततसार ।
मङ्गलरूप गाइजै माहव
चार सु·ए ही मङ्गलचार ॥१॥

[परमेसर प्रणवि] परमेश्वर को प्रणाम करके [पुणि सरसति प्रणवि] फिर सरस्वती को प्रणाम करके [सदगुरु प्रणवि] और श्रेष्ठ गुरुदेव को प्रणाम करके [त्रिण्हे ततसार] क्योंकि ये ही तीनों सारतत्त्व हैं, [मङ्गलरूप माहव गाइजै] मंगलरूप भगवान् श्रीकृष्ण का गुणानुवाद गाया जाता है। [ए ही चार सु मङ्गलचार] ये ही चार प्रकार के श्रेष्ठ मंगलाचरण हैं ॥१॥

आरम्भ मैं कियौ जेणि उपायौ
गावण गुणनिधि हूँ निगुण।
किरि कठचीत्र पूतली निज करि
चीत्रारै लागी चित्रण ॥२॥

[जेणि उपायौ] जिसने उत्पन्न किया, [गुणनिधि गावण मैं आरम्भ कियौ] उस गुणनिधि के गुणों का गान मैंने आरम्भ किया है, [हूँ निगुण] यद्यपि मैं गुणहीन हूँ। [किरि] जैसे [कठचीत्र पूतली] काठ में चित्रित की हुई पुतली (प्रतिमा) [चीत्रारै निज करि चित्रण

लागी] अपने चित्रकार को ही अपने (गुणहीन) हाथों से चित्रित करने लगी हो ॥२॥

कमलापति तणी कहेवा कीरति
आदर करै जु आदरी ।
जाणे वाद माँडियौ जीपण
वागहीण वागेसरी ॥३॥

[कमलापति तणी कीरति] लक्ष्मीपति (श्रीकृष्ण) की कीर्ति को [आदर करे कहेवा जु आदरी] आदर सहित कहना जो मैंने अंगीकार किया है, [जाणे] (वह) मानो [वागहीण वागेसरी जीपण वाद माँडियौ] वाक्हीन (मूक पुरुष) ने, वाणी की अधिष्ठात्री देवी (सरस्वती) से, जीतने के लिए (हठपूर्वक) विवाद छेड़ा है ॥३॥

सरसती न सूझै ताइ तूँ सोझै
वाउवा हुऔ कि वाउलौ ।
मन सरिसौ धावतौ मूढ़ मन
पहि किम पूजै पाँगुलौ ॥४॥

[मूढ़ मन] रे मूर्ख मन, [सरसती न सूझै] सरस्वती को (जो) नहीं सूझता [ताई तूँ सोझै] उसी को तू ढूँढ़ता है । [वाउवो हुऔ कि वाउलौ] या तो तू वातग्रस्त हो गया है (लबार हो गया है) अथवा पागल हो गया है; [मन सरिसौ धावतौ] तू मन के सदृश (अपनी ही स्वाभाविक तीव्रगति के अनुकूल) दौड़ता (अवश्य) है, [पहि] परन्तु [पाँगुलौ किम पूजै] (तू) पंगु कैसे पहुँच सकता है ॥४॥

जिणि सेस सहस फण फणि फणि वि वि जीह
जीह जीह नवनवौ जस ।
तिणि ही पार न पायौ त्रीकम
वयण डेडराँ किसा वस ॥५॥

[जिणि सेस सहस फण] जिस शेषनाग के सहस्र फण हैं, [फणि फणि वि वि जीहे] फण फण में दो दो जीभें हैं, [जीह जीह नवनवौ जस] (और) प्रत्येक जीभ में नित्य नया यश-गान है, [तिणि हीं त्रीकम पार न पायौ] उसने भी त्रिविक्रम (के यश) का पार नहीं पाया [डेडरां वयण किसौ वस] (तो फिर) मेंढकों के वचनों में कौन सी सामर्थ्य है ॥५॥

स्रीपति कुण सुमति तूझ गुण जु तवति
तारु कवण जु समुद्र तरै ।
पङ्खी कवण गयण लगि पहुचै
कवण रङ्क करि मेरु करै ॥६॥

[स्रीपति] हे कमलापति, [कुण सुमति] (ऐसा) कौन श्रेष्ठ मतिमान् है, [जु तूझ गुण तवति] जो आपके गुणों का स्तवन कर सकता है; [तारु कवण] (ऐसा) तैराक कौन है [जु समुद्र तरै] जो समुद्र को तैर—(पार कर) सकता है; [पङ्खी कवण] (ऐसा) कौन पक्षी है, [गयण लगि पहुँचै] जो गगन तक (आकाश के अन्त तक) पहुँच सकता है, [कवण रङ्क] (ऐसा) कौन कङ्गाल है [करि मेरु करै] जो अपने हाथ में मेरु को उठा सकता है ॥६॥

जिण दीध जनम जगि मुखि दे जीहा
क्रिसन जु पोखण भरण करै ।
कहण तणौ तिणि तणौ कीरतन
स्रम कीधा विणु केम सरै ॥७॥

[मुखि जीहा दे] मुख में जीभ देकर, [जगि जिण जनम दीध] संसार में जिसने जन्म दिया; [जु क्रिसन भरण पोखण करै] (और) जो श्रीकृष्ण (हमारा) भरण पोषण करते हैं, [तिणि तणौ कीरतन]

उनका कीर्त्तन [कहण तणौ स्रम कीधा विण] कहने का श्रम किये विना [केम सरै] कैसे बन सकता है ॥७॥

सुकदेव व्यास जैदेव सारिखा
सुकवि अनेक ते एक सन्थ ।
स्रीवरणण पहिलौ कीजै तिणि
गूँथियै जेणि सिँगार ग्रन्थ ॥८॥

[सुकदेव व्यास जैदेव सारिखा अनेक सुकवि] शुकदेव, वेदव्यास, और जयदेव के समान अनेक सुकवि (हुए हैं) [ते एक सन्थ] वे (इस रीति का अनुसरण करने में) एकमत हैं, [तिणि स्रीवरणण पहिलौ कीजै] कि उसको स्त्री का वर्णन पहले करना चाहिए [जेणि सिँगार ग्रन्थ गूँथियै] जिसको शृङ्गार-ग्रंथ रचना हो ॥८॥

दस मास उदरि धरि वलै बरस दस
जो इहाँ परिपालै जिवड़ी ।
पूत हेत पेखताँ पिता प्रति
वली विसेखै मात वड़ी ॥९॥

[दस मास उदरि धरि] (जो) दस महीनों तक गर्भ में धारण कर, [वलै दस बरस इहाँ जिवड़ी परिपालै] फिर दश वर्षों तक इस संसार में जिस प्रकार पालन-पोषण करती है; [वली पूत हेत पेखताँ] फिर पुत्रवत्सलता को देखते हुए [पिता प्रति मात विसेखै वड़ी] पिता की अपेक्षा माता ही विशेष बड़ी है ॥९॥

दक्खिण दिसि देस विदरभति दीपति
पुर दीपति अति कुँदणपुर ।
राजति एक भीखमक राजा
सिरहर अहि नर असुर सुर ॥१०॥

[दक्खिण दिसि देस विदरभति दीपति] दक्षिण दिशा में विदर्भ देश अति शोभायुक्त था। [कुँदणपुर अति दीपति पुर] (वहाँ) कुंदनपुर (नाम का) बड़ा ही सुंदर नगर था। [एक भीखमक राजा राजति] (वहाँ) भीष्मक (नामक) एक राजा राज करता था, [अहि नर असुर सुर सिरहर] (जो) नागों, नरों, असुरों और सुरों का शिरोधार्य था ॥१०॥

पञ्चपुत्र ताइ छठी सुपुत्री
कुँअर रुकम कहि विमलुकथ।
रुकमबाहु अनै रुकमाली
रुकमकेस नै रुकमरथ ॥११॥

[ताइ पञ्चपुत्र छठी सुपुत्री] उस (राजा) के पाँच पुत्र और छठी सुपुत्री थी। [विमलुकथ कुँअर] विमल ख्यातिवाले राजकुमार [रुकम, रुकमबाहु अनै रुकमाली रुकमकेस नै रुकमरथ कहि] रुक्मि, रुक्मबाहु, रुक्माली, रुक्मकेश और रुक्मरथ कहे जाते थे ॥११॥

रामा अवतार नाम ताइ रुपमणि
मान सरोवरि मेरुगिरि।
बालकति करि हंस चौ बालक
कनकवेलि बिहुँ पान किरि ॥१२॥

[रामा अवतार] लक्ष्मी का अवतार थी, [ताइ नाम रुपमणि] उसका नाम रुक्मिणी था। [मेरुगिरि बिहुँ पान कनक-वेलि] सुमेरु गिरि पर (सद्यप्रस्फुटिता) दो पत्तोंवाली स्वर्ण-लता (के समान सुंदर वह बालिका) [बालकति करि] बालक्रीड़ा करती हुई (ऐसी मनोहर लगती थी) [किरि] जैसे [मानसरोवरि हंस चौ बालक] मानसरोवर में (क्रीड़ा करता हुआ) हंस का बच्चा ॥१२॥

अनि वरिस वधै ताइ मास वधै ए
वधै मास ताइ पहर वधन्ति ।
लखण वत्रीस वाल्लीलामै
राजकुँअरि ढूलड़ी रमन्ति ॥१३॥

[अनि वरिस वधै] अन्य (बालक) जितना एक वर्ष में बढ़ते हैं [ताइ ए मास वधै] उतनी यह एक महीने में ही बढ़ जाती है, [मास वधै] (वे) जितना एक मास मे बढ़ते हैं [ताइ पहर वधन्ति] उतनी (यह) एक पहर में ही बढ़ जाती है। [लखण वत्रीस बाल्लीलामै राजकुँअरि] बत्तीस लक्षणों से युक्त, बाललीलाओं से सुशोभित राजकुमारी [ढूलड़ी रमन्ति] गुड़ियों से खेलती है ॥१३॥

संग सखी सील् कुल् वेस समाणी
पेखि कली पदिमणी परि ।
राजति राजकुँअरि रायअंगण
उडीयण वीरज अम्ब हरि ॥१४॥

[संग] संग मे [सील् कुल् वेस समाणी सखी] शील, कुल और वयस में समान सखियाँ [पदिमणी कली परि पेखि] कमलिनी की कलियों की भांति दिखाई देती हैं। [रायअंगण राजकुँअरि राजति] (उनके साथ) राजप्रासाद के आँगन में राजकुमारी (ऐसी) शोभायमान हो रही है [वीरज अम्ब हरि उडीयण] (जैसे) निर्मल आकाश मे चन्द्रमा तारागण सहित (शोभित) हो ॥१४॥

सैसव तनि सुखपति जोवण न जाग्रति
वेस सन्धि सुहिणा सु वरि ।
हिव पल् पल् चढता जि होइसै
प्रथम ज्ञान एहवी परि ॥१५॥

[सैसव तनि जोवण सुखपति] बाल्यावस्था मे, शरीर में यौवन सुषुप्ति अवस्था मे रहता है । [जाग्रति न] (उसकी) जाग्रति के कोई चिह्न प्रकट नहीं होते। [वेस सन्धि सु सुहिणा वँरि] वय सन्धिकाल हा स्वप्नावस्था का भाति है। [हिव पञ्च पल जि चढतौ होइसै] अब से प्रतिक्षण (यौवन) निश्चय ही बढता जायगा। [प्रथम ज्ञान एहवौ परि] (इस योवनागम का) प्रथम ज्ञान (रुक्मिणी को) इस भाति हुआ ॥

भावार्थ—रुक्मिणी की बाल्यावस्था को यौवन की सुषुप्ति अवस्था से समता दी गई है। जैसे सुषुप्ति (गाढ निद्रा की) अवस्था मे पदार्थज्ञान का लोप रहता है, वैसे ही बाल्यावस्था के समय रुक्मिणी के शरीर मे योवन लुप्त था। उनके शरीर मे यौवन की जागृति के अब तक कोई चिह्न—स्तनादि प्रकट नहीं हुए थे। परन्तु रुक्मिणी के वय सन्धिअवस्था मे प्रवेश करते ही, योवन भी सुषुप्ति अवस्था को छोडकर स्वप्नावस्था को प्राप्त हो गया। जैसे स्वप्नावस्था में, जिसमें मनुष्य न तो सोता ही कहा जा सकता है और न जागता ही—पदार्थज्ञान न तो सर्वथा लुप्त ही रहता है और न जाग्रत हो, वैसे ही वय सन्धि की अवस्था में पदार्पण करते ही रुक्मिणी के शरीर में योवन भी स्वप्नावस्था को प्राप्त हुआ और कुछ कुछ अपनी झलक दिखाने लगा। अब वय सन्धि से ज्यों ज्यो रुक्मिणी निकलती जाती थी त्यों त्यो उनके शरीर में जागृति योवन का रंग ढग स्पष्ट होता जाता था, जिस प्रकार स्वप्नावस्था का अत होकर ज्यो ज्यो जाग्रतावस्था होती जाती है त्यो त्यो पदार्थज्ञान भी अधिकाधिक स्पष्ट होता जाता है। इस योवनागम का प्रथम-ज्ञान रुक्मिणी को जिस प्रकार हुआ, उसका वर्णन आगे के छन्दों में किया गया है ॥१५॥

पहिलौ मुख राग प्रगट थ्यौ प्राची
अरुण कि अरुणोद अम्बर ।
पेखे किरि जागिया पयोहर
सञ्झा वन्दण रिखेसर ॥१६॥

[पहिलौ मुख राग प्रगट थ्यौ] पहिले (रुक्मिणी के) मुखारविन्द में लालिमा प्रकट हुई, [कि अम्बर अरुणोद प्राची अरुण] मानो, आकाश में सूर्योदय के समय पूर्व दिशा में लाली छा गई है, [पेखे] (जिसे) देख कर [पयोहर जागिया] कुच जाग उठे, [किरि सञ्झा वन्दण रिखेसर (जागिया)] मानो सन्ध्यावन्दन के लिए ऋषीश्वर (उठ बैठे हैं) ।

भावार्थ—रुक्मिणी शैशव समाप्त करके यौवन में प्रवेश कर रही हैं। बाल्यावस्था और युवावस्था, इन दोनों अवस्थाओं की सन्धि में यौवन का उदय हो रहा है, जिस प्रकार रात्रि और दिन की सन्धि में सूर्य का उदय होता है । सूर्य के उदय होने से पहले पूर्व दिशा लाल हो जाती है, जिसे देखकर ऋषिगण सन्ध्या-वन्दन के निमित्त जाग उठते हैं। इसी प्रकार यौवनरूपी सूर्य का उदय होने से पहले रुक्मिणी के मुखारविन्द में प्रकट हुई लाली को देख कर कुच भी यौवन का स्वागत करने के लिए जाग उठे हैं ॥१६॥

जम्प जीव नहीं आवतौ जाणे
जोवण जावणहार जण ।
बहु विलखी वीछड़ती बाला
बाल सँघाती बालपण ॥१७॥

[जीव जम्प नहीं] (रुक्मिणी के) हृदय में शान्ति नहीं है । [जोवण आवतौ जाणे] यौवन को आता हुआ जान कर; [बाल सँघाती बालपण जावणहार जण] (और) बाल्यकाल के साथी

बालपन को जानेवाला जान कर, [वीछड़ती वाला बहु विलखी] (उससे) बिछुड़ते हुए वाला (रुक्मिणी) बहुत ही उदास हुई ॥१७॥

आगलि पित मात रमन्ती अङ्गणि
काम विराम छिपाड़ण काज।
लाजवती अङ्गि एह लाज विधि
लाज करन्ती आवै लाज ॥१८॥

[अङ्गणि पित मात आगलि रमन्ती] आँगन में पिता माता के आगे खेलती हुई, [काम विराम छिपाडण काज लाजवती अङ्गि] काम के निवासस्थानों को (चंचलता को प्राप्त नेत्र और वृद्धि को प्राप्त नितम्ब, कुच इत्यादि अंगों को) छिपाने के निमित्त (उनके) शरीर में लज्जा उत्पन्न होने लगी। [एह लाज विधि] इस लाज की प्रकृति के कारण [लाज करन्ती लाज आवै] (रुक्मिणी को) लाज करने में भी लज्जा लगती है ॥१८॥

सैसव सु जु सिसिर वितीत थयौ सहु
गुण गति मति अति एह गिणि।
आप तणौ परिग्रह ले आयौ
तरुणापो रितुराउ तिणि ॥१९॥

[जु सैसव सिसिर सु सहु वितीत थयौ] जो बाल्यावस्थारूपी शिशिर था, वह सारा व्यतीत हो गया। [एह गिणि] यह जान कर [आप तणौ परिग्रह गुण गति मति अति ले] अपने परिग्रह (परिवार)—गुण, गति, मति इत्यादि को साथ लेकर [तरुणापो रितुराउ तिणि आयो] यौवनरूपी वसन्त उनमें (रुक्मिणी के शरीर में) प्रकट हुआ।

भावार्थ की स्पष्टता के लिए नोट में 'गुण, गति, मति' की व्याख्या को देखिए ॥१९॥

दल फूलि विमल वन नयण कमल दल
कोकिल कण्ठ सुहाइ सर।
पाँपणि पङ्ख सँवारि नवी परि
भ्रूहाँरे भ्रमिया भ्रमर ॥२०॥

[दल फूलि विमल वन] (इस यौवनरूपी वसन्त में रुक्मिणी के शरीर का) अवयव समूह ही पुष्पित होकर स्वच्छ (सुंदर) हुआ वन है, [नयण कमल दल] (उनके) नेत्र ही कमल-दल हैं; [सुहाइ सर कोकिल कण्ठ] (उनका) सुहावना स्वर ही कोयल का कण्ठ (स्वर) है। [पाँपणि पङ्ख नवी परि सँवारि] (और) पलकरूपी पंखों को नई रीति से सँवार कर [भ्रूहाँरे भ्रमर भ्रमिया] (उनके चंचल) भौंहरूपी भ्रमर उड़ने लगे हैं ॥२०॥

मलयाचल सुतनु मलै मन मौरे
कली कि काम अङ्कूर कुच
तणौ दखिणदिसि दखिण त्रिगुणमै
ऊरध सास समीर उच ॥२१॥

[सुतनु मलयाचल] (श्रीरुक्मिणी का) सुंदर अङ्गदेश ही मलयाचल है; [मन मलै मौरे] (उनके) मनरूपी मलयतरु में (युवावस्था की उमंगों रूपी) मंजरी निकल रही है; [काम अङ्कूर कुच कि कली] कामदेव के (नव प्रस्फुटित) अंकुरस्वरूप (उनके नवोद्भूत) कुच ही (क्या हैं) मलय तरु की कलियें हैं। [ऊरध सास दखिण दिसित णौ त्रिगुणमै दखिण समीर उच] (और उनके) श्वासोच्छ्वास को ही दक्षिण दिशा का त्रिगुणमय (शीतल, मंद, सुगन्ध) मलयज (दाक्षिणात्य) समीर कहना चाहिए ॥२१॥

आणँद सु जु उदौ उहास हास अति
राजति रद रिखपन्ति रुख।
नयण कमोदणि दीप नासिका
मेन केस राकेस मुख ॥२२॥

[आणँद जु सु उदौ] (रुक्मिणी के हृदय में विकसित होता हुआ) आनन्द जो है वही (चन्द्र का) उदय है; [अति हास उहास] (यौवनसहज) अति हँसना ही (चन्द्र का) प्रकाश है; [रद रिखपन्ति रुख राजति] (उनके) दाँत ही तारों की पंक्ति की भाँति शोभित हो रहे हैं; [नयण कमोदणि] (उनके) नेत्र ही कुमुदिनी हैं; [नासिका दीप] (उनकी) नासिका ही दीपशिखा है; [केस मेन] (उनके काले) केश ही अंधकार हैं, [मुख राकेस] (और उनका) मुख ही पूर्णिमा का चन्द्र है ॥२२॥

वधिया तनि सरवरि वेस वधन्ती
जोवण तणौ तणौ जल जोर।
कामणि करग सु वाण काम रा
दोर सु वरुण तणा किरि डोर ॥२३॥

[वेस वधन्ती] अवस्था के बढ़ते [तनि सरवरि वधिया] शरीररूपी रात्रि (भी) चढ़ती गई, [जोवण तणौ जोर जलतणौ (जोर)] (और) यौवन का जोर (उमड़ना) ही (चन्द्र की बढ़ती हुई कला के प्रभाव से उत्पन्न) जल का जोर है। [कामणि करग सु काम रा वाण] कामिनी (श्रीरुक्मिणी) का कराग्र (हाथ का पंजा) ही कामदेव (पंचबाण) के बाण हैं, [दो सु किरि वरुण तणा डोर] (और उनकी) भुजाएँ ही मानो वरुण का पाश हैं ॥२३॥

कामिणि कुच कठिन कपोल करी किरि
वेस नवी विधि वाणि वखाणि।

अति स्यामता विराजति ऊपरि
जोवण दाण दिखालिया जाणि ॥२४॥

[वेस नवी विधि] तारुण्य के नवीन विधान (आनबान) को [*वाणि वखाणि*] (कवि की) वाणी (इस प्रकार) बखानती हैं। [कामिणि कठिन कुच] कामिनी के कठिन कुच [किरि] मानो [करी कपोल] (मस्त) हाथी का कुम्भस्थल हैं। [ऊपरि अति स्यामता विराजति] (और उनके) ऊपर सघन (सुंदर) श्यामता विराजती है, [जाणि] मानो [जोवण दाण दिखालिया] (मस्त हाथी की भाँति) यौवन ने मद दिखलाया है ॥२४॥

धरधर श्रृंग सधर सुपीन पयोधर
घणीं खीण कटि अति सुघट।
पदमणि नाभि प्रियाग तणी परि
त्रिवलि त्रिवेणी स्रोणि तट ॥२५॥

[सधर सुपीन पयोधर] कठिन और सुन्दर परिपूर्ण पयोधर हो [धरधर श्रृंग] सुमेरु गिरि के शिखर हैं। [कटि घणीं खीण अति सुघट] कटि बहुत ही पतली और सुघड़ (चढ़ाव उतार में सुन्दर) है। [पदमणि नाभि प्रियाग तणीं परि] (उनकी) पद्मिणी स्त्रियोचित (उसके सम्पूर्ण शुभलक्षणों से युक्त) नाभि प्रयाग की भाँति है, [त्रिवलि त्रिवेणी स्रोणि तट] (जहाँ) त्रिवलि-त्रिवेणी है (और) नितम्ब किनारे हैं ॥२५॥

नितम्बणी जङ्घ सु करभ निरूपम
रम्भ खम्भ विपरीत रख।
जुअलि नालि तसु गरभ जेहवी
वयणे वाखाणै विदुख ॥२६॥

[नितम्वणी जङ्घ सु करभ निरुपम] सुन्दर नितम्बोंवाली (रुक्मिणी) की जङ्घायें करभ के समान निरुपमेय (अपूर्व) हैं, [विदुरा वयणे वाखाणे] (जिनका) विद्वान् लोग (इस तरह के) वचनों द्वारा वर्णन करते हैं, [विपरीत रुख रम्भ खम्भ] (मानो) उलटे खड़े किये हुए कदली खम्भ हैं [जुअलि नालि तसु गरभ जेहवी] (और उनकी) युगल नलिकाएँ उसके (कदली वृक्ष के) गूदे के समान (कोमल) हैं ॥२६॥

ऊपरि पदपलव पुनर्भव ओपति
त्रिमल कमल दल ऊपरि नीर ।
तेज कि रतन कि तार कि तारा
हरिहँस सावक ससिहर हीर ॥२७॥

[पदपलव ऊपरि पुनर्भव ओपति] (रुक्मिणी के) पदपल्लव पर नख (ऐसे) शोभा देते हैं, [त्रिमल कमल दल ऊपरि नीर] (जैसे) स्वच्छ कमल की पँखुड़ियों पर पानी (के कण); [कि रतन तेज कि तार कि तारा] अथवा रत्नों का तेज है अथवा तारों का प्रकाश है; [हरिहँस सावक ससिहर हीर] या बाल-सूर्य्य हैं या बालचन्द्र हैं अथवा हीरे हैं ॥२७॥

व्याकरण पुराण समृति सासत्र विधि
वेद च्यारि खट अङ्ग विचार ।
जाणि चतुरदस चौसठि जाणी
अनँत अनँत तसु मधि अधिकार ॥२८॥

[व्याकरण पुराण समृति सासत्र विधि] (रुक्मिणी ने) (अष्ट) व्याकरण (अष्टादश) पुराण, (अष्टादश) स्मृति, (षट्) शास्त्र की रीति, [च्यारि वेद खटअङ्ग विचार] चार वेद और षट् वेदाङ्ग (षट् दर्शन) (आदि पर) विचार करके [चतुरदस जाणि चौसठि

जाणी] चौदह विद्याओं को जान कर चौसठ कलाओं को जाना; [तसु मधि अनँत अनँत अधिकार] (और) उनमें (शास्त्रादि में) श्रीभगवान का अनन्त अधिकार पाया ॥२८॥

साँभलि् अनुराग थयो मनि स्यामा
वर प्रापति वञ्छती वर।
हरि गुण भणि ऊपनी जिका हर
हर तिणि वन्दे गवरि हर ॥२९॥

[साँभलि] (शास्त्रोक्त भगवद्गुणानुवाद को) समझ कर [स्यामा मन अनुराग थयौ] श्यामा (रुक्मिणी) के मन में (भगवान् के प्रति) प्रेम उत्पन्न हुआ। [वर वर प्रापति वञ्छती] श्रेष्ठ वर की प्राप्ति की इच्छा करती हुई [हरि गुण भणि] भगवान् के गुणों का परिशीलन करके [जिका हर ऊपणी] जो (भगवान् के प्रति) प्रबल इच्छा उत्पन्न हुई [हर तिणि] उस (प्रबल इच्छा) के लिए (उसकी पूर्ति के लिए) [हर गवरि वन्दे] (रुक्मिणी) महादेव और पार्वती का पूजन करने लगीं ॥२९॥

ईखे पित मात एरिसा अवयव
विमल् विचार करै वीवाह।
सुन्दर सूर सील् कुल करि सुध
नाह किसन सरि सूझै नाह ॥३०॥

[पित मात एरिसा अवयव ईखे] (रुक्मिणी के) माता पिता ने (जब) इस प्रकार के चिह्न देखे, [विवाह विमल् विचार करै] (तब) विवाह (करने) का शुभ विचार करने लगे। [सुन्दर सूर सील् कुल करि सुध] (तब उन्हें) सुन्दरता, शूरवीरता, शील और कुल में श्रेष्ठ [किसन सरि नाह सूझै नाह] श्रीकृष्ण के समान (दूसरा) वर दिखाई नहीं दिया ॥३०॥

प्रभणन्ति पुत्र इम मात पिता प्रति
अम्हाँ वासना वसी इसी ।
ग्याति किसी राजवियाँ ग्वालाँ
किसी जाति कुल पाँति किसी ॥३१॥

[पुत्र माता पिता प्रति इम प्रभणन्ति] (माता पिता के प्रस्ताव को सुनकर) कुँवर रुक्मि माता पिता से इस प्रकार कहने लगा, [अम्हाँ इसी वासना वसी] हमारी तो ऐसी धारणा है [राजवियाँ ग्वालाँ ग्याति] (कि) राजवंशियों का (गाय चरानेवाले) अहीरों के साथ ज्ञाति भाव कैसा ? [जाति किसी] (हमारी तुलना में कृष्ण की) जाति (ही) कैसी ? [कुल पाँति किसी] (और) कैसी (उसकी) कुलश्रेणी ॥३१॥

सुजु करै अहीराँ सरिस सगाई
ओलाँडे राजकुल इता ।
व्रिधपणै मति कोइ वेसासौ
पाँतरिया माता इ पिता ॥३२॥

[इता राजकुल ओलाँडे] इतने राजकुलों को उलाँघ कर [जु अहीराँ सरिस सगाई करै] जो अहीरों जैसों (हीन कुलवालों) से सगाई करते हैं, [व्रिधपणै माता पिता पाँतरिया] (सो) वृद्धावस्था के कारण माता पिता बुद्धिहीन हो गये हैं । [कोइ वेसासौ मति] कोई (इनका) विश्वास न करे ॥३२॥

प्रभणै पित मात पूत मत पाँतरि
सुर नर नाग करै जसु सेव ।
लिखमी समी रुकमणी लाडी
वासुदेव सम सुत वसुदेव ॥३३॥

[पित मात प्रभणै] माता पिता कहते हैं [पूत मत पाँतरि] हे पुत्र, मूर्खता मत कर। [जसु सुर नर नाग सेव करै] जिनकी सुर, नर और नाग सेवा करते हैं [लाडी रुकमणी लिखमी समी] (वह) प्यारी रुक्मिणी लक्ष्मी के समान है [वसुदेव सुत वासुदेव सम] (और) वसुदेव के पुत्र (श्रीकृष्ण) विष्णु के समान हैं (साक्षात् विष्णु के अवतार हैं) ॥३३॥

मावीत्र म्रजाद मेटि बोलै मुखि
सुवर न को सिसुपाल सरि।
अति अँबु कोपि कुँवर ऊफणियौ
वरसाल़ू वाहल़ा वरि ॥३४॥

[अति अँबु वरसाल़ू वाहल़ा वरि] अत्यधिक पानीवाले बरसने को उद्यत बादल की भाँति [कुँवर कोपि ऊफणियौ] कुँवर (रुक्मि) कुपित होकर उफण पड़ा [मावीत्र म्रजाद मेटि] (और) माता पिता की मर्यादा को (आज्ञापालन, सम्मान इत्यादि शिष्ट कर्त्तव्यों को) मिटाकर [बोलै मुखि] मुँह से बोला, [सिसुपाल सरि सुवर न को] शिशुपाल के समान श्रेष्ठ वर (और) कोई नहीं है ॥३४॥

गुरु गेहि गयौ गुरु चूक जाणि गुरु
नाम लियौ दमघोख नर।
हेक वडौ हित हुवै पुरोहित
वरै सुसा सिसुपाल वर ॥३५॥

[गुरु चूक] माता पिता की ग़लती को [गुरु जाणि] भारी जानकर, [गुरु गेहि गयौ] गुरु के घर गया, [दमघोख नर नाम लियौ] (और) दमघोष के वीर पुत्र (शिशुपाल) का नाम लिया, (और कहा) [पुरोहित हेक वडौ हित हुवै] हे पुरोहितजी, एक बड़ा

हित हो, [सुसा वर सिसुपाल् वरै] (यदि) बहिन (रुक्मिणी) श्रेष्ठ शिशुपाल को वरे ॥३५॥

विप्र विलँ ब न कीध जेणि आइस वसि
बात विचारि न भली बुरी ।
पहिलुँ इ जाइ लगन ले पुहतौ
प्रोहित चन्देवरी पुरी ॥३६॥

[जेणि आइस वसि] उसको (रुक्मि की) आज्ञा के वश में होकर [विप्र विलँब न कीध] पुरोहित ने विलम्ब न किया। [भली बुरी बात न विचारि] (और) भली बुरी बात को न विचार कर [पहिलुँ इ] (सोचने से) पहिले ही [प्रोहित जाइ चन्देवरी पुरी लगन ले पुहँतो] पुरोहित रवाने होकर चन्देरीपुरी में विवाह-लग्न ले पहुँचा ॥३६॥

हुइ हरख घणै सिसुपाल् हालियौ
ग्रंथे गायौ जेणि गति ।
कुण जाणै सँगि हुआ केतला
देस देस चा देसपति ॥३७॥

[घणै हरख हुइ] अत्यन्त हर्षित होकर [सिसुपाल् हालियौ] शिशुपाल (कुन्दनपुर को) रवाना हुआ, [जेणि गति ग्रन्थे गायौ] जिसकी गति ग्रन्थों (श्रीमद्भागवतादि में) वर्णित की गई है। [कुण जाणै देस देस चा केतला देसपति सँगि हुआ] कौन जाने, देश देश के कितने राजा (उसके) साथ हुए (उसकी बरात में सम्मिलित हुए) ॥३७॥

आगमि सिसुपाल् मण्डिजै ऊछव
नीसाणे पड़ती निहस ।
पटमण्डप छाइजै कुंदणपुरि
कुन्दणमै बाभै कलस ॥३८॥

[सिसुपाल् आगमि] शिशुपाल की अगवानी में [ऊछब मण्डिजै] उत्सव मनाये जाते हैं; [नीसाणे निहस पड़ती] नगारों पर चोट पड़ रही है; [कुंदणपुरि पटमण्डप छाइजै] कुंदनपुर में वस्त्रों के मंडप छाये जा रहे हैं, [कुंदणमै कलस बाझै] (और उन पर) सुवर्णमय कलश बाँधे जा रहे हैं ॥३८॥

गिह ग्रिह प्रति भींति सुगारि हींगल्
ईंट फिटक्रमै चुणी अचम्भ ।
चन्दण पाट कपाट ई चन्दण
खुम्भी पनां प्रवाली खम्भ ॥३९॥

[ग्रिह ग्रिह प्रति भींति हींगल् गारि फिटक्रमै ईंट चुणी] (स्वागतार्थ नवनिर्मित) घर घर की प्रत्येक भींत हींगलू की गार और स्फटिकमय ईंटों से चुनी गई है, [सु अचम्भ] सो आश्चर्यजनक है। [चन्दण पाट] (उन घरों की छतों में) चन्दन के पाट [कपाट ई चन्दण] (और द्वारों पर) चन्दन के ही कपाट हैं। [प्रवाली खम्भ] मूँगे के खम्भे हैं, [खुम्भी पनां] (जिनकी) खुम्भियें (नीचे के भाग) पन्ने की (बनी हुई) हैं ॥३९॥

जोइ जलद पटल् दल् सांवल् ऊजल्
धुरै नीसाण सोइ घणघोर ।
प्रोलि प्रोलि तोरण परठीजै
मण्डे किरि तण्डव गिरि मोर ॥४०॥

[जोइ साँवल् ऊजल् पटल् दल् जलद] जो श्याम और श्वेत रेशमी कपड़ों के समूह हैं (जो मंडप बनाने में लगाये गये हैं, वे ही) बादल हैं; [धुरै नीसाण सोइ घणघोर] (जो) नगारे बजते हैं वही मेघ-गर्जन है; [प्रोलि प्रोलि मोर मण्डे तोरण परठीजै] (और) द्वार

द्वार पर मयूर-चित्रित तोरण बाँधे जा रहे हैं, [किरि] (वहो) मानो [गिरि मोर तण्डव] पहाड़ों पर मयूरों का नृत्य है ॥४०॥

राजान जान सगि हुंता जु राजा
कहै सु दीध ललाटि कर।
दूरा नयर कि कोरण दीसै
धवलागिरि किना धवलहर ॥४१॥

[राजान जान सँगि हुंता जु राजा] राजा (शिशुपाल) की बरात के साथ जो राजा थे, [सु ललाटि कर दीध कहै] वे ललाट से (आँखों के ऊपर) हाथ लगाकर कहते हैं [दूरा] (कि) दूर पर [नयर कि कोरण] नगर या श्वेत बादल, [धवलागिरि किना धवलहर] धवलागिरि या (ऊँचे ऊँचे) सफ़ेद महल -[दीसै] दिखाई देते हैं ॥४१॥

गावै करि मङ्गल चढ़ि चढ़ि गोखे
मनै सूर सिसुपाल मुख।
पदमिणि अनि फूलै परि पदमिणि
रुखमिणी कमोदणी रुख ॥४२॥

[मङ्गल करि] (नगर की स्त्रियाँ) धवल मंगल करके [गोखे चढ़ि चढ़ि गावै] झरोखों में चढ़ चढ़कर गा रही हैं, [मनै सिसुपाल मुख सूर] मानो शिशुपाल का मुख सूर्य है, [अनि पदमिणि पदमिणि परि फूलै] (जिसे देख कर) अन्य पद्मिनी स्त्रियाँ कमलिनी के समान प्रफुल्लित हो रही हैं। [रुखमिणी कमोदणी रुख] (परन्तु) रुक्मिणी कुमुदिनी की भाँति (हो रही है) ॥४२॥

जाली मगि चढ़ि चढ़ि पन्थो जोवै
भुवणि सुतन मन तसु भिलित।

लिखि राखे कागल नख लेखणि
मसि काजल आँसू मिलित ॥४३॥

[चढ़ि चढ़ि जाली मगि पन्थी जोवै] (महलों पर) चढ़ चढ़कर जाली से मार्ग में पथिकों को देखती हैं। [भुवणि सुतन] (रुक्मिणी का) सुंदर शरीर (तो) घर में है, [मन तसु मिलित] (परन्तु) मन उससे (श्रीकृष्ण से) मिल गया है। [नख लेखणि आँसू मिलित काजल मसि कागल लिखि राखे] (जिनके लिये) नख को लेखनी बनाकर आँसू मिली हुई काजल की स्याही से पत्र लिख रखा है ॥४३॥

तितरै हेक दीठ पवित्र गलित्रागौ
करि प्रणपति लागी कहण।
देहि सँदेस लगी दुवारिका
वीर वटाऊ ब्राह्मण ॥४४॥

[तितरै हेक पवित्र गलित्रागौ दीठ] इतने में एक पवित्र, गले में यज्ञोपवीत धारण किया हुआ (ब्राह्मण) दीख पड़ा। [प्रणपति करि कहण लागी] (उसे) प्रणाम कर कहने लगीं [वीर वटाऊ ब्राह्मण] हे भाई, पथिक ब्राह्मण! [दुवारिका लगि सँदेस देहि] द्वारिका तक (मेरा) संदेश दे आना ॥४४॥

म म करिसि ढील हिव हुए हेकमन
जाइ जादवाँ इन्द्र जत्र।
माहरै मुख हुँता ताहरै मुखि
पग वन्दण करि देइ पत्र ॥४५॥

[हिव ढील म म करिसि] अब ढील (विलम्ब) मत कर, [हुए हेक मन जाइ] एकाग्र मन होकर जा [जत्र जादवाँ इन्द्र] जहाँ

पर यादवेन्द्र हैं। [माहरै मुख हूँता वाहरै मुखि पग बन्दण करि] (और) मेरे मुख से कहा हुआ पगवन्दन तुम अपने मुख से कह कर [पत्र देइ] पत्र देना ॥४५॥

गई रवि किरण ग्रहे थई गहमह
रहरह कोइ वह रहे रह ।
सु जु दुज पुरा नीसरे सूतौ
निसा पड़ी चालियौ नह ॥४६॥

[रवि किरण गई] (ब्राह्मण के द्वारिका को प्रस्थान करते समय) सूर्य की किरणें विलीन हो गई, [ग्रहे गहमह थई] (और) घर घर में (दीपकों की) जगमगाहट हुई। [रहरह कोई रह वह रहे] "ठहर जाओ," "ठहर जाओ" (ऐसा कहते हुए) कोई (मुसाफ़िर) राह चलते रुक गये । [सु जु दुज पुरा नीसरे सूतौ] वह ब्राह्मण भी कुन्दनपुर से निकल कर सो गया, [निसा पड़ी चालियौ नह] रात हो जाने से (आगे) नहीं चला ॥४६॥

दिन लगन सु नैड़ो दूरि द्वारिका
भौ पहुचेस्यां किसी भति ।
सांझ सोचि कुन्दणपुरि सूतौ
जागियौ परभाते जगति ॥४७॥

[लगन दिन सु नैड़ो] विवाह का दिन तो निकट है; [द्वारिका दूरि] (और) द्वारिका दूर है । [भौ किसी भति पहुचेस्यां] भय है कि किस प्रकार पहुँचूँगा । [सोचि सांझ कुंदनपुरि सूतौ] (यह) चिन्ता कर सन्ध्या को कुन्दनपुर (के पास हो) सोया, [परभाते जगति जागियौं] (परन्तु) सवेरे द्वारिकापुरी में जागा ॥४७॥

धुनि वेद सुणति कहुँ सुणति संख धुनि
नद झल्लरि नीसाण नद ।
हेका कह हेका हीलोहल
सायर नयर सरीख सद ॥४८॥

[वेद धुनि सुणति कहुँ संख धुनि सुणति] (जागने पर ब्राह्मण को) कहीं वेदपाठ की ध्वनि सुनाई दी, कहीं संख की ध्वनि सुनाई दी; [झल्लरि नद नीसाण नद] (कहीं) झालर की झंकार (तो कहीं) नगाड़े का नाद (सुनाई दिया) । [हेका कह] एक ओर (नगर-निवासियों के बोलने के) कोलाहल, [हेका हीलोहल] (और) एक ओर (समुद्र की हिलोरों के) हिल्लोल शब्द (के कारण) [सायर नयर सरीख सद] सागर और नगर एक ही समान शब्दायमान हो रहे थे ॥४८॥

पणिहारि पटल दल वरण चँपक दल
कलस सीस करि कर कमल ।
तीरथि तीरथि जङ्गम तीरथ
विमल ब्राह्मण जल विमल ॥४९॥

[चँपक दल वरण पणिहारि पटल दल] चंपक पुष्प की पंखुड़ी के समान वर्णवाली पनिहारियों के वृंद के वृंद [सीस कर कमल कलस करि] शिर पर, कमल के समान हाथों से कलश थामे हुए हैं । [विमल जल तीरथि तीरथि] निर्मल जलयुक्त तीर्थ तीर्थ (जलाशय जलाशय) पर [विमल ब्राह्मण जङ्गम तीरथ] पवित्र ब्राह्मण चलते फिरते तीर्थ हैं ॥४९॥

जोवै जाँ गृहि गृहि जगन जागवै
जगनि जगनि कीजै तप जाप ।

मारगि मारगि अम्ब मोरिया
अम्बि अम्बि कोकिल आलाप ॥५०॥

[जाँ जोवै] (वह ब्राह्मण) जहाँ देखता है [गृहि गृहि जगन जागवै] घर घर में यज्ञाग्नि प्रज्वलित हो रही है, [जगनि जगनि तप जाप कीजै] (और) प्रत्येक यज्ञ में जप तप किये जा रहे हैं। [मारगि मारगि अम्ब मौरिया] मार्ग मार्ग पर आम के वृक्ष मंजरीयुक्त हो रहे हैं; [अम्बि अम्बि कोकिल आलाप] (और) प्रत्येक आम के पेड़ पर कोयलों का (मधुर) आलाप हो रहा है ॥५०॥

सम्प्रति ए किना किना ए सुहिणौ
आयौ कि हूँ अमरावती।
जाइ पूछियौ तिणि इमि जम्पियौ
देव सु आ दुआरामती ॥५१॥

[किना ए सम्प्रति] क्या यह प्रत्यक्ष है ? [किना ए सुहिणौ] या यह स्वप्न है ? [कि हूँ अमरावती आयौ] या मैं इन्द्रपुरी में आ गया हूँ ? (इस प्रकार संदेह में पड़े हुए उस ब्राह्मण ने) [जाइ पूछियो] जिससे पूछा [तिणि इम जम्पियौ] उसने इस प्रकार कहा, [देव आ सु दुआरामती] कि हे ब्राह्मण, यह सुन्दर द्वारिकापुरी है ॥५१॥

सुणि स्रवणि वयण मन माहि थियौ सुख
क्रमियौ तासु प्रणाम करि।
पूछत पूछत ग्यौ अन्तहपुरि।
हुऔ सुदरसण तणो हरि ॥५२॥

[स्रवणि वयण सुनि] कान से (यह) वचन सुनकर [मन माहि सुख थियौ] मन में प्रसन्नता हुई। [तासु प्रणाम करि क्रमियौ] उसे

प्रणाम करके (आगे) चला, [पूछत पूछत अन्तहपुरि गयौ] (और) पूछते पूछते रणवास में गया, [हरि तणौ सुदरसण हुऔ] (तब) हरि का शुभ दर्शन हुआ ॥५२॥

वदनारविन्द गोविन्द वीखियै
आलोचै आपो आप सूँ ।
हिव रुपमणी कृतारथ हुइस्यै
हुऔ कृतारथ पहिलौ हूँ ॥५३॥

[गोविन्द वदनारविन्द वीखियै] श्रीकृष्ण के मुख कमल को देख कर [आपो आप सूँ आलोचै] (वह ब्राह्मण) आप ही आप विचार करने लगा। [रुपमणी हिव कृतारथ हुइस्यै] रुक्मिणी अब सफल-मनोरथ होगी; [हूँ पहिलौ कृतारथ हुऔ] मैं (तो) पहिले ही कृत-कृत्य हो गया ॥५३॥

ऊठिया जगतपति अन्तरजामी
दूरन्तरी आवतो देखि ।
करि वन्दण आतिथ ध्रम कीधो ।
वेदे कहियौ तेणि विसेखि ॥५४॥

[दूरन्तरी आवतौ देखि] दूर ही से (ब्राह्मण को) आता देख कर [अन्तरजामी जगतपति ऊठिया] अन्तर ... (श्रीकृष्ण ... [वन्दण करि वेदे कहियौ तेणि विसेखि ... कीधो] प्रणाम करके शास्त्रोक्त विधि से भी अधि... किया ...

व ... किल
केन
ब्र ... भो
ता

भगवान् ने ब्राह्मण से पूछा—

[मित्र] हे मित्र ! [कस्मात्] किस स्थान से (आये हो) ? [कस्मिन्] किस नगर में रहते हो ? [किल] अवश्य कहो, [किमर्थ] किस प्रयोजन से (यहाँ आये हो) ? [केन कार्य] किससे कार्य है ? [कुत्र परियासि] कहाँ जा रहे हो ? [भो ब्राह्मण] हे ब्राह्मण ! [येन जनेन पत्र प्रेषितम् मे पुरतो ब्रूहि] जिस मनुष्य ने पत्र भेजा (उसको) मेरे सामने कहो ॥५५॥

कुन्दणपुर हुँता वसाँ कुन्दणपुरि
कागल् दीधो एम कहि ।
राज लगें मेल्हियौ रुपमणी
समाचार इणि माहि सहि ॥५६॥

ब्राह्मण ने उत्तर दिया—

[कुंदणपुर हुँता] कुंदनपुर से (आया हूँ); [कुंदणपुरि वसाँ] कुंदनपुर में रहता हूँ । [एम कहि कागल् दीधो] यह कह कर पत्र दिया [राज लगें रुपमणी मेल्हियौ] (कि यह) आपके लिये रुक्मिणी ने भेजा है, [इणि माहि सहि समाचार] इसमें सारे समाचार हैं ॥५६॥

आणन्द लखण रोमाञ्चित आँसू
वाचत गदगद कँठ न वणै ।
कागल् करि दीधौ करुणाकरि
तिणि तिणि हीज ब्राहमण तणै ॥५७॥

[आणन्द लखण रोमाञ्चित आँसू गदगद कंठ वाचत न वणै] (पत्र हाथ में लेते ही भगवान् के अंगों में) आनन्द के लक्षण (प्रकट

हुए), (शरीर) रोमाञ्चित हुआ, (आनन्द के) आँसू (निकल आये) और कंठ गद्‌गद (हो जाने के कारण पत्र को) पढ़ते न बना। [करुणाकरि तिणि कागल तिणि हीज ब्राहमण तणै करि दीधौ] (तब) करुणानिधि ने उस पत्र को उस ब्राह्मण ही के हाथ में दे दिया ॥५७॥

देवाधिदेव चै लाधै दूवै
वाचण लागौ ब्राहमण।
विधि पूरबक कहै वीनवियौ
सरण तूझ असरण सरण ॥५८॥

[देवाधिदेव चै दूवै लाधै] देवाधिदेव (श्रीकृष्ण) को आज्ञा-लाभ कर [ब्राहमण वाचण लागौ] ब्राह्मण (पत्र) पढ़ने लगा। [विधि पूरबक वीनवियौ कहै] (वह) विधिपूर्वक (पत्र में) निवेदन किये हुए को कहने लगा—[असरण सरण तूझ सरण] "हे अशरणशरण! मैं (रुक्मिणी) तेरी शरण हूँ" ॥५८॥

वलिबन्धण मूझ स्याल सिङ्घ वलि
प्रासै जो वीजौ परणै।
कपिल धेनु दिन पात्र कसाई
तुलसी करि चाण्डाल तणै ॥५९॥

[वलिबन्धण] "हे वलि को बाँधनेवाले! [मूझ जो वीजौ परणै] मुझे यदि कोई दूसरा व्याहेगा, [सिङ्घ वलि स्याल प्रासै] (तो मानो) सिंह की वलि को शृगाल भक्षण करेगा; [कपिल धेनु कसाई पात्र दिन] कपिला गाय कसाई जैसे पात्र (अर्थात् कुपात्र) के हाथ दी जायगी; [चाण्डाल तणै करि तुलसी] (और मानो) चाण्डाल के हाथ में तुलसी (दी जायगी)" ॥५९॥

अम्ह कजि तुम्ह छण्डि अवर वर आणै
ऐठित किरि होमै अगनि ।
सालिगराम सूद्र ग्रहि संग्रहि
वेद मंत्र म्लेच्छाँ वदनि ॥६०॥

[अम्ह कजि तुम्ह छण्डि अवर वर आणै] "मेरे लिये आपको छोड़ कर (यदि) दूसरा वर लावे, [किरि] तो माने [ऐठित अगनि होमै] उच्छिष्ट वस्तु अग्नि में हवन करे; [सालिगराम सूद्र ग्रहि संग्रहि] शालिग्राम का शूद्र के घर में स्थापन करे; [म्लेच्छाँ वदनि वेद मंत्र] (अथवा) म्लेच्छ के मुँह से वेद-मंत्र का उच्चारण हो" ॥६०॥

हरि हुए वराह हए हरिणाकस
हूँ ऊधरी पताल हूँ ।
कहै तई करुणामै केसव
सीख दीध किण तुम्हाँ सूँ ॥६१॥

[हरि] "हे हरि ! [हुए वराह हए हरिणाकस] (आपने) वराह होकर (वराहावतार धारण करके) हिरण्याक्ष को मारा, [हूँ ऊधरी पताल हूँ] (और पृथ्वीरूप में) मेरा पाताल से उद्धार किया; [करुणामै केसव कहै] हे करुणामय केशव ! कहिये, [तई तुम्हाँ सूँ किण सीख दीध] उस समय आपको किसने शिक्षा दी थी ?"॥६१॥

आणे सुर असुर नाग नेत्रै नहि
राखियौ जई मंदर रई ।
मह्ण मथे मूँ लीध महमह्ण
तुम्हाँ किणै सीखव्या तई ॥६२॥

[महमहण] "हे समुद्र के मंथन करनेवाले ! [जई] जब [सुर असुर आणे] (आपने) देवता और दैत्यों को एकत्रित कर [नागनेत्रै नहि] शेषनाग को मन्थनरज्जु बना कर [मंदर रई राखियौ] मन्दराचल पर्वत को मंथन-दण्ड रखा था, [महण मथे मूँ लीध] (और) महार्णव को मथ कर (लक्ष्मी रूप में) मुझे प्राप्त किया [तई तुम्हाँ किणै सीखव्या] उस समय आपको किसने शिक्षा दी थी ?" ॥६२॥

रामा अवतारि वहे रणि रावण
किसी सीख करुणाकरण ।
हूँ ऊधरी त्रिकुटगढ़ हूँती
हरि बन्धे वेलाहरण ॥६३॥

[करुणाकरण हरि] "हे करुणा करनेवाले हरि ! [किसी सीख] कौन सी शिक्षा से [रामा अवतारि रणि रावण वहे] रामावतार के समय युद्ध में (आपने) रावण का वध किया, [वेलाहरण बन्धे] समुद्र को बाँधा [त्रिकुटगढ़ हूँती हूँ ऊधरी] (और) लंका से (सीतारूप में) मेरा उद्धार किया ?" ॥६३॥

चौथीआ वार वाहर करि चत्रभुजा
सङ्ख चक्र धर गदा सरोज ।
मुख करि किसूँ कहीजै माहव
अन्तरजामी सूँ आलोज ॥६४॥

[सङ्ख चक्र गदा सरोज धर चत्रभुजा] "हे शंख-चक्र-गदा-पद्म-धर चतुर्भुज ! [चौथीआ वार वाहर करि] चौथी यह वार है, रक्षा के लिये चढ़िए । [माहव अन्तरजामी सूँ आलोज मुख करि किसूँ कहीजै] हे माधव ! अन्तर्यामी से मन के विचार, मुख से कैसे कहे जायँ" ॥६४॥

तथापि रहे न हूँ सकूँ बकूँ तिणि
त्रिया अनै प्रेम आतुरी ।
राज दूरि द्वारिका विराजौ
दिन नेड़उ आइयौ दुरी ॥६५॥

[तथापि] "(आपसे कुछ छिपा नहीं है) तो भी [हूँ रहे न सकूँ] मैं रह नहीं सकती [तिणि बकूँ] इसी से बक रही हूँ, [त्रिया अनै प्रेम आतुरी] (क्योंकि एक तो) स्त्री हूँ, दूसरे, प्रेम से आतुर हूँ। [राज दूरि द्वारिका विराजौ] आप (बहुत) दूर द्वारिका में विराजते हैं, [दुरी दिन नेड़उ आइयौ] (और) दुखदायी दिवस निकट आ गया है" ॥६५॥

त्रिणि दीह लगन वेला आड़ा तै
घणूँ किसूँ कहिजै आघात ।
पूजा मिसि आविसि पुरखोतम
अम्बिकालय नयर आरात ॥६६॥

[तै लगन वेला आड़ा त्रिणि दीह] "उस विवाह की घड़ी में केवल तीन दिन का अन्तर है; [आ घात घणूँ किसूँ कहीजै] यह षड्यंत्र (इस षड्यंत्र के विषय में) अधिक क्या कहा जाय? [पुरखोतम नयर आरात अम्बिकालय पूजा मिसि आविसि] हे पुरुषोत्तम! (मैं) नगर के निकट अम्बिका के मन्दिर में पूजा के बहाने आऊँगी" ॥६६॥

सारङ्ग सिलीमुख साथि सारथी
प्रोहित जाणणहार पथ ।
कागल चौ ततकाल कृपानिधि
रथ बैठा सँभलि अरथ ॥६७॥

[कागल चै अरथ साँभलि] पत्र का आशय समझ कर [सारङ्ग सिलीमुख सारथी प्रोहित पथ जाणणहार साथि] शारङ्ग धनुष, बाण, सारथी, पुरोहित और मार्ग जाननेवाले के साथ [कृपानिधि ततकाल रथ वैठा] कृपानिधि (श्रीकृष्ण) तुरंत रथ में जा बैठे ॥६७॥

सुग्रीवसेन नै मेघपुहप सम-
वेग वलाहक इसै वहन्ति ।
खँति लागौ त्रिभुवनपति खेड़ै
धर गिरि पुर साम्हा धावन्ति ॥६८॥

[सुग्रीवसेन, मेघपुहप, समवेग नै वलाहक इसै वहन्ति] सुग्रीवसेन, मेघपुष्प, समवेग और वलाहक (घोड़े) ऐसे (वेग से) चल रहे हैं, [धर गिरि पुर साम्हा धावन्ति] (कि) पृथ्वी, पर्वत और नगर सामने दौड़े आते हैं, [खँति लागौ त्रिभुवन पति खेड़ै] (और) लगन में लगे हुए त्रिलोकीनाथ भी (उनको ऐसी तेज़ी से) हाँक रहे हैं ॥६८॥

रथ थम्भि सारथी विप्र छण्डि रथ
श्रौ पुर हरि बोलिया इम ।
आयौ कहि कहि नाम अम्हीणौ
जा सुख दे स्यामा नै जिम ॥६९॥

[हरि इम बोलिया] (कुंदनपुर के पास पहुँच कर) भगवान् इस प्रकार बोले, [श्रौ पुर] यह नगर है, [सारथी रथथम्भि, विप्र रथ छण्डि] सारथी! रथ को रोको, हे विप्र! रथ को छोड़ो। [जा अम्हीणौ नाम कहि, आयौ कहि] जाओ, (और) हमारा नाम कह कर कहो कि आ गये, [जिम स्यामा नै सुख दे] जिस प्रकार श्यामा (रुक्मिणी) को सुख दे सको ॥६९॥

रहिया हरि सही जाणियौ रुपमणि
कीध न इवड़ी ढील कई ।
चिन्तातुर चित इम चिन्तवती
थई छौंक तिम धीर थई ॥७०॥

[रुपमणि जाणियौ हरि रहिया सही] रुक्मिणी ने जाना कि भगवान् रह गये इसमें सन्देह नहीं [इवड़ो ढील कई न कीध] (क्योंकि उन्होंने) इतनो ढील (पहले) कभी नहीं की। [चिन्तातुर चित इम चिन्तवती] चिन्ता से आतुर चित्त में (रुक्मिणी) इस प्रकार चिन्ता कर रही थी, [छींक थई तिम धीर थई] कि छींक हुई; त्योंही (उन्हें) धैर्य हुआ ॥७०॥

चलपत्र पत्र थियौ दुज देखे चित
सकै न रहति न पूछि सकन्ति ।
औ आवै जिम जिम आसन्नौ
तिम तिम मुख धारणा तकन्ति ॥७१॥

[दुज देखे चित चलपत्र पत्र थियौ] ब्राह्मण को देखकर (रुक्मिणी का) चित्त पीपल के पत्ते की तरह (चंचल) होगया, [न रहति सकै न पूछि सकन्ति] न तो (कृष्ण का संवाद पूछे बिना) रह ही सकती है और न पूछ ही सकती। [औ जिम जिम आसन्नौ आवै तिम तिम मुख धारणा तकन्ति] यह (ब्राह्मण) जैसे जैसे पास आता है तैसे तैसे (उसके) मुख की मुद्रा को ध्यानपूर्वक देखती है ॥७१॥

सँगि सन्ति सखीजण गुरुजण स्यामा
मनसि विचारि ए कहीं महन्ति ।
कुससथली हूँता कुन्दणपुरि
किसन पधार्‌या लोक कहन्ति ॥७२॥

[स्यामा सँगि सखीजण गुरुजण सन्ति] (ब्राह्मण ने देखा) श्यामा (रुक्मिणी) के साथ गुरुजन (और) सखियाँ हैं। [मनसि विचारि ए महन्ति कही] (इस कारण) मन में सोच कर यह संवाद कहा— [कुससथली हूँता कुन्दणपुरि किसन पधार्या लोक कहन्ति] कि द्वारिकापुरी से श्रीकृष्ण कुन्दनपुर में पधारे हैं (ऐसा) लोग कहते हैं ॥७२॥

बम्भण मिसि वन्दे हेतु सु बीजौ
कही स्रवणि सम्भली कथ।
लिखमी आप नमे पाइ लागी
अचरिज को लाधै अरथ ॥७३॥

[कही कथ स्रवणि सम्भली] (ब्राह्मण की) कही बात सुन कर और समझ कर [बम्भण मिसि वन्दे हेतु सु बीजौ] ब्राह्मण के मिस (उसको) प्रणाम किया (किन्तु) हेतु दूसरा था। [लिखमी आप नमे पाइ लागी] (रुक्मिणी के रूप में) लक्ष्मी स्वयं विनीत होकर (ब्राह्मण के) पाँव लगी, [अरथ लाधै अचरिज को] (तो उसके) अर्थ (समृद्धि) लाभ करने में आश्चर्य्य ही क्या है ? ॥७३॥

चढिया हरि सुणि सङ्करखण चढिया
कटकबन्ध नह घणा किध।
एक उजाथर कलहि एहवा
साथी सहु आखाढसिध ॥७४॥

[हरि चढिया सुणि सङ्करखण चढिया] हरि को चढ़ा सुन कर बलराम (भी) चढ़े, [कटकबन्ध घणा नह किध] सैन्यसंग्रह अधिक नहीं किया [एक कलहि एहवा उजाथर] (क्योंकि एक तो

वलभद्र) अकेले ही लड़ाई में ऐसे (बड़े) ओजस्वी (रणधीर) थे [सहु साथी आराढ सिध] (और फिर उनके) सब साथी (भी) रणभूमि में सिद्धहस्त थे ॥७४॥

पिण पन्थ वीर जूजुआ पधार्‍या
पुरि भेळा मिळि कियौ प्रवेस
जण दूजण सहि लागा जोवण
नर नारी नागरिक नरेस ॥७५॥

[पिण वीर जूजुआ पन्थ पधार्‍या] यद्यपि (दोनों) भाई अलग अलग मार्ग से चले [पुरि भेळा मिळि प्रवेस कियौ] (परन्तु) कुन्दनपुर में साथ मिलकर प्रवेश किया [जण, दूजण नर नारी नागरिक नरेस सहि जोवण लागा] (इनको) सज्जन-दुर्जन, नर-नारी, नागरिक-नरेश सभी देखने लगे ॥७५॥

कामिणि कहि काम काळ कहि केवी
नारायण कहि अवर नर ।
वेदारथ इम कहै वेदवॅत
जोग तत्त जोगेसवर ॥७६॥

[कामिणि कहि काम] कामिनियाँ कहती हैं, "कामदेव हैं"। [केवी कहि काळ] कई (दुर्जन) कहते हैं, "काल हैं"। [अवर नर कहि नारायण] दूसरे लोग (भक्त-जन) कहते हैं, "नारायण हैं"। [वेदवॅत वेदारथ इम कहै] वेदवित्, "वेदार्थ हैं" ऐसा कहते हैं, [जोगेसवर जोग तत्त] और योगीश्वर "योगतत्त्व" कहते हैं ॥७६॥

वसुदेव कुमार तणौ मुख वीखे
पुणै सुणै जण आपपर ।

श्रौ रुपमणी तणौ वर आयौ
हर म करौ अनि रायहर ॥७७॥

[वसुदेव कुमार तणौ मुख वीखे जण आपपर पुणै सुणै] वसुदेव-कुमार (श्रीकृष्ण) का मुख देख कर लोग परस्पर कहते सुनते हैं कि, [श्रौ रुपमणी तणौ वर आयौ] यह रुक्मिणी का वर (पति) आगया। [अनि रायहर हर म करौ] (अब) दूसरे राज्यकुलों के राजा (रुक्मिणी को पाने की अथवा वरने की) इच्छा (आशा) न करें ॥७७॥

आवासि उतारि जोड़ि कर ऊभा
जण जण आगै जणौ जणौ।
राम किसन आया राजा रै
तो को अचिरज मनुहार तणौ ॥७८॥

[आवासि उतारि] निवासस्थान में उतार कर [जण जण आगै जणौ जणौ कर जोड़ि ऊभा] एक एक अतिथि के आगे एक एक आदमी हाथ जोड़कर खड़ा होगया। [राम किसन राजा रै आया] बलराम और श्रीकृष्ण राजा के यहाँ (मेहमान) आये हैं, [तो मनुहार तणौ को अचिरज] तो (ऐसे) आतिथ्य का होना क्या आश्चर्य्य है ? ॥७८॥

सीखावि सखी राखी आखै सुजि
राणी पूछै रुपमणी।
आज कहौ तो आप जाइ आवूँ
अम्ब जात्र अम्बिका तणी ॥७९॥

[सखी सीखावि राखी सुजि आखै] जिस सखी को (रुक्मिणी ने) सिखा रखा था वही कहती है, [राणी रुपिमणी पूछै] हे महारानी !

(राजकुमारी) रुक्मिणी पूछती हैं, [अम्ब आप कहौ तो आज अम्बिका तणी जात्र जाइ आवूँ] "हे माता, आप कहे तो आज अम्बिकादेवी की यात्रा को हो आऊँ" ॥७६॥

राणी तदि दूवौ दीध रुपमणी
पति सुत पूछि पूछि परिवार ।
पूजा व्याज काज प्री परसण
स्यामा आरँभिया सिणगार ॥८०॥

[तदि पति सुत पूछि परिवार पूछि] तब पति से, पुत्र से और परिवार (के लोगों) से पूछकर [राणी रुपमणी दूवौ दीध] रानी ने रुक्मिणी को आज्ञा दी । [पूजा व्याज प्री परसण काज स्यामा सिणगार आरँभिया] पूजा के बहाने प्रियतम (श्रीकृष्ण) से मिलने के लिये श्यामा (रुक्मिणी) ने शृंगार करना आरम्भ किया ॥८०॥

कुमकुमै मँजण करि धौत वसत धरि
चिहुरे जल लागौ चुवण ।
छीणे जाणि छछोहा छूटा
गुण मोती मखतूल गुण ॥८१॥

[कुमकुमै मँजण करि] (रुक्मिणी ने) गुलाबजल में स्नान करके [धौत वसत धरि] धुले हुए वस्त्र धारण किये । [चिहुरे जल चुवण लागौ] (उनके) केश-कलाप से जल-बिन्दु टपकने लगे [जाणि] मानो [मखतूल गुण छीणे] काले रेशम के डोरों के टूट जाने पर [गुण मोती छछोहा छूटा] (सुंदर) गुणमोती जल्दी जल्दी गिर रहे हैं ॥८१॥

लागी विहुँ करे धूपणै लीधे
केस पास मुगता करण ।

मन मृग चै कारणै मदन ची
वागुरि जाणे विसतरण ॥८२॥

[केस पास धूपणै लीधै बिहुँ करै मुगता करण लागी] (रुक्मिणी अपने) केशपाश को, धूप देने के वास्ते, दोनों हाथों से खोलने (फैलाने) लगी। [जाणै] मानो [मन मृग चै कारणै मदन ची वागुरि विसतरण] (श्रीकृष्ण के) मन-रूपी मृग के वास्ते कामदेव का जाल फैलाने (लगी हो) ॥८२॥

वाजोटा ऊतरि गादी वैठी
राजकुँअरि स्रिँगार रस।
इतरै एक आली ले आवी
आनन आगलि आदरस ॥८३॥

[राजकुँअरि वाजोटा ऊतरि स्रिंगार रस गादी वैठी] राजकुमारी (रुक्मिणी) चौकी से उतर कर शृंगार की इच्छा से गद्दी पर बैठी। [इतरै एक आली आनन आगलि आदरस ले आवी] इतने में एक सखी (उनके) मुख के सामने दर्पण ले आई ॥८३॥

कंठ पोत कपोत कि कहुँ नीलकँठ
वडगिरि कालिन्द्री वली।
सम भागि किरि सह्व सह्वधर
एकणि ग्रहियौ अह्वली ॥८४॥

[कंठ पोत] (रुक्मिणी के) गले में पवित्री (काला रेशमी डोरा) बँधी हुई है। [कहुँ कपोत कि नीलकंठ] उसे कपोतकंठ कहूँ अथवा नीलकंठ। [कालिन्द्री वली वडगिरि] (अथवा) यमुना से परिवेष्टित हिमालय (कहूँ) [किरि] या मानो [सह्वधर सह्व

एकणि अङ्गुली समै भागि ग्रहियौ] शङ्खधर (विष्णु) ने शङ्ख को एक अंगुली से बीचोंबीच पकड़ लिया हो ॥८४॥

कबरी किरि गुन्थित कुसुम करम्बित
जमुण फेण पावन्न जग ।
उतमंग किरि अम्बर आधो अधि
माँग समारि कुंआर मग ॥८५॥

[कुसुम करम्बित गुन्थित कबरी] फूल दे देकर गुँथो हुई (रुक्मिणी की) चोटी [किरि] मानो [जग पावन्न जमुण फेण] जग को पवित्र करनेवाली यमुना के फेन हैं । [उतमंग आधो अधि समारि माँग] (और) मस्तक के बीचों बीच सँवारी हुई माँग [किरि] मानो [अम्बर कुंआर मग] आकाशस्थित आकाश-गंगा है ॥८५॥

अणियाला नयण बाण अणियाला
सजि कुण्डल खुरसाण सिरि ।
वले, वाढ दे सिली सिली वरि
काजल जल वालियौ किरि ॥८६॥

[अणियाला नयण अणियाला बाण] (रुक्मिणी के) नुकीले नयन हो तीखे बाण हैं, [कुण्डल खुरसाण सिरि सजि] (जो) कुण्डलरूपी शाण के ऊपर तेज किये गये हैं । [वले,] फिर [सिली सिली वरि] फिर शलाकारूपी सिल्ली पर [काजल जल वालियौ] काजलरूपी जल डाल कर (देकर) [किरि वाढ दे] मानो (नयनरूपी बाणों को) बाढ़ दे रही है ॥८६॥

कमनीय करे कूँकूँ चौ निज करि
कलँक धूम काढे बे काट ।

सम्प्रति कियौ आप मुख स्यामा
　　नेत्र तिलक हर तिलक निलाट ॥८७॥

[स्यामा निज करि कूँकूँ चौ कमनीय नेत्र तिलक ध
श्यामा (रुक्मिणी) ने अपने हाथों से कुमकुम का सुंदर
तिलक (शिव के ललाट-नेत्र के समान आकारवाला तिलक)
कर, [सम्प्रति आप मुख हर निलाट तिलक कियौ] फिर अपने
पर अर्द्धचन्द्र (शिव के ललाट पर स्थित अर्द्धचन्द्र के समान आ
वाला तिलक) बनाया [धूम कलँक के काट काढे] परन्तु (
से) धुँआ और कलङ्क (क्रमश:) दोनों (दोष) निकाल दिये ॥८७

मुख सिख सँधि तिलक रतनमैं मंडित
　　गयौ जु हूँतौ पूठि गलि ।
आयै क्रिसन मांग मग आयौ
　　भाग कि जाणे भालियलि ॥८८॥

[मुख सिख सँधि रतनमै मंडित तिलक] (रुक्मिणी के)
और मस्तक की संधि (ललाट) पर रत्नमय सुसज्जित ि
(आभूषण विशेष) है, [कि जाणे] मानो [जु भाग गलि पूठि
हूँतौ] (रुक्मिणी का) जो भाग्य (शिशुपाल के आने से) ग्री
पृष्ठ-भाग में चला गया था (छिप गया था), [क्रिसन आयै
मग भालियलि आयौ] (वही) श्रीकृष्ण के आने पर माँग के
से (फिर) ललाट पर आगया है ॥८८॥

जूं सहरी भ्रूह नयण मृग जूता
　　विसहर रासि कि अलक वक्र ।
वाली किरि वाँकिया विराजै
　　चंद रथी तार्टक चक्र ॥८९॥

[भ्रूह जूँ सहरी] (रुक्मिणी की) भौंहें जुवे के सदृश हैं; [नयण मृग जूता] (जिसमें) नयनरूपी मृग जुते हैं; [अलक वक्र कि विसहर रासि] टेढ़ी अलकें हैं अथवा सर्पमयी रास है। [वाली किरि वाँकिया विराजै] (उनके कानों की) बालियाँ मानो (रथ में लगे हुए) बाकिये हैं, [चंद रथी] (उनका मुखरूपी) चन्द ही सारथी है [ताटंक चक्र] (और) कर्णफूल ही पहिये हैं ॥८९॥

इभ कुँभ अन्धारी कुच सु कन्चुकी
कवच सम्भु काम क कलह।
मनु हरि आगमि मंडे मंडप
बन्धण दीध कि वारगह ॥९०॥

[कुच कन्चुकी सु इभ कुँभ अन्धारी] (रुक्मिणी के) कुचों की कन्चुकी ही हाथी के कुम्भस्थल की अन्धेरी (जालीदार आवरण) है। [क काम कलह सम्भु कवच] अथवा कामदेव से युद्ध करने के लिए शम्भु का कवच है; [हरि आगमि मनु मंडप मंडे] अथवा (रुक्मिणी ने) भगवान् के स्वागतार्थ मानो मंडप सजाया है, [बन्धण दीध कि वारगह] (और कंचुकी की) कसें बाँधी हैं अथवा तम्बू खड़ा किया है ॥९०॥

हरिणाखी कंठ अंतरिख हूँती
बिम्ब रूप प्रगटी बहिरि॥
कल मोतियाँ सुसरि हरि कीरति
कंठसरी सरसती किरि ॥९१॥

[हरिणाखी कंठ कंठसरी] हरिणाक्षी (श्रीरुक्मिणी) के गले में (धारण की हुई) कंठी [किरि] (क्या है) मानो [अंतरिख हूँती सरसती बिम्बरूप बहिरि प्रगटी] अदृश्यवासिनी सरस्वती बिम्बरूप

में बाहर प्रकट हुई है। [फल मोतियाँ सुसरि] (और) मनोहर मोतियों की सुन्दर माला [हरि कीरति] ही मानो (सरस्वती द्वारा गाया हुआ) हरि का यश है ॥९१॥

बाजूबंध बन्धे गोर बाहु विहुँ
स्याम पाट सोहन्त सिरी।
मणिमै हीँडि हीँडलै मणिधर
किरि साखा श्रीखंड की ॥९२॥

[विहुँ गोर बाहु बाजूबँध बन्धे] (रुक्मिणी की) दोनों गौरवर्ण भुजाओं में भुजबन्द बँधे हैं, [स्याम पाट सिरी सोहन्त] (जिनके) काले रेशम के सिरे (मणियुक्त फुँदने) शोभा देते हैं, [किरि] मानो [श्रीखंड की साखा मणिमै हीँडि मणिधर हीँडलै] चन्दन की शाखाओं से (बँधे हुए) मणिमय हिँडोलों में मणिधर (सर्प) झूल रहे हैं ॥९२॥

गजरा नवग्रही पोँचिया पोँचे
वले वलै विधि विधि वलित।
हसत नखित्र वेधियौ हिमकरि
अरध कमल अलि आवरित ॥९३॥

[गजरा नवग्रही प्रोँचिया प्रोँचे वल] *(रुक्मिणी ने) कलाई पर* गजरे और नवरतनी पहुँचियाँ पहनीं [वलै विधि विधि वलित] (जो) काले रेशमी डोरों से नाना प्रकार से गुँथी हुई थीं [हसत नखित्र हिमकरि वेधियौ] (मानो) हस्त नक्षत्र ने चन्द्रमा को वेध लिया है, [अलि आवरित अरध कमल] (या मानो) भ्रमरों से घिरे हुए आधे (अर्ध प्रकट) कमल हैं ॥९३॥

आरोपित हार घणौ थियौ अँतर
उरस्थल कुम्भस्थल आज।

सु जु मोती लहि न लहै सोभा
रज तिणि सिर नांखै गजराज ॥९४॥

[आज हार आरोपित उरस्थल कुम्भस्थल घणौ अँतर थियौ] आज (मोतियों का) हार धारण किये हुए (रुक्मिणी के) उरस्थल और (गजराज के गजमुक्तायुक्त) कुम्भस्थल में बहुत अंतर हो गया है। [सु जु गजराज मोती लहि सोभा न लहै] (क्योंकि) वह गजराज तो (कुम्भस्थल में) मोती रखते हुए भी शोभा नहीं पाता [तिणि] इसी कारण [सिर रज नांखै] (अपने) सिर पर धूल डालता है ॥९४॥

धरिया सु उतारे नव तन धारे
कवि तै वाखाणण किमत्र ।
भूखण पुहप पयोहर फल भति
वेलि गात्र तौ पत्र वसत्र ॥९५॥

[धरिया सु उतारे नव तन धारे] (रुक्मिणी) पहले से धारण किये हुए (वस्त्रों को) उतारती है (और) नये (वस्त्रों को) शरीर पर धारण करती है। [कवि तै किमत्र वाखाणण] कवि (उनका) यहाँ पर किस प्रकार वर्णन करे [भूखण पुहप पयोहर फल भति] (तो भी यदि) आभूषण पुष्पों के समान हैं (तो) पयोधर फलों के सदृश हैं; [गात्र वेलि तौ वसत्र पत्र] (और यदि) शरीर लता है तो वस्त्र पत्ते हैं ॥९५॥

स्यामा कटि कटिमेखला समरपित
किसा अंग मापित करल ।
भावी सूचक थिया कि भेला
सिङ्घरासि ग्रहगण सकल ॥९६॥

[स्यामा किसा अंग मापित करल कटि कटिमेखला समरपित] श्यामा (रुक्मिणी) ने पतली (कृशाङ्ग) और मुट्ठी से मापी जा सके (ऐसी) कटि में करधनी पहनी है। [कि भावी सूचक सकल ग्रहगण सिङ्घरासि भेला थिया] (वह क्या है) मानो भावी (भाग्योदय) सूचक (मेखला में जटित नवरत्नरूपी) सब ग्रहगण सिङ्घराशि ("केहरि कटि") पर एकत्र हुए हैं ॥९६॥

चरणे चामीकर तणा चंद्राणणि
सज नूपुर घूघरा सजि ।
पीला भमर किया पहराइत
कमल तणा मकरन्द कजि ॥९७॥

[चंदाणणि] चन्द्रमुखी (रुक्मिणी) ने [चरणे चामीकर तणा नूपुर सजि घूघरा सजि] चरणों में सुवर्ण के नूपुर सजा कर घुँघरू पहने। [भमर कमल तणा मकरन्द कजि पीला पहराइत किया] (मानो) भ्रमरों से, (चरणरूपी) कमलों के मकरन्द (की रक्षा) के लिए, पीले (पीली वर्दीवाले) पहरेदार (नियत) किये हैं ॥९७॥

दधि वीणि लियौ जाइ वणतौ दीठौ
साखियात गुणमै ससत ।
नासा अग्रि मुताहल निहसति
भजति कि सुक मुख भागवत ॥९८॥

[जाइ दधि वीणि लियौ] जिसको समुद्र में से चुन कर लिया, [ससत साखियात गुणमै वणतौ दीठौ] (और जिसको रुक्मिणी की नासिका में रहने के कारण) निस्संदेह, साक्षात् गुणमय ("गुण-मोती") बनते देखा। [मुताहल नासा अग्रि निहसति] (वही) मोती नासिका के अग्रभाग में हँसता है (झूलता है) [कि सुक मुख

भागवत भजति] मानो शुक (नासिकारूपी शुक अथवा श्रीशुक-देवजी) मुख से भागवत (भगवद्गुणानुवाद अथवा श्रीमद्भागवतपुराण) का भजन करता है ॥९८॥

नोट :—"गुणमै", "सुक" और "भागवत" के श्लिष्टार्थों का स्पष्टीकरण नोट में देखिए।

मकरन्द तँबोल कोकनद मुख मझि
दन्त किञ्जलक दुति दीपन्ति।
करि इक बीड़ो वले वाम करि
कीर सु तसु जाती क्रीड़न्ति ॥९९॥

[कोकनद मुख मझि मकरन्द तँबोल] (श्री रुक्मिणी के) लाल कमल-सदृश मुख में मकरन्द के सदृश पान है, [दन्त दुति किञ्जलक दीपन्ति] (उनके) दाँतों की द्युति किञ्जल्क (केशर) के समान दीप्तिमान् है। [इक बीड़ो करि तसु वामकरि वले] एक बीड़ा बनाकर (उन्होंने) अपने बायें हाथ में ले रखा है [सु कीर जाती क्रीड़न्ति] वह (मानो) सुन्दर तोता जाती (चमेली) पर (बैठा) क्रीड़ा कर रहा है ॥९९॥

सिणगार करे मन कीधौ स्यामा
देवि तणा देहरा दिसि।
होड छण्डि चरणे लागा हंस
मोती लगि पाणही मिसि ॥१००॥

[स्यामा सिणगार करे देवि तणा देहरा दिसि मन कीधौ] स्यामा ने शृंगार करके देवी के मन्दिर की ओर (जाने की) इच्छा की। [मोती लगि पाणही मिसि हंस होड छण्डि चरणे लागा] (उनको) मुक्ताजटित जूतियों के मिस (मानो) हंस (रुक्मिणी की चाल की) स्पर्धा छोड़ कर पैरों में लोट रहे हैं ॥१००॥

अन्तर नीलम्बर अवल आभरण
अंगि अंगि नग नग उदित ।
जाणे सदनि सदनि सञ्जोई
मदन दीपमाला मुदित ॥१०१॥

[नीलम्बर अन्तर नग नग उदित अंगि अंगि आभरण अवल] नीलवर्ण चीर के अन्दर, नाना प्रकार के नगों से आलोकित, अंग-प्रत्यंग पर (धारण किये हुए) आभूषणों की अवली है। [जाणे] मानो [मुदित मदन सदनि सदनि दीपमाला सञ्जोई] हर्षित कामदेव ने घर घर में दीपमालाएँ जलाई हैं ॥१०१॥

किहि करगि कुमकुमो कुङ्कुम किहि करि
किहि करि कुसुम कपूर करि ।
किहि करि पान अरगजौ किहि करि
धूप सखी किहि करगि धरि ॥१०२॥

[किहि करगि कुमकुमी] किसी के हाथ में गुलाब-जल है; [किहि करि कुङ्कुम] किसी के हाथ में कुंकुम है; [किहि करि कुसुम कपूर करि] किसी के हाथ में पुष्प है (तो) किसी के हाथ में कपूर, [किहि करि पान] किसी के हाथ में पान है; [किहि करि अरगजौ] किसी के हाथ में अरगजा है [किहि सखी करगि धूप धरि] और किसी सखी के हाथ में धूप धरा हुआ है ॥१०२॥

चकडोल लगै इणि भाँति सुँ चाली
मति तै वाखाणण न मूँ ।
सखी समूह मांहि इम स्यामा
सील आवरित लाज सूँ ॥१०३॥

[चकडोल लगै इणि भाँति सुँ चाली] पालकी की ओर (श्रीरुक्मिणी) इस भाँति से चली [तै वाराणगा मू मति न] जिसको वर्णन करना मेरी बुद्धि (की सामर्थ्य) में नहीं है। [सखी समूह माहि स्यामा इम] सखियों के समूह में स्यामा ऐसी (लगती है) [सील आवरित लाज सूँ] मानो (मूर्त्तिमान) शील, लज्जा से घिरा हुआ है ॥१०३॥

आइस्यै जाइ साथि सु चढ़ि चढ़ि आया
तुरी लाग ले ताकि तिम।
सिलह मांहि गरकाव संपेखी
जोध मुकुर प्रतिबिम्ब जिम ॥१०४।

[साथि जाइ आइस्यै] (जिनको रुक्मिणी के) साथ जाने की आज्ञा थी [सु लाग तुरी ताकि ले] वे योग्य घोड़ों को देख और वैसे वैसे लेकर [चढ़ि चढ़ि आया] चढ़ चढ़ कर आगये। [जोध सिलह माँहि गरकाव सँपेखी] वे योद्धा सिलहबख्तर (कवचों) में समाये हुए (ऐसे) दीखते थे [जिम मुकुर प्रतिबिम्ब] जैसे दर्पण में प्रतिबिम्ब ॥१०४॥

पदमिणि रखपाल पाइदल पाइक
हिलवलिया हलिया हसति।
गमे गमे मदगलित गुडन्ता
गात्र गिरोवर नाग गति ॥१०५॥

[पदमिणि रखपाल पाइदल पाइक हिलवलिया] पद्मिनी (श्रीरुक्मिणी) के अङ्गरक्षक पैदल सिपाही, हरबराये हुए (गमनोत्सुक हुए) [गमे गमे गिरोवर गात्र मदगलित नाग गति गुडन्ता हसति

हुलिया] धम धम करते (उत्साहित होकर) पर्वत के समान शरीरवाले मदमत्त हाथियों की चाल से झूमते (और) हँसते हुए चले ॥१०५॥

अस वेगि वहै रथ वहै अन्तरिख
चालिया चंदाणणि मग चाहि ।
किरि वैकुण्ठ अयोध्यावासी
मंजण करि सरयू नदि मांहि ॥१०६॥

[अस वेगि वहै] घोड़े वेग से चल रहे हैं, [रथ अन्तरिख वहै] रथ अन्तरिक्ष में (-के मार्ग से-) चल रहा है । [चाहि चन्द्राणणि मग चालिया] (और श्रीकृष्ण) बड़े चाव से चन्द्रमुखी (श्रीरुक्मिणी) के मार्ग का अनुसरण कर रहे हैं [किरि] मानो, [वैकुण्ठ अयोध्यावासी सरयू नदि मांहि मंजण करि] वैकुण्ठ जाने के लिए अयोध्यावासी सरयू नदी में स्नान कर रहे हैं ॥१०६॥

नोट :—अन्तिम दो पंक्तियों में उत्प्रेक्षित भाव का स्पष्टीकरण नोट में देखिये ।

पारस प्रासाद सेन सम्पेखे
जाणि मयंक कि जलहरी ।
मेरु पाखती नखित्र माला
ध्रूमाला संकर धरी ॥१०७॥

[प्रासाद पारस सेन सम्पेखे] मन्दिर के पार्श्व में सेना को देखने से [जाणि] (ऐसा) जान पड़ता है, [मयंक जलहरी] (मानो) चन्द्रमा की जलहरी (चक्राकार मंडल) है, [मेरु पाखती नखित्र माला] (या) मेरु पर्वत के चारों ओर नक्षत्र माला है [कि संकर ध्रूमाला धरी] किंवा शंकर ने मुंडमाला धारण कर रखी है ॥१०७॥

देवाळ पैसि अम्बिका दरसे
घणै भाव हित प्रीति घणी ।
हाथे पूजि कियौ हाथालगि
मन वञ्छित फळ रुपमणी ॥१०८॥

[देवाळ पैसि अम्बिका दरसे] मन्दिर में प्रवेश करके (रुक्मिणी ने) अम्बिका के दर्शन किये [भाव घणै हित प्रीति घणी] और बड़े भक्तिभाव, हित (और) घनी प्रीतिपूर्वक [रुपमणी हाथे पूजि मन वाञ्छित फळ हाथालगि कियौ] (रुक्मिणी ने अपने) हाथों से पूजा करके मनवाञ्छित फल को हस्तगत किया ॥१०८॥

आकरषण वसीकरण उनमादक
परठि द्रविण सोखण सर पंच ।
चितवणि हसणि लसणि गति सँकुचणि
सुन्दरी द्वारि देहरा संच ॥१०९॥

[चितवणि हसणि लसणि गति सँकुचणि] चितवन (भावपूर्वक दृष्टिपात), हँसी (मोहिनी मुसक्यान), लास्य (लोचपूर्वक हाव या अंगभंगी) चाल (मतवाली और चंचल चाल) और संकोच—(दिल को खींचनेवाली लज्जा) रूपी [आकरषण वसीकरण उनमादक द्रविण सोखण सर पंच परठि] आकर्षण, वशीकरण, उन्मादक, द्रविण और शोषण—इन पाँच (कामदेव के विश्वविजयी पाँच शरों के सदृश) बाणों को धारण करके [सुंदरि देहरा द्वारि संच] सुंदरी (रुक्मिणी ने) देवालय के द्वार में प्रवेश किया ॥१०९॥

मन पंगु थियौ सहु सेन मूरछित
तह नह रही संपेखतैं ।
किरि नीपायौ तदि निकुटी ए
मठ पूतळी पाखाणमैं ॥११०॥

[सँपेखतै मन पंगु थियौ] (इस प्रकार रुक्मिणी को) देखते ही मन निश्चल हो गया, [तह नह रही] चेतना नहीं रही, [सहु सेन मूरछित] (और) सारी सेना मूर्छित हो गई। [किरि] मानो [मठ नीपायौ तदि ए पाखाणमै पूतली निकुटी] (जब) मन्दिर बनाया तभी ये पाषाणमयी मूर्त्तियाँ भी गढ़ी गई थीं ॥११०॥

आयौ अस खेड़ि अरि सेन अंतरै
प्रथिमी गति आकास पथ
त्रिभुवन नाथ तणौ वेला तिणि
रव संभली कि दीठ रथ ॥१११॥

[आकास पथ अस खेड़ि अरि सेन अंतरै प्रथिमी गति आयौ] आकाश-मार्ग से घोड़ों को चलाते हुए वैरियों के सैन्य के बीच में (भगवान) पृथ्वी पर आये। [तिणि वेला रव संभली कि त्रिभुवन नाथ तणौ रथ दीठ] उस समय त्रिलोकीनाथ के रथ का शब्द सुनाई दिया कि (इतने ही में) रथ भी दिखाई दिया ॥१११॥

वलिबंध समरथि रथ ले वैसारी
स्यामा कर साहे सु करि।
वाहर रे वाहर कोइ छै वर
हरि हरिणाखी जाइ हरि ॥११२॥

[वलिबंध समरथि स्यामा कर सु करि साहे रथ ले वैसारी] वलि को बाँधनेवाले सामर्थ्यवान् (श्रीकृष्ण) ने श्रीरुक्मिणी का हाथ अपने हाथ में थामे हुए (उन्हें) लेकर रथ में बैठा ली। [कोइ वर छै वाहर रे वाहर] (और उन्होंने व्यंग्य में कहा— अथवा—उस समय सेना में यह कोलाहल मचा—) कोई

रुक्मिणी का वर (वर बनने का अभिमान रखनेवाला) है ? (यदि कोई है तो) सहायता के लिए दौड़े ! [हरि हरिणाखी हरि जाइ] (क्योंकि) हरि हरिणाक्षी (रुक्मिणी) का हरण करके जा रहा है ॥११२॥

सम्भलत धवल सर साहुलि सम्भलि
आल दा ठाकुर अलल ।
पिंड बहुरूप कि भेख पालटै
केसरिया ठाहे क्रिगल ॥११३॥

[धवल सर सम्भलत] मांगलिक गीत सुनते हुए [अलल अल दा ठाकुर] आला आला (एक से एक बढ़ कर) सजे हुए (अलबेले) सरदारों ने [साहुलि सम्भलि] पुकार सुनकर [पिंड केसरिया ठाहे क्रिगल] (अपने) शरीर पर केसरिया (पोशाकों) के स्थान पर कवच धारण किये [कि] मानो [बहुरूप पिंड भेख पालटै] बहुरूपियों ने शरीर का भेष बदल लिया हो ॥११३॥

लारोवरि अस चित्राम कि लिखिया
निहपरता नरवरैं नर ।
माँखण चोरी न हुवै माहव
महियारी न हुवै महर ॥११४॥

[नरवरै लारोवरि निहपरता नर अस कि चित्राम लिखिया] नर-श्रेष्ठ श्रीकृष्ण के पीछे (बड़े वेग से) दौड़ते हुए वीरों के घोड़े (ऐसे दिखाई देते हैं मानो) चित्र में चित्रित किये हुए हों। [माहव माखण चोरी न हुवै] (पीछा करनेवाले कहते जाते हैं) रे माधव ! यह माखन की चोरी नहीं है; [महर महियारी न हुवै] रे ग्वाले ! यह गूजरी नहीं है ॥११४॥

ऊपड़ी रजी मझि अरक एहवौ
वातचक्र सिरि पत्र वसन्ति ।
सद नीहस नीसाण न सुणिजै
वरहासाँ नासाँ वाजन्ति ॥११५॥

[ऊपड़ी रजी मझि अरक एहवौ] उड़ी हुई (उड़ कर छाई हुई) धूल में सूर्य ऐसा (जान पड़ता) है, [वातचक्र सिरि वसन्ति पत्र] (जैसे) वातचक्र के शिखर पर (पीला) पत्ता हो, [वरहासाँ नासाँ वाजन्ति] घोड़ों के नथुने (ऐसे ज़ोर से) बोल रहे हैं [नीसाण नीहस सद न सुणिजै] कि नगारों का निर्घोष शब्द (भी) नहीं सुनाई देता ॥११५॥

अलगी ही नैड़ी की ऊखवते
देठालौ हुऔ दलाँ दुँह ।
वागाँ ढेरवियाँ वाहरुए
मारकुए फेरिया मुँह ॥११६॥

[अलगी ही ऊखवते नैड़ी की] (अब तक जो दोनों सेनाएँ) दूर थीं (पीछा करनेवालों ने घोड़ों को तेजी से) दौड़ा कर (उनको) निकट किया। [दलाँ दुँह देठालौ हुऔ] और दोनों दलों की देखा-देखी हुई। [वाहरुए वागाँ ढेरवियाँ] (तब) पीछा करनेवालों (वाहरुओं) ने अपनी वागें रोक लीं, [मारकुए मुँह फेरिया] और मारकुओं ने (प्रहारकों ने) भी अपना मुँह फेरा ॥११६॥

(युद्ध-वर्षा-रूपक वर्णन)

कठठी बे घटा करे कालाहणि
सम्रुहे आमहो साम्रुहे ।
जोगिणि आवी आडँग जाणे
वरसै रत वेपुड़ी वहै ॥११७॥

[वे कालाहणि घटा आमहो सामुहे समुहे कठठी] दो प्रलयकारी सैन्यदल आमने सामने होकर निकले हैं; [करे] मानो [वे कालाहणि घटा आमहो सामुहे समुहे कठठी] दो काले बादलों की घटाएँ आमने सामने होकर निकली हैं। [रत वरसै आडँग जाणे वेपुड़ी वहे जोगिणि आवी] (और युद्ध में) रक्त बरसने के आसार जान कर दोहरी (दोनों तरफ़ से) चलती हुई योगिनियाँ आई हैं; [जाणे] मानो [वरसै रत वेपुड़ो वहे आडँग जोगिणि आवी] बरसने को उद्यत दोहरी (दोनों ओर से) चलती हुई वर्षा-सूचक योगिनियाँ (अर्थात् ज्योतिष के अनुसार वर्षा के योग) आये हैं ॥११७॥

हयनालि हवाई कुहक बाण हुवि
होइ वीरहक गैगहण ।
सिलहाँ ऊपरि लोह लोह सर
मेह बूँद माहे महण ॥११८॥

[हयनालि हवाई कुहक बाण हुवि] बन्दूकें, हवाइयो तथा तोपें इत्यादि के चलने का शब्द हुआ, [गैगहण वीरहक होइ] आकाश को गुँजा देनेवाली वीरों की ललकार हुई [लोह सिलहाँ ऊपरि लोह सर] (और) लोह के कवचों पर लोह के बाण पड़ते हैं [महण माहे मेह बूंद] (मानो) समुद्र में मेह की बूँदें (पड़ रही हैं) ॥११८॥

कलकलिया कुन्त किरण कलि ऊकलि
वरजित विसिख विवरजित वाउ ।
धड़ि धड़ि धवकि धार धारजल
सिहरि सिहरि समखे सिलाउ ॥११९॥

[कुन्त किरण कलि ऊकलि कलकलिया] भालेरूपी सूर्यकिरण युद्ध में सन्तप्त होकर चमचमाने लगे। [वरजित विसिख विवरजित

वाउ] (दोनों दलों का निकट से युद्ध होने के कारण) बाण (चलने) बंद हो गये हैं—(वही)—वायु का (चलना) बंद हो गया है। [घड़ि घड़ि धारुजल़ धार धबकि] (सैनिकों के) शरीर शरीर पर तलवारों की धारें चमक रही हैं [सिहर सिहर सिलाऊ समखै]—(वही) शिखर शिखर पर बिजलियाँ चमक रही हैं ॥

भावार्थ :—वर्षा होने से पहले सूर्यकिरणों के प्रखर तेज से गर्मी बहुत बढ़ जाती है और हवा बन्द हो जाती है। इसके पश्चात् बादलों में बिजलियाँ चमकने लगती हैं। वैसे ही, यहाँ भी, कुछ दूरी से युद्ध करते हुए दोनों दल अब पास पास आ गये हैं; अतएव बाणों का चलना बन्द हो गया है और भालों का प्रहार प्रारम्भ हो गया है। इस प्रकार बाणों का चलना क्या बन्द हुआ है मानो वर्षा से पहले हवा का चलना बन्द हो गया है। अब शीघ्रता से प्रहार करते हुए भाले सूर्य की किरणों में चमचमाने लगे। अनवरत प्रहार करने से भालों का लोह संतप्त हो उठा। इस प्रकार भालों से युद्ध करते हुए योद्धागण जब परस्पर और सन्निकट आगये तब उनमें तलवारों से युद्ध होने लगा उस समय कवच पहिने हुए सैनिकों के शरीरों पर प्रहार करती हुई तलवारों की धारें इस प्रकार चमकने लगीं, मानो शीघ्र ही वृष्टि करनेवाले बादलों के शिखर शिखर पर बिजलियों ने चमकना आरम्भ कर दिया हो ॥११९॥

कांपिया उर कायराँ असुभकारियौ
गाजंते नीसाणे गड़ड़ै।
ऊजलियाँ धाराँ ऊवड़ियौ
परनाल़े जल़ रुहिर पड़ै ॥१२०॥

[नीसाणे गड़ड़ै गाजंते] नगारों की गड़गड़ाहट रूपी मेघ-गर्जन से [कायराँ असुभकारियौ उर कांपिया] (रणभीरु)

कायरों रूपी अशुभचिन्तकों (यथा किसानों को सूद के बोझ से दवानेवाले और मँहगी से लाभ उठानेवाले, वनियों) के हृदय काँपने लगे। [ऊजलियाँ धाराँ ऊवड़ियौ रुहिर जल परनाल पड़ै] (शस्त्रों की) चमकीली धाराओं से उमड़ते हुए (वर्षापक्ष में—स्वच्छ धाराओं में वरसते हुए) रुधिररूपी जल के परनाले वहने लगे ॥१२०॥

चोटियाली कूदै चौसठि चाचरि
घ्रू ढलियैं ऊकसै धड़।
अनँत अनै सिसुपाल औझड़ै
झड़ मातौ माँडियौ झड़ ॥ १२१ ॥

[चोटियाली चौसठि चाचरि कूदै] (लम्बी लम्बी) चोटियों-वाली चौसठ योगिनियाँ युद्धस्थल में कूद रही हैं, [घ्रू ढलियैं धड़ ऊकसै] शिरों के (कट कट कर) गिरने पर धड़ (कबन्ध) उकसते हैं। [अनँत अनै सिसुपाल औझड़ै झड़ माँडियौ] वलराम और शिशुपाल ने अविरल (शस्त्रप्रहार की) झड़ी लगा रखी है। [मातौ झड़ माँडियौ]—(वही मानो)—वर्षा ने गहरी झड़ी लगा रखी है ॥१२१॥

रिण अंगणि तेणि रुहिर रलतलिया
घणा हाथ हूँ पड़ै घणा।
ऊँघा पग बुदबुद जल आकृति
तरि चालै जोगिणी तणा ॥ १२२ ॥

[घणा हाथ हूँ घणा पड़ै] वहुत से हाथों से (प्रहारत) वहुत से (कट कटकर) गिर रहे हैं [तेणि] जिससे [रिण अंगणि रुहिर रलतलिया] युद्ध-भूमि में रुधिर वह चला। [जल बुद बुद

आकृति ऊँधा जोगिणी तणा पत्र तरि चालै] (और उसमें) जल के बुदबुदों की आकृतिवाले उलटे किये हुए योगिनियों के खप्पर (खोपड़ियाँ) तैर चले ॥१२२॥

वेलो तदि बलभद्र बापूकारे
सत्र साबतौ अजे लगि साथ।
वूठै वाहवियै आ वेला
हल जीपिस्यै जु वाहिस्यइ हाथ ॥ १२३ ॥

[तदि बलभद्र वेलो बापूकारे] तब बलभद्रजी ने (अपने) साथियो को (यह कहकर) उत्तेजित किया —[सत्र साथ अजे लगि साबतौ] "शत्रुदल अभी तक साबित (सही-सलामत) खड़ा है ! [वूठै हल वाहवियै जीपिस्यै] वर्षा होने पर जो हल जोतते हैं (वे ही) जीतते हैं; [आ वेला जु हाथ वाहिस्यइ जीपिस्यै] (वैसे ही) इस समय जो हाथ चलावेंगे (शस्त्र प्रहार करेंगे) वही जीतेंगे ॥१२३॥

विसरियाँ विसर जस बीज वीजिजै
खारी हालाहलाँ खलाँह।
त्रूटै कन्ध मूल जड़ त्रूटै
हलधर काँ वाहताँ हलाँह ॥ १२४ ॥

[विसरियाँ विसर जस बोज बीजिजै] "(इस लिये, हे वीरो !) बीते हुए समय को विसार कर यश के बीज बोना चाहिए (वीरता के साथ युद्ध करना चाहिए) [खलाँह हालाहलाँ खारी] (जिससे कि, "आ वेला" (देखो १२३)) शत्रुओं को हलाहल (विष) के समान कड़वी लगे।" [हलधर काँ वाहताँ हलाँह कन्ध मूल त्रूटै] (इतना कहकर युद्ध में प्रवृत्त) हलधर (बलराम) के चलाये

हुए हलों (के प्रहार) से (शत्रुओं के) कन्धोंरूपी डालियों की जड़ें टूटने लगीं। [हलधर काँ वाँहताँ हलाँह जड त्रूटैं] (जैसे) किसान के चलाये हुए हलों से (खेत में) जड़ें (डंठल) टूटती हैं ॥१२४॥

> घटि घटि घण घाउ घाइ घाइ रत घण
> ऊँच छिछ ऊछलै अति।
> पिड़ि नीपनौ कि खेत्र प्रवाली
> सिरा हंस नीसरै सति ॥१२५॥

[घटि घटि घण घाउ घाइ घाइ घण रत] (योद्धाओं के) शरीरों में बहुत से घाव हो रहे हैं (और) घाव घाव से बहुत सा रक्त बह रहा है, [अति ऊँच छिंछ ऊछलै] (जिसके) अति ऊँचे फुहारे उछल रहे हैं [कि] मानो [खेत्र पिड़ि प्रवाली नीपनौ] खेत में पेड़ियों पर किशलय (लाल लाल नये पत्ते) उत्पन्न हो रहे हैं [सिरा हंस नीसरै सति] (और) धान के बालरूपी (शत्रुओं के सिरा से) प्राण निकल रहे हैं ॥१२५॥

> बलदेव महाबल तासु भुजाबलि
> पिड़ि पहरन्तै नवी परि।
> विजड़ां मुहे वेड़ते वलभद्र
> सिराँ पुंज कीधा समरि ॥१२६॥

[महाबल बलदेव तासु भुजाबलि नवी परि पिड़ि पहरन्तै] अतुल बलशाली बलदेव अपनी भुजाओं के बल से नवीन (चमत्कारिणी) रीति से धान्य की पेड़ियों (रूपी शत्रु योद्धाओं) का प्रहार कर रहे हैं। [समरि बलभद्र विजड़ां मुहे वेड़ते सिराँ पुंज कीधा] खेतरूपी रणक्षेत्र में बलभद्रजी ने अपने हँसुआ (रूपी तलवार) की धार से काटते हुए बालों (रूपी शिरों) का ढेर लगा दिया ॥१२६॥

रिण गाहटतै राम खळां रिण
थिर निज चरण स मेढ़ि थिया।
फिरि चड़ियै संघार फेरता
केकाणां पाइ सुगह किया ॥१२७॥

[रिण खळां गाहटतै] युद्ध-भूमि-रूपी खलिहान में (शत्रुदल-रूपी धान्य का) गाहटन करते हुए [राम रिण निज थिर चरण स मेढ़ि किया] बलभद्र के रण में स्थिर रहनेवाले अपने चरण ही मेढ़ हुए, [चड़ियै फिरि फेरता संघार केकाणां पाइ सुगह किया] (और) चढ़कर फिरा-फिराकर फेरते (और) कुचलते हुए घोड़ों के पैरों से (उन्होंने शत्रुरूपी धान्य का) अच्छी तरह से गाहटन किया ॥१२७॥

कण एक लिया किया एक कण कण
भर खञ्चे भंजियौ भिड़।
वळभद्र खळ खळां सिर वैठी
चारौ पळ ग्रीधणी चिड़ ॥१२८॥

[एक कण लिया] कृषकरूपी बलराम ने (कई) एक कणों को (—आहत योद्धाओं को—) प्राप्त किया (पकड़ लिया) [एक कण कण किया] (और) (कई) एक को कण कण कर दिया (—टुकड़े टुकड़े करके नष्ट कर दिया—)। [भिड़ भंजियौ भर खञ्चे] (और जिनको) युद्ध करके भगा दिया, (वह मानो) धान्य के भार (गाड़ियों में) खिंचे जा रहे हैं। [बलभद्र खळ] (युद्ध-भूमि-रूपी) बलभद्र के खलिहान में [खळां सिरि वैठी ग्रीधणी चिड़] (मरे हुए शत्रुरूपी) धान्य के शिरों पर वैठी हुई

गिद्धनी चिड़ियाँ है, [पल् चारी] (और मृत-शवों का) मास (उनका) चारा है ॥१२८॥

सरिखाँ सूँ वलभद्र लोह साहियै
वड़फरि उद्धजतै विरुधि ।
भलाभली सति तोईज भंजिया
जरासेन सिसुपाल् जुधि ॥१२९॥

[वलभद्र सरिखां सूँ लोह साहियै] वलभद्र अपने सदृश (बलशाली) सुभटों से लोहा लेते हैं (—युद्ध करते हैं—)। [विरुधि वड़फरि ऊद्धजतै] उनके (शत्रुओं के प्रहार का) निरोध करने के लिए ढाल को उठाते हुए [भलाभली सवि] "भलाभली पृथ्वी" (वाली कहावत) सत्य है। [तोईज जरासेन सिसुपाल् जुधि भंजिया] तभी तो जरासंध और शिशुपाल (जैसे योद्धाओं) को युद्ध में (बलभद्र ने) भगा दिया ॥१२९॥

आडो अड़ि एकाएक आपड़े
वाग्यो एम रुपमणी वीर
अवला लेइ घणी भुँइ आयौ
आयौ हूँ पग माँडि अहीर ॥१३०॥

[रुपमणी वीर आडो अड़ि एकाएक आपड़े] श्रीरुक्मिणी का भाई [राजकुमार रुक्मि] तिरछा होकर (रोकते रोकते) अकस्मात् (सामने) आकर [एम वाग्यो] यों बोला,— [अवला लेइ घणी भुँइ आयौ] (तू) निर्बल स्त्री को लेकर बहुत दूर चला आया है। [हूँ आयौ, अहीर पग माँडि] (अब) मैं आगया हूँ। अरे अहीर, पग रोक ! (खड़ा रह !) ॥१३०॥

विलकुलियौ वदन जेम वाकार्‌यौ
सङ्ग्रहि धनुख पुणच सर सन्धि
क्रिसन रुकम आउध छेदण कजि
वेलखि अणी मूठि द्रिठि वन्धि ॥१३ ॥

[जेम वाकार्‌यौ वदन विलकुलयौ] (रुक्मि ने) ज्योंही ललकारा त्योंही (श्रीकृष्ण का) मुख (मारे क्रोध के) लाल होगया, [धनुख सङ्ग्रहि पुणच सर सन्धि] और धनुप को लेकर और प्रत्यंचा पर बाण को चढ़ा कर [रुकम आउध छेदण कजि क्रिसन वेलखि मूठि अणी द्रिठि बन्धी] रुक्मि के शस्त्रों को काटने के लिए श्रीकृष्ण ने बाण की पुंख (फर) को मुट्ठी में और (उसकी) नोक को दृष्टि में बाँधा ॥१३१॥

रुकमइयौ पेखि तपत आरणि रणि
पेखि रुपमणी जल प्रसन ।
तणु लोहार वाम कर निय तणु
माहव किउ साँडसी मन ॥ १३२ ॥

[रणि आरणि] युद्धक्षेत्ररूपी (लोहार के) ऐरण पर [तपत रुकमइयौ पेखि] संतप्त (क्रुद्ध) रुक्मि को देखकर [तपत] (स्वयं) कुपित होते हुए [रुपमणी जल प्रसन पेखि] (और) रुक्मिणी का अश्रुजल (प्रस्रवण) मोचन देखकर [प्रसन] द्रवीभूत होते हुए [माहव निय तणु लोहार तणु वाम कर मन साँड़सी कियउ] श्रीकृष्ण ने अपने शरीर को लोहार का बाँया हाथ (जिसमें वह साँडसी पकड़ता है) और अपने मन को साँडसी किया ।

भावार्थ—युद्ध-क्षेत्र में अत्यन्त क्रोध से सन्तप्त होकर रुक्मि भगवान् पर अनेक शस्त्रास्त्र का प्रहार करने लगा और उन्हें युद्ध के लिए

ललकारने लगा। अतएव श्रीकृष्ण रुक्मि पर अत्यन्त क्रुद्ध होगये। परन्तु रुक्मिणीजी भाई को इस प्रकार मृत्यु के मुख में प्रविष्ट होते देखकर नेत्रों से अश्रुजल बहाने लगीं। इस पर, एक तरफ़ तो रुक्मि की युद्ध ललकार से कुपित और दूसरी ओर प्रिया के नेत्रों को अश्रु-प्लावित देखकर द्रवीभूत, भगवान के मन और शरीर की दशा वर्णन कवि लोहार के व्यापारों की साम्यता से करता है। ऐसी दशा में श्रीकृष्ण का शरीर *तो लोहार का बाँया हाथ हो रहा है और उनका मन उसमें पकडी* हुई सॉंडसी की तरह हो रहा है। जिस प्रकार लोहार बाँयें हाथ से सॉंडसी पकड़कर उससे तपे हुए लाल लोहे को अग्नि से निकाल कर पीटने के लिए ऐरण पर रखता है, और जब सॉंडसी गरम हो जाती है और उससे उसका हाथ जलने लग जाता है, तो सॉंडसी को पास रखे हुए जल में देकर ठण्ढी कर लेता है, उसी प्रकार युद्धक्षेत्र में क्रोधाग्नि से रुक्मि को तपते देखकर भगवान् स्वयं क्रुद्ध होकर उसे मारने का मन करते हैं अर्थात् अपने मनरूपी सॉंडसी से पकड़ कर रुक्मिरूपी संतप्त लोह को पीटने के लिए ऐरण पर डालते हैं, परन्तु लोहार के बाँयें हाथ के समान उनका शरीर शीघ्र ही सन्तप्त हो जाता है और जिस प्रकार लोहार सॉंडसी को जल में देकर ठंढी करता है उसी प्रकार भगवान् का मन भी रुक्मिणी के नेत्रजल को देखकर अपने क्रोध को त्याग देता है। साराश, श्रीकृष्ण को अपने क्रोध में इच्छा होती है कि रुक्मि को मार डाले परन्तु रुक्मिणी के दैन्य को देखकर वे ऐसा नहीं करते। उनका क्रोध शान्त हो *जाता है ॥१३२॥*

सगपण ची सनस रुपमणी सन्निधि
अण मारिया तणै आलोजि।
ए अखियात जु आउधि आउध
सजै रुक्म हरि छेदै सोजि ॥१३३॥

[सगपण ची सनस] (साला होने के) सम्बन्ध की लाज से, [रुपमणी सन्निधि] (और) रुक्मिणी के निकट (सामने) [अण मारिवा तणै आलोजि] नहीं मारने के विचार से [आउधि रुकमजु आउध सजै हरि सोजि छेदै, ए अखियात] युद्ध में रुक्मि जिन आयुधों का प्रयोग करता है, भगवान् श्रीकृष्ण उन्हें काट देते हैं, यह आश्चर्य है! ॥१३३॥

निराउध कियौ तदि सोनानामी
केस उतारि विरूप कियौ।
छिणियै जीवि जु जीव छण्डियौ
हरि हरिणाखी पेखि हियौ ॥१३४॥

[तदि सोनानामी निराउध कियौ] तब सुवर्ण का नाम रखनेवाले (रुक्मि) को निःशस्त्र किया [केस उतारि विरूप कियौ] (और) केस काटकर विरूप कर दिया। [जु छिणियै जीवि] जो (रुक्मि) क्षणजीवी ही था [हरि हरिणाखी हियौ पेखि जीव छण्डियौ] भगवान् श्रीकृष्ण ने हरिणाक्षी (रुक्मिणी) का हृदय (हार्दिक इच्छा का भाव) देखकर (उसको) जीवित छोड़ दिया ॥१३४॥

अनुज ए उचित अग्रज इम आखै
दुसट सासना भली दई।
वहिनि जासु पासै बैसारी
भलौ काम किउ भला भई ॥१३५॥

[अग्रज इम आखै] (इतने में) बड़े भ्राता (बलभद्र) यों (व्यंग्यपूर्वक) कहने लगे—[भला भई भलौ काम किउ] वाह, भई वाह! भला काम किया!! [जासु वहिनि पासै बैसारी] जिसकी

बहिन को पार्श्व में बिठाई है, [दुमट सासना भली दई] (उसी को) दुष्टोचित दंड खूब दिया ! [अनुज ए उचित] हे अनुज, क्या यह उचित है ? ॥१३५॥

सुसमित सुनमित निज वदन सुब्रीड़ित
पुँडरीकाख थिया प्रसन।
प्रथम अग्रज आदेस पालिवा
मिरिगाखी राखिवा मन ॥१३६॥

[प्रथम अग्रज आदेश पालिवा] प्रथम तो, बड़े भाई की आज्ञा पालने के लिए [मिरगाखी मन राखिवा] (फिर) मृगनयनी (रुक्मिणी) का मन रखने के लिए [पुँडरीकाख सुब्रीड़ित निज वदन सुनमित सुसमित प्रसन थिया] कमलनयन (श्रीकृष्ण) लजाते हुए अपने मुख को नीचा किये हुए, मन्द मन्द मुसकराते हुए (रुक्मि पर) प्रसन्न हुए ॥१३६॥

कृत करण अकरण अन्नथा करणं
सगळे ही थोके ससमत्थ।
हा लिया जाइ लगाया हूँता
हरि साळै सिरि थापे हत्थ ॥१३७॥

[अकरण करण कृत अन्नथा करणं] असम्भाव्य को करनेवाले, किये हुए को अन्यथा करनेवाले [सगळे ही थोके ससमरथ] सब बातों में पूर्ण सामर्थ्यवान [हरि साळै सिरि हत्थ थापे] भगवान ने साले के सिर पर हाथ रखे [जाइ लिया हा लगाया हूँता] (और) जिन (हाथों) से लिये थे (उन्हीं से बालों को फिर) लगा दिये ॥१३७॥

F. 25

परदल पिण जीपि पदमणी परणे
आणँद उभै हुआ एकार ।
वह ते कटकि माहि वादोवदि
वाधण लागा वधाइहार ॥१३८॥

[पर दल जीपि] शत्रु-दल को जीतकर [पदमणी पिण परणे] पद्मिनी को भी ब्याही । [उभै आणँद एकार हुआ] ये दोनों आनन्द एक ही साथ हुए । [वह ते कटकि माहि वादोवदि] (इस कारण से) चलते हुए सैन्यदल में बदाबदी करते हुए [वधाइहार वाधण लागा] बधाई देनेवाले बढने लगे ॥१३८॥

ग्रिह काज भूलिग्या ग्रहि ग्रहि ग्रहगति
पूछीजै चिन्ता पडी ।
मन अरपण कीधै हरि मारग
चाहै प्रज ओटे चड़ी ॥१३९॥

[गृह गृह चिन्ता पड़ी] (इधर द्वारिका में) घर घर में चिन्ता व्याप्त है, [ग्रिह काज भूलिग्या] (सब अपने अपने) घरों के काम काज भूल गये, [ग्रह गति पूछीजै] (और ज्योतिषियों से) ग्रहों की गति (भाग्यफल) पूछते हैं [हरि मारग मन अरपण कीधै प्रज ओटे चड़ी चाहै] और हरि के मार्ग में मन लगाये हुए प्रजा ऊँचे स्थानों पर चढ़ी हुई (उत्कंठित होकर) देख रही है ॥१३९॥

देखतां पथिक उतामला दीठा
भांखाणा तरि उठी झल ।
नील डाल करि देखि नीलाणा
कुमसथली वासी कमल ॥१४०॥

[देखताँ] देखते देखते [उतावला पथिक दीठा] शीघ्रता से आते हुए पथिक दिखाई दिये। [झाँखाणा] (देखकर) कुम्हला गये, [उरि झल उठी] (और उनके) हृदयों में (चिन्ता की) ज्वाला उठी, [करि नील डाल देखि] (परन्तु उनके) हाथों में हरी डालियाँ देखकर [कुसस्थली वासी कमल नीलाणा] कमल-रूपी द्वारिकानिवासी हरित होगये ॥१४०॥

सुणि आगम नगर सहू साऊजम
रुषमिणि क्रसन वधावण रेसि।
लहरिउँ लियै जाणि लहरीरव
राका दिन दरसण राकेसि ॥१४१॥

[नगर आगम सुणि] नगर में शुभागमन सुनकर [सहू रुषमिणि क्रसन वधावण रेसि साऊजम] सभी (नगर-निवासी) श्रीरुक्मिणी और श्रीकृष्ण का स्वागत करने के लिए उद्यमशील हो उठे [जाणि] मानो [राका दिन राकेसि दरसण लहरीरव लहरिउँ लियै] पूर्णिमा के दिन पूर्ण-चन्द्र के दर्शन के लिए समुद्र लहरें ले रहा है ॥१४१॥

वधाउआ गृहे गृहे पुरवासी
दलिद्र तणौ दीधौ दलिद्र।
ऊछव हुआ अखित ऊछलिया
हरी द्रोब केसर हलिद्र ॥१४२॥

[पुरवासी गृहे गृहे] नगर-निवासियों ने घर घर में [वधाउआँ दलिद्र तणौ दलिद्र दीधौ] बधाईदारों को (उनकी) दरिद्रता का दारिद्र (अभाव) दिया (अर्थात् इतना दिया कि उनकी दरिद्रता नष्ट हो गई) [अखित ऊछव हुआ] निरन्तर उत्सव होने

लगे, [हरी द्रोब केसर हलिद्र ऊछालिया] और हरी दूब से केशर और हल्दी उछाले जाने लगे ॥१४२॥

नर मारगि एक एक मगि नारी
क्रमिया अति उछाह करेउ ।
अङ्कमाल् हरि नयर आपिवा
बाहाँ तिकरि पसारी बेउ ॥१४३॥

[एक मारगि नारी एक मगि नर] एक मार्ग से नारियाँ और एक मार्ग से नर [अति उछाह करेउ क्रमिया] बड़ा उत्साह करते हुए चले । [नयर हरि अङ्कमाल् आपिवा तिकरि बेउ बाहाँ पसारी] (मानो) द्वारिकापुरी ने हरि को गले लगाने के लिए अपनी दोनों बाहें फैलाई हैं ॥१४३॥

•बीजलि् दुति दंड मोतिए वरिखा
झालरिए लागा झड़ण ।
छत्रे अकास एम ओछायौ
घण आयौ किरि वरण घण ॥१४४॥

[दंड बीजलि् दुति] (मंडपों के रत्नजटित) दंड ही (मानो) बिजली की चमक है; [झालरिए झड़ण लागा मोतिए वरिखा] मंडपों की झालरों से झड़ते हुए मोती ही वर्षा (की बूँदें) हैं [छत्रे अकास एम ओछायौ] (और मंडपों के ऊँचे ऊँचे गगन-स्पर्शी रंग-बिरंगे) छत्रों से आकाश इस प्रकार छाया हुआ है [किरि घण वरण घण आयौ] मानो रंग बिरंगे मेघ (घनघटा) आये हैं ॥१४४॥

मुकरमै मोलि् मोलिमै मारग
मारग सुरँग अबीरमई ।

पुरि हरि सेन एम पैसार्‌यौ
नीरोवरि प्रवसन्ति नई ॥१४५॥

[मारगप्रोलिमै] राज-मार्ग (स्वागतार्थ निर्मित अनेक) द्वारों से सुशोभित हो रहा है [प्रोलि मुकरसी] और द्वार दर्पणमय (मुकुर-सुसज्जित) हैं, [मारग सुरँग अबीरमई] मार्ग सुन्दर रंगों की गुलाल से आच्छादित हो रहे हैं। [हरि पुरी सेन एम पैसार्‌यौं] (तब) भगवान् ने नगर में सेना का इस प्रकार प्रवेश कराया [नई नीरोवरि प्रविसन्ति] जिस प्रकार नदी समुद्र में प्रवेश करती है ॥१४५॥

धवलहरे धवल दियै जस धवलित
धण नागर देखे सधण
सकुसल सबल सदल सिरि सामल
पुहप बूँद लागी पड़ण ॥१४६॥

[जस धवलित सधण देखे] यश से उज्ज्वलीकृत (श्रीहरि को) बधू सहित देखकर [धवलहरे नागर धण धवल दियै] ऊँचे ऊँचे श्वेत भवनों में नागरिकों की (चतुर) स्त्रियाँ मांगलिक गीत गाने लगीं। [सबल सदल सकुसल सिरि सामल] और बलभद्रजी तथा सैन्यदल के सहित सकुशल (लौटे हुए) श्रीश्याम-सुंदर पर [पुहप बूँद पड़ण लागी] पुष्परूपी बूँदें बरसने लगीं ॥१४६॥

जीपे सिसुपाल जरासिँधु जीपे
आयौ गृहि आरती उतारि।
देखे मुख वसुदेव देवकी
वार वार वारै पै वारि ॥१४७॥

[सिसुपाल जरासिँधु जीपे] शिशुपाल और जरासिंध को जीत-कर [जीपे ग्रहि आयौ] विजय प्राप्त करके घर आया है, [आरती उतारि] (इससे) आरती उतारकर [पै वारि] जल वार कर [वसुदेव देवकी मुख देखे बार बार वारैं] वसुदेव देवकी (अपने प्यारे पुत्र का) मुख देखकर बार बार बलैयाँ लेते हैं ॥१४७॥

विधि सहित वधात्रे वाजित्र वात्रे
भिन भिन अभिन वाणि मुख भाखि ।
करै भगति राजान क्रिसन ची
राजरमणि रुपमिणि ग्रह राखि ॥१४८॥

[विधि सहित वधात्रे] विधिपूर्वक स्वागत होरहे हैं। [वाजित्र वात्रे] बाजे बज रहे हैं, [भिन्न भिन्न मुख अभिन बाणि भाखि] भिन्न भिन्न मुखो से एक ही (—भगवान के यश की—) बात कही जा रही है; [राजान क्रिसन ची भगति करै] राजा लोग श्रीकृष्णजी का प्रेमपूर्वक सत्कार कर रहे हैं [राजरमणि रुपमिणि ग्रह राखि भगति करै] (और) रानियाँ श्रीरुक्मिणीजी को अन्तःपुर में रख कर प्रेमपूर्वक सत्कार कर रही हैं ॥१४८॥

दैवग्य तेड़ि वसुदेव देवकी
पहिलौ ई पूछै प्रसन ।
दियौ लगन जोतिख ग्रँथ देखे
कइ परणै रुपमणी क्रिसन ॥१४९॥

[दैवग्य तेड़ि वसुदेव देवकी पहिलौ ई प्रसन पूछै] ज्योतिषियों को बुलाकर वसुदेव देवकी पहला यही प्रश्न पूछते हैं, [जोतिख ग्रँथ देखे लगन दियौ कइ क्रिसन रुपमणी परणै] (कि) ज्योतिष के ग्रंथ देखकर शुभ लग्न बतलाओ कि कब श्रीकृष्ण और रुक्मिणी का विवाह हो ॥१४९॥

वेदोगत धरम विचारि वेदविद
कम्पित चित लागा कहण।
हेकणि सुत्री सरिस किम होवै
पुनह पुनह पाणिग्रहण ॥१५०॥

[वेदविद वेदोगत धरम विचारि कम्पित चित कहण लागा] वेदज्ञ (पंडित) वेदोक्त धर्म का विचार करके [कम्पित चित्त कहण लागा] काँपते हुए (सशंक) चित्त से कहने लगे [हेकणि सुत्री सरिस पुनह पुनह पाणिग्रहण किम होवै] (कि) एक ही स्त्री के साथ बार बार पाणिग्रहण कैसे हो सकता है ? ॥१५०॥

निरखे ततकाळ त्रिकाळ निदरसी
करि निरणै लागा कहण।
सगळे दोख विवरजित साहौ
हूँतौ जई हूग्रो हरण ॥१५१॥

[त्रिकाळ निदरसी ततकाळ निरखे] त्रिकालज्ञ ब्राह्मण उस काल (हरण-काल के शुभाशुभ) को देखकर [निरणै करि कहण लागा] निर्णय करके कहने लगे [जई हरण हुग्रो सगळे दोख विवरजित साहौ हूँतौ] (कि) जिस समय हरण हुआ था (उस समय) सर्वदोषरहित श्रेष्ठ मुहूर्त्त था ॥१५१॥

वसुदेव देवकी सूँ ब्राह्मणे
कही परसपर एम कहि।
हुए हरण हथलेवौ हूग्रो
सेस संसकार हुवइ सहि ॥१५२॥

[ब्राह्मणे परसपर कहि] ब्राह्मणों ने आपस में सलाह करके [वसुदेव देवकी सूँ एम कहि] वसुदेव और देवकी से इस प्रकार

[सिसुपाल जरासिँधु जीपे] शिशुपाल और जरासिंध को जीत-कर [जीपे गृहि आयौ] विजय प्राप्त करके घर आया है, [आरती उतारि] (इससे) आरती उतारकर [पै वारि] जल वार कर [वसुदेव देवकी मुख देखे वार वार वारै] वसुदेव देवकी (अपने प्यारे पुत्र का) मुख देखकर बार बार बलैयाँ लेते हैं ॥१४७॥

विधि सहित वधावे वाजित्र वाजै
भिन भिन अभिन वाणि मुख भाखि ।
करै भगति राजान क्रिसन चो
राजरमणि रुपमिणि गृह राखि ॥१४८॥

[विधि सहित वधावे] विधिपूर्वक स्वागत होरहे हैं । [वाजित्र वाजे] बाजे बज रहे हैं; [भिन्न भिन्न मुख अभिन वाणि भाखि] भिन्न भिन्न मुखों से एक ही (—भगवान के यश की—) बात कही जा रही है; [राजान क्रिसन ची भगति करै] राजा लोग श्रीकृष्णजी का प्रेमपूर्वक सत्कार कर रहे हैं [राजरमणि रुपमिणि गृह राखि भगति करै] (और) रानियाँ श्रीरुक्मिणीजी को अन्तःपुर में रख कर प्रेमपूर्वक सत्कार कर रही हैं ॥१४८॥

दैवग्य तेड़ि वसुदेव देवकी
पहिलौ ई पूछै प्रसन ।
दियौ लगन जोतिख ग्रँथ देखे
कइ परणै रुपमणी क्रिसन ॥१४९॥

[दैवग्य तेड़ि वसुदेव देवकी पहिलौ ई प्रसन पूछै] ज्योतिषियों को बुलाकर वसुदेव देवकी पहला यही प्रश्न पूछते हैं, [जोतिख ग्रँथ देखे लगन दियौ कइ क्रिसन रुपमणी परणै] (कि) ज्योतिष के ग्रंथ देखकर शुभ लग्न बतलाओ कि कब श्रीकृष्ण और रुक्मिणी का विवाह हो ॥१४९॥

आरोपित आँखि सहू हरि आननि
गरभ उदधि ससि मछे ग्रहीत।
चाहै मुख अंगणि ओटे चढि
गावै मुखि मंगल करि गीत ॥१५५॥

[सहू आँखि हरि आननि आरोपित] सब आँखें श्रीहरि के मुख पर लगी हुई हैं, [उदधि गरभ ससि मछे ग्रहीत] (मानो) समुद्र के गर्भ में (प्रतिबिम्बित) चन्द्र मछलियों से घिरा हुआ है। [अंगणि ओटे चढ़ि मुख चाहै मुखि मंगल करि गीत गावै] स्त्रियाँ ऊँचे ऊँचे स्थानों पर चढ़ चढ़ कर (भगवान के) मुख को बड़ी चाह से निरख रही हैं और मुख से मांगलिक गीत गा रही हैं ॥१५५॥

आगलै प्रिया प्री चौथै आरँभि
फेरा त्रिण्हि इण भाँति फिरि।
कर सांगुष्ट ग्रहण कर सूँ करि
करी कमल चम्पियौ किरि ॥१५६॥

[आरँभि त्रिण्हि फेरा इण भाँति फिरि] आरम्भ में तीन भाँवरें (वर के आगे वधू) इस प्रकार फिर कर [चौथे प्री प्रिया आगलै] चौथे फेरे में प्रिय (भगवान) प्रिया (रुक्मिणी) के आगे हो गये। [सांगुष्ट कर सूँ कर ग्रहण करि] सांगुष्ठ हाथ से हाथ पकड़ रखा है [किरि] मानो [करी कमल चम्पियौ] हाथी ने (अपनी सूँड़ में) कमल को पकड़ रखा है ॥१५६॥

पधरावि त्रिया वामै प्रभणावे
वाच परसपर यथा विधि।

कहा—[हुए हरण हथलेवौ हूओ] कि हरण होने से ही पाणि-ग्रहण हो चुका [सेस संसकार सहि हुवइ] शेष विवाह-संस्कार अवश्य होंगे ॥१५२॥

विप्र मूरति वेद रतनमै वेदी
वंस आद्र अरजुनमै वेह।
अरणी अगनि अगरमै इन्धण
आहुति घ्रत घणसार अछेह ॥१५३॥

[विप्र वेद मूरति] ब्राह्मण वेदमूर्त्ति हैं; [वेदी रतनमै] विवाह-वेदी रत्नजटित है [वंस आद्र वेह अरजुनमै] (विवाह-मंडप के) बाँस हरे हैं और मंगलकलश (वेह) सोने-चाँदी के हैं; [अरणी अगनि अगरमै इन्धण] (काष्ठ की रगड़ से उत्पन्न, पवित्र) अरण्याग्नि में अगरमय इन्धन है [घ्रत घणसार आहुति अछेह] और घृत और कपूर की आहुति निरन्तर दी जा रही है ॥१५३॥

पच्छिम दिसि पूठ पूरव मुख परठित
परठित ऊपरि आतपत्र।
मधुपर्कादि संसकार मंडित
त्री वर वे वैसाणि तत्र ॥१५४॥

[मधुपर्कादि सँसकार मंडित] मधुपर्कादि संस्कारों से मंडित, [ऊपरी आतपत्र परठित] और ऊपर छत्र से सुशोभित [तत्र] वहाँ (उस मंडप में) [पूरब मुख पच्छिम दिसि पूठ परठित] पूर्व की ओर मुख और पश्चिम की ओर पीठ कराकर [वर त्री बे वैसाणि] वर और वधू दोनों बिठाये गये ॥१५४॥

आरोपित आँखि सहू हरि आननि
गरभ उदधि ससि मछे ग्रहीत।
चाहै मुख अंगणि ओटे चढि
गावै मुखि मंगल करि गीत ॥१५५॥

[सहू आँखि हरि आननि आरोपित] सब आँखें श्रीहरि के मुख पर लगी हुई हैं, [उदधि गरभ ससि मछे ग्रहीत] (मानो) समुद्र के गर्भ में (प्रतिविम्बित) चन्द्र मछलियों से घिरा हुआ है। [अगणि ओटे चढ़ि मुख चाहै मुखि मंगल करि गीत गावै] स्त्रियाँ ऊँचे ऊँचे स्थानों पर चढ़ चढ कर (भगवान् के) मुख को बड़ी चाह से निरख रही हैं और मुख से मांगलिक गीत गा रही हैं ॥१५५॥

आगलै प्रिया प्री चौथै आरंभि
फेरा त्रिण्हि इण भाँति फिरि।
कर सांगुष्ट ग्रहण कर सूँ करि
करी कमल चम्पियौ किरि ॥१५६॥

[आरँभि त्रिण्हि फेरा इण भाँति फिरि] आरम्भ में तीन भाँवर (वर के आगे वधू) इस प्रकार फिर कर [चौथे प्री प्रिया आगलै] चौथे फेरे में प्रिय (भगवान) प्रिया (रुक्मिणी) के आगे हो गये। [सांगुष्ट कर सूँ कर ग्रहण करि] सांगुष्ठ हाथ से हाथ पकड़ रखा है [किरि] मानो [करी कमल चम्पियौ] हाथी ने (अपनी सूँड में) कमल को पकड़ रखा है ॥१५६॥

पधरावि त्रिया वामै प्रभणावे
वाच परसपर यथा विधि।

लाधी वेला माँगी लाधी
निगम पाठके नवे निधि ॥१५७॥

[त्रिया वामै पधरावि] त्रिया को (वधू को) बाँई ओर बिठाकर [यथा विधि परसपर वाच प्रभणावे] (ब्राह्मण) यथाविधि (वरवधू में) परस्पर (सप्तपदी के) वचन कहलाते हैं। [लाधी वेला] (बड़े भाग्य से) उपलब्ध (इस) वेला में [निगम पाठ के नवे निधि माँगी लाधी] वेदपाठी ब्राह्मणों ने नवनिधि मुँह माँगी पाई ॥१५७॥

दूलह हुइ आगै पाछै दुलहणि
दीन्हा क्रम सूणहर दिसि।
छंडि चौरी हथलेवै छूटै
मन बन्धे अञ्चला मिसि॥१५८॥

[हथलेवै छूटै] पाणिग्रहण छूटने पर [अञ्चला मिसि मन बन्धे] ग्रंथि-बन्धन के मिस मन बँधे हुए [चौरी छँडि] विवाह मंडप को छोड़कर [आगै दूलह दुलहणि पाछै हुइ] आगे आगे वर (और) पीछे पीछे वधू होकर [सूणहर दिसि क्रम दीन्हा] शयनागार की ओर धीरे धीरे चले ॥१५८॥

आगै जाइ आलि केलि गृह अन्तरि
करि अंगण मारजण करेण।
सेज विथाज खीर सागर सजि
फूल विथाज सजे तसु फेण ॥१५९॥

[केलि गृह अन्तरि] केलिगृह में [आलि आगै जाइ] सखियों ने आगे (ही से) जाकर [करेण अंगण मारजण करि] अपने हाथों से (उसके) आँगन को साफ़ करके [सेज विथाज

खीर सागर सजि] शय्या के मिस चीरसागर (उसके सदृश स्वच्छ और उज्ज्वल) सजाकर (बिछाकर) [फूल वियाज तसु फेन सजे] फूलों के मिस से उस पर फेन सजाये ॥१५६॥

आभा चित्र रचित तेणि रँगि अनि अनि
मणि दीपक करि सूध मणि ।
माँडि रहे चन्द्रवा तणै मिसि
फण सहसेई सहस फणि ॥१६०॥

[वेणि सूध मणि] उस प्रासाद श्रेष्ठ के [अनि अनि रँगि रचित चित्र] अनेक प्रकार के रंगों से (भीत पर) बनाये हुए चित्रों की [मणि दीपक करि आभा] मणिमय दीपकों से (ऐसी) शोभा है, [माँडि रहे चन्द्रवा तणै मिसि सहसेई फण सहस फणि] (मानो) चित्रित किये हुए चन्दवों के मिस सहस्र फणों सहित शेषनाग हो ॥१६०॥

मँदिरन्तरि किया खिणन्तरि मिलिवा
विचित्रे सखिए समावृत ।
कीधै तिणि वीवाह संसक्रित
करण सु तणु रति संसकृत ॥१६१॥

[तिणि वीवाह संसकृत कीधै] उनके विवाह-संस्कार कर चुकने पर [खिणन्तरि रति सु तणु संसक्रित करण मिलिवा] थोड़े ही समय के बाद रति सम्बन्धी संस्कार करने को मिलने के लिए [विचित्रे सखिए समावृत] चतुर सखियों ने इकट्ठी होकर [मँदिरन्तरि किया] (वरवधू को) अलग अलग महलों में किया ॥१६१॥

संकुड़ित समसमा सन्ध्या समयै
रति वञ्छिति रुपमणि रमणि ।
पथिक वधू द्रिठि पंख पंखियाँ
कमल पत्र सूरिज किरणि ॥१६२॥

[सन्ध्या समयै] सन्ध्या समय में [पथिक वधू द्रिठि] पथिक वधू को दृष्टि [पंखियाँ पंख] पक्षियों के पंख [कमल पत्र] कमल की पंखुड़ियाँ [सूरिज किरणि सम] और सूर्य की किरणों के समान [रति वञ्छिति रमणि रुपमणि संकुड़ित समा] रति को चाहती हुई रमणी श्रीरुक्मिणी संकुचित सी हो रही हैं ॥

भावार्थ—सन्ध्या समय का बड़ा ही स्वभाव-सुन्दर वर्णन-चित्र है। इस रमणीय समय में, सारे दिन के परिश्रम और विस्तार के बाद, कर्मक्षेत्र से हट कर, विश्रान्ति की चाहती हुई प्रकृति की प्रायः सभी वस्तुएँ संकोच अथवा अपेक्षाकृत शान्ति को प्राप्त होती हैं। उदाहरणतः कवि ने, पथिकवधू की प्रतीक्षोत्सुक दृष्टि, गगनगामी पक्षियों के पंख, कमल की विकसित पंखुड़ियाँ और सूर्य की किरणमाला का सन्ध्याकालीन स्वाभाविक संकोच उपमानरूप में उपस्थित किया है। जिस सन्ध्याकाल में प्राकृतिक नियमानुसार उपरोक्त सभी वस्तुएँ विश्रान्ति की इच्छा करती हुई अपने अपने कार्य में संलग्न, विस्तृत शक्तियों का संकोच करने में तत्पर था, उस काल में भला श्रीरुक्मिणीजी के रतिप्लावित हृदय में संकोच क्यों न होता? प्रियमिलनोत्सुक श्रीरुक्मिणी के हृदय में रति की प्रेरणा होते हुए भी एक अनिर्वचनीय संकोच का भाव उत्पन्न होने लगा। सन्ध्या का प्राकृतिक संकोचभाव उनकी आत्मा में प्रतिफलित होकर उसके रतिमूलक विस्तार को संकुचित करने लगा। तात्पर्य यह है

कि जिस प्रकार प्रवासी पति के लौटने की प्रतीक्षा में उत्सुकतापूर्वक सारे दिन उसकी बाट जोहने पर, पतिव्रता स्त्री की उत्सुक दृष्टि को सन्ध्या का अंधकार आकर घेर लेता है और देखते रहने पर भी उसकी दृष्टि का संकोच कर देता है; जिस प्रकार सन्ध्या होने पर, अपने घोंसलों को तरफ़ उड़ कर जाने की इच्छा रखते हुए भी, पक्षी सन्ध्या के अंधकाररूपी अवरोध के उपस्थित हो जाने पर जहाँ कहीं पक्षसंकोच करके बैठ रहने को बाध्य होते हैं; जिस प्रकार सारे दिन विकसित रही हुई कमल की पंखुड़ियाँ सन्ध्या के संकोचमय समय में सिकुड़ जाती हैं; और जिस प्रकार सारे दिन कर्त्तव्यपथारूढ़ भगवान् सूर्य अपने किरणजाल को फैलाये रहते हैं परन्तु सन्ध्या अकस्मात् आकर उसपर अंधकार का संकोचमय परदा डाल देती है, उसी प्रकार प्रिय मिलन के लिए उत्सुक होते हुए भी इस संकोचमय सन्ध्याकाल में श्रीरुक्मिणीजी का हृदय एक अपूर्व संकोच को प्राप्त हो रहा है। इस संकोचभाव के मनोवैज्ञानिक तथ्य को वे ही जान सकते हैं जो सहृदय हैं—रसज्ञ हैं ॥१६२॥

पति अति आतुर त्रिया मुख पेखण
निसा तणौ मुख दीठ निठ ।
चन्द्र किरणि कुलटा सु निसाचर
द्रवडित अभिसारिका द्रिठ ॥१६३॥

[चन्द्र किरणि कुलटा अभिसारिका सु निसाचर द्रिठ द्रवडित] (निशामुख में) चन्द्रमा की किरणें, व्यभिचारिणी, अभिसारिका और निशाचरों की दृष्टि दौड़ने लगीं (विस्तार को प्राप्त हुई) [त्रिया मुख पेखण अति आतुर पति] (और) स्त्री (रुक्मिणी) का मुख देखने के लिए अतीव आतुर (व्याकुल) पति (श्रीकृष्ण)

ने [निठ निसा तणौ मुख दीठ] बड़ी कठिनाई से (बड़ी प्रतीक्षा के बाद) रात्रि का मुख देखा ॥

भावार्थ—सन्ध्या समय के प्राकृतिक संकोच का पूर्व दोहले में वर्णन करके अब कवि निशामुख के प्राकृतिक विस्तारभाव का चित्र चित्रित करते हैं। अब सन्ध्या का तिमिरमय संकोच धीरे धीरे दूर होने लगा है। उसके स्थान पर चन्द्रकिरणों की हृदयाह्लादकारिणी ज्योत्स्ना का विस्तार हो रहा है, कुलटा स्त्रियें अपने दिन भर के संकोच को दूर कर अपने उपपतियों से मिलने को तैयार हो रही हैं, अभिसारिका नायिकाएँ अपने प्रेमियों से मिलने को संकेतस्थल की ओर चल पड़ी हैं और निशाचर—सिंह, व्याघ्र, राक्षस, उलूकादि हिंसक जन्तु—निर्बल और निर्दोष जन्तुओं का संहार कर अपना भक्ष्य पाने के हेतु जिधर तिधर चल पड़े हैं। ऐसे विकासोन्मुख समय में भगवान श्रीकृष्ण के हृदयस्थ रतिभाव में विकास होना परम स्वाभाविक है। उनकी प्रियामिलनोत्सुकता विकसित एवं विस्तृत होकर अब आतुरता अर्थात् व्याकुलता बन गई है। प्रिया के दर्शनों की लालसा से वे व्याकुल हो रहे हैं। प्रतीक्षा में क्षण क्षण घंटों की तरह व्यतीत हो रहे हैं, दिन का समय बड़ी कठिनता से कटा है। बड़ी कठिन तपस्या के पश्चात् उनको आशागर्भित निशामुख का दर्शन हुआ है। उनके हृदय में रतिभाव के विकास का इस समय कौन अनुमान लगा सकता है ? ॥१६३॥

अनि पँखि बन्धे चक्रवाक असन्धे
निसि सन्धे इमि अहो निसि।
कामिणि कामि तणी कामागनि
मन लाया दीपकां मिसि ॥१६४॥

[निसि सन्धे] रात्रि की सन्धि में [अहो निसि इमि संधे] दिवस और रात्रि का इस प्रकार संयोग हुआ [अनि पँखि बन्धे] (कि) अन्य पक्षी तो (अपने जोड़ों से) संयुक्त हुए [चक्रवाक असन्धे] परन्तु चक्रवाक का वियोग हुआ [लाया दीपकाँ मिसि] और जलाये हुए दीपकों के मिस [कामिणि कामिमन तणी कामागनि] कामिनी स्त्रियों और कामी पुरुषों के मनों में कामाग्नि (प्रकट हो रही है) ॥१६४॥

ऊभी सहु सखिए प्रसंसिता अति
क्रितारथी प्री मिलण कृत ।
अटत सेज द्वार विचि आहुटि
सुति दे हरि घरि समाश्रित ॥१६५॥

[प्री मिलण क्रितारथी] (इधर) प्रियमिलन के निमित्त [सहु सखिए अति प्रसंसिता ऊभी कृत] सब सखियों से अति प्रशंसिता (रुक्मिणी) खड़ी (जाने के लिए तैयार) की गई। [हरि सेज द्वार विचि अटत] (और उधर) श्रीकृष्ण शय्या और द्वार के बीच घूम रहे हैं [आहुटि सुति दे घरि समाश्रित] और आहट पर (सुनने के लिए) कान देकर (पुनः) केलिगृह में चले जाते हैं ॥१६५॥

हँस। गति तणी आतुर थ्या हरि सूँ
वाधाऊआ जेही वहे ।
सूँधावास अनै नेउर सद
क्रमि आगै आगमन कहे ॥१६६॥

[वाधाऊआ जेही वहे] वधाईदारों जैसे चलते हुए [सूंधावास अनै नेउर सद] सुगन्धित द्रव्यों की सुवास और पायलों के शब्द ने

[आगै क्रमि] आगे चल कर [आतुर थ्या हरि सूँ हँसा गति तणौ आगमन कहे] (पूर्व दोहले में वर्णित) आतुर हुए हरि से हंसगमनि (श्रीरुक्मिणी) के आगमन की सूचना दी ॥१६६॥

अवलंबि सखी कर पगि पगि ऊभी
रहती मद वहती रमणि ।
लाज लोह लंगरे लगाए
गय जिम आणी गयगमणि ॥१६७॥

[सखी कर अवलंबि पगि पगि ऊभी रहती] सखी का हाथ पकड़कर पग पग पर खड़ी रहती हुई [मद वहती गयगमणि रमणि] यौवन-मद को झलकाती हुई गजगामिनी सुन्दरी (रुक्मिणी) [लाज लोह लंगरे लगाए गये जिम आणी] लज्जारूपी लोह के लंगरों से बन्धे हुए (मदोन्मत्त) हाथी की भाँति लाई गई ॥१६७॥

देहली धसति हरि जेहड़ि दीठी
आणँद को ऊपनौ अपाप ।
तिण आपही क्रिरायौ आदर
ऊभा करि रोमांसूँ आप ॥१६८॥

[देहली धसति हरि जेहड़ि दीठी] देहली में प्रवेश करती हुई [श्रीरुक्मिणी) को जैसे ही श्रीहरि ने देखा [को अपाप आणँद ऊपनौ] (तैसे ही) क्या ही असीम आनन्द उत्पन्न हुआ [तिण आपही आप ऊभा करि रोमा सूँ आदर करायौ] उस (आनन्द) ने आपही आप खड़ा करके रोमों से (श्रीरुक्मिणी का) आदर करवाया ॥१६८॥

वहि मिली घड़ी जाइ घणा वाँछता
घण दीहाँ अन्तरै घरि ।

अंकमाल् आपे हरि आपणि
पधरावी त्री सेज परि ॥१६९॥

[जाइ घणा वाँछता) जिसको बड़ी इच्छा थी [घण दीहाँ अन्तरै] बहुत दिनों के बाद [घरि] घर में ही [वहि घड़ी मिली] वह घड़ी मिल गई। [हरि आपणि अंकमाल् आपे] हरि ने अपनी गोद में लेकर [त्री सेज परि पधरावी] प्रिया (श्रीरुक्मिणी) को शय्या पर विराजमान किया ॥१६६॥

अति प्रेरित रूप आँखियाँ अत्रिपत
माहव जद्यपि त्रिपत मन।
वार वार तिम करै विलोकन
धण मुख जेही रंक धन ॥१७०॥

[जद्यपि माहव त्रिपत मन] यद्यपि माधव तृप्त मन (पूर्णकाम) है [अति रूप प्रेरित आँखियाँ अत्रिपत] (तथापि श्रीरुक्मिणी के) परम मनोहर रूप से चलायमान (श्रीभगवान्) की आँखें अतृप्त हैं। [धण मुख वार वार तिम विलोकन करै] वे प्रिया के मुख को बार बार इस प्रकार देखते हैं, [जेही रंक धन] जिस प्रकार रंक धन को ॥१७०॥

आजाति जाति पट घूँघट अन्तरि
मेलण एक करण अमिली।
मन दम्पती कटाछि दूति मै
निय मन सूत्र कटाछि नली ॥१७१॥

[दूति मै कटाछि] दूतिकारूपी (श्रीरुक्मिणी के) नेत्र-कटाक्ष [सूत्र निय मन नली कटाछि] (अथवा) सूत्र बुनने की नलिकारूपी

(रुक्मिणी के) नेत्र-कटाच [दम्पति अमिली मन मेलण एक करण] दम्पति के (अभी तक) न मिले हुए मन को मिला कर एक करने के लिए [घूँघट पट अन्तरि आजाति जाति] घूँघटरूपी वस्त्र के अन्दर आते हैं और जाते हैं ॥१७१॥

वर नारि नेत्र निज वदन विलासा
जाणियौ अँतहकरण जई ।
हसि हसि भ्रूहे हेक हेक हुइ
गृह बाहरि सहचरी गई ॥१७२॥

[वर नारि नेत्र निज वदन विलासा] वर (श्रीकृष्ण) और वधू (श्रीरुक्मिणी) के नेत्रों (और) उनकी मुख की चेष्टाओं से [जई अँतहकरण जाणियौ] जब (उनके) आन्तरिक भावों को जान लिया [भ्रूहे हसि हसि] तब भौंहों से हँसती हुई [हेक हेक हुइ सहचरी गृह बाहरि गई] एक एक होकर सखियाँ महल के बाहर चली गई ॥१७२॥

एकन्त उचित क्रीड़ा चौ आरँभ
दीठौ सु न किहि देव दुजि ।
अदिठ अश्रुत किम कहणौ आवै
सुख ते जाणणहार सुजि ॥१७३॥

[एकन्त उचित क्रीड़ा चौ आरँभ] (तब) एकान्त में होने योग्य क्रीड़ा का आरंभ हुआ [सु किहि देव दुजि न दीठौ] (जिसे) किसी देवता अथवा ऋषि मुनि ने भी नहीं देखा । [अदिठ अश्रुत किम कहणौ आवै] अनदेखी अनसुनी (बात) किस प्रकार कही जाय ? [सुजि सुख जाणणहार ते] उस सुख को जाननेवाले वे (श्रीकृष्ण रुक्मिणी) ही हैं ॥१७३॥

पति पवन प्रारथित त्री तत्र निपतित
सुरत अन्त केहवी श्री ।
गजेन्द्र क्रीडता सु विगलित गति
नीरासइ परि कमलिनी ॥१७४॥

[पति पवन प्रारथित] पति (श्रीकृष्ण) द्वारा पवन डुलाने के लिए प्रार्थना की जाती हुई [सुरत अन्त तत्र निपतित त्री केहवी श्री] रति के अन्त में वहाँ (शय्या पर) पड़ी हुई श्रीरुक्मिणीजी को कैसी शोभा है [सु क्रीडता गजेन्द्र] मानो क्रीड़ा करते हुए गजेन्द्र द्वारा [विगलित गति कमलिनी नीरासइ परि] (तोड़ कर) म्लान दशा को प्राप्त कमलिनी सरोवर में पड़ी हो ॥१७४॥

कीधै मधि माणिक हीरा कुन्दण
मिलिया कारीगर मयण ।
स्यामा तणै लिलाट सोहिया
कुंकुम बिन्दु प्रसेद कण ॥१७५॥

[स्यामा तणै लिलाट] श्रीरुक्मिणी के ललाट पर [प्रसेद कण कुंकुम बिन्दु सोहिया] पसीने के कणों में कुंकुम का बिन्दु शोभित है। [कारीगर मयण कुन्दण मधि हीरा कीधै माणिक मिलिया] (मानो) कामदेवरूपी कारीगर (जड़िये) ने सुवर्ण में हीरे जड़ कर बीच में माणिक मिला दिया है ॥१७५॥

श्री वदन पीतता चित व्याकुलता
हियै ध्रगध्रगी खेद हुइ ।
धरि चख लाज पगे नेउर धुनि
करे निवारण कंठ कुह ॥१७६॥

[स्री वदन पीतता, चित व्याकुलता, हियै ध्रगध्रगी खेद हुइ] श्रीरुक्मिणीजी के मुख पर पीलापन, चित्त में व्याकुलता, हृदय में धकधकी और खेद (सुरतान्त संताप) हो रहा था। [चख लाज धरि पगे नेउर धुनि कंठ कुह निवारण करे] (उन्होंने) नेत्रों में लज्जा धारण करके पैरों में नेवर की झंकार (और) कंठ में (मधुर) कोकिल स्वर को बन्द कर दिया ॥१७६॥

तिणि तालि सखी गलि स्यामा तेही
मिली भमर भारा जु महि।
वलि ऊभी थई घणा घाति वल
लता केलि अवलंब लहि ॥१७७॥

[भमर भारा महि मिली] भ्रमरों के बोझ से पृथ्वी से मिली हुई [जु लता केलि अवलंब लहि] जो लता कदली का सहारा पाकर [घणा वल घाति वलि ऊभी थइ] (उसपर) बहुत से वल डाल कर (अर्थात् लिपट कर) फिर खड़ी हो जाती है, [तेही तिणि तालि] उसी प्रकार उस समय [स्यामा सखी गलि (अवलंब लहि ऊभी थई)] श्रीरुक्मिणी सखी के गले का सहारा लेकर (शय्या पर से) उठ खड़ी हुई ॥१७७॥

पुनरपि पधरावी कन्है प्राणपति
सहित लाज भय प्रीति सा।
मुगत केस त्रूटी मुगतावलि
कस छूटी छुद्र घंटिका ॥१७८॥

[केस मुगत, मुगतावलि त्रूटी, कस छूटी छुद्र घंटिका छूटी] (जिनका) केशपाश खुल गया है, मोतियों की माला टूट गई है, (कंचुकी की) कस खुल गई है, (और) कटिमेखला भी खुल गई

है [सा] (ऐसी) वे (श्रीरुक्मिणी) [लाज भय प्रीति सहित प्राणपति कन्है पुनरपि पधरावी] लज्जा, भय और प्रीति सहित प्राणपति (श्रीकृष्ण) के पास फिर से पहुँचाई गईं ॥१७८॥

सुख लाधै केलि स्याम स्यामा संगि
सखिए मनरखिए सँघट।
चौकि चौकि ऊपरि चित्रसाली
हुइ रहियौ कहकहाहट ॥१७९॥

[स्याम स्यामा सँगि केलि सुख लाधै] श्रीश्याम के श्यामा के साथ केलि-सुख लाभ करने पर [मनरखिए सखिए सँघट] उनके मन रखनेवाली सखियों के समूह में [चौकि चौकि ऊपरि चित्रसाली कहकहाहट हुइ रहियौ] चौक चौक पर बनी हुई चित्रशालाओं (रंगमहलों) में खिलखिलाहट हो रही है ॥१७९॥

राता तत चिन्तारत चिन्तारत
गिरि कन्दरि घरि बिन्हे गए।
निद्रावस जग एहु महानिसि
जामिए कामिए जागरए ॥१८०॥

[एहु महानिसि जग निद्रावस] इस निशीथकाल में (अखिल) जगत् निद्रा के वशीभूत हो रहा है। [तत चिन्ताराता जामिए गिरि कन्दरि, रत चिन्तारत कामिए घरि] (परन्तु) परमतत्व के चिन्तन में संलग्न योगी-जन पर्वतों की गुफाओं में (और) रतिचिन्ता में लीन कामीजन घरों में—[बिन्हे गए]—दोनों (प्रकार के) पुरुष—[जागरए] जाग रहे हैं ॥१८०॥

लिखमीवर हरख निगरभर लागी
आयु रयणि त्रूटन्ति इम
क्रीड़ाप्रिय पोकार किरीटा
जीवितप्रिय घड़ियाल जिम ॥१८१॥

[क्रीड़ाप्रिय हरख निगरभर लिखमीवर] रति क्रीड़ा-प्रिय, आनन्द के समूह में निमग्न लक्ष्मीपति (श्रीकृष्ण) को [त्रूटन्ति रयणि] रात्रि के अवसान में [किरीटी पोकार इम लागी] कुक्कुट की पुकार इस प्रकार लगी [जिम जीवितप्रिय त्रूटन्ति आयु घड़ियाल] जिस प्रकार जीवितप्रिय पुरुष को व्यतीत होती हुई ज़िन्दगी (के समय) में घटिका (का शब्द लगता है) ॥१८१॥

(प्रभात वर्णन)

गत प्रभा थियौ ससि रयणि गलन्ती
वर मन्दा सइ वदन वरि ।
दीपक परजलतौ इ न दीपै
नासफरिम सू रतनि नरि ॥१८२॥

[रयणि गलन्ती] रात्रि के व्यतीत होने पर [ससि गत प्रभा थियौ] चन्द्रमा कान्तिहीन हो गया [वर मन्दा सइ वरि वदन] (जैसे) पति के अस्वस्थ होने से पतिव्रता का सुन्दर मुख। [दीपक परजलतौ इ न दीपै] दीपक जलता हुआ भी प्रकाश नहीं करता, [नासफरिम सू नरि रतनि] जैसे आज्ञा भंग हो जाने से (हुकूमत) न रहने से नरश्रेष्ठ (राजा) ॥१८२॥

मेली तदि साथ सुरमण कोक मनि
रमण कोक मनि साध रही ।

फूले छंडी वास प्रफूले
ग्रहणे सीतलता इ ग्रही ॥१८३॥

[तदि कोक मनि सुरमण साध मेली] उस समय चक्रवाक के मन की रमण करने की वाञ्छा पूर्ण हुई [कोक रमण मनि साध्र रही] (परन्तु) कोकशास्त्रानुसार रमण करनेवालों (नायक-नायिकाओं) के मन की इच्छा निवृत्त हुई [प्रफूले फूले वास छंडी] प्रफुल्लित फूलों ने अपनी सुगंध छोड़ी, [ग्रहणे सीतलता इ ग्रही] (और) आभूषणों ने शीतलता ग्रहण की ॥१८३॥

धुनि उठी अनाहत संख भेरि धुनि
अरुणोदय थियौ जोग अभ्यास ।
माया पटल निसामै मंजे
प्राणायामे ज्योति प्रकास ॥१८४॥

[संख भेरि धुनि अनाहत धुनि उठी] शंख और भेरी का शब्दरूपी अनाहत् नाद उठा । [अरुणोदय जोग अभ्यास थियौ] सूर्योदयरूपी योगाभ्यास हुआ । [निसामै माया पटल मंजे] रात्रिरूपी माया का परदा हट गया । [प्राणायामे ज्योति प्रकास] (और सूर्य का प्रकाशरूपी) प्राणायाम में परम ज्योति का प्रकाश हुआ ॥

भावार्थ—अब सूर्योदय हो गया । यही योगाभ्यास का परम-पवित्र समय हुआ । इस विशुद्ध काल में मंदिरों, देवस्थानों आदि में शंख, भेरी, झालर, झांझ और नगाड़े आदि के बजने का परम मनोहर शब्द होता है । वही मानो संयतात्मा योगाभ्यास-निरत योगी को अपनी

अन्तरात्मा में अनाहत नाद सुनाई देता है। अब रात्रि का अंधकार दूर होकर भगवान् भास्कर की परम-पावन ज्योति का प्रकाश हो गया है। यही मानो यम-नियमासन ध्यान-धारणा समाधि योगसाधनों द्वारा अज्ञान एवं माया का मोहान्धकारमय परदा हट कर योगी की परिष्कृत अन्तरात्मा में विशुद्ध ब्रह्म-ज्ञान का पवित्र प्रकाश प्रकट हुआ है। इस प्रकाश का दर्शन योगीजन प्राणायाम के अन्त में अन्तरात्मा में प्रकट हुई परमज्योति के प्रकाश के रूप में अनुभव करते हैं ॥१८४॥

संयोगिणि चीर रई कैरव श्री
घर हट ताळ भमर गोघोख।
दिणयर ऊगि एतला दीधा।
मोखियाँ बंध बंधियाँ मोख ॥१८५॥

[दिणयर ऊगि] सूर्य ने उदय होकर [संयोगिणि चीर रई कैरव श्री एतला मोखियाँ बंध दीधा] संयोगिनी स्त्रियों के वस्त्र, मंथन-दंड, कुमुदिनी की शोभा—इतनी मुक्त (खुली हुई) वस्तुओं को बंधन दे दिया। [घर हट ताळ भमर गोघोख एतला बंधियाँ मोख (दीधा)] (और) घर, हाट, ताले, भ्रमर और गोशालाएँ—इतनी बंद वस्तुओं को मुक्त किया (खोल दिया) ॥१८५॥

भावार्थ—प्रातःकालीन सूर्य के प्रकाश में कवि ने बंधन और मोक्ष देने की शक्ति का अनुमान किया है।

संयोगिनी स्त्रियाँ रात्रि में प्रेमपूर्वक अपने पतियों से रति-क्रीड़ा करती हैं। इस क्रीड़ा में उनके वस्त्रबंध शिथिल हो जाते हैं। प्रातःकाल

होने पर लज्जावश ये संयोगिनी स्त्रियाँ अपने खुले हुए वस्त्रों को पुनः बाँधती हैं। प्रात.काल होने पर गृहस्थों में गृहस्वामिनियाँ उठ कर दधिमंथन करने के लिए आवश्यक सामान जुटाती हैं। दही मथने का दंड–रई–जो रात्रि में खुला पड़ा था, इस समय पुनः बाँधा जाता है। चन्द्रवल्लभा कुमुदिनी रात्रि को विकसित अर्थात् मुक्तावस्था में थी परन्तु अब सूर्योदय होने पर सकुचाकर बंद हो गई है।

इसके विपरीत घरों के द्वार, बाज़ार की हाटें और उनपर पड़े हुए ताले, जो रात्रि में चौरादि के भय से बन्द थे अब सूर्योदय होने पर खोल दिये गये हैं। बिचारा भ्रमर मकरंद के लोभ में आकर रात को कमलकोश हो में बंद हो गया था। सूर्योदय ने आकर उस बदी को भी कारागार विमुक्त किया। गोशालाएँ तथा अन्य घरेलू पशुओं के वाड़े रात्रि को बन्द कर दिये थे। प्रात.काल होते ही वे पशु वन अथवा गोचर-भूमि में चरने को बाहर निकाले गये। इनको भी मुक्ति प्राप्त हुई॥

वाणिजाँ वधू गो वाछ असइ विट
चोर चकव विप्र तीरथ वेल।
सूर प्रगटि एतला समपिया
मिलियाँ विरह विरहियाँ मेल॥१८६॥

[सूर प्रगटि] सूर्य ने प्रकट होकर [वाणिजाँ वधू गो वाछ असइ विट एतला मिलियाँ विरह समपिया] वणिकों को (अपनी) स्त्रियों से, गौओं को बछड़ों से, और कुलटाओं को लम्पट पुरुषों से— इतने मिले हुओं को वियोग दिया। [चोर चकव विप्र तीरथ वेल विरहियाँ मेल (समपिया)] (और) चोरों (को उनकी स्त्रियों

से) चकवों (को चकवियों से) और विप्रों को तीर्थ की लहरों से—इतने बिछुड़े हुओं को मिलन (संयोग-सुख) दिया ॥

भावार्थ—पूर्व दोहले की भाँति इसमें भी सूर्योदय की वियुक्त जीवों को संयुक्त करने और संयुक्त जीवों को वियुक्त करने की शक्ति का अनुमान किया गया है।

व्यापार वृत्तिवाले वणिक् जो रात्रि को अपनी अपनी स्त्रियों के साथ आनन्दपूर्वक रहे, अब प्रातःकाल होते ही अपने अपने काम-धन्धों में लग गये, अतएव दिन भर के लिए अपनी स्त्रियों से वियुक्त होगये। गाय और बछड़े रात्रि को एक ही गो-घोष में प्रेमपूर्वक रहे परन्तु प्रातःकाल होते ही दोनों वन में चरने के लिए निकाल दिये गये। वहाँ पर चरते चरते एक दूसरे से अलग निकल गये। अतएव उनका परस्पर वियोग हो गया। कुलटा और लम्पट पुरुषों को रात्रि के अन्धकार में छिपकर संकेतस्थल पर मिलने का मौका मिला था, परन्तु अब सूर्योदय होते ही वे वियोग को प्राप्त हुए।

इनके विपरीत चोर, जो रात्रि में चोरी करने को बाहर निकलने के कारण अपनी अपनी स्त्रियों से अलग रहे, अब लौट कर घर आये और अपने अपने घरों में छिप रहे। अतएव इन वियोगियों का दिन में अपनी प्रियाओं से संयोग हुआ। साहित्य में प्रसिद्ध है कि चकवा-चकवी का रात्रि में वियोग हो जाता है। प्रातःकाल होने पर इनका पुनर्मिलन हुआ। इसी प्रकार कर्मकाण्डी धर्मनिष्ठ ब्राह्मण जो रात्रि में तीर्थस्थल को छोड़ कर अन्यत्र चले गये थे, प्रातःकाल होते ही ब्राह्ममुहूर्त्त में सन्ध्योपासनादि नित्यकर्म करने को पुनः तीर्थ पर आये। अतएव तीर्थ के पवित्र जल से उनका पुनः संयोग हुआ ॥१८६॥

ऋतु-वर्णन

(ग्रीष्म)

नदि दीह वधे सर नीर घटे निसि
गाढ़ धरा द्रव हेमगिरि
सुतरु छाँह तदि दीध जगत सिरि
सूर राह किय जगत सिरि ॥१८७॥

[तदि सूर जगति सिर राह किय] तब सूर्य ने जगत् के सिर पर से होकर मार्ग बनाया [सुतरु छाँह जगत सिरि दीध] (और) सघन वृक्षों ने (अपनी) छाया जगत् के सिर पर की। [नदि दीह वधे] नदी और दिन बढ़ने लगे; [सर नीर निसि घटे] सरोवरों का जल और रात्रि घटने लगे; [धरा गाढ हेमगिरि द्रव] पृथ्वी में कठोरता और हिमालय में द्रव-भाव आगया ॥१८७॥

आकुल थ्या लोक केहवो अचिरज
वंछित छाया ए विहित
सरण हेम दिसि लीधौ सूरिज
सूरिज ही व्रिख आसरित ॥१८८॥

[आकुल थ्या लोक छाया वंछित] व्याकुल हुए लोग छाया चाहते हैं। [ए विहित, केहवो अचिरज] यह ठीक ही है, (इसमें) कौनसा आश्चर्य है। [सूरिज हेम दिसि सरण लाधौ] (क्योंकि इस समय) सूर्य ने भी हिमदिशा (उत्तर दिशा) की शरण ली है। [सूरिज ही व्रिख आसरित] (और) स्वयं सूर्य भी वृक्ष (वृषराशि) के आश्रित है ॥१८८॥

श्रीखंड पंक कुमकुमौ सलिल सरि
दलि मुगता आहरण दुति।

जल क्रीड़ा क्रीड़न्ति जगतपति
जेठ मासि एही जुगति ॥१८९॥

[दलि मुगता आहरण दुति जगतपति] अंगों पर मोतियों के आभूषणों की कान्तिवाले जगत्पति (कृष्ण) [कुमकुमौ सलिल श्रीखंड पंक सरि] गुलाबजलरूपी पानी और चंदनरूपी पंकवाले सरोवर में [एही जुगति जेठ मासि जलक्रीड़ा क्रीड़न्ति] इस विधि से ज्येष्ठ मास में जलक्रीड़ा करते हैं ॥१८६॥

मिलि माह तणी माहुटि सूँ मसि व्रन
तपि आसाढ तणो तपन ।
जन त्रीजन पणि अधिक जाणियौ
मध्यरात्रि प्रति मध्याह्न ॥१९०॥

[माह तणी माहुटि सूँ मिलि] माघ मास की मेघ-घटाओं से आच्छादित [मसि व्रन मध्यरात्रि प्रति] कृष्णवर्ण (घोर अंधेरी) अर्द्धरात्रि की अपेक्षा [अधिक त्रीजन पणि] अधिक निर्जनता [तपन तपि आसाढ तणौ मध्याह्न जन जाणियौ] सूरज से तपे हुए आषाढ़ मास के मध्याह्न में, मनुष्यों को ज्ञात हुई ॥१६०॥

नैरन्ति प्रसरि निरधण गिरि नीझर
धणी भजै धण पयोधर ।
झोले वाइ किया तरु झंखर
लवली दहन कि लू लहर ॥१९१॥

[नैरन्ति प्रसरि] नैऋत्यकोण से चल कर [झोले वाइ तरु झंखर किया] झोले के वायु ने वृक्षों को झंखाड कर दिया [लू लहर लवली दहन कि] (और) लू की लपेटों ने लताओं को जला दिया। [धणी धण पयोधर भजै] (ऐसे ग्रीष्मकाल में) पति (अपनी) स्त्रियों

के कुचों का सेवन करते हैं [निरधण गिरि नीभर भजै] (परन्तु) स्त्री-हीन पुरुप पर्वतीय झरनों का सेवन करते हैं ॥१८१॥

कसतूरी गारि कपूर ईंट करि
नवै विहाणै नवी परि।
कुसुम कमल दल माल अलंक्रित
हरि क्रीड़ै तिणि धवलहरि ॥१९२॥

[कसतूरी गारि कपूर ईंट करि तिणि धवलहरि] कस्तूरी की गार और कर्पूर की ईंटों के उस (प्रसिद्ध) महल में [कमल कुसुम दल माल अलंक्रित हरि] कमल आदि पुष्पों की मालाओं से सुसज्जित श्रीहरि [नवै विहाणै नवी परि क्रीड़ै] प्रत्येक नये प्रभात में नए नए प्रकार से क्रीड़ा करते हैं ॥१८२॥

ऊपड़ी धुड़ी रवि लागी अम्बरि
खेतिए ऊजम भरिया खाद्र।
मृगशिर वाजि किया किंकर मृग
आद्रा वरसि कीध धर आर्द्र ॥१९३॥

[मृगशिर वाजि मृग किंकर किया] मृगवात (बड़े वेग से चलने-वाली गरम हवा) ने चल कर हरिणों को किंकर्त्तव्यविमूढ (व्याकुल) कर दिया; [धुडी ऊपड़ी अम्बरि रवि लागी] (और) धूलि उड़कर आकाश में सूर्य से जा लगी। [आद्रा वरसि धर आर्द्र कीध] आर्द्रा में (आर्द्रा नक्षत्र पर सूर्य के आते ही) वर्षा ने बरस कर पृथ्वी को गीली कर दिया [खाद्र भरिया] गड्ढे (जल से) भर गये [खेतिए ऊजम] (और) किसान उद्यम (कृषि) में लगे ॥१८३॥

(वर्षा)

बग रिखि राजान सु पावसि बैठा
सुर सूता थिउ मोर सर।
चातक रटै वलाहकि चंचल
हरि सिणगारै अम्बहर ॥१९४॥

[बग रिखि राजान सु पावसि बैठा] बगुले, ऋषि-मुनि तथा राजा लोग पावस ऋतु में बैठ गये हैं (एक स्थान में टिक गये हैं); [सुर सूता] देवगण सो गये हैं; [मोर सर थिउ] मोरों की ध्वनि होने लगी; [चातक रटै] पपीहे टेर लगाने लगे, [हरि चंचल वलाहकि अम्बहर सिणगारै] (श्रौर) इन्द्र चंचल बादलों से आकाश को शृंगारने लगा ॥१९४॥

काली करि काँठलि ऊजल कोरण
धारे श्रावण धरहरिया।
गलि चालिया दिसो दिसि जलग्रभ
थंभि न विरहिण नयण थिया ॥१९५॥

[काली काँठलि ऊजल कोरण करि] काले काले वर्त्तुलाकार मेघों (श्रौर उनके) प्रान्त भागस्थ श्वेत बादलों की कोरवाली घटाश्रों सहित [श्रावण धारे धरहरिया] श्रावण मूसलाधार (वृष्टि) से पृथ्वी को जलप्लावित करने लगा। [दिसो दिसि जलग्रभ गलि चालिया] दिशा दिशा में बादल पिघल चले। [थंभि न विरहिण नयण थिया] वे थमते नहीं; विरहिणी स्त्री के (अश्रुजल धार बहते) नेत्र हो रहे हैं॥

भावार्थ—वर्षाऋतु के श्रावण मास में काले काले वर्त्तुलाकार बादलों की घटाएँ सब दिशाश्रों में उठ रही हैं। उनके आगे आगे

पवन के झकोरों से बहाये जाते हुए श्वेत रंग के बादलों के लोर चल रहे हैं। इस समय सभी दिशाओं में पानी से भरे हुए बादल पिघले पड़ते हैं और वे मूसलाधार वर्षा करके पृथ्वी को जलप्लावित कर देते हैं। थोड़े ही समय में सारा स्थल जलमय प्रतीत होता है। इस प्रकार घटाओं का अविरल बरसना उसी प्रकार प्रतीत होता है जिस प्रकार किसी विरहिणी नायिका के नेत्रों से अविरल अश्रु-धार का बहना ॥१९५॥

> वरसतै दड़ड़ नड़ अनड़ वाजिया
> सघण गाजियौ गुहिर सदि।
> जल्निधि ही सामाइ नहीं जल्
> जल्बाल्ा न समाइ जल्दि ॥१९६॥

[दड़ड़ बरसतै] बड़े जोर से बरसने से [अनड़ नड़ वाजिया] पर्वतों के नाले शब्दायमान होने लगे। [सघण गुहिर सदि गाजियौ] सघन मेघ गंभीर शब्द से गर्जने लगा। [जल्निधि ही जल् न समाइ] समुद्र में भी जल नहीं समाता [जल्बाल्ा जल्दि न समाइ] और बिजली बादलों में नहीं समाती है ॥१९६॥

> निहसे वूठौ घण विणु नील्ाणी
> वसुधा थल्ि थल्ि जल् वसइ
> प्रथम समागम वसत्र पदमणी
> लीधे किरि ग्रहणा लसइ ॥१९७॥

[निहसे घण वूठौ] गर्जन सहित घन बरसा [विणु नील्ाणी वसुधा थल्ि थल्ि जल् वसइ] हरियाली रहित पृथ्वी पर स्थान स्थान पर जल भरा पड़ा है [किरि प्रथम समागम पदमणी वसत्र लीधैं]

जैसे प्रथम सम्मिलन में पद्मिणी स्त्री के वस्त्र उतार लेने पर [ग्रहणाः लसइ] (उसके) आभूषण शोभा पाते हैं ॥१९७॥

तरु लता पल्लवित तृणे अंकुरित
नीलाणी नीलम्बर न्याइ।
प्रथमी नदिमै हार पहरिया
पहिरे दादुर नूपुर पाइ ॥१९८॥

[तरु लता पल्लवित] तरु लता (अब) पल्लवित हो गये हैं, [तृणे अंकुरित] तृणों के अंकुर निकल आये, [प्रथमी नीलम्बर न्याइ नीलाणी] (जिनसे) पृथ्वी हरी साड़ी पहनी हुई (नायिका) की भाँति हरित होगई है। [नदिमै हार पहरिया] (उसने) नदीरूपी हार धारण किया है [पाइ दादुर नूपुर पहिरे] (और) पैरों में दादुररूपी नूपुर पहने हैं ॥१९८॥

काजल गिरि धार रेख काजल करि
कटि मेखला पयोधि कटि।
मामोलौ बिन्दुलौ कुँकूँमै
पृथिमी दीध निलाट पटि ॥१९९॥

[काजल गिरिधार किरि काजल रेख] (वर्षा से भीगे हुए) काले काले पर्वतों की श्रेणी ही मानो (पृथ्वीरूपिणी नायिका के नेत्रों में) काजल की रेख है; [कटि पयोधि कटि मेखला] कटि में समुद्र ही मानो कटिमेखला (करधनी) है [पृथिमी निलाट पटि कुँकूँमै मामालौ बिन्दुलौ दीध] (और) पृथ्वी ने अपने ललाट पर बीरबहूटी रूपी कुंकुम की बिन्दी लगाई है ॥१९९॥

मिळियै तट ऊपटि विथुरी पिळिया
धण धर धाराधर धणी।
केस जमण गंग कुसुम करम्बित
वेणी किरि त्रिवेणी वणी ॥२००॥

[धर धण धाराधर धणी मिळिया] (जब) पृथ्वीरूपिणी पत्नी और मेघरूपी पति मिले [ऊपटि तट मिळियै गंग जमण त्रिवेणी] (तब) उमड़ कर तटों को मिलाती हुई (जलमग्न करती हुई) गंगा और यमुना का संगम स्थान—त्रिवेणी—ही [किरि] मानो [विथुरी कुसुम करम्बित केस वेणी वणी] बिखरी हुई, फूलों से गुथी हुई (पृथ्वी-रूपिणी नायिका की) वेणी बनी (अर्थात् शोभायमान हुई) ॥

भावार्थ—जिस प्रकार रति-क्रीड़ा के समय स्त्री का केशपाश बिखर जाता है, उसी प्रकार मेघरूपी पति तथा पृथ्वीरूपिणी पत्नी का जब समागम हुआ तब नायिका का बिखरा हुआ केशपाश ऐसा दिखाई देने लगा मानो त्रिवेणी का जल अपने तटों को जलमग्न करता हुआ उमड़ कर उनसे बाहर निकल गया और इधर उधर विस्तृत होकर बहने लगा। यह दृश्य इसी प्रकार मनोहर प्रतीत होता था मानो उपरोक्त संयोगिनी पृथ्वी नायिका के बिखरे हुए केशपाश में यत्र-तत्र गुथे हुए सुन्दर शुभ्र और लाल पुष्प-गुच्छ भी बिखर गये। इस सादृश्य में नायिका का बिखरा हुआ केश-कलाप उमड़ कर बहते हुए जमुना के श्याम जल के सदृश और उसमें बीच बीच में गुथे हुए श्वेत और लाल पुष्प गंगा और सरस्वती के श्वेत और लाल जल के सदृश हुए। त्रिवेणीरूपी वेणी का अपूर्व सौन्दर्य है ॥२००॥

धर श्यामा सरिस स्यामतर जलधर
घेघूँचे गलि वाहां घाति ।
भ्रमि तिणि सन्ध्या वंदन भूला
रिखिय न लखे सकै दिन राति ॥२०१॥

[धर श्यामा सरिस जलधर स्यामतर] पृथ्वी श्रीरुक्मिणी की भाँति (और) बादल घनश्याम श्रीकृष्ण की भाँति [गलि बाहां घाति घेघूँचे] गल बाहें डालकर एक हो रहे हैं [दिन राति न लखे सकै] दिन और रात्रि का भेद नहीं जाना जा सकता [तिणि रिखिय भ्रमि सन्ध्या वंदन भूला] (जिससे) ऋषि मुनिगण भ्रम में पड़कर सन्ध्या वंदन करना भूल गये ॥२०१॥

रूठा पै लागि मनावि करे रस
लाधी देह तणौ गिणि लाभ ।
दम्पतिए आलिंगन दीधा
आलिंगन देखे धर आभ ॥२०२॥

[धर आभ आलिंगन देखे] पृथ्वी और मेघ के आलिंगन को देख कर [देह लाधी तणौ लाभ गिणि] मनुष्य शरीर पाने का यही लाभ है (ऐसा) विचार कर [रूठा पै लागि मनावि दम्पति ए आलिंगन दीधा] रूठे हुओं को पैरों पड़ पड़कर, मनाकर स्त्री पुरुष आलिंगन दिये हुए [रस करे] प्यार करते हैं ॥२०२॥

जलजाल श्रवति जल काजल ऊजल
पीला हेक राता पहल ।
आभो फरै मेघ ऊधसता
महाराज राजै महल ॥२०३॥

[काजल ऊजल जलजाल जल श्रवति] श्याम और श्वेत बादल जल बरसा रहे हैं। [श्राधां फरै मेघ ऊथसता] (और जिनके) छज्जों पर मेघ रगड़ते हुए चलते हैं (ऐसे) [हेक पीला पहल राता महल महाराज राजै] कई पीले और दूसरे लाल महलों में महाराज शोभायमान हैं ॥२०३॥

> करि ईंट नीलमणि कादो कुंदण
> थम्भ लाल पट्ट पाँचि थिर ।
> मँदिरे गौख सु पदमरागमै
> सिखरि सिखि रमै मन्दिर सिर ॥२०४॥

[लाल थिर थम्भ पाँचि पट] (जिनके) लाल मणियों के सुदृढ़ खम्भे हैं और (उनपर) पंचरत्नों के (छत के) पाट लगे हुए हैं [गौख सु पदमरागमै] (जिनके) झरोखे पद्मराग मणि निर्मित हैं [नीलमणि ईंट कादो कुन्दण करि] (ऐसे) नीलमणि की ईंटों और सुवर्ण के गारे से बनाये हुए [मन्दिर सिखर सिर सिखि रमै] महलो के शिखर शिखर पर मयूर क्रीड़ा कर रहे हैं ॥२०४॥

> धरिया तनि वसत्र कुमकुमै धोया
> सौंधा प्रखोलित महल सुख ।
> भर श्रावणि भाद्रवि भोगविजै
> रुपमिणि वर एहवी रुख ॥२०५॥

[कुमकुमै धोया वसत्र तनि धरिया] सुगन्धित गुलाबजल से धुले हुए वस्त्र अपने शरीर पर धारण किये हुए [सौंधा प्रखोलित महल] सुगंधित द्रव्यों से छिड़के हुए महलों में [वर रुपमिणि भर श्रावणि भाद्रवि एहवी रुख सुख भोगविजै] श्रीकृष्ण और श्रीरुक्मिणी

सम्पूर्ण श्रावण और भाद्रपद के महीनों में इस प्रकार से सुख भोग रहे हैं ॥२०५॥

(शरद)

वरिखा रितु गई सरद रितु वळती
वाखाणि सु वयणा वयणि ।
नीखर धर जळ रहिउ निवाणे
निधुवनि लज्जा त्री नयणि ॥२०६॥

[वयणा वयणि वाखाणि] (जिसका अनेक प्रकार के) वचनों द्वारा बखान किया गया है [सु सरद ऋतु वळती वरिखा रितु गई] ऐसी शरद ऋतु के आने पर वर्षा ऋतु चली गई। [जळ नीखर नीवाणे धर रहिउ] जल निर्मल होकर नीची (ढलाऊ) भूमि में जा रहा, [निधुवनि लज्जा त्री नयणि] (जैसे) रति समय में लज्जा स्त्री के नेत्रों में जा रहती है ॥२०६॥

पीळाणी धरा ऊखधी पाकी
सरदि कालि एहवी सिरी ।
कोकिल निसुर प्रसेद ओसकण
सुरति अंति मुख जिम सुत्री ॥२०७॥

[ऊखधी पाकी धरा पीळाणी] वनस्पतियों के पक जाने से पृथ्वी पीली होगई [ओसकण प्रसेद] ओसकण ही (उसका) प्रस्वेद है [कोकिल निसुर] (उसका) कोकिलरूपी कंठ नीरव होगया है। [सरदि कालि एहवी सिरी] शरत्काल की ऐसी शोभा है [जिम सुरति अंति निसुर प्रसेद सुत्री मुख] जैसे रति के अन्त में स्वररहित, प्रस्वेदयुक्त सुन्दरी स्त्री के (पीतवर्ण) मुख की ॥२०७॥

वितए आसोज मिले नभि वादल
पृथी पंक जलि गुडलपण ।
जिम सतगरु कलि कलुख तणा जण
दीपति ग्यान प्रगटे दहण ॥२०८॥

[वितए आसोज] आश्विन के व्यतीत होते ही [नभि वादल पृथी पंक जल गुडलपण मिले] आकाश में वादल, पृथ्वी में कीचड़ और जल में गँदलापन विलीन हो गये [जिमि] जैसे [सतगरु ग्यान दहण दीपति प्रगटे] श्रेष्ठ गुरु को ज्ञानाग्नि का प्रकाश प्रकट होते ही [जण तणां कलि कलुख] मनुष्य के कलिकाल के पाप (विलीन हो जाते हैं) ॥२०८॥

गो खीर श्रवति रस धरा उदगिरति
सर पाइणिए थई सुश्री ।
वली सरद श्रगलोग वासिए
पितरे ही मृत लोक प्री ॥२०९॥

[सरद वली] शरद ऋतु आई। [गो खीर श्रवति] गायें दूध झरने लगीं; [धरा रस उदगिरति] पृथ्वी रस उगलने लगी। [सर पोइणिए सुश्री थई] (और) सरोवरों में कमलों की सुन्दर शोभा बनी। [श्रगलोग वासिए पितरे ही मृत लोक प्री] स्वर्गलोक में निवास करनेवाले पितरों को भी मर्त्यलोक प्यारा लगने लगा ॥२०९॥

बोलन्ति मुहुरमुह विरह गमै वे
तिसी सुकल निसि सरद तणी ।
हंसणी ते न पासै देखै हंस
हंस न देखै हंसणी ॥२१०॥

[सरद तणी निसि तिसी सुकल] शरद की रात्रि ऐसी शुक्लवर्ण है [विरह वे गमै] (कि एक ही स्थान पर होते हुए भी) दोनों विरह-दुख में अपने आपे को भूले हुए हैं, [हँसणी ते पासै हँस न देखै हंस हंसणी न देखै] हंसिनी अपने निकटस्थित हंस को और हंस हंसिनी को नहीं देख सकते। [मुहरमुह बोलन्ति] (अतएव विरह से व्यथित होकर) बारम्बार बोल रहे हैं ॥२१०॥

ऊजल़ अदरसणि निसि उजुयाल़ी
घणूँ किसूँ वाखाण घणै।
सोल़ह कल़ा समाइ गयौ ससि
ऊजासहि आप आपणै ॥२११॥

[निसि घणूँ उजुयाल़ी ऊजल़ अदरसणि] रात्रि की घनी चाँदनी में उज्ज्वल वस्तुएँ अदृश्य हो रही हैं। [घणै किसूँ वाखाण] अधिक क्या वर्णन किया जाय ! [सोल़ह कल़ा ससि आपणै ऊजासहि आप समाइ गयौ] षोड़श कलाओं से युक्त चन्द्रमा आपही अपने (स्वच्छ) प्रकाश में समा गया ॥२११॥

तुलि वैठौ तरणि तेज तम तुलिया
भूप कणय तुलता भू भाति।
दिणि दिणि तिणि लघुता प्रामै दिन
राति राति तिणि गौरव राति ॥२१२॥

[तरणि तुलि वैठौ] सूर्य तुलाराशि पर वैठा [भूप कणय तुलता भू भाति] (तुला संक्रान्ति के पर्व पर) राजागण सुवर्ण के बरावर तुलते हुए पृथ्वी पर शोभित होने लगे [तेज तम तुलिया] (इस अवसर पर) प्रकाश और अंधकार भी बराबर बराबर तुल गये।

[तिणि दिणि दिणि दिन लघुता प्रामै] इसी कारण से (अंधकार जैसे तुच्छ पदार्थ के बराबर तौले जाने के पराभवजन्य अमर्ष से) प्रतिदिन लघुता को प्राप्त होने लगा। [तिणि राति राति रति गौरव प्रामै] (और) इसी कारण से (तेज जैसे श्रेष्ठ पदार्थ के बराबर तौले जाने के गर्व से प्रफुल्लित होकर) प्रतिरात्रि गौरव (वृद्धि) को प्राप्त होने लगी ॥२१२॥

दीधा मणि मँदिरे कातिग दीपक
सुत्री समाणिया माहि सुख।
भीतर थका वाहिर इम भासैं
मनि लाजती सुहाग मुख ॥२१३॥

[कातिग मँदिरे मणि दीपक दीधा] कार्त्तिक मास में मंदिरों में मणि दीपक वाले गये। [भीतर थका वाहिर इम भासै] (वे) भीतर होते हुए भी बाहर इस प्रकार प्रकाशित हो रहे हैं [समाणियाँ माहि लाजती] (जैसे) समवयस्का सखियों में लजाती हुई [सुत्री मुख मनि सुहाग सुख] सुंदर स्त्री के मुख पर (उसके) मन में निवास करनेवाला सुहाग सुख (उद्भासित होता है) ॥२१३॥

छवि नवी नवी नव नवा महोछव
मंडियै जिणि आणंद मई।
कातिग घरि घरि द्वारि कुमारी
थिर चीत्रन्ति चित्राम थई ॥२१४॥

[नवी नवी छवि नव नवा महोछव जिणि मडियै] नई नई छवि से नये नये महोत्सवों का जिसमें आरंभ हो रहा है [कातिग घरि घरि द्वार आणन्दमई कुमारी] (ऐसे) कार्त्तिक मास में घर घर में,

द्वारों पर आनन्दमयी कुमारिकाएँ [थिर चीत्रन्ति चित्राम थई] स्थिरता से (एकाग्रचित्त से) चित्र चित्रित करती हुई (स्वयं) चित्र बन गई ॥२१४॥

सेवन्ति नवै प्रति नवा सवे सुख
जग चाँ मिसि वासी जगति।
रुपमिणि रमण तणा जु सरद रितु
भुगति रासि निसि दिन भगति॥२१५॥

[रुपमिणि रमण तणा जु नवै प्रति नवा सवे सुख] रुक्मिणीरमण (श्रीकृष्ण) के नवीन प्रकार के जो सभी नये नये सुख हैं [जग चाँ सुख मिसि] (उनको) सांसारिक सुखों के मिस से [जगति वासी सेवन्ति] द्वारिका निवासी सेवन करते हैं। [सरद रितु निसि रासि भगति] शरद-ऋतु में उनकी रात्रि तो रास क्रीडा में व्यतीत होती है [दिन भगति] (और) दिन (भगवान् की) भक्ति (करने) में ॥२१५॥

एहिज परि थई भीरि कजि आयाँ
धनञ्जय अनै सुयोधन।
मासे मगसिर भलउ जु मिलियौ
जागिया मींट जनारजन॥२१६॥

[धनञ्जय अनै सुयोधन भीरि कजि आयाँ थई] (महाभारत के आरंभ में) अर्जुन और दुर्योधन के (श्रीभगवान के पास पक्षयाचनार्थ) आने पर जैसा हुआ [एहिज परि] उसी भाँति [जनारजन मींट जागिया] (देव-प्रबोधिनी एकादशी को) भगवान विष्णु के नींद से जागने पर [जु मगसिर मिलियौ] जो मार्गशीर्ष मास (सामने) मिला [मासे भलउ] (वही) मासों में श्रेष्ठ (समझा गया) ॥२१६॥

फिरिया पछि वाउ ऊतर फरहरियौ
सहुए सूहव उर सरग।
भुयँग धनी प्रथमी पुड़ भेदे
विवरे पैठा बे वरग ॥२१७॥

[पछि वाउ फिरियौ] शरद ऋतु का पाश्चिमात्य पवन (हेमन्त के लगते ही) बदल गया [ऊतर फरहरियौ] (और) उत्तर दिशा से चलने लगा। [सहुए सूहव उर सरग] सब ही (पतियों) को (अपनी) पत्नियों के हृदयस्थल स्वर्ग हो गये। [भुयँग धनी बे वरग प्रथमी पुड़ भेदे विवरे पैठा] सर्प और धनाढ्य—ये दोनों वर्ग—पृथ्वी की सतह को भेद कर विवरों (बिलों अथवा तलघरों) में रहने लगे ॥२१७॥

हुवइ घटि नदी हेम हेमालै
विमल् श्रृंग लागा वधण।
जोवनागमि कटि कृस थायै जिम
थायै थूल् नितम्ब थण ॥२१८॥

[नदी घटि हुवइ] नदियाँ घटने लगीं; [हेमालै हेम विमल् श्रृंग वधण लागा] (और) हिमालय पर्वत पर हिम के निर्मल श्रृङ्ग बढ़ने लगे [जिम जोवनागमि] जिस प्रकार यौवन के आने पर [कटि कृस थायै नितम्ब थण थूल् थायै] (किसी नायिका की) कमर पतली हो गई हो (और) नितम्ब तथा उरोज स्थूल हो गये हो ॥२१८॥

भजन्ति सुग्रह हेमन्ति सीत भै
मिलि निसि तु न कोई वढै मगि।
कोई कोमल् वसत्रे कोइ कम्बलि्
जण भारियौ रहन्ति जगि ॥२१९॥

[हेमन्ति जगि जग सीत मै] हेमन्त ऋतु में जगत् में लोग शीत के भय से [निसि मिलि तु कोई मगि न वहै] रात्रि हुए पीछे तो कोई भी मार्गों में नहीं चलते हैं [सुगृह भजन्ति] (किन्तु) अपने अपने घरों में ही रहते हैं; [कोई कोमल वसत्रे काइ कम्बलि भारियौ रहन्ति] कोई तो कोमल कपड़ों में (और) कोई कम्बलों में लपेटा हुआ (लदा हुआ) रहता है ॥२१९॥

> दिन जेही रिणी रिणाई दरसणि
> क्रमि क्रमि लागा संकुडिणि।
> नीठि छुडै आकास पोस निसि
> प्रौढ़ा करपणि पंगुरिणि ॥२२०॥

[दिन क्रमि क्रमि संकुडिणि लागा] दिन धीरे धीरे संकोच को प्राप्त होने लगे [जेही रिणी रिणाई दरसणि] जिस प्रकार कोई ऋणी ऋणदाता को देखकर (संकोच को प्राप्त होता है) [पोस निसि आकास नीठि छुडै] पौष की रात्रि से आकाश (रूपी पति) बड़ी कठिनता से छूटता है [प्रौढ़ा करपणि पंगुरिणि] (जिस प्रकार) प्रौढ़ा नायिका द्वारा खींचा जाता हुआ (रात्रि के अवसान में नायक का) वस्त्र ॥२२०॥

> उलझाया तन मन आप आपमै
> विहत सीत रुपुमिणी वरि।
> वाणि अरथ जिम सकति सकतिवत
> पुहप गंध गुण गुणी परि ॥२२१॥

[सीत विहत वरि रुपुमिणी] शीत निवारणार्थ श्रीकृष्ण (और) श्रीरुक्मिणी ने [आप आपमै तन मन उलझाया] परस्पर में तन और

मन को (ऐसे) उलझाया [जिम वाणि अरथ सकति सकति-वँत पुहप गंध गुण गुणी परि] जिस भाँति वाणी और अर्थ, शक्ति और शक्तिमान, पुष्प और गंध तथा गुण और गुणी ॥२२१॥

मकरध्वज वाहणि चढयौ अहिमकर
उत्तर वाउ वाए अउर।
कमल् वालि विरहिणीवदन किय
अम्ब पालि संजोगि उर ॥२२२॥

[अहिमकर मकरध्वज वाहणि चढ़यौ] सूर्य कामदेव के वाहन मकर (मकर राशि) पर चढ़ा [अउर उत्तर वाउ वाए] और उत्तर दिशा के (अत्यन्त शीतल) पवन ने चलकर [कमल् वालि विरहिणी वदन किय] कमलों को जला कर वियोगिनी स्त्री के मुख जैसा कर दिया [अम्ब पालि संजोगि उर] (और) आम्र वृक्षों का पालन करके संयोगिनी स्त्री के हृदय के समान कर दिया ॥२२२॥

पारथिया कृपण वयण दिसि पवणै
विण अम्बह वालिया वण।
लागै माघि लोक प्रति लागा
जल् दाहक सीतल् जल्रण ॥२२३॥

[माघि लागै] माघ के लगते ही [लोक प्रति जल् दाहक जल्रण सीतल् लागा] लोगों को जल् दाहक और अग्नि शीतल लगने लगी [पारथिया कृपण वयण दिसि पवणै] याचना करने पर कृपण के वचन-वाली (अर्थात् "उत्तर") दिशा के पवन ने [अम्बह विण वण वालिया] आम्र वृक्षों को छोड़कर (और) वनों को जला दिया ॥२२३॥

नियं नाम सीत जालै वण नीला
जालै नलणी थकी जलि।
पातिग तिण द्वारिका न पैसै
मँजियै विणु मन तणै मलि ॥२२४॥

[निय नाम सीत] (उसका) निजका नाम तो शीत है [जालै नीला वण] (परंतु) जला देता है हरे भरे वनों को; [जलि थकी नलणी जालै] (यही नहीं,) जल में स्थित कमलिनी को भी जला देता है [तिण पातिग] जिस पाप से [मन तणै मलि मँजियै विणु] मन के मैल को माँजे (मार्जन किये) बिना [द्वारिका न पैसै] (वह) द्वारिकापुरी में प्रवेश नहीं करता ॥२२४॥

प्रतिहार प्रताप करे सो पाले
दम्पति ऊपरि दसै दिसि।
अरक अगनि मिसि धूप आरती
निय तणु वारै अहोनिसि ॥२२५॥

[अरक प्रताप प्रतिहार करे दसै दिसि सो पाले] सूर्य (अपने) प्रताप को पहरेदार बनाकर दशों दिशाओं में शीत को रोकता है; [धूप आरती अगनि मिसि निय तणु दम्पति ऊपर अहोनिसि वारै] (और) धूप तथा आरती की अग्नि के मिस (वह) अपना शरीर दम्पति के ऊपर दिन रात न्यौछावर करता है ॥२२५॥

(शिशिर)

रवि वैठौ कलसि थियौ पालट रितु
ठरे जु डहकियौ हेम ठंठ।
ऊडण पंख समारि रहे अलि
कंठ सपारि रहे कलकंठ ॥२२६॥

[रवि कलसि बैठै] सूर्य कुम्भराशि पर आया [रितु पालट थियौ] ऋतु में परिवर्त्तन होने लगा [हेम ठरे जु ठंठ] हेमन्त की शीत से जो (वृक्ष) ठंठ हो गये थे [डहकियौ] (शिशिर के आते ही) वे नवजीवित होने लगे। [अलि ऊडण पंख समारि रहे] भ्रमर उड़ने के लिये पंख सँवारने लगे [कलकंठ कंठ समारि रहे] (और) कोयलें अपने कंठ सँवारने लगीं ॥२२६॥

वीणा डफ महुयरि वंस वजाए
रोरी करि मुख पंचम राग।
तरुणी तरण विरहि जण दुतरणि
फागुण घरि घरि खेलै फाग ॥२२७॥

[वीणा डफ महुयरि वंस वजाए] वीणा, डफ, अलगूंजा, बाँसुरी बजाते हुए [करि रोरी मुख पंचम राग] हाथों में गुलाल और मुख में पंचम राग सहित [तरुणी तरुण घरि घरि फाग खेलै] युवक युवतियाँ घर घर फाग खेल रहे हैं। [फागुण विरहि जण दुतरणि] ऐसा फाल्गुन मास विरही जनों को बड़ा दुखदाई है ॥२२७॥

अजहूँ तरु पुहप न पल्लव अंकुर
थोड़ डाल गादरित थिया।
जिम सिणगार अकीधे सोहति
प्री आगमि जाणियै प्रिया ॥२२८॥

[अजहूँ तरु पुहप पल्लव न] अभी तक वृक्षों पर पुष्प और पत्ते नहीं (निकले) हैं [थोड़ अंकुर डाल गादरित थिया] (किन्तु) थोड़े थोड़े अंकुरों से डालियाँ हरी हरी होगई हैं [जिम प्रिया प्री आगमि जाणियै सिणगार अकीधे सोहति] जिस प्रकार प्रिया प्रियतम का आगमन जान कर शृङ्गार न किये हुए (भी) शोभा देती है ॥२२८॥

(वसन्त)

दस मास समापित गरभ दीध रित
मन व्याकुल मधुकर मुणणन्ति।
कठिण वेयणि कोकिल मिसि कूजति
वनसपती प्रसवती वसन्ति ॥२२९॥

[रित गरभ दीध दस मास समापित] (वसन्त) ऋतु को गर्भ में धारण किये हुए दस मास पूरे होने पर [मधुकर मुणणन्ति मन व्याकुल] भ्रमर की गुंजाररूपी मन की व्याकुलता [कोकिल कूजति मिसि कठिण वेयणि] और कोकिल की कूजरूपी कठिन (वेदनापूर्ण) वचनों सहित [वनसपती वसन्ति प्रसवती] (देवी) वनसपति (ऋतुराज) वसन्त का प्रसव कर रही है ॥२२९॥

पकवाने पाने फले सुपुहपे
सुरँगे वसत्रे दरव सव।
पूजियै कसटि भँगि वनसपती
प्रसूतिका होलिका प्रव ॥२३०॥

[वनसपती प्रसूतिका कसटि भँगि] वनस्पतिरूपी जचा की प्रसववेदना दूर हो जाने पर [पकवाने पाने फले सुपुहपे सुरँगे वसत्रे सव दरव होलिका प्रव पूजियै] पकवानों, पत्रों, फलों, सुन्दर सुन्दर पुष्पों से तथा सुन्दर रंगे हुए वस्त्रों एवं सब प्रकार के द्रव्यों से होलिकोत्सव पूजा जाता है ॥२३०॥

लागी दलि कलि मलयानिल लागै
त्रिगुण परसतै पुधा त्रिस।
रटति पूत मिसि मधुप रूँखराइ
मात श्रवति मग दूध मिसि ॥२३१॥

[पुत दलि त्रिगुण कलि मलयानिल परसतै] (वसन्तरूपी) पुत्र के (किशलयरूपी) अंगों को त्रिगुणात्मक (शीतल, मंद, सुगंध) मलयानिलरूपी त्रिगुणात्मक (सत्व, रजस्, तमसमय) कलिपवन के परसते (लगते) ही [छुधा त्रिस लागी] भूख और प्यास लगी [मधुप मिसि रटति] (जिससे वह) भ्रमर गुंजार के मिस रोता है। [रूँखराइ मात दूध मिसि मधु स्रवति] (और उसकी) वनस्पति रूपी माता दूध के मिस मधु झरती है ॥२३१॥

वनि नयरि घराघरि तरि तरि सरवरि
पुरुख नारि नासिका पथि।
वसन्त जनमियौ देण वधाई
रमै वास चढि पवन रथि ॥२३२॥

[वसन्त जनमियौ वधाई देण] वसन्त का जन्म हुआ है (यह) वधाई देने के लिए [वास पवन रथि चढ़ि] सुगंधरूपी वधाईदार पवन के रथ पर चढ़कर [वनि नयरि घराघरि तरि तरि सरवरि] वन में, नगर में, घर घर में, तरु तरु में, और सरोवर सरोवर में [पुरुख नारि नासिका पथि रमै] (और) सब नर-नारियों के नासिका के पथ में विहार कर रहा है ॥२३२॥

अति अम्ब मौर तोरण अजु अम्बुज
कली सु मंगल कलस करि।
वन्नरवाल वँधाणी वली
तरवर एका वियै तरि ॥२३३॥

[अति अम्ब मौर तोरण] घनी आम्रमंजरी ही मानो तोरण है [अजु अम्बुज कली सु मंगल करि कलस] और जो कमल की कलियाँ हैं वेही मानो मंगल-कलश हैं। [तरवर एका वियै तरि

वल्ली वन्नरवाल् बँधाणी] (और) एक वृक्ष से दूसरे वृक्ष पर (लिपटी हुई) लताएँ ही (मानो) वन्दनवार बाँधी गई हैं ॥२३३॥

फुट वानरेण कच नालिकेर फल्
मज्जा तिकरि दधि मँगलिक ।
कुंकुम अखित पराग किंजल्क
प्रमुदित अति गायन्ति पिक ॥२३४॥

[वानरेण फुट कच नालिकेर फल् तिकरि मज्जा मँगलिक दधि] बन्दरों से फोडे हुए कच्चे नारियल फलों की गिरी (गूदा) ही मांगलिक दही है; [पराग कुंकुम किंजल्क अखित] (पुष्पों की) केसर ही कुंकुम और किंजल्क ही अक्षत हैं; [पिक प्रमुदित अति गायन्ति] (और) अत्यन्त आह्लादित कोयलें गा रही हैं (वही मानो सुन्दर पिकवयनी स्त्रियाँ कलकंठ से मधुर मांगलिक गान कर रही हैं) ॥२३४॥

आयौ इलि वसंत वधावण आई
पोइणि पत्र जल् एणि परि ।
आणद वणे काचमै अङ्गणि
भामिणि मोतिए थाल भरि ॥२३५॥

[इलि वसंत आयौ] पृथ्वी पर वसन्त आया । [पोइणि पत्र जल् एणि परि] (जल में खडी हुई) नलिनी के पत्र पर जल (कण) इस भाँति सुशोभित हैं [काचमै वणे अङ्गणि] (जैसे) काच के बने हुए आँगन में [आणंद भामिणि मोतिए थाल भरि वधावण आई] आनन्दित सुन्दरियाँ मोतियों से थाल भर कर बधावे को आई हैं ॥२३५॥

काम। वरखन्ती कामदुघा किरि
पुत्रवती थी मन प्रसन ।
पुहप करणि करि केसू पहिरे
वनसपती पीला वसन ॥२३६॥

[करणि केसू पुहप करि पीला वसन पहिरे] कर्णिकार और टेसू के पुष्पों के पीले वस्त्र पहने हुए [पुत्रवती वनसपती] पुत्रवती वनस्पति (देवी) [कामदुधा किरि कामा वरखन्ती] कामधेनु की भाँति कामनाएँ बरसाती हुई [मन प्रसन थी] मन में प्रसन्न हुई ॥२३६॥

कणियर तरु करणि सेवंती कूजा
जाती सोवन गुलाल जत्र ।
किरि परिवार सकल पहिरायौ
वरणि वरणि ईए वसत्र ॥२३७॥

[जत्र कणियर तरु करणि सेवंती कूजा जाती सोवन गुलाल] (जहाँ वनों में) कनियार के पेड़ में कर्णिकार पुष्प, सेवती, कूजा, मल्लती, सोहनी और गुल्लाला इत्यादि पुष्प (पुष्पित होकर) खड़े हैं [किरि] मानो [ईए सकल परिवार वरणि वरणि वसत्र पहिरायौ] इस (वनस्पति) ने (अपने) सब परिवार को रंग रंग के वस्त्र पहिनाये हैं ॥२३७॥

विधि एणि वधावे वसँत वधाए
भालिम दिन दिन चढ़ि भरण ।
हुलरावणे फाग हुलरायौ
तरु गहवरिया थिय तरण ॥२३८॥

[एणि विधि वसँत वधावे वधाए] इस प्रकार वसंत को बधावों द्वारा बधावा दिया गया। [फाग हुलरावणे हुलरायौ] फाल्गुन मास के गाने बजाने द्वारा (बड़े लाड़ प्यार से) लोरी दिया गया [दिन दिन झालिम चढ़ि भरण] दिन दिन कान्ति और सौन्दर्य्य के चढ़ बढ़ कर पूर्णता को प्राप्त होने पर [तरु गहवरिया तरुण थिय] (पत्र पुष्पों के भार से) सगर्व सघन वृक्षों के मिस तरुण हुआ ॥२३८॥

मंत्री तहां मयण वसँत महीपति
सिला सिंघासण धर सधर।
माथै अम्ब छत्र मंड़ाणा
चलि वाइ मंजरि ढलि चमर ॥२३९॥

[तहां वसँत महीपति मयण मंत्री] वहाँ (वनों में) राजा तो ऋतुराज वसंत है और कामदेव मंत्री है। [धर सधर सिला सिंघासण] पर्वतों की शिलाएँ ही सिंहासन हैं। [माथै अम्ब छत्र मंडाणा] ऊपर आम्र-वृक्षों के छत्र तने हुए हैं [वाइ चलि मंजरि चमर ढलि] और वायु से संचालित मंजरी ही मानो चँवर डुलाये जा रहे हैं ॥२३९॥

दाड़िमी बीज विसतरिया दीसै
निउँछावरि नाँखिया नग।
चरणे लुंचित खग फल चुम्बित
मधु म्रुंचंति सीचन्ति मग ॥२४०॥

[विसतरिया दाड़िमी बीज दीसै] बिखरे हुए अनारों के दाने दिखाई दे रहे हैं (वे ही मानो) [निउँछावरि नग नाँखिया] (ऋतुराज की) न्योछावर में रत्न डाले हैं। [खग चरणे लुंचित चुम्बित फल

मधु सुंचंति] पक्षियों के पंजों से नोचे हुए (और उनकी) चोंचों विदीर्ण फल रस टपका रहे हैं, (मानो) [मग सीचन्ति] मार्गों प जल सींच रहे हैं ॥२४०॥

राजति अति एण पदाति कुंज रथ
हँस माल वन्धि लास हय।
ढालि खजूरि पूठि ढलकावै
गिरिवर सिणगारिया गय ॥२४१॥

[एण पदाति] हरिण पैदल सिपाहियों (की भाँति) [कुंज रथ वृक्षकुंज रथों (की भाँति) [हँस माल वन्धि हय लास] हंस की पंक्ति बँधे हुए घोड़ों (अथवा घुड़सवारों) की पंक्ति (की भाँति [गिरिवर खजूर ढालि पूठि ढलकावै सिणगारिया गय] (और पर्वत खजूरोंरूपी ढालें पीठ पर लटकाये हुए सजाये हुए हाथिय (की भाँति) [अति राजति] अत्यन्त शोभित हैं ॥२४१॥

तरु ताल पत्र ऊँचा तड़ि तरला
सरला पसरन्ता सरगि।
बैठै पाटि वसन्त बन्धिया
जगद्दय किरि ऊपरी जगि ॥२४२॥

[सरगि पसरन्ता ऊँचा ताल तरु सरला तड़ि] स्वर्ग तक पसरे हुए ऊँचे ताड़ के वृक्षों की सीधी पींडियों पर [तरला पत्र] चंचल पत्ते (ऐसे लगते हैं) [किरि] मानो [वसन्त पाटि बैठै] वसन्त ने राजसिंहासनासीन होकर [जगि ऊपरी जगद्दय पत्र बन्धिया] जगत् के ऊपर (अपनी) दिग्विजय के घोषणा-पत्र बाँधे है ॥२४२॥

(ऋतुराज की महफिल)

(रूपक)

आगलि रितुराय मंडियौ अवसर
मण्डप वन नीझरण मृदंग ।
पंचबाण नायक गायक पिक
वसुह रंग मेलगर विहंग ॥२४३॥

[ऋतुराय आगलि अवसर मंडियौ] ऋतुराज के सन्मुख महफिल लगी है [वन मंडप] (जिसमें) वन ही मंडप हैं; [मृदंग नीझरण] निर्झर ही मृदंग हैं [पंचबाण नायक] कामदेव ही उत्सवनायक है [पिक गायक] कोकिला गायक है [विहंग रंग वसुह मेलगर] (और) पक्षी ही उस रंगभूमि में एकत्रित (दर्शकगण) हैं ॥२४३॥

कलहंस जाणगर मोर निरतकर
पवन तालधर ताल पत्र ।
आरि तन्तिसर भमर उपंगी
तीवट उघट चकोर तत्र ॥२४४॥

[कलहंस जाणगर] (इस महफिल में) राजहंस ही कला के जाननेवाले (वाह, वाह करनेवाले) हैं। [मोर निरतकर] मोर ही नर्त्तक हैं। [पवन ताल धर] पवन ताल देनेवाला है। [पत्र ताल] पत्ते ही ताल (करताल) हैं। [आरि तन्तिसर] झिल्ली की झंकार तार के बाजों का स्वर है। [भमर उपंगी] भ्रमर नस्सतरंग बजानेवाला है। [चकोर तत्र तीवट उघट] और चकोर ही वहाँ त्रिवट ताल देनेवाला है ॥२४४॥

विधि पाठक सुक सारस रस वंछक
कोविद खंजरीट गतिकार।
प्रगलभ लाग दाट पारेवा
विदुर वेस चक्रवाक विहार ॥२४५॥

[सुक विधि पाठक] तोता विधि बतानेवाला है (अर्थात् नाचने अथवा गाने के तोड़ों वा गतों इत्यादि को यथा शास्त्र-विधि अपने मुख से पाठ करके बतानेवाला है) [सारस रस वंछक] सारस रस को चाहनेवाला (रसज्ञ) है, [कोविद खजरीट गतिकार] चतुर खंजन पक्षी गतें लेनेवाला है, [पारेवा लाग दाट प्रगलभ] कबूतर लागडाँट (नामक भावों को बताने) में चतुर है [चक्रवाक विहार विदुर वेस] (और) चकवे की क्रीड़ा ही विदूषक का अभिनय है ॥२४५॥

आंगणि जल तिरप उरप अलि पिअति
मरुत चक्र फिरि लियत मरू।
रामसरी खुमरी लागी रट
धूया माठा चन्द धरू ॥२४६॥

[अलि आंगणि जल पिअति] भ्रमर (वनस्थली के) आँगन में पड़े हुए पानी को पी रहे हैं, (अर्थात् जल पृष्ठ को छूते हुए थिरक थिरक कर उड़ रहे हैं) [तिरप उरप] (वह मानो) त्रिसम ताल पर (उड़प) नृत्य विशेष हो रहा है, [मरुत चक्र फिरि मरू लियत] वायु का चक्राकार घूमना ही मानो मूर्च्छना लेना है; [रामसरी खुमरी रट लागी] रामसरी और खुमरी नामक चिड़ियों की रटन हो रही है [धूया माठा चन्द धरू] (वही मानो) मधुर ध्रुवा और चन्द्रक ध्रुपद नामक रागिनियाँ हो रही हैं ॥२४६॥

निगरभर तरुवर सघण छाँह निसि
पुहपित अति दीपगर पलास ।
मौरित अम्ब रीझ रोमंचित
हरखि विकास कमल क्रत हास ॥२४७॥

[निगरभर तरुवर सघण छाँह निसि] भरे हुए घने घने वृक्षों की सघन छाया ही रात्रि है । [अति पुहपित पलास दीपगर] पुष्पों से लदे हुए पलाश वृक्ष ही (मानो) बहुत से दीपकोंवाली दोवट हैं [अम्ब मौरित रीझ रोमंचित] आम्र का मंजरीयुक्त होना ही (मानो ऋतुराज की महफिल का) रीझकर पुलकित होना है [कमल विकास हरखि क्रत हास] (और) कमलों का विकास ही (उस महफिल में) हर्षित होकर किया हुआ हास्य है ॥२४७॥

प्रगटै मधु कोक सँगीत प्रगटिया
सिसिर जवनिका दूरि सिरि ।
निज मंत्र पढे पात्र रितु नाँखी
पहुपंजलि वणराय परि ॥२४८॥

[मधु प्रगटै] वसन्त के प्रकट होते ही [कोक सँगीत प्रगटिया] कोक (अर्थात् रस, अलंकार, शृंगार, भावादि सहित) संगीत प्रगट हुआ । [सिसिर सिरि जवनिका दूरि] शिशिर ऋतु की शोभारूपी यवनिका को दूर करके [पात्र निज मंत्र पढे रितुराय परि वणराय पुहपंजलि नाँखी] अभिनेताओं ने अपने (आशीर्वादात्मक) मंत्र पढ़ कर ऋतुराज वसंत पर वनराजि की पुष्पांजलि डाली ॥२४८॥

भज उद्भिज सिसिर दुरीस पीड़तौ
ऊतर ऊथापिया असन्त

प्रसन वायु मिसि न्याय प्रवर्त्यौ
वनि वनि नयरे राज वसन्त ॥२४९॥

[सिसिर दुरीस] शिशिररूपी दुष्ट राजा [उदभिज प्रज पीड़तौ] वृक्षों तथा लताओंरूपी प्रजा को पीड़ा देता था [राज वसन्त] ऋतुराज वसन्त ने [असन्त ऊतर ऊथापिया] (शिशिर के अन्यायरूपी) दुष्ट उत्तर-दिशा के अत्यंत ठंढे पवन को हटाकर [वनि वनि नयरे प्रसन वायु मिसि न्याय प्रवर्त्यौ] प्रत्येक वनरूपी नगर में सुखद वायु के मिस न्याय का प्रचार किया ॥२४९॥

पुहपाँ मिसि एक एक मिसि पाताँ
खाडिया द्रब मांडिया ऊखेलि ।
दीपक चम्पक लाखे दीधा
कोड़ि धजा फहराणी केलि ॥२५०॥

[एक पुहपाँ मिसि] एक ने पुष्पों के मिस [एक पाताँ मिसि] और एक ने पत्तों के मिस [खाडिया द्रब ऊखेलि मांडिया] गड़ा हुआ धन खोद कर प्रकट किया; [चम्पक लाखे दीपक दीधा] (लखपती) चम्पक वृक्ष ने लाखों (के द्रव्य पर) पुष्पों के दीपक जलाये [केलि कोड़ि धजा फहराणी] (और करोड़पति) केलि ने अपने करोड़ों के द्रव्य पर (अपने पत्तों की) ध्वजाएँ फहराईं ॥२५०॥

मलयानिल वाजि सुराज थिया महि
भई निसङ्कित अङ्क भरि ।
वेली गलि तरवराँ विलागी
पुहप भार ग्रहणां पहरि ॥२५१॥

[मलयानिल वाजि महि सुराज थिया] मलयज पवन चलने लगी वही मानो पृथ्वी पर (ऋतुराज का) स्वराज्य (स्थापित) हुआ । [निसङ्कित भई पुहप भार ग्रहणां पहरि] (तब) निश्शंक हुई, पुष्पभार के गहने पहन कर [वेली अङ्क भरि तरुवरां गलि विलागी] लतिकाएँ अंक भर कर वृक्षों के गले लगीं ॥२५१॥

पीड़न्ति हेमन्त सिसिर रितु पहिलौ
दुख टाळ्यौ वसन्त हितदाखि ।
व्याए वेली तणी तरुवराँ
साखाँ विसतरियाँ वैसाखि ॥२५२॥

[पीड़न्ति हेमन्त सिसिर रितु पहिलौ दुख] पीड़ा देते हुए हेमन्त और शिशिर-ऋतु-जन्य पहिले के दुख को [हितदाखि वसन्त टाल्यौ] हित करके ऋतुराज वसन्त ने टाल दिया [तरुवराँ तणी साखाँ विसतरियाँ वेलि] श्रेष्ठ वृक्षों की शाखाओं पर (लिपट कर) फैली हुई लतिकाओं ने [वैसाखि व्याए] (शाखाओं से उत्पन्न) वैसाख मास को जन्म दिया ॥२५२॥

दीजै तिहाँ डंक न दंड न दीजै
ग्रहणि मवरि तरु गानगर ।
करग्राही परवरिया मधुकर
कुसुम गंध मकरन्द कर ॥२५३॥

[गानगर मधुकर करग्राही परवरिया] गुंजार करनेवाले भ्रमररूपी कर ग्रहण करनेवाले इधर उधर फिर रहे हैं [तरु मवरि कुसुम गंध मकरन्द कर ग्रहणि] (जो) वृक्षों (रूपी प्रजा) से मंजरी, पुष्पगंध तथा रसरूपी राज्यकर लेने में [डंक न दीजै]

डंक नहीं मारते [तिहाँ दंड न दीजै] (जैसे) सुराज्य में दंड नहीं दिया जाता ॥२५३॥

भरिया तरु पुहप वहै छूटा भर
काम बाण ग्रहिया करगि ।
वलि रितुराइ पसाइ वेसन्नर
जण भुरड़ीतौ रहै जगि ॥२५४॥

[रितुराइ पसाइ तरु पुहप भरिया] ऋतुराज की कृपा से वृक्ष पुष्पों से लद गये हैं, [वहै भर छूटा] (जिनके) हिलने से पुष्प-भार झड़ रहे हैं [काम बाण करगि ग्रहिया] मानो कामदेव ने कुसुम शरों को अपने कराग्र में पकड़ा है। [वलि जगि जण वेसन्नर भुरड़ीतौ रहै] फिर (ऋतुराज की कृपा से) जगत में लोग अग्नि तापने से रह गये हैं ॥२५४॥

नोट—दोहले की चतुर्थ पंक्ति में "रहै" श्लिष्ट है। अतएव इस दोहले के विधि तथा निषेधात्मक दो अर्थ हैं। दूसरे अर्थ के लिए पीछे नोट देखिए।

वरखा जिम वरखत चातक वंचित
वंचि न को तिम राज वसन्त
फुल्ल पंख कृत सेव लवध फल
वँदि कोलाहल खग बोलन्त ॥२५५॥

[जिम वरखा वरखत चातक वंचित] जिस प्रकार वर्षा के बरसने पर भी पपीहा वंचित ही रह जाता है, [तिम वसन्त राज] उस प्रकार वसन्त के राज्य में [वंचि न को] कोई भी वंचित नहीं रहता। [खग बोलन्त] पक्षी बोल रहे हैं [वँदि कोलाहल]

(मानो) बन्दीगणों का (यश गानजनित) कोलाहल हो रहा है। [पंख फुल्ल कृत सेव लबध फल] (और वे पक्षी) पाँखों को फुलाये हुए हैं (मानो बन्दिजन) सेवाओं का फल पा रहे हैं ॥२५५॥

कुसुमित कुसुमायुध ओटि केलि कृत
तिहि देखे थिउ खीण तन।
कन्त सँजोगणि किंसुख कहिया
विरहणि कहे पलास वन ॥२५६॥

[कुसुमायुध ओटि केलि कृत] पुष्पधन्वा कामदेव की कल्पना करके रति-क्रीड़ा की इच्छा करती हुई [कन्त सँजोगणि] पति से संयोगवाली स्त्री ने [तिहि कुसुमित देखे] उसको (टेसू के वृक्ष को) पुष्पित हुआ देख कर [कहिया किंसुख] कहा, "य. किंसुख (किंशुक) है" (अर्थात् कैसा सुखदायी है)। [विरहणि खीण तन थिउ] परन्तु वियोगिनी ने क्षीणतन होकर [कहे व पलास] कहा, "यह तो वन में पलास (राक्षस) है" ॥२५६॥

तसु रंग वास तसु वास रंग तणं
कर पल्लव कोमल कुसुम।
वणि वणि मालिणि केसरि वीणति
भूली नख प्रतिविम्ब भ्रम ॥२५७॥

[तसु रंग वास तसु तण वास रंग] उसके (केसर के) और सुगंध जैसा जिनके शरीर का रंग और सुवास है [को कुसुम कर पल्लव] और (केसर के) कोमल फूलों के सदृश जि कर-पल्लव हैं [मालिणि वणि वणि केसरि वीणति] ऐसी मालि

वन वन में केसर बीनती हुई [नख प्रतिबिम्ब भ्रम भूली] (अपने स्वच्छ) नखों में (केसर कुसुमों के) प्रतिबिम्ब के भ्रम से (बीनना) भूल गई ॥२५७॥

सबल् जल् सभिन्न सुगंध भेट सजि
डिगमिगि पाउ वाउ क्रोध डर ।
हालियौ मल्याचल् हूँत हिमाचल
कामदूत हर प्रसन कर ॥२५८॥

[सबल् जल् सभिन्न] जल से आर्द्र होकर सबल हुआ (कुछ कुछ स्वस्थ-चित्त हुआ) [क्रोध डर डिगमिगि पाउ] (रुद्र के) क्रोध के डर से डगमगाते हुए पैरोंवाला, [सुगंध भेट सजि] सुगंधि की भेंट सजा कर [हर प्रसन कर] महादेव को प्रसन्न करने के लिए [कामदूत मल्याचल् हूँत वाउ हिमाचल हालियौ] कामदेव का दूत, शीतल, मंद, सुगंध (मलय) वायु हिमाचल को चला ॥२५८॥

तरतौ नदि नदि ऊतरतौ तरि तरि
वेलि वेलि गलि गल् विलग्ग ।
दखिण हूँत आवतौ उतर दिसि
पवन तणा तिणि वहै न पग्ग ॥२५९॥

[नदि नदि तरतौ तरि तरि ऊतरतौ] नदी नदी को तैरते हुए और वृक्ष वृक्ष पर फाँदते हुए [वेलि वेलि गलि गल् विलग्ग] लतिकाओं के गले लगते हुए [दखिण हूँत उतर दिसि आवतौ] दक्षिण से उत्तर दिशा को आते हुए [तिणि पवन तणा पग्ग न वहै] उस पवन के पांव आगे नहीं चलते ॥२५९॥

केवड़ा कुसुम कुन्द तणा केतकी
श्रम सीकर निरझर श्रवति ।

ग्रहियै कन्धे गंध भारगुरु
गंधवाह तिणि मन्द गति ॥२६०॥

[केवड़ा कुन्द केतकी कुसुम तणा गंध गुरुभार कन्धे ग्रहियै] केवड़े, कुंद और केतकी के पुष्पों की सुगंधि का भारी बोझ (अपने) कंधे पर उठाये हुए हैं [तिणि गन्धवाह गति मंद] इसलिए गन्धवाह पवन की चाल धीमी हो रही है [श्रम सीकर निरझर श्रवति] और वह श्रमविन्दु के रूप में निर्झर शीकरों को बहाता है ॥२६०॥

लीयै तसु अंग वास रस लोभी
रेवा जलि कृत सौच रति ।
दखिणानिल आवतौ उतर दिसि
सापराध पति जिम सरति ॥२६१॥

[तसु अंग वास लीयै] उनकी (लतिकाओं की) अंग की सुवास को लिए हुए [रेवा जलि रति सौच कृत] रेवा नदी के जल में रत्यन्त शौच करके [रस लोभी दखिणानिल उतर दिसि आवतौ] रस का लोभी (रसिक) मलयानिल उत्तर दिशा की ओर आता हुआ [सापराध पति जिम सरति] सापराध (अन्यत्र रति-क्रीड़ा करके अपनी नायिका के पास आये हुए) पति की तरह (संकुचित होकर) चलता है ॥२६१॥

पुहपवती लता न परस पमूँके
देतौ अंग आलिंगन दान ।
मतवालौ पय ठाइ न मंडै
पवन वमन करतौ मधुपान ॥२६२॥

[मधुपान करतौ] (मदिरारूपी) पुष्पासव का पान करता हुआ [वमन करतौ] (और सौरभ) वमन करता हुआ [मतवालौ पवन

उन्मत्त, नायकरूपी पवन [पय ठाइ न मंडै] पाँव ठीक स्थान पर नहीं रखता। [अंग आलिंगन दान देतौ] (और अपने) अंग का आलिंगन दान देता हुआ [पुहपवती लता परस न पमूँकै] (रजस्वला नायिका-रूपी) पुष्पवती लताओं का स्पर्श करना नहीं छोड़ता है ॥२६२॥

तोय भरणि छंटि ऊघसत मलय तरि
अति पराग रज धूसर-अंग ।
मधु मद स्रवति मंद गति मल्हपति
मदोनमत्त मारुत मातङ्ग ॥२६३॥

[भरणि तोय छंटि] भरनों के पानी के छींटे उड़ाता हुआ [मलय तरि ऊघसत] चंदन वृक्षों से (अपने अंगों का) घर्षण करता हुआ [अति पराग रज धूसर अंग] बहुत सी पराग-रजरूपी धूलि से धूसरित अंगवाला [मधु मद स्रवति] पुष्परसरूपी मद भरता हुआ [मदोनमत्त मारुत मातङ्ग मंद गति मल्हपति] मदमत्त पवनरूपी हाथी मंदगति से (मस्त चाल) चल रहा है ॥२६३॥

गुण गन्ध ग्रहित गिलि गरल ऊगलित
पवण वाद ए उभय पख ।
स्रीखँड सैल सँयोग संयोगिणि
भणि विरहिणी भुयङ्ग भख ॥२६४॥

[उभय पख पवण वाद ए] दोनों पक्षों में (वासन्तिक) पवन के विषय में यह वाद विवाद है—[विरहिणी भणि] वियोगिनी कहती है, [भुयङ्ग भख] कि (यह पवन) सर्प का भक्ष्य है, [गिलि ऊगलित गरल] जो (सर्पद्वारा) निगला जाकर उगला हुआ विष है। [संयोगिणि भणि] संयोगिनी कहती है, [स्रीखँड सैल सँजोग गुण-

गन्ध ग्रहिल (पवन)] कि (यह तो) चन्दन तरुओंवाले पर्वत (मलयाचल) के संयोग से (उसके) गुण (शीतलता और) गंध को ग्रहण किया हुआ पवन है ।।२६४।।

रितु किहि दिवस सरस राति किहि सरस
किहि रस सन्ध्या सुकवि कहन्ति ।
बे पख सूधति बिहूँ मास बे
वसन्त ताइ सारिखौ वहन्ति ।।२६५।।

[सुकवि किहि रितु दिवस सरस किहि राति सरस किहि सन्ध्या रस कहन्ति] श्रेष्ठ कविजन किसी ऋतु के दिनों को सरस, किसी की रातों को सरस और किसी (ऋतु) की सन्ध्या को रसयुक्त कहते हैं। [वसन्त ताइ बे] (परन्तु) वसन्त उन दोनों को (अपने दिन रात को) [बिहूँ मास] दोनों महीनों को [बे पख] (और प्रत्येक मास के) दोनों (कृष्ण और शुक्ल) पक्षों को [सूधति सारिखै वहन्ति] विशुद्ध करता हुआ (सरस बनाता हुआ) एक समान चला जाता है ।।२६५।।

निमिख पल वसन्ति सारिखौ अहोनिसि
एकण एक न दाखै अन्त ।
कन्त गुणे वसि थाये कन्ता
कान्ता गुणि वसि थाये कन्त ।।२६६।।

[वसन्ति अहोनिसि निमिख पल सारिखै] वसन्त में रा दिन, प्रत्येक पल और निमेष एक समान (रसदायी) है। [क कान्ता गुणे वसि थायै] (ऐसे समय में) कान्त (श्रीकृष्ण) का (श्रीरुक्मिणीजी) के गुणों के वशीभूत हो रहे हैं [कान्ता कन्त गु

वसि थायै] और कान्ता कान्त के गुणों के वशीभूत हो रहो है। [एक एकण अन्त न दाखै] एक दूसरे को (अपने प्रेम का) अंत नहीं देते हैं ॥२६६॥

ग्रह पुहप तणौ तिणि पुहपित ग्रहणौ
पुहप ई ओढ़ण पाथरणि।
हरखि हिँडोलि पुहपमै हिण्डति
सहि सहचरि पुहपाँ सरणि ॥२६७॥

[तिणि] उनके (श्रीकृष्ण तथा श्रीरुक्मिणी के) [पुहपित ग्रह, पुहप तणौ ग्रहणौ, पुहप ई ओढ़ण पाथरणि] पुष्पों से सजाये हुए महल हैं, पुष्पों के (वने) गहने हैं, और पुष्पों के ही ओढ़ने और बिछाने के वस्त्र हैं। [हरखि पुहपमै हिँडोलि हिण्डति] (वे) प्रसन्न होकर पुष्पों के हिंडोले में झूलते हैं [सहि सहचरि पुहपाँ सरणि] और (उनकी) सब सखियाँ पुष्पों पर आश्रित हैं। (अर्थात् उनकी जीविका पुष्पों के आभूषण गूंथने और सजाने पर निर्भर है) ॥२६७॥

पौढाड़ै नाद वेद परवोधै
निसि दिनि वाग विहार नितु।
माणग मयण एण विधि माणै
रुपमिणि कन्त वसन्त रितु ॥२६८॥

[निसि नाद पौढाड़ै दिनि वेद परवोधै] रात्रि में अनाहत नाद (शब्द ब्रह्म, उनको) सुलाता है और प्रात.काल (स्वयं) वेद भगवान् (उनको) जगाते हैं; [वाग विहार नितु] नित्य वाणी (सरस्वती) का विलास होता है। [माणग मयण रुपिमिणि कन्त एण विधि वसन्त

रितुं माणै] कामदेव के सदश रसिक (विलासप्रिय) रुक्मिणी-कन्त इस प्रकार वसन्त ऋतु का उपभोग करते हैं ॥२६८॥

अवसरि तिणि प्रीति पसरि मन अवसरि
हाइ भाइ मोहिया हरि।
अंग अनंग गया आपाणा
जुड़िया जिणि वसिया जठरि ॥२६९॥

[तिणि अवसरि] उस समय [मन अवसरि प्रीति पसरि] (श्रीरुक्मिणी के) मन के भीतर प्रेम ने बढ़कर [हाइ भाइ हरि मोहिया] हाव भावों से श्रीहरि को मोहित कर लिया। [जठरि अनंग वसिया] (श्रीरुक्मिणीजी के) उदर में कामदेव ने आकर निवास किया [जिणि गया आपाणा अंग जुड़िया] जिससे (अनंग के) विनष्ट हुए अपने अंग (श्रीरुक्मिणी की कृपा से) पुनः मिल गये ॥२६९॥

वसुदेव पिता सुत थिया वासुदे
प्रदुमन सुत पित जगतपति।
सासू देवकी रामा सुवहू
रामा सासू वहू रति ॥२७०॥

[वसुदेव पिता वासुदे सुत थिया] वसुदेव पिता के वासुदेव (श्रीकृष्ण) पुत्र हुए [जगतपति पित] और जगत्पति (श्रीकृष्ण) पिता के [प्रदुमन सुत] प्रद्युम्न पुत्र हुए। [सासू देवकी रामा सुवहू] देवकीजी सास के लक्ष्मी (श्रीरुक्मिणी) पुत्रवधू हुईं [रामा सासू रति वहू] और श्रीरुक्मिणी सास के रति पुत्रवधू हुईं ॥२७०॥

लीलाधरण ग्रहे मानुखी लीला
जगवासग वसिया जगति।

पित प्रदुमन जगदीस पितामह
पोतौ अनिरुध ऊखापति ॥२७१॥

[लीलाधग्ग मानुखी लीला ग्रहे] अनन्त लीलावाले (लीला
के स्वामी भगवान्) ने मनुष्य लीला ग्रहण की [जगवासग जगति
सिया] जगत् को (अपने में) बसानेवाले (भगवान) जगत्
बसने लगे । [जगदीस पितामह पित प्रदुमन ऊखापति अनिरुध
पोती] (उस समय उनके पारिवारिक सुख का क्या पारावार
था कि जिसमें) जगत् के स्वामी (श्रीकृष्ण) तो दादा हुए, प्रद्युम्न
(कामावतार) पिता हुए और उषा के पति अनिरुद्ध पोते
हुए ॥२७१॥

किं कहिसु तासु जसु अहि याकौ कहि
नारायण निरगुण निरलेप ।
कहि रुपमिणि प्रदुमन अनिरुध का
सह सहचरिए नाम सँखेप ॥२७२॥

[नारायण निरगुण निरलेप] (श्रीकृष्ण) जो साक्षात्
नारायण, त्रिगुणातीत और निर्लिप्त हैं, [तासु जसु अहि कहि
थाकौ] उनका यश वर्णन करते हुए शेषनाग भी थक गया [किं
कहिसु] (तो) मैं क्या कह सकता हूँ ? [सह सहचरिए रुपमिणि
प्रदुमन अनिरुध का नाम सँखेप कहि] (किन्तु) सखियों सहित
श्रीरुक्मिणी और प्रद्युम्न और अनिरुद्ध के नाम संक्षेप में
कहता हूँ ॥२७२॥

लोकमाता सिंधुसुता श्री लिखमी
पदमा पदमालया प्रमा ।
अवर गृहे अस्थिरा इन्दिरा
रामा हरिवल्लभा रमा ॥२७३॥

श्रीरुक्मिणी के नाम इस प्रकार कहते हैं—[लोकमाता] जगज्जननी [सिंधुसुता] समुद्र की पुत्री [श्री] (सर्वोत्कृष्ट) शोभा [लिखमी] लक्ष्मी [पदमा] पद्मा-पद्मिनी-कमल के चिह्नवाली [पद्मालया] कमल में वास करनेवाली [प्रमा] प्रमितवाली—प्रमाणवाली [अवर गृहे अस्थिरा] (भगवान् विष्णु के अतिरिक्त) दूसरों के घर में स्थिरता से न ठहरनेवाली—चंचला [इन्दिरा] परम ऐश्वर्य्य देनेवाली [रामा] विष्णु भगवान में रमण करनेवाली [हरिवल्लभा] विष्णु-प्रिया [रमा] रमण-शीला ॥२७३॥

दरपक कंदरप काम कुसुमायुध
सम्वरारि रति पति तनुसार ।
समर मनोज अनंग पंचसर
मनमथ मदन मकरध्वज मार ॥२७४॥

प्रद्युम्न के नाम गिनाते हैं—[दरपक] अभिमान करनेवाला [कंदरप] कंदर्प-कुत्सित अभिमान करानेवाला [काम] कामदेव [कुसुमायुध] पुष्पों के अस्त्रशस्त्र रखनेवाला [सम्वरारि] शंबर नामक दैत्य का शत्रु [तनुसार] बलवान शरीरवाला [समर] स्मर, अभीष्ट का स्मरण करानेवाला [मनोज] मन में उत्पन्न होनेवाला [अनंग] बिना अंगवाला [पंचसर] उन्मादन, तापन, शोषण, सम्मोहन तथा स्तम्भन नामक पाँच बाण रखनेवाला अथवा अरविंद, अशोक, चूत, नवमल्लिका तथा नीलोत्पल—इन पाँच पुष्पबाणों को रखनेवाला [मनमथ] मन को मथने (विचलित) करनेवाला [मकरध्वज] ध्वजा में मकर के चिह्नवाला और [मार] मारनेवाला ॥२७४॥

चतुरमुख चतुरवरण चतुरातमक
विग्य चतुर जुग विधायक।
सर्वजीव विश्वकृत ब्रह्मम्
नरवर हँस देहनायक ॥२७५॥

अब अनिरुद्ध के नाम कहते हैं—[चतुरमुख] चार मुखोंवाला [चतुरवरण] चार वर्णों की रचना करनेवाला [चतुरातमक] कुशल बुद्धिवाला [विग्य] विशेष जानने वाला [चतुर जुग विधायक] चारों युगों की रचना करनेवाला [सर्वजीव] सबका जीवात्मा [विश्वकृत] विश्व का कर्त्ता [ब्रह्मम्] वेदों को उत्पन्न करनेवाला [नरवर] नरों में श्रेष्ठ [हँस] जीवात्मा [देहनायक] देह का नियन्ता ॥२७५॥

सुन्दरता लज्जा प्रीति सरसती
माया कान्ती क्रिपा मति।
सिद्धि वृद्धि सुचिता रुचि सरधा
मरजादा कीरति महति ॥२७६॥

श्रीरुक्मिणी की सहचरियों के नाम कहते हैं—सुन्दरता, लज्जा, प्रीति, सरस्वती, माया, कान्ति, कृपामति, सिद्धि, वृद्धि, शुचिता, रुचि, श्रद्धा, मर्यादा, कीर्ति और महत्ता ॥२७६॥

संसार सुपहु करता ग्रह संग्रह
गिणि तिणि हीज पंचमा गाले।
मदिरा रीस हिंसा निन्दा मति
न्यारे करि मूँकिया चंडालि ॥२७७॥

[संसार सुपहु] संसार के श्रेष्ठ प्रभु (श्रीकृष्णजी) ने [ग्रह ग्रह करता] गृहस्थ धारण करते हुए—लोकसंग्रह करते हुए

[मदिरा रीस हिँसा निंदा मति च्यारे] मदिरा, क्रोध, हिंसा और निंदक-बुद्धि, इन चारों को [पंचमी गालि तिथि होज तिथि] और पाँचवीं गाली को भी वैसा ही समझ कर [चंडालि करि मूँकिया] चांडाल करके (समझकर) छोड़ दिया ॥२७७॥

हरि समरण रस समझण हरिणाखी
चात्रण खल खगि खेत्र चढ़ि ।
वैसे सभा पारकी बोलण
माणी वंछइ त वेलि पढ़ि ॥२७८॥

[प्राणी] हे प्राणी ! [हरि समरण] (यदि) हरिभजन की, [हरिणाखी रस समझण] मृगनयनी के रस (प्रेम) को समझने की, [खेत्र चढ़ि खल खगि चात्रण] रणक्षेत्र में चढ़कर शत्रुओं को खड्ग से काटने की, [पारकी सभा वैसे बोलण] और दूसरों की सभा में बैठकर बोलने की [वंछइ त] इच्छा हो तो [वेलि पढ़ि] वेलि को पढ़ ॥२७८॥

सरसती कंठि श्री ग्रिहि मुखि सोभा
भावी मुगति तिकरि भुगति ।
उवरि ग्यान हरि भगति आतमा
जपै वेलि त्यां ए जुगति ॥२७९॥

[ए जुगति] इस युक्ति से [वेलि जपै] जो वेलि का पाठ करते हैं [त्यां कंठि सरसती] उनके कंठ में सरस्वती [ग्रिहि श्री] घर में लक्ष्मी [मुखि सोभा] और मुख में शोभा विराजती है [भावी तिकरि मुगति भुगति] भविष्य के लिए मुक्ति और बहुत से भोगों की प्राप्ति होती है, [उवरि ग्यान आतमा हरि भगति और हृदय में ज्ञान और आत्मा में हरिभक्ति उत्पन्न होती है ॥२७९

महि सुइ खट मास प्रात जल मंजै
आप अपरस अरु जित इन्द्री।
मागै वेलि पढ़न्ताँ नित प्रति
त्री वंछित वर वंछित त्रीं ॥२८०॥

[खट मास महि सुइ] छः महीनों तक पृथ्वी पर सोते हुए [प्रात जल मंजै] प्रातःकाल जल में स्नान करके [आप अपरस] स्वयं अस्पृश्य रह कर [अरु जित इन्द्री] और जितेन्द्रिय रहकर [नित प्रति वेलि पढ़न्ताँ] नित्य प्रति वेलि का पाठ करनेवाले [वर वंछित त्री त्री वछित वर] वर को इच्छित स्त्री और स्त्री को इच्छित वर की प्राप्ति होती है ॥२८०॥

ऊपजै अहोनिसि आप आप मै
रुपमणि क्रिसन सरीख रति।
कहै वेलि वर लहै कुमारी
परणी पूत सुहाग पति ॥२८१॥

[वेलि कहै] वेलि का पाठ करने से [कुमारी वर] कुमारी वर को [परणी पूत पति सुहाग] और विवाहिता पुत्र को और पति के सुहाग को [लहै] प्राप्त करती है। [आप आप मै अहोनिसि रुपमणि क्रिसन सरीख रति ऊपजै] (और पति-पत्नी में) परस्पर रात-दिन श्रीरुक्मिणी और श्रीकृष्ण जैसा प्रेम उत्पन्न होता है ॥२८१॥

परिवार पूत पोत्रे पड़पोत्रे
अरु साहण भंडार इम।
जण रुपमिणि हरि वेलि जपंताँ
जग पुड़ि वाधै वेलि जिम ॥२८२॥

[रुषमिणि हरि वेलि जपंतां जग] श्रीरुक्मिणी और श्रीकृष्ण की (इस) वेलि के जप करनेवाले मनुष्य के [परिवार पूत पोत्रे पड़पोत्रे अरु साहण भंडार इम वाधै] कुटुम्ब में पुत्र, पौत्र, प्रपौत्र और हाथी, घोड़े, रथादि साधन और भंडार इस प्रकार बढ़ते हैं [जिम] जिस प्रकार [जब पुड़ि वेलि] पृथ्वी पर लताएँ (फैलती हैं) ॥२८२॥

> पेखे कोइ कहसि एक एक प्रति
> विमल् मंगल् गृह एक वगि ।
> एणि कवण सुभ क्रम आचरताँ
> जाणियै वेलि जपन्ति जगि ॥२८३॥

[विमल् मंगल्] निर्मल मगलाचार को [एक गृह] एक घर में [वगि] एकत्रित हुए [पेखे] देखकर [कोई एक एक प्रति कहति] कोई एक मनुष्य किसी दूसरे से कहता है, [जगि एणि कवण सुभ क्रम आचरताँ] जगत् मे इसने कौन से शुभ कर्मों का आचरण करते हुए (उपरोक्त समृद्धि प्राप्त की है) ? [जाणियै वेलि जपंति] जान पड़ता है कि यह वेलि का जप करता है ॥२८३॥

> चतुरविध वेद प्रणीत चिकित्सा
> ससत्र उखध मँत्र तँत्र सुवि ।
> काया कजि उपचार करन्ताँ
> हुवै सु वेलि जपन्ति हुवि ॥२८४॥

[काया कजि उपचार करन्ताँ] शरीर के लिए चिकित्सा करते हुए [ससत्र उखध मँत्र तँत्र सुवि चतुरविध वेद प्रणीत चिकित्सा हुवै] शस्त्र, औषधि, मंत्र तंत्र सभी चार प्रकार की (जो) वेदोक्त चिकित्साएँ होती हैं [सु वेलि जपन्ति हुवि] सो वेलि के पाठ करने (मात्र) से हो जाती हैं ॥२८४॥

आधिभूतक आधिदेव अध्यातम
पिंड प्रभवति कफ वात पित ।
त्रिविध ताप तसु रोग त्रिविधि मै
न भवति वेलि जपन्त नित ॥२८५॥

[पिंड प्रभवति आधिभूतक आधिदेव अध्यातम त्रिविध ताप] शरीर में होनेवाले आधिभौतिक, आधिदैविक तथा आध्यात्मिक, ये तीन प्रकार के ताप [कफ वात पित त्रिविध मै रोग] तथा कफ, वात और पित्त इन त्रिविध विकारों से युक्त रोग [तसु न भवति वेलि जपन्त नित] उसको नहीं होते हैं जो वेलि का सदा जप करता है ॥२८५॥

मन सुद्धि जपन्तां रुपमिणि मंगल
निधि सम्पति थाइ कुसल नित ।
दुरदिन दुरग्रह दुसह दुरदसा
नासै दुसुपन दुर निमित ॥२८६॥

[रुपमिणि मगल सुद्धि मन जपन्तां] इस श्रीरुक्मिणी-मगल—(वेलि)—को शुद्ध मन से जपने से [निधि सम्पति नित कुसल थाइ] कोष में धन और सदैव कुशल रहता है। [दुरदिन दुरग्रह दुसह दुरदसा दुसुपन दुर निमित नासै] और बुरे दिन, खोटे ग्रह, असहनीय बुरी दशा, दुःस्वप्न और अशुभ शकुन नष्ट हो जाते हैं ॥२८६॥

मणि मन्त्र तंत्र बल जंत्र अमंगल
थलि जलि नभसि न कोइ छलन्ति ।
डाकिणि शाकिणि भूत प्रेत डर
भाजै उपद्रव वेलि भणन्ति ॥२८७॥

[वेलि भणन्ति] वेलि पढ़ने से [मणि मंत्र तंत्र जंत्र बल कोई अमंगल] मणि, मंत्र, तंत्र और यंत्र आदि के बल से (शत्रुओं द्वारा किया हुआ) कोई अनिष्ट [जलि थलि नभसि न छलन्ति] जल थल अथवा आकाश में भी नहीं छल सकता [डाकिणि शाकिणि भूत प्रेत उपद्रव डर भाजै] और डाकिनी, शाकिनी, भूत प्रेतादि के किये हुए उपद्रव डर कर भागते हैं ॥२८७॥

सन्यासिए जोगिए तपसि तापसिए
काँइ इवड़ा हठ निग्रह किया ।
प्राणी भवसागर वेलि पढ़न्तां
थिया पार तरि पारि थिया ॥२८८॥

[संन्यासिए जोगिए तापसिए तपसि इवड़ा हठ निग्रह किया काँइ] संन्यासियों, योगियों और तपस्वियों की तपस्या में ऐसा हठ और संयम करने से क्या ! [प्राणी वेलि पढ़न्तां भवसागर तरि पारि थिया पार थिया] जन साधारण (तो) वेलि को पढ़कर (ही) भवसागर तैरकर पार हो गये,—(निश्चय ही)—पार हो गये !! ॥२८८॥

किं जोग जाग जप तप तीरथ किं
व्रत किं दानाश्रम वरणा ।
मुख कहि क्रसन रुपमिणि मगल
काँइ रे मन कलपसि कृपणा ॥२८९॥

[किं जोग जाग जप तप तीरथ किं] योग, यज्ञ, जप, तप से क्या ? (अथवा) तीर्थ से क्या ? [व्रत दानाश्रम वरणा किं] व्रत करने से, दान देने से अथवा वर्णाश्रम धर्म पालने से क्या ? [रे कृपणा मन काँइ कलपसि] रे, कृपण मन, क्यों दुख पाता है ? [क्रसन

रुपमिणा मंगल मुख कहि] श्रीकृष्ण रुक्मिणी के मंगल (इस वेलि) को मुख से कह ॥२८६॥

वे हरि हर भजै अतारू बोलै
ते ग्रव भागीरथी म तूँ
एक देस वाहणी न आणां
सुरसरि सम सरि वेलि सूँ ॥२९०॥

[वे हरि हर भजै, अतारू बोलै, एक देस वाहणी, आणाँ न] (तू) विष्णु और शिव-दोनों-का आश्रय लेती है, तैरना न जाननेवाले को डुबा देती है और एक ही प्रदेश में (सीमित होकर) बहनेवाली है—अन्यत्र नहीं [ते भागीरथी तूँ ग्रव म] इसलिए, हे भागीरथी, तू (पतितोद्धारिणि होने का) गर्व न कर। [वेलि सम सुरसरि सरि सूँ] वेलि के समान सुरसरि (गंगा) की शोभा कैसी ? ॥२९०॥

वल्ली तसु बीज भागवत वायौ
महि थाणौ प्रिथु दास मुख।
मूल ताल जड़ अरथ मण्डहे
सुथिर करणि चढ़ि छाँह सुख ॥२९१॥

[वल्ली] (यह जो) वेलि (रूपिणी लता) है [तसु बीज भागवत] इसका बीज (मूलाधार) श्रीमद्भागवत है [दास प्रिथु मुख महि थाणौ वायौ] (जो) भक्त पृथ्वीराज (कवि) के मुखरूपी पृथ्वी के थाँवले में बोया गया। [मूल ताल जड़] (इसके दोहलों का) मूल पाठ और (उनके गाने की) ताल जड़ें हैं [अरथ सुथिर मण्डहे] और (उनके) अरथरूपी दृढ मंडप पर [सुख छाँह करणि चढ़ि] सुखद छाया करने के लिये (यह वेलि) फैली है ॥२९१॥

पत्र अक्खर दल् द्वाला जस परिमल्
नव रस तन्तु विधि अहोनिसि ।
मधुकर रसिक सु भगति मंजरी
मुगति फूल फल् भुगति मिसि ॥२९२॥

[अक्खर दल् पत्र] (इस वेलि-लता के) अक्षरों के समूह ही पत्ते हैं, [द्वाला जस परिमल्] दोहलों में वर्णित (श्रीभगवान और रुक्मिणी का) यश ही (इसकी) सुगन्धि है, [नव रस तन्तु विधि अहोनिसि] (और इसके) नवरसरूपी तन्तुओं की रात दिन वृद्धि होती रहती है । [रसिक मधुकर भगति सु मंजरी] काव्य-प्रेमी और भक्तजन ही भ्रमर हैं और भक्ति ही मजरी है । [भुगति मिसि फूल मुगति फल्] सासारिक सुख साधनरूपी (इसके) फूल हैं और मुक्ति ही फल है ॥२९२॥

कलि् कलप वेलि वलि् कामधेनुका
चिन्तामणि सोमवल्लि चत्र ।
मकटित पृथिमी पृथु मुख पंकज
अखरावलि् मिसि थाइ एकत्र ॥२९३॥

[कलि् कलप वेलि कामधेनुका चिन्तामणि वलि् सोमवल्लि चत्र] कलियुग में कल्पलता, कामधेनु, चिन्तामणि और सोमलता, ये चारों [पृथु मुख पंकज एकत्र थाइ अखरावलि् मिसि] पृथ्वीराज के मुखकमल में एकत्र हुई अक्षर पंक्ति के मिस [पृथिमी प्रकटित] पृथ्वी पर प्रकट हुई हैं ॥२९३॥

म्रिथु वेलि कि ॅचविध प्रसिध प्रणाल्ो
आगम नीगम कजि अखिल् ।

मुगति तणी नीसरणी मंड़ी
सरग लोक सोपान इल ॥२९४॥

[प्रिथु वेलि कि] पृथ्वीराज द्वारा रचित यह वेलि क्या है, [इल पंचविध प्रसिध प्रणाली] पृथ्वी पर पाँच प्रकार की प्रसिद्ध रीति (साधन-मार्ग) है; [आगम नीगम अखिल कजि] (यथा) शास्त्र, वेद, सर्वप्रकार की कार्यसिद्धि, [मुगति तणी मंड़ी नीसरणी] मुक्ति की बनी-बनाई निसैनी [सरग लोक सोपान] (और) स्वर्गलोक की (प्राप्ति की) सीढ़ी है ॥२९४॥

मोतिए त्रिसाहण ग्रहि कुण मूँकै
एक एक प्रति एक अनूप।
किल सोझण मुख मूझ वयण कण
सुकवि कुकवि चालणी न सूप ॥२९५॥

[एक एक प्रति एक अनूप मोतिए विसाहण] एक से एक अधिक अनुपम मोतियों को खरीदने के लिए (जिस प्रकार) [चालणी सूप ग्रहि मूकै कुण सोझण न] चलनी तथा सूप द्वारा कैसे लेना और किसे छोड़ना यह संशोधन नहीं किया जाता, [किल] (उसी प्रकार) निश्चय ही [मूझ मुख वयण कण] मेरे मुख से कहे हुए (उपरोक्त) वचनोंरूपी मुक्ता-कणों का [सुकवि कुकवि ग्रहि मूकै कुण सोझण न] सुकवियों तथा कुकवियों द्वारा, कौनसा ग्राह्य और कौनसा त्याज्य होगा, यह निश्चय नहीं किया जा सकता ॥२९५॥

पिंडि नख सिख लगि ग्रहणे पहिरिए
महि मूँ वाणी वेलि मडै ।

जग गलि लागी रहै असै जिमि
सहै न दूखण जेम सई ॥२९६॥

[महि] पृथ्वी पर [वेलि मई मूँ वाणी] वेलिमयी मेरी यह कविता (कामिनी) [पिंडि नख सिख लगि महणे पहिरिए] अपने शरीर पर नखसिख (काव्यालंकाररूपी) आभूषण पहिने हुए है—[असै जिमि जग गलि लागी रहै] यह असली स्त्री के समान जगत के गले में लिपटी रहती है [सई जेम दूखण न सहै] (परन्तु) सती स्त्री के समान दोष (कलंक) को सहन नहीं कर सकती है ॥२९६॥

भाषा संस्कृत प्राकृत भणंता
मूझ भारती ए मरम।
रस दायिनी सुन्दरी रमताँ
सेज अन्तरिख भूमि सम ॥२९७॥

[भाषा संस्कृत प्राकृत भणंता] भाषा में (डिंगल, ब्रज अथवा हिन्दी भाषाओं में), संस्कृत में अथवा प्राकृत में काव्यरचना करते हुए [मूझ भारती ए मरम] मेरी कविता का यही मर्म है, (अर्थात् मेरी कविता भी ऐसी ही रसदायिनी है) (जैसे) [रस दायिनी सुन्दरी रमताँ सेज अन्तरिख भूमि सम] आनन्द देनेवाली सुन्दरी (के साथ) रमण करते हुए शय्या, ऊँचा स्थान (झूला, पलंग इत्यादि) अथवा भूमि एक समान हैं ॥२९७॥

विवरण जौ वेलि रसिक रस वंछौ
करौ करणि तौ मूझ कथ।
पूरे इते प्रामिस्यौ पूरौ
इत्रे ओछे ओछौ अरथ ॥२९८॥

[रसिक] हे रसिको ! [जौ वेलि विवरण रस वंछौ] वेलि में वर्णित रस की इच्छा करते हो [तौ मूझ करणि] तो मेरा कहा कार्य करो। [इते पूरे] उतने (जिनका) दोहले में कथन किया गया है) सब मनुष्य पूरे पूरे विद्यमा[न] तो [पूरौ अरथ प्रामिस्यौ] (आप लोग वेलि का) पूर[ा] अर्थ पा सकोगे [इथे ओछे ओछौ] (किन्तु) उनमें से (... कम होंगे (उतना ही) कम अर्थ प्राप्त कर सकोगे ॥२६८॥

> ज्योतिषी वैद पौराणिक जोगी
> संगीती तारकिक सहि ।
> चारण भाट सुकवि भाखा चित्र
> करि एकठा तो अरथ कहि ॥२९९॥

[ज्योतिषी, वैद, पौराणिक, जोगी, संगीती, तारकिक, भाट भाखा चित्र सुकवि] ज्योतिषी, वैद्य, पुराणों का ज्ञाता, संगीतज्ञ, तार्किक, चारण, भाट, भाषा में शब्द, रस, भाव[ा] चमत्कार उत्पन्न करनेवाले सुकवि [सहि एकठा करि तो कहि] सबको एकत्रित किया जाय तो (इस वेलि का) पू[रा] अर्थ कहा जा सकता है ॥२९९॥

> ग्रहिया मुखि मुखा गिलित ऊग्रहिया
> मूँ गिणि आखर ए मरम ।
> मोटां तणी प्रसाद कहै महि
> पेठौ आतम सम अधम ॥३००॥

[मुखा ग्रहिया] (गुरुजन महापुरुषादि के) मु[ख] (निकले हुए वचनामृत को) ग्रहण किया [गिलित गिणि

ऊग्रहिया] (और वहाँ से) निकले हुए (वचनों का) मनन करके अपने मुख से (उनको, वेलि के रूप में) उगल दिया; [ए मूँ आखर मरम] यही मेरे (इन) अक्षरों का रहस्य है [महि मोटां तणौ प्रसाद कहै] संसार में (सत्पुरुष तो इसे) गुरुजन विद्वानों आदि महापुरुषों का प्रसाद कहेंगे [अधम आतम सम ऐठौ कहै] और अधम जन (निंदक, असत्पुरुष आदि इसे) अपने समान झूँठा कहेंगे ॥३००॥

हरि जस रस साहस करे हालिया
मो पंडिता वीनती मोख ।
अम्हीणा तम्हीणे आया
श्रवण तीरथे वयण सदोख ॥३०१॥

[हरि जस रस साहस करे हालिया] हरियश रस के कारण साहस करके चले हुए [अम्हीणा सदोख वयण तम्हीणे स्रवण तीरथे आया] मेरे दोषपूर्ण वचन आप लोगों (रसिकों, रसज्ञों) के श्रवणोंरूपी तीर्थों तक आये हैं। [पंडिता मो वीनती मोख] हे पंडितो ! मेरी विनती है कि (उन दोषों से मुझे) मुक्त करो ॥३०१॥

रमतां जगदीसर तणौ रहसि रस
मिथ्या वयण न तासु महे ।
सरसै रुपमणि तणौ सहचरी
कहिया मूँ मैं तेम कहे ॥३०२॥

[रमतां जगदीसर तणौ रहसि रस] रमण करते हुए जगत्पति (श्रीकृष्ण) का एकान्त (गोप्य) केलि-रस [तासु महे मिथ्या

वयण न] उसमें (उसके वर्णन में) कोई मिथ्या वचन नहीं है [रुषमणि तणी सहचरी सरसै] क्योंकि श्रीरुक्मिणी की सहचरी सरस्वती देवी ने [मूँ कहिया मैं तेम कहै] जैसा मुझे कहा, मैंने (भी) वैसा ही कह दिया है ॥३०२॥

तूँ तणा अनै तूँ तणी तणा त्री
केसव कहि कुण सकै क्रम ।
भलौ ताइ परसाद भारती
भूंडो ताइ माहरौ भ्रम ॥३०३॥

[केसव] हे केशव, [तूँ तणा अनै तूँ तणी त्री तणा] आपके और आपकी स्त्री (प्रिया, श्रीरुक्मिणी) के [क्रम कुण कहि सकै] कर्मों (लीलाओं) का कौन वर्णन कर सकता है । [भलौ ताइ भारती परसाद] (इस वेलि में जा कुछ) अच्छा है वह सरस्वती का प्रसाद है [भूंडो ताइ माहरौ भ्रम] (और) बुरा है वह (उतना) मेरा (मेरी बुद्धि का) भ्रम है ॥३०३॥

रूप लखण गुण तणा रुषमिणी
कहिवा सामरथीक कुण ।
जाइ जाणिया तिसा मैं जम्पिया
गोविंद राणी तणा गुण ॥३०४॥

[रुषमिणी तणा रूप लखण गुण कहिवा कुण सामरथीक] श्रीरुक्मिणी के स्वरूप, सौन्दर्य, शुभलक्षण और गुण कहने में कौन समर्थ है ? [गोविंद राणी तणा गुण] (किन्तु) श्रीगोविन्द की पटरानी श्रीरुक्मिणी के गुण [जाइ जाणिया तिसा मैं जम्पिया] जितने मैंने (अपनी अल्पबुद्धि से) जाने, वैसे ही (उतने ही) कहे हैं ॥३०४॥

वरसि अचल गुण अंग ससी संवति
तवियौ जस करि श्री भरतार ।
करि श्रवणे दिन रात कंठ करि
पामै स्रो फल भगति अपार ॥३०५॥

[अचल गुण अंग ससी संवति वरसि] ७ पर्वत, ३ गुण, ६ वेदाङ्ग और १ चन्द्रवाले (काव्य प्रथानुसार इनके विपरीत क्रमवाले) संवत् वर्ष में (अर्थात् संवत् १६३७ में) [श्री भरतार करि जस तवियौ] मैंने लक्ष्मी (श्रीरुक्मिणी) और उनके पति (भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र) का यश गाया (अर्थात् यह 'वेलि' रची) [दिन रात श्रवणे करि कंठ करि अपार स्रो भगति फल पामै] (जो कोई इसे) सर्वदा सुनते हैं अथवा कंठस्थ करते हैं (वे) अनन्त लक्ष्मी (धनसम्पत्ति, समृद्धि) और भगवद्भक्ति फलस्वरूप में प्राप्त करते हैं ॥३०५॥

॥ इति शुभम् ॥

पाठान्तर

पाठान्तर

"वेलि" के वर्त्तमान संस्करण का सम्पादन करते हुए, इसके संपादकों ने वेलि की चार प्राचीन हस्तलिखित प्रतियों से और डाक्टर टैसीटरी द्वारा सम्पादित एशियाटिक सोसाइटी, बंगाल, के संस्करण से लाभ उठाया है। इन पाँचों में पाठान्तर का बहुत मतभेद है। हमारी सुविधा के अनुसार जो पाठ हमें सबसे सरल और उपयुक्त जँचा है, उसी पाठ का ग्रहण इस संस्करण में किया गया है। बाक़ी पाठान्तरों को, जिज्ञासु पाठकों की सूचना और मनन के हेतु, यहाँ पर प्रत्येक दोहले का नम्बर देकर पृथक् अवतरण कर दिया है। यों तो जिन पाँच प्रतियों के पाठ का आधार हमने लिया है, उनके उपरान्त भी कुछ और प्राचीन वेलि की प्रतियाँ उपलब्ध होती हैं और उनमें भी भिन्न भिन्न पाठान्तर मिलते हैं, परन्तु वर्त्तमान संस्करण का उद्देश्य केवल इन प्रधान पाँच प्रतियों ही से पूर्ण हो जाता है। जिन प्रतियों का आधार इसमें लिया गया है, वास्तव में वे ही प्रामाणिक प्रतियाँ रही हैं। निर्माणकाल की दृष्टि से भी वे प्रतिष्ठित और प्रामाणिक समझी गई हैं। डाक्टर टैसीटरी ने इनमें से तीन प्रधान प्रतियों के सिवाय और और प्रतियों की भी खोज की थी और उन्होंने अपने संस्करण में उनके पाठान्तरों को भी दिया है। जिन पाठकों को उन पाठान्तरों का अध्ययन करना हो, वे एशियाटिक सोसाइटी के संस्करण को देखें। हमने, जहाँ जहाँ आवश्यकता हुई है, डा० टैसीटरी के संस्करण से इन इतर पाठान्तरों का लाभ उठाया है। हमारी समझ में पाठान्तरों के विषय में

डा० टैसीटरी का संस्करण प्रामाणिकता और उपयोगिता की दृष्टि से सर्वश्रेष्ठ है। 'सु' प्रति हमारी निजी खोज है। इसका डा० टैसीटरी को पता न था।

पृथक् पृथक् प्रतियों के लिए, हमने सुविधा के वास्ते निम्नाङ्कित अंतर-संकेतों का उपयोग किया है—

(१) 'ढूँ' = ढूँढारी प्रति। यह संवत् १६७३ की लिखी हुई है। इसमें मूल दोहलों के पाठ के अनन्तर प्रत्येक दोहले के पीछे पूर्वीय राजस्थानी अथवा ढूँढाड़ी भाषा में टीका भी है। इस टीका को हमने इस संस्करण के अंत में स्वतंत्ररूप में प्रकाशित करने की आयोजना की है। यह सबसे प्राचीन अतएव सबसे ज्यादा प्रामाणिक प्रति है। वर्त्तमान संस्करण का विशेष आधार इसी पर है। यह टीका पृथ्वीराजजी के किसी समसामयिक चारण-कवि की कृति है। महाराजा श्रीसूर्यसिंहजी के राज्यकाल में यह बीकानेर में लिखी गई थी। बीकानेर के राजकीय पुस्तकालय में यह प्रति सुरक्षित है।

(२) 'मा' = मारवाड़ी प्रति। इस प्रति में भी मूल दोहले और उनकी टीका हैं। टीका पश्चिमी राजस्थानी भाषा में, जिसे मारवाड़ी कहते हैं, लिखी हुई है। यह किसी जैन पंडित की लिखी हुई प्रतीत होती है। मूल का अर्थ स्पष्ट करने में यह टीका भी बहुत सहायक होती है। महाराज पृथ्वीराजजी की मृत्यु के पचास वर्ष के अन्दर अन्दर यह टीका बनी होगी, यह हमारा अनुमान है।

(३) 'सु०' = 'सुबोधमंजरी' नामक संस्कृत टीकायुक्त सं० १६८३ में लिखित प्रति। वाचक सारंग की मौलिक प्रति से,

जो सं० १६७८ में पाल्हणपुर में निर्मित हुई थी, यह प्रति केवल पांच वर्ष बाद लिखी गई थी। यह डा० टैसीटरी की सं० १७८१ में लिखित ऊदासरवाली (U) प्रति से, जिसका हमने 'सं' नाम रखा है, लगभग १०० वर्ष पुरानी है, अतएव ज़्यादा प्रामाणिक है। डा० टैसीटरी को इस प्रति का पता नहीं लगा था, अन्यथा वे 'सं' को न ग्रहण कर, इसे ही ग्रहण करते। एक शताब्दी का अन्तर पड़ जाने से 'सं' और 'सु' प्रतियों के पाठान्तरों में पर्याप्त भेद पड़ गया है। इन दोनों प्रतियों की तुलना करने से कुछ साधारण विभिन्नताएँ स्पष्ट दिखाई देती हैं। 'सं' प्रति के ए-ऐकारान्त और ओ-औकारान्त शब्द 'सु' में क्रमशः इकारान्त और उकारान्त पाये जाते हैं। वर्त्तनी (Spelling) का यह भेद प्राचीनता द्योतक है। 'सं' प्रति के दन्त्य सकार 'सु' में प्रायः तालव्य-शकार पाये जाते हैं। और भी बहुत सी विभिन्नताएँ हैं। हमने दोनों प्रतियों के पाठान्तर दे देना उचित समझा है। इस ग्रंथ में अन्यत्र, स्वतंत्ररूप में 'सुबोधमंजरी' संस्कृत टीका को सं० १६८३ की प्रति से नकल करके प्रकाशित करने की आयोजना की गई है।

(४) "सं०" = संस्कृत टीकायुक्त प्रति। इसमें मूल पाठ के साथ साथ "सुबोधमंजरी" नामक संस्कृत भाषा में एक सरल टीका भी है। इसको वाचक सारंग नामक लेखक ने लाखा चारण द्वारा लिखित "बालावबोध" नामक एक पूर्व टीका के आधार पर लिखा है। यह संवत् १६७८ में बनी थी। डा० टैसीटरी को इस टीका की सं० १७८१ में लिखी हुई ऊदासर की प्रति मिली थी। डा० टैसीटरी को इस टीका से भन्य

टीकाओं की अपेक्षा ज्यादा सहायता मिली। यह भी बीकानेर के राजकीय पुस्तकालय में सुरक्षित है।

(५) "टैसी" = डा० टैसीटरी-द्वारा सम्पादित एशियाटिक सोसाइटी, बंगाल, का संस्करण। इसमें डा० टैसीटरी-द्वारा खोज की हुई अन्य कई एक प्रतियों के पाठान्तरों का भी समावेश है। हमने इस पुस्तक का भी अध्ययन किया है और उपयोग किया है। पुस्तक के प्रारंभ में एक संक्षिप्त भूमिका अँगरेज़ी में लिखी हुई है और अन्त में अँगरेज़ी में कुछ नोट भी दिये गये हैं, जिनमें अधिकांश राजस्थानी व्याकरण और छंद से सम्बन्ध रखते हैं और कुछ टीकाओं के आलोचनात्मक अवतरणांश भी दिये हैं। यह संस्करण हमारे लिए बहुत उपयोगी सिद्ध हुआ है।

पाठान्तर।

दो० १—सु० परमेस्वर। मा० प्रणमि। ढूँ० पुण। सं० पिणि। सु० पिण। मा० माधव। सु० माहवा। सं० चारि। सु० च्यार। ढूँ० सु० स। मा० अेहो। सु० गाईयइ।

दो० २—सु० मईं। सु० कोयउ। मा० सं० सु० ऊपायउ। ढूँ० करि। ढूँ० कठचित्र। मा० कठचीत। सु० कठि। ढूँ० चीतारउ, मा० चीतारा। ढूँ० चित्रणि। सु० चीत्रारू। सु० गाअण।

दो० ३—मा० करेवा ('कहेवा' के स्थान में)। सं० सु० वागहीण। टैसी० वागहीणि। सु० जांणे। सु० मांडीयउ।

दो० ४—टैसी० वाउआ। ढूँ० हुवौ क। सु० सूझइ, सोझइ। ढूँ० सु० मनि। मा० सरसउ। ढूँ० मनि। सं० पांगुलउ। टैसी० पड्गुलौ। सु० वाऊआ। सु० हूऔ। सु० पांगुलं।

दो० ५—सु० फणं ('फणि' के स्थान में)। मा० सं० जोहि जोहि। ढूँ० सु० तिण। मा० सं० सु० लाघउ ("पायौ" के स्थान में)। सं० डेडरा।

दो० ६—मा० ढूँ० सं० श्रीपति। मा० सं० समथ ('सु मति' के स्थान में)। ढूँ० तुज्झ। ढूँ० चित्रवति। मा० तवत। ढूँ० लग। मा० किरि। सु० समँद्र।

दो० ७—ढूँ सु० जिण। टैसी० जिणि। ढूँ० मुष। सु० मुख। ढूँ० क्रुसन। मा० सं० किसन। सु० तणुं। ढूँ० मा० सं० संपोषण (टैसी० "जु पोषण" के स्थान में)। ढूँ० तणै ('तणौ' के स्थान में)। ढूँ० वे ('तिणि' के स्थान में)।' सं० वडं ('तिणि' के स्थान में)। ढूँ० तणा (दूसरे 'तणी' के स्थान में) ढूँ० सं० मा० श्रम। ढूँ० विन। सु० विण।

दो० ८—ढूँ० सुषदेव। ढूँ० सं० जयदेव। सु० वयास, जिदेव। ढूँ० सु० तु ('ते' के स्थान में)। सं० पहिलुं। ढूँ० पहिलै। सु० पहिलउँ। सु० कीजइ। ढूँ० तिण। सु० जिणि। ('तिणि' के स्थान में)। ढूँ० गूंथियौ। सु० गूंथीयइ। मा० सं० जेण। सं० सु० शृंगार।

दो० ९—मा० उयर। सु० ऊअर। सं० उदर। सु० वरिस। ढूँ० ह्यौं, सु० ईहाँ। सु० जेवड़ो। ढूँ० पूत्र। ढूँ० हेति। सं० सु० हेत। टैसी० हेतु। मा० जोवतां। ढूँ० विसेषत।

दो० १०—मा० सं० दक्षिण। ढूँ० दचण। सु० दक्षिणि। ढूँ० विदुरभति। मा० सं० सिरिहर।

दो० ११—ढूँ० पांच पूत। ढूँ० मा० छठी। टैसी० छट्ठी। सु० स पुत्री ('सुपुत्री' के स्थान में)। ढूँ० कुंअर। टैसी० कुंवर। मा० कुंयर। सु० कूंवर। सु० रुकम बाह।

दो० १२—मा० तइ। मा० सं० रुवमणि। टैसी रुकमणि। सु०: रुखिमिणी। सं० बालगति। मा० किर। ढूँ० सं० करि। ढूँ० दुहुं ('बिहुँ' के स्थान में)। सं० करि।

दो० १३—मा० भ्रन। ढूँ० इनि। ढूँ० वरिस। टैसी० वरसि। सं० सु० वरस। ढूँ० सं० मा० मास। टैसी० मासि। सं० श्रे। ढूँ० सं० मा० मास (दूसरे 'मासि' के स्थान में)। सु० ताई। सं० ढूँ० पहर। सु० पुहर। टैसी० पहरि। मा० कुंयरि। सं० सु० कुंग्ररि। टैसी० कुमरि। सु० इलड़ो।

दो० १४—टैसी० सँगि। ढूँ० सीन सखी। ढूँ० सु० सील। टैसी० सीलि। सं० सु० कुल। टैसी कुलि। मा० सं० सु० वेस। टैसी० वेसि। ढूँ० पदिमणी। टैसी० पदमणी। सु० पदमिणी। ढूँ० सं० कुंग्ररि। टैसी० कुँयरि। ढूँ० रायग्रंगण। टैसी० रायङ्गणि। ढूँ० मा० सं० उडोयण। टैसी० उडियण। ढूँ० वीरज। टैसी० बीरज। सु० ऊड़ोयणि।

दो० १५—मा० सोसव। सं० सु० शैशव। ढूँ० तन। सं० सु० तनु। टैसी० तनि। सु० जोयण। ढूँ० जोग्रण। टैसी० जोवण। मा० सं० जोवन।। मा० सं० सुहणा। सु० सुँहणा। सु० जु। सु० होइस्यइ। मा० होसो। सं० होइस्यै। ढूँ० सु० सं० प्रथम। टैसी० प्रिथम।

दो० १६—ढूँ० सं० मुप। टैसी० मुखि। ढूँ० थयो। सं० थिउ। सु० थिउँ। ढूँ० सं० सु० ग्ररुणोदय। मा० ग्रंबरि। सं० किर। सं० पयोधर। सं० सु० संभ्या। मा० वंदन। सु० पेखे प्रात जागीया।

दो० १७—सु० जंपि। हूँ० सं० आवंतउ। सु० जाणणहार। मा० बोलड़तो। टैसी० बोलड़तै। हूँ० संगाती।

दो० १८—हूँ० पितु। हूँ० आंगणि। हूँ० फाजि। मा० अंग। मा० हूं० करंता। सं० करंता।

दो० १९—हूँ० सद्दसव। सं० सु० शैशव। सु० सुंजि। हूँ० सुसिर। सु० सिसिर। मा० वतीत। सु० वतीति। सु० घयु। सं० सु० परिगह। मा० परिगहि। मा० लेउ। सं० तरुणापण। मा० तरुणपणइ। हूँ० सं० रतिराउ। मा० रितुराय। सु० रुतिराव।

दो० २०—मा० सं० सु० फूल। मा० वनि। मा० वरण चंपक ('नयण कमल' के स्थान में)। सु० सुहाव। हूँ० सुहावि। सं० पांपिणि। सं० मा० सु० समारि। सं० भुंहा। स० भुंहारे। हूँ० भमिया। सु० भ्रमीभ्रा। हूँ० मा० भमर।

दो० २१—हूँ० सं० सुतन। मा० मलय। मा० मवरे। सं० कलीम्र। सु० कलीयु कि। मा० विणइ। सु० तणु। सं० तणइ। सं० सु० दक्षिण।

दो० २२—हूँ० जि। मा० उदय। हूँ० कमोदनि। सं० कुमोदिनि। सु० केस, राकेस।

दो० २३—सु० वधीया, तन। हूँ० सरवर। हूँ० मा० सं० वेस। टैसी० वेसि। हूँ० मा० जोवन। सं० तणु। सु० तणूं तणूं। हूँ० तणइ। सं० सु कामिणि। सं० डोरि। सु० दोरि। हूँ० मा० वरण। सु० वणा। हूँ० मा० किर। सु० मा० दोर ('डोर' के स्थान में)।

दो० २४—मा० सं० सु० कामिणि। टैसी० कामणि। सं० वपाण। सु० कठिण। सु० करी करि। सं० श्यामता। मा० सामता। ढूँ० विराजत। सु जोयण। मा० सं० जोवण टैसी० जोवणि। सं० दिपाल्या। मा० दिपालि। सं० जाण। सु० जाँण।

दो० २५—मा० सं० धराधर। ढूँ० सं० मा० सु० शृंग। टैसी० स्लिंग। मा० सुपीन। ढूँ घणी। टैसी० घणूँ। सु० घणुँ। मा० सं० सु० पदमिणि। ढूँ० नाभ। सं० प्रयाग। सु० प्रीयाग। ढूँ० श्रोण। मा० सोणि। सु० त्रीवल, त्रीवेणी।

दो० २६—मा० सु० नितंविणि। ढूँ० नितबिनि। सं० नितम्बनि। मा० निरुपित। सु० जुवलि। ढूँ० जुअलि। सं० जुयल। मा० नाल। ढूँ० सु० तस। सु० वाखाणी।

दो० २७—मा० ढूँ० श्रेपरि। ढूँ० मा० सु० पदपल्लव। ढूँ० मा० सं० सु० पुनर्भव। टैसी० पुनरभव। ढूँ० निर्मल। मा० ससहर। सु० वेजक। सु० साव कि ससहर।

दो० २८—ढूँ० मा० सं० सु० सम्रुति। टैसी० सम्रिति। ढूँ० सास्र। ढूँ० तस। सु० पट्। सु० तस मझि।

दो० २९—मा० सं० सु० संभलि। सु० घयु। ढूँ० मा० सामा। सं० श्यामा। सं० सुणि। ('भणि' के स्थान में)। सु० मणी। ढूँ० जिकाइ। मा० सं० हर। टैसी० हरि (पहले 'हर' के स्थान में)। सु० वन्दइ। मा० ढूँ० सं० हर। टैसी० हरि (दूसरे 'हर' के स्थान में)। सं० गोरि।

दो० ३०—ढूँ० पितु। ढूँ० श्रेरसा। सु० एरसा। ढूँ० करण ("करै" के स्थान में)। मा० ढूँ० सं० सु० साल् कुल्। टैसी०

सीलि कुलि। ढूँ० करि कुल। ढूँ० मा० सं० सु० किसन। टैसी० क्रिसन। ढूँ० सरि। टैसी० सिरि। सं० सिर। सु० स्वरि।

दो० ३१—मा० पभणंति। मा० सं० पूत। सु० ईसो। सु० ग्यात। सु० जात, पाँत।

दो० ३२—ढूँ० जि। सु० श्रोलुंडे। सं० सु० वृद्धापणि। ढूँ० धृधपणइ। मा० वृद्धपणइ। सु० मत कोई। मा० स० मत। मा० वेससउ। ढूँ० मा० सं० टैसी० इ। सु० माता पिता।

दो० ३३—*टैसी० पिता मात पभणै ('प्रभणै पित मात' के स्थान में)* ढूं० मा० पित। सं० सु० पितृ मातृ। सं० प्रभणइ। सु० प्रभणि। टैसी० सु० म ('मत' के स्थान में)। सं० पंतरि। सु० जै स्रेव। ढूँ० जै ('जसु' के स्थान में)। सं० लपिमी। ढूँ० सं० रुपमणी। ढूँ० सु० वासदेव। सु० रूपुमिणी। मा० सं० सम। टैसी० समौ ('सम सुत' के स्थान में)।

दो० ३४—मा० मर्याद। सं० म्रयाद। सु० मृजाद। ढूँ० कोई। ढूँ० ससिपाल। सं० सुर। सं० सिरि। ढूँ० सं० सु० ग्रंब। सं० सु० कोप। मा० वर। सु० कुंयर।

दो० ३५—ढूँ० गुर। ढूँ० ग्रेहि। ढूँ० जाणि चूक। सु० चूकि। सं० सु० नंद ("लियौ" के स्थान में)। सु० बड़। मा० हुउ। सं० हुई। ढूँ परोहित। सं० सु० सु ग्रोहित। ढूँ० जो वरै।

दो० ३६—ढूँ० मा० जेण। मा० वुरी। टैसी० वुरी। ढूँ० पहिलो ई। सं० पहिलुं। सु० पहिलु जाइ। मा० ताइ ('जाइ' के स्थान में)। मा० सं० सु० पहुतउ। सु० चंदेरी।

दो० ३७—ढ़ँ० होइ। मा० हुउ। सु० हुअ। सं० हूअ। मा० सं० हरप। सु० घखि। टैसी० हरखि। सु० होइ। ढ़ँ० ससिपाल्। सं० शिशुपाल्। मा० गाया। ढ़ँ० जेण। मा० लेणि। सं० तेण।

दो० ३८—सं० सु० आगम। ढ़ँ० ससिपाल्। सं० सु० शिशुपाल। मा० मंडियउ। सं० सु० मंडीयइ। सं० उच्छव। मा० सं० सु० पड़ते। मा० सं० छाईयइ। सु० छाइयइ। सं० सु० कुंदणपुर। सं० कंचणइ। मा० वांदइ ("वाभै" के स्थान में)। सु० वाभंै।

दो० ३९—मा० सं० सु० गृह। सं० हींगलो। सं० फटिकमइ। सं० चंदन। सु० चंदण। ढ़ँ० सं० कपाटे। ढ़ँ० सं० मा० सु० ई। मा० पना। टैसी० इ।

दो० ४०—मा० सामल। सं० सु० स्यामन। ढ़ँ० साज ("सोई" के स्थान में)। सु० घुरि। टैसी० सु० नीसाण। सं० सु० साजि। मा० घनघोर। सु० परठ वीजइ। सं० मांडइ। मा० किर। मा० तांडव।

दो० ४१—ढ़ँ० सं० मा० हुंता। टैसी० हुता। सं० ढ़ँ० निलाटि। सु० निलाट। ढ़ँ० सं० मा० नयर। टैसी० नैर। सु० धमलागिरि। ढ़ँ० मा० सं० सु० किना। टैसी० किन। सु० धमलहर।

दो० ४२—सं० किर। ढ़ँ० चाड़ि। सु० चडि चडि। मा० गौखे चाढ़ि चाढ़ि मंगल गावे (प्रथम पंक्ति के स्थान में) ढ़ँ० मने। ढ़ँ० ससिपाल। मा० सं० शिशुपाल। ढ़ँ० सु० पदमिनि। मा० सं० सु० पदमिणि। टैसी० पदमणि।

सं० अनइ। हूँ० मा० इणि परि फूलइ। सु० अवरि। सु० रुखुमिणी। मा० रुषमिणी। स० रुतमिणि। टैसी० रुखमणी। मा० कुमोदिनी। सु० कमोदिणी।

दो० ४३—मा० गमि ('मगि' के स्थान मे)। हूँ० चडि। सं० पथो चढि चढि। सु० पंथी चडि चडि। हूँ० ज्ञोयै। हूँ० भुयण। स० भवण। सु० भुवण। स० मा० सु० सुतनु। हूँ० मिलत। सु० तास। सु० रार्ज़ीयउँ। स० रापियउ। मा० कागल रापे। हूँ० लेपण। मा० स० सु० लेपिणि। हूँ० मस। सु० मिसि। सु० असू।

दो० ४४—हूँ० एक (अेक)। सं० सु० इक। हूँ० स० सु० देपि ('दीठ' के स्थान मे)। मा० स० पवित्र। टैसी० प्रवित। मा० गलितागउ। स० गलित्रागु। हूँ० संदेसो। स० सु० संदेसउ। हूँ० लगैं। सु० लगइँ। हूँ० सं० सु० द्वारिका। सु० ब्राह्मण।

दो० ४५—मा० स० मम ढील करे। सु० ढील करे हव। हूँ० हल ('हिव' के स्थान में)। हूँ० हेकमनि। स० अेकमन। सु० एक मन। मा० आअे। हूँ० जाह। स० जाहि। हूँ० सु० जादवे। सु० जत। स० हृतउ। मा० मुष ('मुखि' के स्थान में)। सु० हूँता। हूँ० वदन। सु० देई। सु० पत ('पत्र' के स्थान में)।

दो० ४६—हूँ० गृहे। हूँ० थिय। सु० थयु। स० होइ ('कोइ' के स्थान में)। सु० होइ वह रहो। हूँ० वह हय ('कोइ वट' के स्थान में)। सु० सुज। सु० निशा। हूँ० रहे। टैसी० रहो। हूँ० ज। हूँ० द्विज। स० दुजु।

दो० ४७—ढूँ० मा० सं० नेड़उ। ढूँ० मा० सु० भउ। सं० भऊ। ढूँ० सु० पुहचेस्यां। सं० पुहचस्यां। सु० केण भति। सं० सांभि। सु० संभि। ढूँ० सु० कुँदणपुर। मा० कुंदनपुरि। मा० सं० परभाते। टैसी० परभाति।

दो० ४८—सं० धुनि सुणत वेद। सु० धुणि सुणत वेद कहाँ। मा० सुणत। ढूँ० किहीं। सं० कहाँ ('कहुँ' के स्थान में)। सु० धुणि।

दो० ४९—मा० सं० पणिहार। सु० पोणोहारि। सं० सोस। टैसी० सोसि। ढूँ० सु० फलकरि। टैसी० करि करि ('करि कर' के स्थान में)। सु० तीरथ तीरथ। सु० ब्राह्मण।

दो० ५०—ढूँ० जोअइ। सु० जोइ। ढूँ० मा० सं० सु० गृहि। टैसी० ग्रहि। ढूँ० जगनि ('जगन' के स्थान में)। ढूँ० मारग। ढूँ० आंब। ढूँ० मोरीये। सं० मोरिया। मा० आंबि। सु० मोरीया। सु० अंबि अंबि।

दो० ५१—ढूँ० सांप्रति। सु० सुहिणं। सु० आयु। सु० हुँ। सु० पूछोऊँ। मा० सु० तिणि। ढूँ० सं० सु० तेणि। सु० जंपीउ। मा० अे ('आ' के स्थान में)। ढूँ० सं० द्वारा-मती। सु० सु या ('सु आ' के स्थान में)।

दो० ५२—ढूँ० श्रवण। सं० सु० संभले ('सुणि स्रवणि' के स्थान में)। ढूँ० थयौ। सु० थयु। सु० क्रमयो। ढूँ० सु० त्रास। मा० सं० गयउ। सु० गयु। मा० अंतहपुर। मा० सं० हुयउ। सु० हऊं।

दो० ५३—सु० आप आलोचइ आप सूं। ढूँ० आलोजै। ढूँ० सं० आप आप। ढूँ० सु० हव। ढूँ० रुपमणी। सं० रुक्मिणी।

सु० रुपुमिणी। टैसी० रुकमणी। ढूँ० सं० मा० कृतारथ। टैसी० कितारथ। ढूँ० होसैं। सं० सु० होस्यइ। मा० सं० हुयउ। सु० हुउ। ढूँ० मा० सं० कृतारथ। टैसी० कितारथ। ढूँ० सं० पहिल।

दो० ५४—ढूँ० सु० जगत्रपति। सु० अन्तरयामी। सु० दूरन्तरि। सु० आवँतु। ढूँ० वंदन। सं० सु० आतिथि। सं० धर्म। मा० लेण। सं० जेण। ढूँ० विसेप।

दो० ५५—ढूं० कस्मिन् कह किल कसमात किमरथी (प्रथम पंक्ति के स्थान में)। मा० कस्मात् कस्मिन् मित्र किमर्थं। मा० कार्य। ढूँ० काजि। सु० परिजति। ढूँ० परजति। ढूँ० कति ('कुत्र' के स्थान में)। मा० सं० येन। ढूँ० जो ('भो' के स्थान में)। मा० ब्रह्मण। मा० पूरतूं। ढूँ० प्रेरतह। सु० प्रेरितं। ढूँ० पत्ति ('पत्र' के स्थान में)। मा० सं० पत्रं। सु० कस्मिन् कथ ("कस्मिन किल" के स्थान में) सु० यो ('भो' के स्थान में)। सु०ब्रह्मन्।

दो० ५६—मा० सं० कुंदनपुर। सं० कुंदनपुरि। मा० कुंदनपुर। ढूँ० दीन्हो। मा० सं० राज। टैसी० राजि। ढूँ० मा० सं० रुपमणी। सु० रुखमिणी। टैसी० रुकमणी। मा० इण।

दो० ५७—ढूँ० आणंदमै। ढूँ० लेपिण रोमांचि। सु० लेखण। स० रोमायंच। सु० रोमांच। मा० रोमायंचत्त। ढूँ० गहगह। ढूँ० दीन्हो। सु० दीधु। ढूँ० करणाकरि। सु० करुणाकरि। ढूँ० सं० सु० तिण। ढूँ० मा० ब्राहमण। टैसी० ब्राह्मण।

दो० ५८—मा० दूयइ। टैसी० सु० वाचण। सु० ब्राह्मण। सु० पूर्वक। मा० विध। हँ० वीनमियौ। मा० तूं जि ('तूझ' के स्थान मे)।

दो० ५९—मा० मूं जु। सु० मुझ। हँ० स्याल। टैसी० सु० सियाल। मा० संघ। हँ० पासै। सु० जु। हँ० बीजै। सु० बीजु। हँ० धेन। सं० किर।

दो० ६०—हँ० अम। मा० छाडि। हँ० ऐठित। सं० अइठिति। टैसी० ऐठति। हँ० मा० सं० करि। मा० सं० सु० सालिग्राम। हँ० ग्रहि। हँ० संग्रहि। हँ० मेछां।

दो० ६१—मा० हँ० वाराह। मा० सं० हुग्रे ('हुए' के स्थान में)। सु० हये। मा० सं० हरिणाइष। सु० हरणाइख। सं० पाताल। सु० हुँ (दूसरो)। सु० कहु। मा० सं० करुणामय। हँ० करणामय। हँ० स० किण। टैसी० किणि। सु० सुं।

दो० ६२—मा० सं० नेत्रे। हँ० सं० मंदिर। मा० सं० मये महण। हँ० सं० हुं ('मूं' के स्थान में)। सु० हुँ। हँ० तम। सु० तम्ह। सं० सु० किण। सं० सीपविया। सु० सोखवीआ।

दो० ६३—सं० अवतार। मा० हँ० सं० रणि। टैसा० रिणि। मा० सं० रावण। टैसी० सु० रामण। सु० हुँ। हँ० करणाकरण। हँ० हूंता। मा० बांधे।

दो० ६४—सु० चउथी या। सं० चौथी आ। टैसी० चौथिया। मा० सं० वाहर। टैसी० वाहरि। सु० धरि। हँ० चतुरभुज। मा० सं० मुख। टैसी० मुखि। सु० कहि। सु० किसुँ। सु० अन्तरयामी। सु० सुँ।

दो० ६५—मा० सं० हूँ। सु० हुँ। सु० सकुँ। सु० तोमा। ढूँ० सु० प्रेमातुरी। सं० राज। टैसी० राजि। सं० दुआरिका। मा० दुवारिका। ढूँ० मा० सं० नेडउ। ढूँ० मा० सु० आयउ। टैसी० नैड़ी।

दो० ६६—ढूँ० त्रिण। मा० त्रिन्ह। ढूँ० सं० आड़ा वेला तइ। मा० तोयइ ('तै' के स्थान में)। सु० तइ। ढूँ० घणौ। सु० घणुँ। सु० किसुं। मा० सु० कहोयइ। सं० कहुँ। सु० या। सं० आविस। सु० आविसु। मा० सं० सु० पुरुषोत्तम। ढूँ० अंमिकालै। मा० सु० अंबिकालये। ढूँ० नैर।

दो० ६७—सु० शिलीमुख। सु० टैसी० साथि। सु० चु ('चौ' के स्थान में)। ढूँ० सारिथी। ढूँ० मा० सं० कृपानिधि। टैसी० क्रिपानिधि। मा० सं० रघ। टैसी० रघि। सु० संभलि।

दो० ६८—ढूँ० समवेगि। मा० सं० ईसु। सु० इसु। सु० विहंति। सु० लागु। ढूँ० गिरतर। सं० तरुगिरि। सु० धाम्रन्ति।

दो० ६९—ढूँ० थांभि। ढूँ० छंडउ। सु० छंडु। सु० यु ('यौ' के स्थान में)। सु० आयु ('आयौ' के स्थान में)। मा० अमीणउ। सु० अम्हारुं। ढूँ० साम। टैसी० स्याम ('स्यामा' के स्थान में)। सु० स्यांम।

दो० ७०—सु० रहीया। ढूँ० मा० रुपमणि। टैसी० रुकमणि। सं० रुकमिणि। सु० रुषुमिणि। ढूँ० ईतरी। मा० सं० चित। टैसी० चिति। ढूँ० चिंत। सं० चिंतवतां। सु० इम चित चींतवती।

दो० ७१—ढूँ० थयउ। सं० थिउ। सु० थीउ। ढूँ० सं० द्विज। ढूँ० रहित। सं० सकि न रहंति। सु० सकिउ रहति।

ढूँ० सं० सु० इम ('श्रौ' के स्थान में) ढूँ० स आसनौ। सं० सु आसनउ। मा० मुह।

दो० ७२—ढूँ० सील ('सन्ति' के स्थान में)। सं० संति। टैसी० सन्त। मा० सं० श्यामा। ढूँ० मनह। मा० मन सु विचार। ढूँ० सं० सु० इम ('ए' के स्थान में)। सं० सु० कहे। सं० कुसस्थली। सु० हुँता। ढूँ० मा० किसन। टैसी० क्रिसन। सु० कुन्दणपुर।

दो० ७३—ढूँ० बांभण। ढूँ० वांदे। मा० वदे। ढूँ० हेत। ढूँ० स। ढू० बीजै। मा० सं० सु० श्रवण। ढूँ० सांभली। मा० संभलि। ढूँ० पाय। मा० सं० पय। ढूँ० मा० फोई। सं० सु० कोइ। ढूँ० लाधौ। सं० मा० सु० लाधा।

दो० ७४—मा० चडिया। मा० सुणे। ढूँ० चड़िया। सु० चड़ोश्रा (दोनों जगह)। सु० सुणे। ढूँ० नह। टैसी० नहु। ढूँ० कोध। मा० सं० सु० किद्ध। मा० सं० ढूँ० उजाथरइ। सु० उजाघर। ढूं० मा० सु० कलह। ढूँ० श्रेवहा। सं० श्रेहवा। टैसी० श्रेवाहा। ढूँ० सहि। मा० सु० श्राखाढ-सिद्धि। ढूँ० सिधि।

दो० ७५—ढूँ० पिण। टैसी० पिणि। सं० पथि पथि। ढूँ० पंथ। टैसी० पंथि। सु० जूजूया। सु० पुर। ढूँ० सं० सु० भेले। ढूँ० होय ('मिलि' के स्थान में)। सं० सु० हुइ ('मिलि' के स्थान में)। मा० कोध ('कियौ' के स्थान में)। ढूँ० सहि। सु० सहु। टैसी० सवि। मा० मिलि। ('सहि' के स्थान में)। सु० जोश्रण। ढूँ० नायें नाग रिषि नरेस (अंतिम पंक्ति)।

दो० ७६—मा० सं० सु० कामिणि। टैसी० कामणि। मा० ढू० सं० कहइ ('कहि' के स्थान में)। सु० कहिं। सु० कहैं। ढू० मा० सं० नारायण। टैसी० नाराइण। मा० सं० वेदवित ('वेदवंत' के स्थान में)। ढू० तंत सं० तत्व। सु० योग। सु० योगेसवर।

दो० ७७—सु० तणु। सं० सु० पुणि सुणिं। मा० सं० इउ। सु० यु। ढू० रुपमणी। टैसी० रुकमणी। मा० सं० सु० रुपमिणी। ढू० हर। सु० तणु। सु० आयु। टैसी० हरि। सु० कर। ढू० इन। मा० अन। मा० ढू० सं० रायहर। टैसी० राइहर।

दो० ७८—मा० सु० आवास। सु० ऊतारे। ढू० करि। सं० जणा जणउ। सु० जणाजणु। ढू० कृष्ण। मा० सं० सु० किसन। टैसी० क्रिसन। मा० स० तउ। सु० तुव। ढू० कोइ। मा० सं० सु० कुण। ढू० अचिरज। टैसी० सु० अचरिज। टैसी० मनुहारि। सु० मनहारि तणु।

दो० ७६—सु० आपि। मा० सं० ढू० रुपमणी। टैसी० रुकमणी। सु० रुपुमिणी। सं० कह। मा० सं० तउ। सु० आज कहु तु आप। ढूँ० आज आप। सं० आवउँ। सु० आवाँ। मा० जात। सु० अंबि।

दो० ८०—मा० सु० दूउ। सं० दूयउ। ढूँ० रुपमणी। टैसी० रुकमणी। मा० रुपमिणी। सु० रुपुमिणी। सं० रुकमिणी। ढू० मा० सं० व्याज काज। टैसी० व्याजि काजि। मा० सं० श्यामा। सु० आरंभीआ।

दो० ८१—मा० ढू० कुमकुमइ। सं० सु० कमकमइ। ढू० सु० स० मंजन। सु० धोव। ढू० सं० सु० वसत्र। सं० चूयण

सु० चूश्रण । ढू॑० सं० सु० छीने । मा० छीना । मा० सु० छिछोहा । सु० मकतूल ।

दो० ८२—सं० सु० धूपणे लीधे । ढू॑० सं० मा० सु० मृग । टैसी० म्रिग । ढूँ० वार्उरि । सु० विसतरणि ।

दो० ८३—मा० वाजवटा । मा० सु० राजकुंश्ररि । टैसी० राजकुँवारि । सं० कुंयरि । ढू० सं० शृंगार । मा० सु० सिंगार । ढू॑० श्रेतै । सु० इतइ । ढूँ० मा० सं० श्रेक । टैसी० इक । सु० एक । ढू॑० श्रादरिस । सु० श्राणण श्रागल श्रादिरस ।

दो० ८४—सं० कंठ । टैसी० कण्ठि । मा० क । सं० कहाँ । सु० कहिँ । ढू॑० लीलकंठ । ढू॑० करि । मा० किर । सं० सु० श्री ('किरि' के स्थान में) । मा० संपधर । स० श्रेकिणि । सु० मा० स० श्रांगुली । टैसी० सु० सह्लधरि । सु० ग्रहीउ ।

दो० ८५—ढूँ० करि । सं० सु० कर । मा० गुंथति । सं० गुंफित । ढूँ० कुसम । सु० थसुण । ढू॑० जमन । सं० पावन । सु० पावंत । मा० जगि । ढूँ० मा० सं० उतमंग । टैसी० उत-मँगि । सु० करि । सु० उत॑ग । सं० ग्रंबर । टैसी० अम्बरि । मा० सं० श्राधोश्रध । सु० श्रधोश्रध । मा० कुँश्रारमग । टैसी० कुमारमग । सं० कुंवारिमग । सु० कुंयारमग ।

दो० ८६—मा० नयन । सं० परसाण । ढूँ० मा० सं० सु० वल॑ । टैसी० वली । सं० वाढ़ि । सु० बाढ़ि । करि ('वरि' के स्थान में) ।

दो० ८७—ढूँ० कउ ('चौ' के स्थान में) । सु० कु ('चौ' के स्थान में) । सं० सु० कामिणि ('निज करि' के स्थान

में)। सं० सु० वे काढ़े। मा० ढूँ० संप्रत। ढूँ० सं० कीया। सु० कोआ। सं० सु० मुखि। ढूँ० निलाटि।

दो० ८८—सु० शिख। ढूँ० सिपि। मा० ची संधि ('तिलक' की जगह)। सु० गयु ज हुँतउ। ढूँ० हंतौ। ढूँ० कुस्न। सं० कुसनि। मा० किसनि। ढूँ० मांग। टैसी० सु० मांगि। मा० मग। टैसी० सु० मगि। सु० आयु। ढूँ० भालियल। सु० भालीअली।

दो० ८९—ढूँ० जौं सहरी। ढूँ० सं० मा० सु० मृग। टैसी० म्रिग। ढूँ० विषधरि। सु० रास। ढूँ० सु ('कि' के स्थान में)। मा० सं० अलिक। सु० वक। मा० फिर। ढूँ० सं० सु० चंद। टैसी० चन्द्र। सु० वांकीआ। ढूँ० तादंक। टैसी० ताड़ङ्क। सु० आटंक चक।

दो० ९०—सं० कुचको। मा० सं० सु० शंभु। ढूँ० संभि। मा० सं० सु० कामि। मा० सं० ढूँ० सु० क। टैसी० कि। ढूँ० मन। ढूँ० आगैं ('आगमि' के स्थान में)। सं० सु० आगम। सं० मंडीयड। सु० मंडीअ। ढूँ० मंडप मंडे। सं० सु० वारगह। टैसी० बारिगह।

दो० ९१—ढूँ० हरिणाची। ढूँ० कंठ अंतरिख। सु० कंठि। सु० हुंती। टैसी० कण्ठि अँतरीख। मा० सं० बहरि। ढूँ० फिर।

दो० ९२—सु० बाजूबध। ढूँ० बांधे। सं० बंधीया। सु० बंधीअ गोर बांह बे। मा० सं० बाह। सं० त्रे। मा० शाम। ढूँ० मा० सं० सु० श्री। मा० मणिमय। ढूँ० हींड। सं० हींडोलइ। मा० हींडिलइ। सु० हीँडुलइ। मा० ढूँ० फिर। मा० ढूँ० सं० सु० श्रीषंड। टैसी० सिरीखण्ड।

दो० ९३—सं० सु० नवग्रहे प्रुंचीया प्रुंचे। मा० वलय। ढू ० हस्त। ढू ० निंपित्र। मा० सं० सु० नक्षत्र। ढूँ० वेधायउ। ढू ० सं० कि हिमकर। मा० हिमकिर। ढू ० आविरत।

दो० ९४—ढू ० आरोपत। ढू मा० थयउ। सु० थीयउ। ढू ० उरत्थलि। मा० उरस्थल। टैसी० उरुस्थल। सं० सु० उरसस्थल। ढू ० कुंभस्थलि। सु० सुज। ढू ० जि। ढू ० तिण। ढू ० सिर। टैसी० सु० सिरि।

दो० ९५—सु० धरीया। सु० ऊतारे। ढू ० नौ। ढू ० सं० सु० तन। टैसी० तनु। सु० तइँ। मा० तिणि ('तै' के स्थान में)। ढू ० किमत। मा० किमित्र। मा० सं० सु० पयोधर। मा० ओ ('तै' के स्थान में)। सं० सु० तु ("तै" के स्थान में)

दो० ९६—मा० सं० सु० श्यामा। मा० सं० समर्पित। ढू ० कुसा। सं० सु० किसा। सं० सु० अंगि। सं० सु० हुआ ('थिया' के स्थान में)। मा० सहु। मा० सं० सिंहरासि। सु० राशि। सु० गणग्रह।

दो० ९७—ढूँ० चंदाणणि। टैसी० चँद्राणणि। सु० चँद्राणण। ढू ० नूपुरि। सु० कौआ। सं० पहराइति।

दो० ९८—मा० सं० बीण। सु० लीउ। सं० सु० ताइ ('जाइ' के स्थान में)। सु० सापीआत। ढू ० सुसत। ढू ० सु० मोताहल। ढू ० सं० मा० सु० मुख। टैसी० मुखि। ढू ० भागवति। सु० मुख सुक।

दो० ९९—ढू ० कंजुलिक। मा० किंजल्क। ढू ० सं० सु० द्युति। ढू ० अेक। मा० इकु। सं० सु० वीडु। ढू ० कि ('सु' के स्थान में)। ढू ० सु० तस।

दो० १००—मा० सिंगार। सु० कीधुँ। मा० सु० श्यामा। मा० देवी। सु० तणो। सं० होड। टैसी० हाडि। मा० सं० छांडि। सु० छाडि। मा० पानही। सु० पांनही।

दो० १०१—हूँ० अंतरि। सं० सु० ऊपरि। मा० मंजोईन। सु० सदनि सदनि। मा० सदनि सदनि जाणे संजोई। ढ़ँ० सुदिवि।

दो० १०२—हूँ० सं० मा० किहो करि। हूँ० कुमकुमी। टैसी० कुमकमी। सं० किहि करि कुंकुम। सु० कमकमुं किहीं करि कुंकुम। ढ़ँ सु० किहीं। ढ़ँ० धूप। टैसी० धोति। सं० सु० धोत। ढ़ँ० धर।

दो० १०३—हूँ० मा० चउडोल। सु० चुडोल। सु० लगि। सु० तई। सु० सुँ। मा० सं० मांहि। टैसी० माहि। ढ़ँ० मा० सामा। ढ़ँ० आविरित।

दो० १०४—हूँ० सं० मा० आविस्यइ। सं० सु० साथ। मा० सो। हूँ० सु० चड़ि चड़ि। सु० लाग। हूँ० मा० वाक। हूँ० सं० मा० मांहि। टैसी० माहि। हूँ० सं० संयेपीयइ। सं० मुकर। सु० संपेखीइ।

दो० १०५—हूँ० सं० मा० सु० पदमिणि। टैसी० पदमणि। मा० रणताल। हूँ० हलवलिया। हूँ० हिलिया। हूँ० गलित। टैसी० गुड़ित। मा० सु० गिरोअर।

दो० १०६—हूँ० असि। मा० सं० सु० वेग। सु० वहिं। सं० सु० अंतरित। मा० अंतरोप। सु० चडोया। सं० चढिया ('चालिया' के स्थान में)। टैसी० चँद्राणणि। मा० हूँ० चंदाणणि। सं० सु० चंद्रापण। मा० भगि। सु० वेकुंठ। मा० किर। मा० हूँ० सं० सु० अयोध्यावासी। टैसी०

अजोध्यावासो । ढूँ० सं० मंजन । मा० मंजणि । सु० मा० सं० करे । ढूँ० सिरी । ढूँ० दधि । मा० नद । सं० हँ० मांहि । टैसी० माहि ।

दो० १०७—सं० सु० संपूरे ('सम्पेखे' के स्थान में) । ढूँ० जाणे । हँ० मेर । ढूँ० सं० पापली । सु० पाखलिं । मा० नचत्र । सं० नचत्र ची माला । सु० नाखित्र । ढूँ० धूमाला । मा० संकर । टैसी० सङ्करि । सु० शंकरि ।

दो० १०८—मा० देवालय । सु० देवाल । सु० पेसि । मा० ढूँ० सं० भाव हित । सु० भावि । टैसी० भावि हिते । ढूँ० सु० पूजे । सु० कौउ । ढूँ० सं० सु० हाथ । ढूँ० सं० सु० लग । मा० ढूँ० सं० रुपमणी । टैसी० रूकमणी । सु० रुपुमिणी ।

दो० १०९—हँ० आकरपण । मा० सं० सु० आकर्पण । टैसी० आकरसण । मा० सं० मन ('गति' के स्थान में) । सं० सु० तणि ('गति' के स्थान में) सं० सु० संकुचिगि । सं० सुंदर । मा० दुवारि । सं० द्वार । मा० सं० सु० देहरा । टैसी० देहुरा ।

दो० ११०—हँ० मन पंग । सं० मनुपंगु । ढूँ० सं० सु० थया । मा० तनु ('तह' के स्थान में) । सु० संपंखतिं । ढूँ० संपेपिते । सं० संपेपवि । मा० किर । सु० करि । मा० नोपाई । सु० नोपायु । ढूँ० तदे । मा० तदही । मा० ढूँ० निकुंटी । सं० निकंटिम्रे । सु० निकंटीए ।

दो० १११—हँ० असि । ढूँ० पड़ि । मा० पड़े । ढूँ० मंडल ('सेन' के स्थान में) । सं० सु० सेण । सु० हँ० अंतरि । ढूँ० पृथमी । मा० सं० प्रथिमी । टैसी० प्रिथमी । ढूँ० गति कि । सु० तणुं । सं० गति किना । मा० पथि । सं० सु० तइ ('तिणि' के स्थान में) । सु० प्रथमी गति किना आकाश ।

दो० ११२—मा० सं० सु० वलिबंध। टैसी० बलिबँधि। हूँ० समथि। मा० सं० सु० संमथ। सं० रथ। टैसी० रथि। हूँ० बेसाणो। सं० बइसारे। सु० बेसारे। सं० श्यामा। मा० सामा। हूँ० करि। मा० सं०, हूँ० वाहर। टैसी० बाहरि। मा० हूँ० हरणापो। हूँ० गयो ('जाइ' के स्थान में)।

दो० ११३—हूँ० सांभलित। हूँ० धमल। सु० तेय ('सर' के स्थान में)। सं० सद ('सर' के स्थान में)। हूँ० सांभलि। सु० ठाव्हे। हूँ० कंगल। सं० सु० किंगल।

दो० ११४—हूँ० असि। मा० आस। हूँ० चितरांम। हूँ० निहपरवां। टैसी० नह परवा। सु० नहपरवा। हूँ० हुमै। सु० महीआरो।

दो० ११५—सु० उंवड़ो। मा० महि ('मझि' के स्थान में)। सु० एवह। मा० जेहवड। सं० चक। सं० सु० पंति। सु० सुणियइ। मा० सं० सुणीयइ। सं० सु० वरिहासां। सं० नासा०। टैसी० निवैसहस ('सद नीहस' के स्थान में)।

दो० ११६—मा० अलगा। मा० सं० नेडी। मा० कीध। हूँ० उखवते। टैसी० उद्रमते। मा० सं० ओप्रमते। सु० देठालु। सं० दीठालु। हूँ० थयो ('हुआ' के स्थान में) सं० सु० हुउ। हूँ० दुहुँ। सं० धागा। हूँ० ढेवरीये। सु० वाहरूए। सु० मारकूए। सं० मारगूए। मा० फोरिया।

दो० ११७—मा० सु० घड़ा। सु० कठठे। हूँ० कठठी करि आणी घटा कालाहणि सामही। सु० संमहे। सु० आमो सामहइं। मा० सं० आम्हो। मा० सं० सु० जोगिणि।

टैसी० जोगणि । ढूँ० आवी । सु० आवइ । टैसी० आवै । मा० वहिसी ('वरसै' के स्थान में) मा० रुति । सं० घेपड़इ । सु० घेपड़ई ।

दो० ११८—सु० हथनालि । मा० कुहकुबाण । सु० हुवि । ढूँ० होइअ । सं० गहेगगहण । सु० गहेगगहण । ढूँ० सिलह लोह ऊपरि । सु० ऊपरि । मा० सं० सु० सिरि । सं० सु० माहीं । सु० बुंद ।

दो० ११९—ढूँ० किरणि । सं० सु० ऊकलि कलि । ढूँ० वरसत । सं० वरजित । टैसी० वरसति । ढूँ० विसेप । ढूँ० कलकि ('धवकि' के स्थान में) । टैसी० सु० धड़कि ('धवकि' के स्थान में) । सु० सिहरि । ढूँ० संबरवि । सं० संमर । सु० समरवि । ढूँ० सलाउ ।

दो० १२०—ढूँ० कांपिया । टैसी० कँपिया । ढूँ० सं० सु० कायरां । टैसी० काइरां । सु० असुभकारीयु । सु० गाजते । ढूँ० सं० गाजंते । टैसी० गाजँति । मा० गाजिते । मा० सं० धारा । ढूँ० औवड़ीयौ । सु० ऊअड़ियउ ।

दो० १२१—मा० चोटीयालीउं । सु० चउँडिआल्युं । सं० चउटीयाल्युं । ढूँ० मा० ढलीअे । सु० पडीइ ('ढलियै' के स्थान में) सं० पड़ीयइ (''ढलियै'' के स्थान में) । ढूँ० ससिपाल । ढूँ सं० सु० ओझड़ा । ढूँ० लागौ ('मातौ' के स्थान में) । मा० मातइ ।

दो० १२२—ढूँ० रण । सं० सु० रिणि । मा० रुलतलोया तेण रुहिर अंगण रण (प्रथम पंक्ति) । ढूँ० घणौ । सं० सु० घणे । ढूँ० हाथि । सं० पड़े । सु० बुदबुदा । सं० जल बुदांबुदा । मा० सं० सु० आकृति । ढूँ० आक्रति । टैसी० आक्रिति ।

सं० सु० चाले । मा० चाल्या । मा० सं० ढ्ँ० जोगिणी । टैसी० जोगणी । सु० योगिणी ।

दो० १२३—मा० बलभद्र । टैसी० बलिभद्र । ढ्ँ० बलिभद्रि । ढ्ँ० सं० सु० बापूकारे । टैसी० बापूकारैं । मा० बापूकारीया । मा० सं० सत्र । सु० सावतु । मा० सावता । ढ्ँ० सं० सु० अजी । सु० लाग । ढ्ँ० लग । सं० त्यां वेलां । सु० हिव ('हल' के स्थान में) । मा० जीपिसइ । ढ्ँ० वाहसे । मा० सं० वाहिस्यइ । टैसी० वाहिसि । सु० वाहस्यइ ।

दो १२४—सं० सु० विसरिया बीज जस (यश) बीज बीजिस्यै । मा० विसरी वार जस बीज बीजिजै । सं० परो । मा० हालाहल । ढ्ँ सं० पलां । सं० रां ('कां' के स्थान में) । सु० त्रूटि । मा० ढ्ँ० सं० सु० वहतां । सं० हलां ।

दो० १२५—ढ्ँ सं० ग्रंच । ढ्ँ० छंछ । सं० चंच । ढ्ँ० पिंड । सं० चेत्र । सु० नीपतु । सु० नीर रगत पल हालिया नीसरा, ग्रंच चंच ऊछलि अति (पूर्वार्द्ध के स्थान में) ।

दो० १२६—सं० सु० तास । सं० सु० भुजां वलि । ढ्ँ० पिंड । मा० पहरतइ । मा० बिजड़ां । टैसी० बिजड़ा । मा० वेड़ते । टैसी० वेड़तै । सं० वेड़ीया । सु० वेड़िया । ढ्ँ० सं० बलभद्र । सु० बलिभद्र । टैसी० बलिभद्रि । ढ्ँ० सिरा ।

दो० १२७—सं० राम । टैसी० रामि (रालि) । मा० ढ्ँ० सं० रालि । मा० रणि (दूसरे 'रिण' के स्थान में) । मा० ढ्ँ० सं० स । टैसी० सु । सु० निय । मा० मेटि । सु० मेढि । सं० सु० घया । मा० संहार । सं० फेरता । टैसी० फेरतौं । मा० पाय । सु० कीआं ।

दो० १२८—सं० कण लीधा हेक। सु० कण लीधा एक कौश्रा। मा० भंजीउ। सु० भंजिऊं। मा० सं० ढूँ० बलभद्र। टैसी० बलिभद्र। सं० ग्ले। सु० सिरि।

दो० १२९—सु० सं० सधरां ('सरिखाँ' के स्थान में)। मा० ढूँ० सं० बलभद्र। टैसी० बलिभद्रि। सु० बलिभद्र। सु० साहीए। मा० सं० ऊछजीश्रे। सु० ऊछजिए। सं० विरुद्ध। मा सु० विरुध। ढूँ० भला भला। ढूँ० तोईज। टैसी० तीजि। ढूँ० जरासंधि। ढूँ० सिसपाल। सु० जुध।

दो० १३०—ढूँ० श्राडोहड़। मा० श्राडोहडि। ढूँ० श्रेकैश्रेक। मा० ढूँ० वाइयउ। सं० वागियौ। सं० श्रेक ('एम' के स्थान में) ढूँ० मा० रुपमणी। टैसी० रुकमणी। सं० सु० रुकमिणी। सु० लेई। सु० हुँ। सु० श्राहीर।

दो० १३१—मा० सु० विलकुलीउ। मा० ढूँ० वदन। टैसी० वदनि। ढूँ० वाकारे। सं० वाकारिउ। मा० वाकारीयउ। ढूँ० पिणछ। सं० सु० कुसन। मा० श्रायुध। सं० कुसन रुकम छेदण श्रायुधि करि। सु० रुक्म छेदण श्रायुध करि। मा० बेलप। सं० सु० बेलक। सु० मूठि। मा० मूठ। ढूँ० द्रिठि। टैसी० द्रिढ। मा० सं० दृढ।

दो० १३२—सु० रुकमईउ। मा० सं० ढूं० सु० श्रारण। ढूं० रण। सं० सु० रिण। मा० रणि। मा० रुपमणी। टैसी० रुकमणी। सं० सु० रुकमिणी। मा० तणउ। सु० तण। सं० तनु ('तणु' के स्थान में)। सं० करि। सं० माहव। टैसी० माहवि। सं० कीयौ। सु० कीयउ।

दो० १३३—ढूँ० मा० सनस। सु० संनिधि ('सनँसि' के स्थान में)। टैसी० सनसि। ढूँ० मा० रुपमणी। टैसी० रुकमणी०।

सं० सु० रुकमिणी। सु० सैनस ('सन्निधि' के स्थान में)। सं० सांनिधि। सं० सु० आलोज। सं० अपईयात। ढूँ० आवधि आवध। सं० सु० सोज।

दो० १३४—ढूँ० निरआउध। सु० निरायुध। मा० निरआवध। सु० कीयउ (दोनों 'कियौ' के स्थान में)। ढूँ० तद। मा० सं० तदि। ढूँ० सेन ('सोना' के स्थान में)। मा० सं० सु० ऊतारि। सं० छिणाइ। मा० सं० जीव ('जीवि' के स्थान में)। मा० ढूं० सं० सु० छांडियउ। ढूँ० सु हरि। सु० हीउं।

दो० १३५—सं० अनंत ('अनुज' के स्थान में)। ढूँ० अग्रज ईप कहै अनुज श्रे अनुचित। सं० दुष्ट। सं० सु० वासना। ढूँ० तास ('भलो' के स्थान में)। ढूं० जास। ढूँ० वैसाणी। ढूं० सं० कीयउ। ढूँ० भली ('भला' के स्थान में)।

दो० १३६—सं० सुसमिति। ढूँ० सव्रीडित। मा० संव्रीडित। सं० सुव्रीडति। मा० ढूँ० पुंडरीकाइष। सं० सु० पुंडरीकाल्य ढूँ० धीउ। सु० धीश्र। ढूँ० मा० प्रसन्न। मा० ढूं आदेस। टैसी० आश्रेस। ढूं० मृगनयणी। मा० मृगानयणी। सं० मृगापी। सु० मृगाखि।

दो० १३७—मा० सं० सु० कृत। टैसी० क्रित। ढूँ० अनिधाई। मा० सं० अन्यथा। ढूँ० करण। ढूँ० सिगिले। सु० समथ। सं० समरथ। ढूँ० हालीयो। मा० सं० जाइ। ढूँ० जिके ('जा' के स्थान में)। टैसी० जा इलगाया ('जाइ लगाया' के स्थान में)। मा० सं० सु० अलगाया। सु० हुँता। मा० साला। ढूँ० सं० सु० थापि। ढूँ० हथि।

दो० १३८—सं० पिण। टैसी० पिणि। ढूँ० सं० सु० जीति। मा० सं० रुपमिणी। सु० रुकमिणी ("पदमणी" के स्थान

में)। ढूँ० आणंद उमै हूआ एकार। टैसी० सत्रुसिरि अधिक वावरै सार। सु० सित्र सिर अधिक वावरे सार (दूसरा पंक्ति)। सु० लागा। ढूँ० मह्रा ('माहि' के स्थान में)। सं० तइ वेला ('वादोवदि' के स्थान में)। सु० तई वेला ('वादोवदि' के स्थान में)। सं० सु० वधाईया।

दो० १३९—ढूँ० ग्रिह। टैसी० ग्रह। मा० सं० सु० गृह। ढूँ० सं० सु० काजि। ढूँ० गा। सं० गृहे गृहे। ढूँ० गृहगति गृहि गृहि। टैसी० ग्रहि ग्रहि। सं० ढूँ० मन। टैसी० मनि। मा० आर्पण। सं० अर्पण। मा० कीधी। ढूँ० मा० मारग। टैसी० सु० मारगि। मा० आंटइ।

दो० १४०—सु० दूर पथि ('देखतां' के स्थान में)। ढूँ० देपते। मा० देपता। ढूँ० पंथि पथिक। ढूँ० उतावलि। सं० दूरा पथि पथिक ऊतामल देपे। सु० ऊतामल देखे। सु० उरि ऊठी। मा० ढूँ० नीलो। ढूँ० तिणि। मा० सं० ढूँ० सु० नीलाणा। टैसी० निलाणा। सु० डालि।

दो० १४१—ढूँ० आगमि। ढूँ० मा० नयर। ढूँ० सु सहू। ढूँ० सऊजम। सं० ढूँ० सु० रुपमिणि। टैसी० रुकमणि। सं० ढूँ० सु० कृसन। मा० किसन। सं० वधामण। मा० ढूँ० सं० रेसि। टैसी० रेस। ढूँ० लहरी। मा० लहिरिउं। सु० लीइ। मा० दिंन। सु० दिनि। मा० दरसण। सु० दरसणि ढूँ० राकेसि। टैसी० राकेस।

दो० १४२—ढूँ० गृहे गृहां। मा० सं० सु० गृहे गृहे। टैसी० ग्रिहे ग्रिहे। ढूँ० पुरखासीयइ। मा० दलिद। सं० दिसा ('तणौ' के स्थान में)। सु० दिसि ("तणौ" के स्थान में)। ढूँ० मा० दीन्हउ। सं० सु० दीधुं। मा दलिद। सं० हूया। मा०

हूआं। सु० हुआ। ह्रँ० सं० सु० केसरि। मा० सं० सु० हलद्र। सु० हरी।

दो० १४३—सं० सु० मारग। मा० मारगे। सं० सु० मग। मा० मारगि। ह्रँ० मा० क्रमियां। मा० तासु ('अति' के स्थान में)। ह्रँ० नयरि। ह्रँ० तकरि। मा० तिकर। सु० तिकिरि। मा० सं० पसारइ। सु० पसारइँ।

दो० १४४—ह्रँ० सं० वीजुल। सु० वीजुलि। सं० द्युति। ह्रँ० डंड। ह्रँ० आकास। मा० सं० सु० आकाश। सु० अवछायु। ह्रँ० सं० अवछायउ। सं० आया। ह्रँ० मा० करि। सु० जाणे घण आया।

दो० १४५—ह्रँ० सं० मुकरमै। टैसी० मृकुरमै। ह्रँ० प्रोलि। टैसी० प्रौलि। सं० सु० पोलि। ह्रँ० अवीरमै। मा० सं० अवीरमइ। ह्रँ० पइसारी। मा० सं० पइसारउ। मा० पइसंति। सु० पैसारउं। ह्रँ० नै। मा० सं० नइ।

दो० १४६—सु० दीपि ('दियै' के स्थान में)। ह्रँ० जसि। ह्रँ० धमलित। ह्रँ० सं० धण। टैसी० धणि। ह्रँ० नागरि। मा० पेपे। ('देखे' के स्थान में)। ह्रँ० सुधण। टैसी० सुसकिसलु। ह्रँ० सिर। सु० बुंद।

दो० १४७—सु० जीते। ह्रँ० जुधि जांते। सं० युधि जीपे। मा० जधि ('जीपे' के स्थान में)। ह्रँ० ससिपाल। ह्रँ० सं० जरासंधि। ह्रँ० जीपे। ह्रँ० आये। सं० आया। ह्रँ० सं० गृहि। सु० गृह। टैसी० ग्रिहि। मा० गृहे। ह्रँ० उआरे। सु० ऊतारि। मा० सं० उवारइ। ह्रँ० पांयै ("पै" के स्थान में)। सु० अँवारि पि ('वारं पै' के स्थान में)।

दो० १४८—ढूँ० सहिति । मा० सं० भिन्न । मा० अभिन । मा० वाणि वणि । सं० मुष । टैसी० सु० मुखि । सु० करिं । ढूँ० कुसण । सं० कृष्ण । सु० गजान कृष्ण । ढूँ० रुपिमिणि । टैसी० रुकमणि । सं० रुकमिण । सु० रुपुमिणि । ढूँ० मा० गृहि । सं० सु० गृह । टैसी० ग्रिहि ।

दो० १४९—ढूँ० दैवगति । मा० सं० दैवज्ञ । सु० तेड़ । सं० पहिलुं । सं० ई । सु० पहिलुं कोध प्रसंन । मा० पूछी । ढूँ० सं० कोधउ ए । सं० ज्योतिप । ढूँ० कइ । मा० सं० सु० कई । टैसी० कदि ('कइ' के स्थान में) । सु० रुपुमिणी मा० ढूँ० रुपमणी । सं० रुकमिण । टैसी० रुकमणि । ढूँ० सं० सु० कुसन । मा० किसन ।

दो० १५०—सु० धर्म्म । मा० विचार । ढूँ० वेदवंत । मा० वेदिवित । सु० वेदवित । मा० ही त्री ('सुत्री' के स्थान में) । मा० क्युं ('किम' के स्थान में) । सु० होवि । मा० सं० सु० पुनः पुनः । मा० ढूँ० सं० पाणिग्रहण । टैसी० पाणि गरहण ।

दो० १५१—मा० कवि ('करि' के स्थान में) । मा० सं० निरणय । सु० निर्णय । ढूँ० करण ('कहण' के स्थान में) । ढूँ० दोषि । सु० विवर्जित । सं० सु० जदि । मा० सु० हूउ ।

दो० १५२—सु० ब्राह्मणे । ढूँ० कहे । मा० कहीयउ । सं० कही कह । ('कही' के स्थान में) । सु० हुइ । मा० हूयउ । सं० हरण । सु० हथ लेवु । टैसी० हरणि । मा० सु० हूउ । ढूँ० सं० सु० सेष । ढूँ० करउ ('हुवइ' के स्थान में) । मा० कउ ('हुवइ' के स्थान में) । सं० हुवइ । टैसी० हुइ । सु० हूवि ।

दो० १५३—मा० सं० रतनमय । ढूँ० वांस । सं० वंश । सं० आर्द्र । सु० अरजनमै । ढूँ० अरिजणमै । मा० अरुजनमय वेहि । सं० सु० अनल (अगनि) । सु० ईधण । ढूँ० घृति । मा० सं० सु० घृत । टैसी० घ्रित । सं० घनसार ।

दो० १५४—सु० पश्चिम । ढूँ० पछमि । सं० दिशि । सं० पूठ । मा० पट परठित । सु० पट परठित ऊपरि । ढूँ० मधुपरकादि । मा० सं० मधुपर्कादि । टैसी० मधुपरिकादि । मा० ढूँ० सं० सु० सहसकार । मा० माडे । ढूँ० सु० बै । सु० बेसाणि ।

दो० १५५—सु० आँखि । ढूँ० आणाण । ढूँ० सु० आनन । ढूँ० सं० गरम । टैसी० गरभि । मा० सं० मच्छ । मा० ढूँ सं० गृहीत । टैसी० ग्रहीत । सु० चाहिं । ढूँ० आंगणै । मा० आंगणि । सु० आँटे । मा० ढूँ० ओटा । सु० गाई । सं० सुप । मा० सं० सु० फिरि ।

दो० १५६—ढूँ० आगलि । सु० आगली । सं० आगइ । ढूँ० सं० प्रिया । टैसी० त्रिया । सं० त्री ('प्री' के स्थान में) । सु० चुथि । सं० चौथि आरंभी । सु० त्रिणि । सं० फिरइ । ढूँ० संगुष्ट । सं० सु० सांगुष्ट । टैसी० सांगुसट । ढूँ० सों । ढूँ० कर ('करि' के स्थान में) । मा० कमल करी । सं० सु० चंपतउ ।

दो० १५७—ढूँ० सु० पधरावी । सं० सु० त्री० । सु० वामिं । मा० प्रभणावो । सं० परस्पर । मा० ढूं० सं० यथा । टैसी० जथा । मा० मांगे लीधी । ढूँ० सं० नवे । टैसी० नवै ।

दो० १५८—सु० दुल्लह होइ आगिं । सु० सुणहर । सु० चुरी । सं० सु० दिसी । सं० हथलेवी छूटी । मा० हथलेवा

छूटी। सु० हथलेवि। सु० छूटि। हूँ० बांधे। सु० आंचला मिस।

दो० १५९—सं० सु० आगलि। हूँ० केलिगृहि। मा० सं० केलिगृह। टैसी० केलिग्रिह। हूँ० अंगणि। मा० मारजन। हूँ० सेभ्र। मा० हूँ० सं० वियाज। टैसी० वियाजि। सु० वयाज। सं० सु० सभ्रि०। सु० विग्राज सभे तस।

दो० १६०—मा० तेण। सु० अति। हूँ० रंग। हूँ० सं० सु० मण। हूँ० चंदूआ। सु० चांद्रवा। सु० तणि। सं० फणि। हूँ० हो। हूँ० सहस फण।

दो० १६१—हूँ० मंदरि अंतरि। सु० कीआ। हूँ० सं० मिलवा। मा० सं० सु० समावृत। टैसी० समाव्रित। सु० कीधि। मा० कीधा। हूँ० तणि। मा० सं० सु० संसकृत। टैसी० संसक्रित। हूँ० सुतिणि। मा० सुतणु। टैसी० सु० सुतण।

दो० १६२—मा० संकुचित। मा० सं० सु० समये। हूँ० सं० सु० वंछित। मा० वंछिति। टैसी० वञ्छति। हूँ० सं० रुप-मणि। टैसी० रुकमणि। हूँ० सं० मा० सु० रमण। मा० सं० सु० दठि। मा० सं० हूँ० किरण। सु० सूरिज।

दो० १६३—हूँ० दंपति ('पति' के स्थान में)। हूँ० त्रीय। मा० त्री। सु० प्रीया ('त्रिया' के स्थान में)। मा० सं० हूँ० मुख। टैसी० मुक्ख। हूँ० मा० सं० देपण। हूँ० निठि। हूँ० चंद। हूँ० किरणि। टैसी० किरण। सं० द्रिविड कि। मा० दठ। सु० द्रवड़ क अति अभिसारिका ······(अन्तिम पंक्ति)

दो० १६४—हूँ० इन। सं० सु० अन। हूँ० सं० सु० पंथ। हूँ० मा० सं० सु० बंधइ। हूँ० चकवाक। हूँ० मा० सं० असंधइ। हूँ० नेसि। मा० संधइ। हूँ० संधि। सु० संधे अहोनिसि।

मा० सं० कामिणि। टैसी कामणि। ढ़ँ० मा० सं० सु० कामियां ('कामि' के स्थान में)। ढ़ँ० तणा। मा० ढ़ँ० सं० लीया। मा० दीपका।

दो० १६५—ढ़ँ० सु० सह। सं० कृतारथा। ढ़ँ० प्रिय। सं० प्रिय। मा० ढ़ँ० सं० सु० कृत। टैसी० क्रित। ढ़ँ० अटत। टैसी० अटति। सं० ढ़ँ० सु० द्वारि। मा० सं० ढ़ँ० सु० विचि। टैसी० वीचि। सु० श्रुत। ढ़ँ० आहठि। मा० सं० ढ़ँ० शृति। मा० ढ़ँ० सं० सु० समाश्रित। टैसी० समास्रित।

दो० १६६—ढ़ँ० हंसागय। सं० सु० थया। मा० थीया। ढ़ँ० सौं। सु० सुं। ढ़ँ० जही। मा० वहे वहस। सु० सुंधावास। मा० सं० सूँधावास। टैसी० सूँधावासि। सु० अनि। ढ़ँ० मा० नूपुर। सु० नेपुर। मा० सं० सद। टैसी० सदि। ढ़ँ० मा० क्रम। सु० आगिं। ढ़ँ० सु० आगम।

दो० १६७—ढ़ँ० अविलंब। मा० अंभिलंबि। सं० आलंबि। ढ़ँ० करि। ढ़ँ० मदि। ढ़ँ० लगायै। सु० लगावे। सं० लगावे। मा० सं० गय। सु० जिम। टैसी० गै। मा० सं० ढ़ँ० सु० गयगमणि। टैसी० गैगमणि।

दो० १६८—सु० धसत। ढ़ँ० सं० जेहरि। सु० जेहड़। मा० आनंद। ढ़ँ० कोईज थयौ। मा० कोजु थयउ। सु० ऊपनु। ढ़ँ० अमाप। टैसी० उमाप। सु० ऊमाप। सं० तिण। टैसी० तिणि। मा० आपे। सु० करायु। मा० ह। ढ़ँ० रामां सौं। सु० रोमाँसू।

दो० १६९—ढ़ँ० वहि। टैसी० विहि। सं० सु० वह। मा० मिलग। सं० घड़ी मिली। सु० घड़ी मिलि। सु० घणु। ढ़ँ० घणा। टैसी० घणूँ। सं० सु० घणां दीहां। टैसी० दीहा। सं० सु० आंतरे। ढ़ँ० आंपग।

दो० १७०—मा० प्रेरवि । मा० सं० रूप । टैसी० सु० रूपि । सु० आँखीआँ । ढूँ० अत्रिपित । सु० अतृपति । ढूँ० जदिपि । सु० जद्यपि । टैसी० जदिअपि । मा० सं० यद्यपि । ढूँ० मा० त्रिपित । मा० तिउं ('तिम' के स्थान में) । सु० करि । ढूँ० विलोकण । मा० धणि । मा० जेहा । सु० जीहा । सं० जीहा ।

दो० १७१—मा० सं० सु० आयाति याति । टैसी० सु० घूँघट । ढूँ० मा० मिलिम्रे । ढूँ० सु० दंपति । मा० सं० सु० कटाक्ष । सु० नीय । ढूँ० मनि सृत । टैसी० सु० अमली ('अमिली' के स्थान में) । सु० कटाक्ष। (दूसरा)

दो० १७२—ढूं० विलासी । सु० जाणीउ । सं० भ्रूहां । सु० भ्रूंह । ढूँ० होय । मा० सं० गृह । टैसी० ग्रिह । ढूँ० सु० बाहरि । टैसी० बाहिरि । सु० सहचरि ।

दो० १७३—सं० सु० एकंत । टैसी० एकन्ति । सु० चु । मा० सं० दीठ । मा० कहि । ढूँ० क्यों ('किहि' के स्थान में)। मा० सं० देव । टैसी० देवि । मा० सं० सु० दुज । ढूँ० अदीठ । मा० ढूं० सं० अश्रुत । टैसी० अस्रुत । सं० जाणइ जाणणहार । मा० सु० तइ । सं० सु० सुज ।

दो० १७४—ढूँ० मा० सं० पवन। टैसी० पवनि । ढूँ० सु० पारथित । ढूँ० त्रीय । ढूँ० निपतित । टैसी० निपतति । सं० ग्रंत । टैसी० अन्ति । सु० सुरतांत । मा० ढूँ० सं० सु० श्री । टैसी० सिरी । सु० क्रीड़िता । ढूँ० क्रीड़ता । मा० सं० क्रीड़ित । टैसी० क्रीड़तां । ढूँ० सु । सु० किं ('सु' के स्थान में) । मा० सं० स । मा० सं० वियाकुल गति ।

ढूँ० कवि गलित। टैसी० व्याकुल गति। ढूँ०नीरासइ। टैसी० नीरासयै। सं० सु० नीरासय। सु० कमलिणी।

दो० १७५—सु० कीध। सु० मणिक। मा० मिलियउ। ढूँ० सामा। मा० लिलाट। टैसी० लिलाटि। सं० ललाटि। ढूँ० कुं कुं विंद।

दो० १७६—ढूँ० मा० सं० सु० वदन। टैसी० वदनि। मा० सं० सु० चित। टैसी० चिति। मा० सं० होयइ। सं० सु० हुय। सं० सु० चष। टैसी० चखु। ढूँढारी प्रति में यह दोहला छोड़ दिया गया है।

दो० १७७—सं० ताल। ढूँ० सामा। सु० भमर। ढूँ० भाराज। मा० भाराजु। टैसी० सु० वाराजु। सं० सु० घो। मा० अवलंब। सं० अविलंबि। टैसी० अविलंब।

दो० १७८—मा० पधराश्रे। सु० कन्हिं। मा० ढूँ० सं० सु० भय। टैसी० भै। ढूँ० मा० सु० त्रूटी। टैसी० तूटी। सं० छूटी। मा० त्रूटी ('छूटी' के स्थान में)। ढूँ० जुद्र। मा० छिद्र।

दो० १७९—मा० ढूँ० सं० सुप। टैसी० सुरि। सु० लाधि। सु० केलि स्यामा सँगि ('स्याम' छोड़ दिया है)। ढूँ० स्याम। टैसी० स्यामि। ढूँ० चुंक चुंक। सु० चुंक चोक। सं० चुंक चौंक। ढूँ० होय। सु० रहीउ।

दो० १८०—मा० ढूँ० राता तति चिंता रति राता। सु० रावा तत चिंता राति राता (प्रथम पंक्ति)। सं० राता तत भर चिंता रत राता। मा० सं० बिन्हें। टैसी० बिन्है। सु० गुण। मा० ढूँ० निद्रावस। टैसी० सु० निद्रावसि। ढूँ० थियौ ('एहु' के स्थान में)।

दो० १८१—मा० लपमीवर । सं० लषिमीवर । टैसी० सु० हरषि । ढूँ० निगरभरि । सु० निगर्भर । ढूँ० ग्राउ । सं० रयरा । ढूँ० तूटंति । ढूँ० कोडाग्री । ढूँ० पोकार । टैसी० सु० पोकारि । ढूँ० जीवत प्रिय । मा० घड़ियालि ।

दो० १८२—मा० ढूँ० मांदा । मा० ढूँ० सं० सु० सइ । टैसी० सति । ढूँ० सूरत्तन । सु० जिम नाश फरिम ('नासफरिम' के स्थान में) ।

दो० १८३—ढूँ० मिली । ढूँ० तद । ढूँ० साध । टैसी० साध्रि । सं० सु० साधि । ढूँ० सं० साध्र । सु० साध । टैसी० साध्रि । मा० ढूँ० सं० इ । सु० इ (छोड़ दी गई है) ।

दो० १८४—सं० उठो । टैसी० ऊठि । सु० ऊठो । मा० सं० सु० अरुणोदय । टैसी० अरुणोद । मा० थियौ । सु० थोउ । सु० योग । सं० निसामय । सं० ज्योति । टैसी० जोति । सु० प्रकाश ।

दो० १८५—सं० सु० संयोगिणि । ढूँ० संजोगिणी । टैसी० संजोगणि । मा० सं० सु० श्री । टैसी० स्त्री० । मा० घरि । मा० ढूँ० गऊघोप । सु० गौ । मा० ढूँ० सु० दिणयर । टैसी० दिणयरि । सु० उगि । सं० एतला । मा० अेतले । टैसी० अेतलाँ । ढूँ० दीधौ । सु० दीधो ।

दो० १८६—ढूँ० वाणिजू । सं० वाणिज । ढूँ० गऊ । ढूँ० असैई । सं० सु० असई । मा० असइ । टैसी० असै । ढूँ० चकवि । मा० सं० ढूँ० सूर । टैसी० सूरि । ढूँ० प्रघटि । सं० प्रकटि । सु० प्रगट । मा० एतला । टैसी० अेतलाँ । ढूँ० समपीयो । मा० समर्पिया ।

दो० १८७—टैसी० सु० वधे, घटे। ढूँ० द्रवि। ढूँ० सुतर। सं० सुरतरु। ढूँ० तद। ढूँ० जगत्र। मा० सु० जगति। ढूँ० कोयो। सु० कीग्र। मा० सु० जगत्र। टैसी० राहु ('राह' के स्थान में)।

दो० १८८—सं० थिया। ढूँ० केहवो। टैसी० केवि हुग्र। सु० केवि हूग्र। मा० सं० हूग्र। ढूँ० ग्रचिरज। टैसी० सु० ग्रचरिज। ढूँ० लोयो हेमदिसि। सु० लीधु सूरिज। मा० सं० सु० वृप।

दो० १८९—मा० ढूँ० सं० श्रीपंड। टैसी० स्रीखण्ड। ढूँ० कुमकुमौ। सं० कमकमउ। टैसी० कुमकमौ। सं० कमकमो। सं० दल। सं० सु० मुक्ता। ढूँ० ग्राभरण।

दो० १९०—ढूँ० सु० माहुठि। मा० माहुति। ढूँ० सों। सु० सुं। मा० सु० मिसि। सं० मिस। सु० ग्रंन। सु० तणु। मा० जण। ढूँ० सु० बोजणपणि। मा० वीजनपिणि। सु० जाणीया। ढूँ० मधिराति। मा० सु० मध्यराति।

दो० १९१—ढूँ० नईरत। सं० नैरति। सु० नेरन्ति। ढूँ० सं० सु० पसर। मा० सं० सु० निरधन। ढूँ० निंझरि। सु० निंझर। मा० धणी ('धणी' के स्थान में)। ढूँ० सं० धण। सु० भजिं। टैसी० धणि। सु० वाय। ढूँ० सु० तर। ढूँ० लवलां। सु० लवल्यां। सं० लहरि।

दो० १९२—मा० नवउ विहाणउ। सु० नवे। ढूँ० सं० सु० विहाणे। सं० सु० क्रीड़ति। ढूँ० धमलहरि। सु० ग्रलंकित। टैसी० ग्रलङ्कित ('ग्रलंकित' के स्थान में)।

दो० १९३—सु० ग्रो चँडी। सं० उवडी धुड़ीरज। ढूँ० धूलिरवि। सु० रज ('रवि' के स्थान में)। टैसी० धुड़ीरव। ढूँ० सं०

पेत्रीग्रे । सु० खेत्रीये । मा० सं० ऊजम । टैसी० उजम । सं० मृगशिर । सु० मृगसिर । मा० मगसिर । टैसी० म्रिगसिरि । सं० वायइ ('वाजि' के स्थान में) । हूँ० ययौ वैरी ('किया किंकर' के स्थान में) । मा० हुइ वइरी । मा० सं० हूँ० मृग । टैसी० म्रिग । हूँ० मा० सं० आर्द्र । टैसी० आद्र । मा० कीयो । हूँ० मा० भुइ ('धर' के स्थान में) । सु० आर्द्रे ('आद्रा' के स्थान में) ।

दे१० १६४—हूँ० रिप । हूँ० थिय । सं० थिश्रौ । हूँ० चातिग । सु० रटिं । टैसी० बलाकी । हूँ० हर । सु० सिणगारिं ।

दे१० १६५—हूँ० धारां । सु० धारै । मा० हूँ० सं० श्रावण । टैसी० स्रावण । हूँ० दिसादिसि । मा० सं० दिशोदिश । हूँ० थंभे । सं० विरहिण । टैसी० विरहणि । सु० विरहिणी । सु० थोया ।

दे१० १६६—मा० सं० दडडि । सं० सघन । सु० गाजीउं ।

दे१० १६७—हूँ० निहिसे । हूँ० सु० विण । टैसी० सु० थलि २ । हूँ० समागम । टैसी० सु० समागमि । हूँ० सं० पदमिनी । सु० पदमिणी । सं० लीधइ । सु० लीधि । सं० सु० ग्रहणे ।

दे१० १६८—हूँ० तर । सु० तरुल्लता । हूँ० त्रिण । मा० सं० सु० तृणे । टैसी० त्रिणे । हूँ० अंकुरते । मा० सं० अंकूरित । टैसी० अंकुरिव । मा० नीलंबरि । सं० नीलांबर । हूँ० प्रथमी । मा० सं० पृथिमी । टैसी० प्रिथमी । सु० मि ('मैं' के स्थान में) । हूँ० हारि । हूँ० सं० पहरिया । टैसी० पहिरिया । मा० परठिया ('पहरिया' के स्थान में) मा० पहिरिया ('पहिरे' के स्थान में) । मा० नेउर ।

दो० १९९—सु० काजल (दोनों जगह) । सं० कज्जल । मा० ढू० रेह । सं० सु० किरि । सु० बिंदुलु, कुंकुमि । ढू० प्रथवी । सं० पृथिमी । टैसी० प्रियमी । मा० ढू० सं० सु० निलाट । टैसी० लिलाट ।

दो० २००—ढू० मिलियौ । सु० मिलीइ । ढू० मा० तट । टैसी० तटि । ढू० ऊपट । ढू० वियरी । ढू० सं० धण धर । टैसी० धणि धर । ढूँ० सं० सु० धाराहर । सं० जमुन । सु० यमुन । मा० जवण । मा सं० सु० किर । ढूँ० वेणी ('त्रिवेणी' के स्थान में) । मा० त्रिवेणीज ।

दो० २०१—मा० सं० श्यामा । टैसी० स्यामा । ढू० सरस । ढू० घेघूंबे । सु० घेघुंचे । ढूँ० गल । ढूँ० बांहा । सं० बांहां । मा० बाहां । टैसी० बाहा । ढूँ० सं० भ्रम । ढूँ० सं० वंदन । टैसी० सु० वन्दण । ढूँ० रिपिये । मा० ऋपय । ढू० लिपि । मा० लपी । सु० सर्कि ।

दो० २०२—मा० सं० सु० रूठां । ढू० पाय । सु० पाइ । मा० सं० पय । मा० मनाइ करेरूप । सु० दंपतीए । मा० गिण । सं० दीघउ ।

दो० २०३—ढूँ० सं० श्रवति । टैसी० स्रवति । मा० सु० श्रवत । सं० सु० कज्जल । ढूँ० पीयला । सं० सु० श्रेक । सु० आधोफरे । सं० आधोफेरे । ढूँ० औघसता । ढूँ० सं० सु० राजे ।

दो० २०४—ढूँ० कादो । टैसी० कादूं । सु० कादुं । ढू० कुंदणि । सं० पभ । ढूँ० मंदरे । सं० पदमरागमय । सु० मि ('मैं' के स्थान में) । ढू० मा० सिपरि । ढूँ० सिपरिसे । मा० सिपरकीय, सिरि । टैसी० सिखर सिखर मै ("सिखरि सिखि रमै" के स्थान में) । सु० सिखरमि ।

दो० २०५—ढूँ० धरिये । मा० सं० सु० तिणि ('तनि' के स्थान में)। ढूँ० वसत । ढूँ० कुमकुमइ । मा० कमकमे । सं० कुंकुमे । सं० धोयां । ढूँ० सौंधा । टैसी० सुधा । ढूँ० पवलिति ('प्रखोलित' के स्थान में) । सु० धवलित । सं० प्रचालित ('प्रखोलित' के स्थान में) । सं० सु० महलि । मा० ढूँ० सं० सुप । टैसी० सुरि । ढूँ० भर । ढूँ० सं० सु० श्रावणि । मा० श्रावण । टैसी० स्रावण । ढूँ० भाद्रवि । टैसी० भाद्रव । मा० ढूँ० सं० सु० रुपमिणि । टैसी० रुकमणि । ढूँ० वरि अवेवहो । ढूँ० मा० रुप । टैसी० रुखि ।

दो० २०६—सु० वरिया । ढूँ० रिति । सं० ऋतु । सु० ऋत । सं० शरद । ढूँ० मा० वापाणिसि । ढूँ० वइणो वइणि । सु० वायणा ढूँ० सु० नीपरि । मा० धरि । ढूँ० रह्यो । मा० रह्यउ ।

दो० २०७—ढूँ० औषधी । सु० टैसी० सरदि कालि । मा० सं० सु० श्री । ढूँ० सुरता । सु० अंति । मा० ढूँ० सं० सु० जिम । टैसी० जेम ।

दो० २०८—ढूँ० वितजे । मा० वितिओ । सं० नभ । ढूँ० प्रथी । टैसी० प्रिथी । सं० जल । सु० जले । मा० गुडुलपण । ढूँ० सु० गुरि । मा० मिलि ('कलि' के स्थान में) । सं० जल ('जण' के स्थान में) । ढूँ० दीपति । सु० दिपत । टैसी० दिपत । सं० ज्ञान । सं० प्रगटी । मा० सं० दहन ।

दो० २०९—ढूँ० गऊपोर । मा० ढूँ० सं० श्रवति । टैसी० स्रवति । मा० सं० सु० सुश्री । टैसी० सुस्री । ढूँ० सरद । टैसी० सु० सरदि । ढूँ० श्रगलोग । स्रगलोक । ढूँ० मातलोक । मा० सं० सु० मृतलोक । टैसी० म्रित्तलोक ।

दो० २१०—सु० बोलंति । मा० महुरमुह । सं० मुहुरमहु । मा० सकल । मा० निस । मा० सरदि । हुँ० त । मा० तिणि । सं० तिण ('ते' के स्थान में) । सु० हंसिणी । सु० तिन पासि देखि ।

दो० २११—सं० ऊजलां । सु० उजूलां । हुँ० सं० अदरमणि । टैसी० सु० अदरिसण । हुँ० सु० अजुआली । सं० वजुवाली । टैसी० उजुआली । हुँ० घणा । सु० घणि । मा० घणउ । हुँ० किसौ । सु० किसुं । हुँ० वाणाणि घणौ । हुँ० ओजा-सैहै । सं० ऊजासां हि । हुँ० आपणौ ।

दो० २१२—मा० बइठा । हुँ० तरुणि । मा० सं० सु० कणाय । टैसी० कणौ । मा० तुलिता । हुँ० मुंइ । हुँ० सं० सु० दिन दिन । मा० दिणि दिणि । टैसी० दिनि दिनि । सं० तिण । सु० दिण ।

दो० २१३—हुँ० मा० दीन्हा । हुँ० मा० सु० कातिग । टैसी० कातिक । हुँ० थका । हुँ० सु० बाहिर । टैसी० सु० थकी । टैसी० बाहिरि । टैसी० सु० भीतरि । सु० भासिं । हुँ० सं० सु० जिम मनि । हुँ० सु० सुखि ।

दो० २१४—सं० सु० नवनवी । हुँ० नवी नवनवा मही महोछव । सु० महीछव । हुँ० मांडीयै । सं० सु० जिण । हुँ० जइ ।

दो० २१५—हुँ० नवै । सु० नवि । टैसी० नवौ । मा० नवउ । सं० सु० नवि ('नवा' के स्थान में) । हुँ० चा । हुँ० मा० रुपमिणि । टैसी० रुकमणी । सं० रुकमिण रमणि । सु० रुपुमिणि रमणि । हुँ० वि ('जु' के स्थान में) । हुँ० रिति । हुँ० सं० अुगव । सं० रासि मिसि ।

दो० २१६—ढूँ० अ्रेह । सं० अ्रेही । सु० एहीज । मा० पर । ढूँ० सं० सु० भीर । मा० सं० सु० धनंजय । टैसी० धनञ्जै । ढूँ० अनियै । मा० सं० नइ । मा० सं० सु० सुयोधन । टैसी० सुजोधन । ढूँ० सं० भलउ । टैसी० भलै । सु० भलु । ढूँ० ज । ढूँ० मा० मींट । सु० मीट । टैसी० मींटि । ढूँ० मा० जनारजन । सं० जनारदन । टैसी० जनार्जन ।

दो० २१७—ढूँ० वाइ । मा० सं० वाय । सु० फिरि वाय पछी उत्तर फरहरीया । सं० उत्तर । सु० उत्तर ('उर' के स्थान में) । मा० भुवंग । ढूँ० प्रथमी । टैसी० प्रिथमी ।

दो० २१८—ढूँ० होवे । सं० सु० हुवि । मा० हुवइ । टैसी० हुश्रो । ढूँ० घट । सं० हेम । टैसी० हेमे । मा० हेमि । सं० हिमालय । सं० मा० ढूँ० सु० शृंग । टैसी० स्रिङ्ग । सु० योवनागम । ढूँ० मा० कृस । टैसी० क्रिस । सं० कृश । सु० थीए, थाये ।

दो० २१९—सु० भूजन्ति । ढूँ० सं० सु० सुगृह । टैसी० सुग्रिह । मा० सुगृहे । ढूँ० सं० सु० हेमंत । मा० भयं । सं० मिलन । ढूँ० मिलि निसि तन । टैसी० मलिन सुतनु ('मिलि निसि तु न' के स्थान में) । सु० तनु ('तु न' के स्थान में) । ढूँ० सं० सु० कोई । टैसी० केइ । मा० सं० सु० मग । मा० जिणि । सं० सु० जिण । सु० भारीयउ, जग ।

दो० २२०—मा० जेहां । सं० सु० दरिसगा । मा० दरसिगि । सं० सु० संकुडिगि । टैसी० सङ्कुड़ग । ढूँ० सं० नीठ । ढूँ० छंडे । ढूँ० सं० करपगि । टैसी० करखग । मा० कर्पग ।

सं० पंगुरणि । मा० पंगुरिणि । टैसी० पङ्गुरण । सु० जिम प्रौढ़ा करउणि पंगुरणि । (चतुर्थ पंक्ति) ।

दो० २२१—ढूँ० उलझाया । टैसी० सु० अलुझाया । मा० तनुमनु । ढूँ० मांहि । सं० विहित । सु० विहत । ढूँ० सोति । सु० मा० रुपुमिणी । स० रुपमिणि । टैसी० रुकमणी । मा० सं० सु० वर । सु० सगवि । ढूँ० सति सतिवंत ।

दो० २२२—ढूँ० मकरधजि । मा० वाहनि । सं० सु० वाहन । ढूँ० चडे । ढूँ० मा० सं० सु० उत्तर । टैसी० ऊतर । सं० वायु । ढूँ० अतुर । सु० आतुर ('अउर' के स्थान में) । मा० विरहिणी । टैसी० विरहणी । सं० विरहिण । सु० कोश्र । सु० संयोग ।

दो० २२३—मा० ढूँ० सं० सु० कृपण । टैसी० क्रिपण । ढूँ० पवनहि । सं० पवणह । सु० पवनह । सु० अंब । ढूँ० अंबहि । स० माह । सु० माधि । ढूँ० मा० सं० लोक । टैसी० लोग । सु० लागु । सं० शीतल । सं० जलणि ।

दो० २२४—ढूँ० सं० वन । सु० जालि । ढूँ० नलिणी । मा० सु० नलिनी । ढूँ० पातिगि । सु० पातगि । स० पातिग । टैसी० पातिक । मा० पावक । सं० तिण । टैसी० तिणि । सु० पैसइ । मा० मंजिया । सं० मांजीया । सु० मांजीआ । मा० सं० तणा । सु० विण, तणि ।

दो० २२५—ढूँ० प्रतिहारि । सं० सु० सीय । मा० सीउ । मा० ढूँ० सं० पाले । टैसी० पालै । सु० ऊपरि । सं० सु० दिसे । सं० अरकि । ढूँ० आगनि अरक । सु० अरक । ढूँ० तन । मा० सं० उवारइ । सु० उँवारइ ।

दो० २२६—ढूँ० थिग्रे । मा० थीउ । ढूँ० पालटि । ढूँ० रिति । सं० रति । सु० थई रति पालट । मा० ऋतु । मा० सं० सु० दह । मा० सं० कीय । सु० कीग्र । टैसी० द्रह कियौ ('डहकियौ' के स्थान में) । ढूँ० कलिकंठ ।

दो० २२७—ढूँ० वेणा । मा० ढूँ० सं० महुयरि । टैसी० महुवरि । सु० महूयरि । ढूँ० वजावइ । ढूँ० रोरी । टैसी० रोरी । ढूँ० सं० मुप । टैसी० मुखि । ढूँ० सं० विरह । ढूँ० जणि । मा० दुतरिणि । सं० फागुण । टैसी० सु० फागुणि । सु० घरि घरि ।

दो० २२८—सु० अजहुँ न तरु । ढूँ० तरि । सं० न तरु । सु० पलव । ढूँ० थुड़ डालां । ढूँ० गादरिति । ढूँ० सं० सु० थया । मा० सं० सिणगार । टैसी० सिणगारि । ढूँ० सोहै । मा० सोभति । सु० सोहति । मा० सं० सु० जाणे ।

दो० २२९—सं० सु० सु ('समा' के स्थान में) । ढूँ० समापित । टैसी० समापति । ढूँ० दधी । सु० दीधि । सं० दीधी । ढूँ० रित । टैसी० सु० रति । मा० स० मन । टैसी० मनि । ढूँ० मणि । ढूँ० वेण । मा० सं० वेयणि । टैसी० वेइण । सु० वइण । मा० मिसि कोकिल । मा० कूजंति । सु० कोकि मिसि कूजति । सु० वनस्पती ।

दो० २३०—सु० पान । ढूँ० फूले ('फले' के स्थान में) । सु० सुं ('सु०' के स्थान में) । मा० वस्त्रे । सं० सु० धरव । मा० सं० पूजीग्र । सु० पूजीए । सं० कसेवटि । सं० संगि ('ग्रँगि' के स्थान में) । सु० कसटि, वनसपतो ।

दो० २३१—मा० सं० सु० कल् । सु० लागि । मा० सं० ढूँ० मलयानिल, त्रिगुण । सु० त्रिगुण । टैसी०मलियानलि, त्रिगुणि ।

सं० सु० पसरत्ति। हूँ० पुधा त्रिस। टैसी० श्रम्बु त्रिसि। सु० श्रम्बु त्रिस। ढूँ० पूत। मा० सं० सु० पूत्र। टैसी० पुत्र। मा० सं० मधूक ('मधुप' के स्थान में)। सु० मधुक। मा० सं० ढूँ० श्रवति। टैसी० स्रवति।

दो० २३२—सं० वन। मा० तरु तरु। सं० सरूयरि। सु० सरूअरि। सु० पुरप। सं० पथ। ढूँ० जनमोयां। सु० जनमोउ। ढूँ० दियण। सु० देश्रण। ढूँ० रमो। ढूँ० चडि पवनि।

दो० २३३—ढूँ० मवर। सं० सु० प्रवर ('मौर' के स्थान में)। ढूँ० श्रज। मा० कलीय। सं० सु० किरि। सु० वंनर०। सं० वन्नरमाल। मा० वन्नरवाल। टैसी० वन्दरवाल। ढूँ० वेलो। ढूँ० मा० तरयर। सं० तरुयरि। सु० तरूअरि। सं० सु० श्रेकां। ढूँ० बियै। मा० बीश्रे। सं० बीय। टैसी० बीयै। सु० बीए।

दो० २३४—ढूँ० फटि। मा० सु० फट। ढूँ० वनरेगि। सु० वंनरेग सं० वन्नरेण। सु० नालकेर। ढूँ० मजात। सं० मज्जति। मा० सं० करि। टैसी० मज्जाति किरि ('मज्जा तिकरि' के स्थान में)। ढूँ० कुंकूं। मा० कुंकम। मा० श्रखित। ढूँ० किंजुलिक। सु० किरि ('तिकरि' के स्थान में)। सु० मंगलिक।

दो० २३५—ढूँ० सं० सु० श्राया। मा० इलि। टैसी० इल। सं० वधामणी। ढूँ० सु० श्रावी। सं० पोइण। सु० पोयणि। सु० एण। मा० सं० श्राणंद। टैसी० श्राणँदि। सु० काचमिं। मा० ढूँ० सं० भामिणि। टैसी० भामणि।

दो० २३६—मा० सं० सु० करि। सु०पूत्र०। ढूँ० थय। मा० थयउ। ढूँ० सं० मा० सु० मन। टैसी० मनि। ढूँ० पीयला।

दो० २३७—मा० सं० सु० कणीयर। ढूँ० सु० तर। ढूँ० करणि। सं० सु० करण। सं० सेवंती। सु० सेवँती। टैसी० सेवन्त्री। मा० कूंजा। ढूँ० जात्री। ढूँ० वरन वरन विध दे। सु० वरण वरण। सु० वसन्नि।

दो० २३८—सं० सु० सहित ('एणि' के स्थान में)। मा० वधायउ। सु० बधायो, बधावे। सं० दिन दिन। टैसी० सु० दिनि दिनि। सं० भरणि। ढूँ० मा० हूंलामणी। सं० सु० हूलावणे। ढूँ० फागि। मा० ढूँ० सं० हूंलायउ। सु० हूलायो। ढूँ० सु० तर। सं० थिया। सु० थिश्र।

दो० २३९—मा० सं० ढूँ० तहां। सु० तहाँ। टैसी० तिहाँ। मा० सु० सं० सिल। ढूँ० सु० सिंघासणि। ढूँ० सु० धरि। सु० माथि। ढूँ० चलि। टैसी० सु० चल। मा० सं० ढलइ। सु० चमरि।

दो० २४०—सं० लुंबित। ढूँ० चुंवति। सु० बुंचति ('चुम्बित' के स्थान में)। ढूँ० मुंचित। मा० सु० मुंचति। सं० मुंचंति। टैसी० मुँचन्ति।

दो० २४१—ढूँ० मा० सं० लास। सु० ल्हास। टैसी० ल्हासि। ढूँ० मा० हुई। सु० हुइय। ढूँ० ढाल। सु० खजूडि। मा० टलकायउ। मा० गिरवर। ढूँ० मा० गई। सु० गइय।

दो० २४२—ढूँ० सं० सु० तर। मा० तड। सु० तुंड। ढूँ० सं० तुड ('तड़ि' के स्थान में)। ढूँ० मा० सरग। सं० वैठि। सु० बेठि। मा० ढूँ० सं० वमंत। टैसी० वसन्ति। सं० जगिद्दघ। ढूँ० ऊपरी। टैसी० ऊपरा। ढूँ० जग।

दो० २४३—ढूँ० रिति राउ। सु० रितुराउ। मा० मंडीयइ। सु० मंडीउं। मा० अवसरि। मा० ढूँ० सं० मृदंग। टैसी० म्रिदङ्ग। मा० ढूँ० सं० नायक, गायक। टैसी० सु० नाइक, गाइक।

दो० २४४—मा० नृत्यकर। मा० सु० पवग। मा० सं० आर। ढूँ० त्रीवटि उवटि।

दो० २४५—सं० शुक। ढूँ० सं० सु० लाग। टैसी० लागि। ढूँ० दाट। टैसी० दाटि।

दो० २४६—ढूँ० आंगणि। सं० सु० अंगण। टैसी० अङ्गणि। सं० सु० तरप। मा० उरप तरप। ढूँ० अल। ढूँ० पिअति। टैसी० सु० पीयति। सं० किर। ढूँ० लियत मरू। टैसी० लियति मरू। मा० लिय लिमरू। सं० लीय तिपुरू। सु० लीयति पुरू। ढूँ० रामसरा। स० रामलिरो। ढूँ० लगी। ढूँ० धूवा। मा० सं० सु० धूया। ढूँ० धुर। टैसी० धूआ।

दो० २४७—ढूँ० तरवर। मा० तरुवर। टैसी० सु० तरूअर। स० तरुयर। ढूँ० दीपकर। ढूँ० सं० मवरित। ढूँ० मा० सं० सु० रीझ। टैसी० रीझि। ढूँ० हरिप। टैसी० सु० विमल ('कमल' के स्थान में)। मा० सं० कृत। टैसी० क्रित।

दो० २४८—ढूँ० प्रघटै। सं० प्रकटित। सु० प्रगटित। ढूँ० मधि। ढूँ० प्रघटीयौ। सं० प्रकटीया। ढूँ० सुमिरि। मा० स० सु० ससिर। ढूँ० जमनिका। मा० जवनिका। सं० सु० दूर। टैसी० सु० सरि ('सिरि' के स्थान में)। टैसी० जवणिका। ढूँ० निजि। ढूँ० पात्रि। ढूँ० रिति। मा० स० सु० रति। सु० नंपी। मा० सु० वगराइ।

दो० २४९—ढूँ० अदभुज। टैसी० सु० अम्बुज ('उदभिज' के स्थान में)। ढूँ० सुसिरि। मा० सं० सु० ससिर। सु० दुरिस। सं० वायु। टैसी० वाउ। मा० सं० न्याय। टैसी० न्याउ। सु० न्याइ। सु० थापीया ('ऊथापिया' के स्थान में)।

दो० २५०—ढूँ० पानां। सु० पाडीया। ढूँ० मा० सं० पाडिया। टैसी० खाडया। सं० द्रव्य। ढूँ० मा० मंडिया। सं० मांडिया। टैसी० मांडया। सु० मंडीया।

दो० २५१—मा० ढूँ० सं० सुराज। टैसी० सुराजि। ढूँ० थिया। टैसी० थया। सु० निसंकित। सु० सरि ('भरि' के स्थान में)। ढूँ० तरव्वरां। सं० विलग्गी। मा० ग्रहणां। टैमी० ग्रहणा।

दो० २५२—ढूँ० पीडंति। टैसी० पीडँत। सु० हिमंत। ढूँ० सुसिर। मा० सिसर। ढूँ० सु० रिति। ढूँ० टालीयो। सु० टालीउ। मा० सं० टालीयउ। सु० व्यापे। सु० वेलि। ढूँ० तरवरां। सु० तरवरा। ढूँ० विसतरियौ। सं० सु० विसतरीयउ। सं० वेसाप।

दो० २५३—ढूँ० तिहि। ढूँ० सं० सु० ग्रहण मवर। ढूँ० सु० तर। टैसी० डङ्कन ('डंक न' के स्थान में)। मा० करगाही।

दो० २५४—सु० भारीया। ढूँ० तर। सं० काम। टैसी० कामि। सु० कांमि। ढूँ० रितिराइ। मा० वेसन्नरि। सु० वेसनर। सु० भुरडीतु। मा० सु० जग।

दो० २५५—मा० सं० वरपा। टैसी० वरिखा। मा० वरपत। टैसी० वरखति। सं० सु० वरपित। सं० सु० चातग। मा० चातक। टैसी० चातिग। ढूँ० वंचति। सं० वंछित। ढूँ०

सं० सु० वंच। सु० तिम। ढूँ० सु० राजि। ढूँ० फूलि। मा० फूल। ढूँ० पंप। टैसी० पङ्खि। सं० सु० पंखि। मा० सं० कृत। टैसी० क्रित। मा० लद्ध। सु० लब्ध। ढूँ० मा० सं० बोलंति।

दो० २५६—ढूँ० क्रुसमित। ढूँ० कुसुमायुध। टैसी० कुसुमाउध। ढूँ० उदै। ढूँ० सं० सु० छत। टैसी० कित। मा० श्रों ('तिहि' के स्थान में)। सं० सु० तह ('तिहि' के स्थान में)। ढूँ० थिय। सं० सु० थीउ। ढूँ० पीन। सं० पेपे श्रेक रंप पंति परिफूलित। वदइ नारि अनि अनि वचन। परन्तु टीका में ऊपर दिया साधारण पाठान्तर भी दिया हुआ है। मा० किंसुप। टैसी० किंसुक। सु० संयोगिणि, किशुक, कहे। सु० पेखे एक रूंख पँति परिफूलित, बदइँ नार अन अन वचन (पूर्वार्द्ध के स्थान में)। साधारण पाठान्तर भी दिया है।

दो० २५७—ढूँ० सं० सु० तस। मा० सं० कुसुम। टैसी० कुसम। ढूँ० वनिवनि। ढूँ० मा० मालिणि। टैसी० मालणि। ढूँ० केसरि। टैसी० केसर। मा० वीणत।

दो० २५८—सु० सभिन। ढूँ० भेट। टैसी० सु० भेटि। सं० सु० सभि। ढूँ० मा० डगमग। सं० सु० डिगिमिगि। टैसी० डिगमिग। ढूँ० पाउ वाउ। टैसी० सु० पाय वाय। मा० सं० वायु। सं० सु० क्रुद्ध। मा० धर ('डर' के स्थान में)। मा० हालिया। ढूँ० सं० सु० मलयाचला। ढूँ० हेमाचलि। मा० हेमाचल। टैसी० मलयाचल हिमाचल ("मलयाचल हूँत हिमाचल" के स्थान में)। मा० हरि। सु० डिगिमिगि पाय वाय क्रुद्ध डर (द्वितीय पंक्ति)। सु० हालीउं मलया चला हिमाचल (तृतीय पंक्ति)।

दो० २५९—ढूँ० सं० सु० गलि गलि विलग। ढूँ० दत्तण। सु० दषिण। मा० सं० दत्तिण। मा० हूंतउ। सु० हुंत। सु० आवतु। सं० सु० उत्तर। ढूँ० त न वहै ("तिणि वहै न" के स्थान में)। ढूँ० पग। सं० पगि। सु० ति न। सु० वहिं ('वहै न' के स्थान में)।

दो० २६०—ढूँ० कुसम। ढूँ० सं० तणौ। सु० तणउं। मा० सं० ढूँ० श्रम। टैसी० स्रम। स० सु० निर्भर। मा० सं० ढूँ० श्रवति। टैसी० स्रवति। ढूँ० कांधे। मा० पंधे। सं० कंधइ। ढूँ० गुर। सु० तिण।

दो० २६१—ढूँ० लीधै। सु० लीइ। ढूँ० तस। सं० वास अंग। सु० जलि। मा० सं० सु० कृत। टैसी० क्रित। मा० शोच। टैसी० सोच ('सौच' के स्थान में)। मा० सं० सु० दत्तिणानिल। सु० आवतु। ढूँ० सं० सु० उत्तर।

दो० २६२—सु० पुहुप। मा० सु० परसपर मूंके। सं० परस्पर मूके ('न परस पमूँके' के स्थान में)। ढूँ० देयतौ। सं० सु० देतु। ढूँ० अंग। टैसी० अँगि। सु० अंगि। सु० आलिंगिन। सु० मतवालु। सं० पाय। मा० पय। टैसी० पै। स० ठाइ। टैसी० ठाहि। सु० पाइ ठांइ।

दो० २६३—ढूँ० तोइ भरणि। सु० तोइ भरण। टैसी० तोय भरण। ढूँ० छंटि। टैसी० छँडि। सु० छंडि। ढूँ० श्रौघसति। मा० सं० सु० ऊघसत। टैसी० ऊघसति। ढूँ० मलै। मा० तरु। सं० अंगि। मा० ढूँ० सं० श्रवति। टैसी० स्रवति। सं० ढूँ० मलपति। सु० महिपति। मा० मदोनमत्त। टैसी० मदोमत्त।

दो० २६४—सं० ओगलित। सु० उगलित। सं० सु० पवण। टैसी० पवन। सं० मा० सु० उभय। टैसी० उभै। मा० पन्न। ढूँ० सयल। मा० सेल। सं० सु० संयोग। मा० सँयोगि। मा० सं० सु० संयोगिणि। सं० विरहिणी। टैसी० सजोगणि, विरहणी। टैसी० सु० भ्रख ('भख' के स्थान में)।

दो० २६५—ढूँ० रति। सं० रिति। ढूँ० कहिमि। सं० कहि। ढूँ० दिवसि रसि। सं० रस ('सरस' के स्थान में)। ढूँ० कहिमि। ढूँ० रम ('मरस' के स्थान में)। ढूँ० किहौ। ढूँ० कहंति। टैसी० कहन्त। मा० सं० पप। टैसी० पक्ख। सं० सुद्ध। ढूँ० त। सु० सुद्धति। सु० सारीपु। ढूँ० वसंति। ढूँ० वहंति। टैसी० वहन्त। सु० रिति कहिय दिवस रस राति किहिय रस कहि। (प्रथम पंक्ति)।

दो० २६६—ढूँ० वसंति। टैसी० वसँत। ढूँ० सारिपा। सु० सारीख। ढूँ० अेकै अेक। सं० सु० अेको अेक। ढूँ० थिय। सं० सु० थई। ढूँ० स० कांता कांता। सु० वस ('वसि' के स्थान में)। सं० गुण ('गुणि' के स्थान में)। ढूँ० थिय। सं० सु० थयउ। सु० जिम कंत गुणे······(तृतीय पंक्ति)।

दो० २६७—मा० सं० सु० गृह। टैसी० ग्रिह। ढूँ० सु० तणि। ढूँ० सु० ग्रहणा। ढूँ० पाहपई। सु० युं ('इ' के स्थान में)। मा० पुहप सु। ढूँ० ओढणि। ढूँ० पाथरणि। टैसी० पाथरण। सं० हींडोल। सु० हींगेलि। सं० हींचति। सु० हाजति। मा० सं० सु० सह। मा० सु० सहचरि। टैसी० सहिचरि। सं० सहचर। ढूँ० मा०

सु० सरणि। टैसी० सरण। सु० पुहपमि ('पुहपमै' के स्थान में)।

दो० २६८—सु० परबोधिं। ढूँ० मा० नित। सं० सु० निति। मा० ढूँ० सं० सु० मयण। टैसी० मैण। सं० श्रेण। टैसी० श्रेणि। ढूँ० परि ('विधि' के स्थान में)। ढूँ० मा रुपमिणि। सु० रुपुमिणि। सं० रुकमिण। टैसी० रुकमणि। ढूँ० सु० रिति।

दो० २६९—मा० पसर। ढूँ० अनुसरि (दूसरे 'अवसरि' के स्थान में)। मा० सं० हावभाव। सं० अंगि। मा० आपणा। सु० जिण।

दो० २७०—ढूँ० वसदेव। सं० सु० थया। ढूँ० वासदेव। सं० सु० वासुदेव। ढूँ० प्रदिमन। सं० सु० प्रद्युमन। सु० देवकी। मा० राम सहोदर रुकमिणि सासू। सु० द्वितीय पंक्ति का 'पित' लुप्त है। सु० अन्तिम पंक्ति के अन्तिम शब्द 'रति' को छोड़ कर सब पंक्ति लुप्त है।

दो० २७१—ढूँ० सु० ग्रहे। मा० सं० गृहे। टैसी० ग्रिहे। मा० पुत्र ('पित' के स्थान में)। ढूँ० प्रदिमन। सं० सु० प्रद्युमन। ढूँ० पौत्री। सु० पोत्रो। सं० पोत्रउ। मा० सं० अनिरुद्ध।

दो० २७२—ढूँ० सं० कहिसि। मा० कहसि। ढूँ० सु० तास। ढूँ० जसु। सु० यश। मा० थाकिउ। ढूँ० कहि कहि। मा० ढूँ० सं० नारायण। टैसी० नाराइण। मा० निगुण। सं० त्रिगुण। सु० त्रिगुण। मा० सु० निलेप। सु० रुपुमिणि। मा० ढूँ० सं० रुपमिणि। टैसी० रुकमणि। ढूँ० प्रदिमन। सं० प्रद्युमन। सु० प्रद्युम्न। मा० सं०

अनिरुद्ध । सु० अनरुध । हूँ० सहचरिहै । मा० सहचरी । सं० सहचरीहे । सु० सहचरिहिं ।

दो० २७३—सु० लोकमता । मा० हूँ० सं० श्री । टैसी० स्री । हूँ० लषमी । मा० लषिमी । मा० सं० सु० पद्मा पद्मालया । हूँ० पदमालया प्रिया पदमा । हूँ० अपर । हूँ० ग्रहे । मा० सं० सु० गृहे । मा० सं० अस्थिरा । टैसी० असथिरा । टैसी० ग्रिहे ।

दो० २७४—मा० सं० सु० दर्पक कंदर्प । मा० हूँ० सं० सु० कुसुमायुध । टैसी० कुसुमाउध । हूँ० तनसार । सं० सु० स्मर । मा० सं० सु० मन्मथ । मा० सं० मकरध्वज । टैसी० मकरधज ।

दो० २७५—हूँ० चतुरथ स चतुरवरण चतुरातम । सु० चतुर्मुख चतुर्वण चतुरातम । सं० चतुर्वर्ण चतुर्मुख चतुरातम । मा० चतुरातम । हूँ० विग्य । टैसी० विगत । सं० सु० विक्त । सं० सु० चतुर्युग । मा० सं० सु० सर्वजीव । टैसी० सरवजीव । हूँ० विस्वकेत । मा० सं० सु० विश्वकृत । टैसी० विसवक्रित । हूँ० सं० ब्रह्मसू । टैसी० ब्रहमसू । मा० ब्रह्मसु ।

दो० २७६—हूँ० सुरसती । हूँ० क्रांति । मा० सं० सु० कांति कृपा । हूँ० रिधि विधि । मा० सं० सु० वृद्धि । टैसी० व्रिद्धि । हूँ० सुचि । सं० शुचिता । मा० सं० सु० श्रद्धा । मा० सं० सु० मर्यादा ।

दो० २७७—हूँ० सुपह । मा० सं० सु० गृह । टैसी० ग्रिह । मा० सं० सङ्ग्रह । टैसी० सङ्ग्रह । सं० ज्ञान । सु० सं० तणीज । सं० जु । टैसी० ग्यान तणी पञ्चमी जु गालि ।

ढूँ० गांणि तिणि होज पंचमी गालि। सं० सु० निंद्या।
ढूँ० मूंको। सु० मूंकी, चांडालि।

दो० २७८—सु० खगि। मा० सं० पेत्र। टैसी० सु० खेत्रि। सु० बेसे। ढूँ० छभा। सं० बोलणि। मा० सं० वंछइ। सु० बंछति। टैसी० वञ्छि। ढूँ० त। टैसी० ते। सं० तौ। टैसी० प्राणिया ('प्राणी' के स्थान में)।

दो० २७९—सु० कंठि। मा० ढूँ० सं० सु० श्री। टैसी० स्त्री। मा० ढूँ० सं० सु० गृहि। सु० मुखि। टैसी० ग्रिहि। मा० शोभा। सं० मुकति। सु० करि ('तिकरि' के स्थान में)। सं० जपे। ढूँ० त्यां। टैसी० ताँ। सु० ता।

दो० २८०—ढूँ० सोइ। मा० सुइ। टैसी० सु० सूइ। सं० सूर्य। मा० सं० जल। टैसी० जलि। मा० स्पर्श। ढूँ० हरु। टैसी० आप सपरस हरु जित इँद्री ("आप अपरस अरु जित इन्द्री"—के स्थान में)। मा० जपंतां ('पढन्ताँ' के स्थान में)। सं० अपर स्परस जितेंद्री अत्र। वेलि पढ़ंतो नित प्रति त्रीवंछक। वछित वर पामइ त्री विचित्र। सु० आप स्परसि जितेन्द्री अत्र (द्वितीय पंक्ति)। सु० बेलि पढ़त नित्य प्रति त्री वंछक, वांछित पामि त्री विचित्र (तृतीय, चतुर्थ पंक्तियाँ)।

दो० २८१—ढूँ० आंपमहि ('आप मै' के स्थान में)। ढूँ० रुपमणि। टैसी० रुकमणि। मा० रुपमिणि। सु० रुपुमिणी। सं० रुकमिण। सं० सु० कुसन। सं० सरीस। सु० कहिं। सं० कुमारी। टैसी० कुँवारी। ढूँ० मा० सोहाग। सु० पूत्र।

दो० २८२—ढूँ० मा० पूत। टैसी० पुत्रि। सं० पूत्र। सु० पोत्रे (दोनों स्थान में)। ढूँ० सु० भर। ढूँ० साहिणि। सं० मा० सु० साहण। टैसी० साहणि। मा० सं० भंडार। टैसी० भण्डारि। ढूँ० जन। मा० ढूँ० सं० रुपमिणि। सु० रुपुमिणि। टैसी० रुकमणि। ढूँ० सं० पढंतां ('जपन्तां' के स्थान में)। ढूँ० जगि पुड़।

दो० २८३—ढूँ० कहंति। सु० कहवि। ढूँ० अेकै अेक। सु० एक एक। मा० कहइ अेक अेकां प्रति। ढूँ० ग्रहि। मा० सं० सु० गृह। टैसी० ग्रिहि। सं० सु० एण। मा० सं० शुभ। ढूँ० करम आचरइ। सं० जांणीजे जु। सु० जाणीएजु। सु० जपंति।

दो० २८४—ढूँ० चतुरविधि। सं० सु० चतुर्विध। मा० ढूँ० सं० सु० प्रणीत। टैसी० परणीत। ढूँ० चिकिछा। मा० सं० सु० चिकित्सा। टैसी० चिकितसा। सं० सु० शलौषध। सं० उपकार। ढूँ० सु० जपंति। टैसी० जपँतां। सु० हुवि।

दो० २८५—मा० ढूँ० सं० आधिभूतक। टैसी० आधिभूतिक। सु० आधिभूतिक। ढूँ आधिदईव। ढूँ० पडि। मा० सं० पिंड। टैसी० पिँडि। ढूँ० तस। ढूँ० जपंत। टैसी० जपँतां। सु० जपंति। सु० त्रिविधांम।

दा० २८६—ढूँ० सूधि। सं० सुध। सु० सूध। मा० ढूँ० सं० रुपमिणि। टैसी० रुकमणि। सु० रुपुमिणि। मा० नवनिधि। सं० थायइ। मा० थाइ। सं० कुशल। ढूँ० दुरदसा। टैसी० दुरदिसा। मा० दुरदशा। सं० सु० दुर्दशा। मा०

दुसुपुण। सु० न्हासिं। सु० दुसपन। सं० दुसमन। सं० दुरतिमति। सु० दुरनिमति।

दो० २८७—ढूँ० मिणि। सं० वलि यंत्र। सु० बल यंत्र। सु० थलि। ढूँ० मा० सं० सु० डाकिणि। मा० सं० सु० शाकिणि। टैसी० डाकणि साकणि। सु० भाजिं।

दो० २८८—ढूँ० सिन्यामित्रे। सु० कीया। मा० सं० प्राणी। टैसी० प्राणिया। मा० पार। टैसी० पारि। ढूँ० वरि पारि। टैसी० ऊतरे ('तरि पारि' के स्थान में)। टैसी० पढ़ि ('पढ़न्तां' के स्थान में)। सु० पढ़ि थिया ('पढंता' के स्थान में)। सु० पारि ऊतरि ('थिया पार तरि' के स्थान में)।

दो० २८९—सु० योग याग। ढूँ० ज्याग, दान आश्रम। सु० किं तकि ("व्रत किं" के स्थान में)। मा० सं० दानाश्रम। टैसी० दानास्रम। ढूँ० वरण। सं० सुप। टैसी० सुखि। सं० सु० करि। ('कहि' के स्थान में)। मा० सं० सु० कृसन। टैसी० क्रिसन। सु० रुपुमिणी। ढूँ० सं० रुषमिणी। टैसी० रुकमणी। ढूँ० कलपै। सं० सु० कलपिस। ढूँ० क्रिपण। मा० सं० कृपणा। टैसी० क्रिपणा।

दो० २९०—ढूँ० बोढ़े। सु० बोडइ। ढूँ० अबि। सं० सु० अंबु ('अब' के स्थान में)। मा० जल ('अब' के स्थान में)। ढूँ० न ('म' के स्थान में) ढूँ० दिसा ('देस' के स्थान में)। मा० सं० वाहिनी। ढूँ० आंणूं।

दो० २९१—ढूँ० वेली। ढूँ० तस। सु० तिसु। सु० थाणु। सं० पृथोदास। मा० प्रथीदास। मा० सं० सुप। ढूँ० मांडही।

ढूँ० सुघड़ । ढूँ० करुणि । ढूँ० चलि । ढूँ० सुणि ।

दो० २९२—ढूँ० प्रति । मा० सं० सु० अक्षर । ढूँ० प्रत ('दल' के स्थान में) । सं० तंति । सं० सु० विधि । ढूँ० वधि मा० वृद्धि । ढूँ० सुकवि ('रसिक' के स्थान में) । सं० तु ('सु' के स्थान में) । ढूँ० अरथ ('भगति' के स्थान में) ।

दो० २९३—ढूँ० कलपवेल । मा० कलपवल्लि । ढूँ० किना ('वलि' के स्थान में) । ढूँ० समवेल । मा० सं० सु० सोमवल्ली । मा० चित्र । ढूँ० प्रघटित । मा० प्रगटित । मा० ढूँ० सं० पृथिमी । टैसी० प्रिथमी । ढूँ० पृघ । मा० सं० पृथु । टैसी० प्रिथु । सु० प्रथु । ढूँ० मा० अपरावलि । टैसी० अखराउलि । सं० सु० अक्षरावलि । ढूँ० थियु । मा० मिले ('थाइ' के स्थान में) । सु० टैसी० थाइ ।

दो० २९४—ढूँ० प्रिथुवेल । ढूँ० सं० सु० पंचविधि । मा० सु० प्रसिद्ध । सं० प्रसिद्धि । टैसी० प्रनाली ('प्रणाली' के स्थान में) । सु० निगमि । मा० अमिय ('मंडी' के स्थान में) । सु० अमीय कि ('मंडी' के स्थान में) । सं० अमिय कि ('मंडी' के स्थान में) । ढूँ० अनकसरग ('सरगलोक' के स्थान में) । मा० सं० स्वर्गलोक । सु० सर्गलोक ।

दो० २९५—मा० मोतीयां । ढूँ० विसाहणे । मा० विसाहणउ । सु० पहि ('ग्रहि' के स्थान में) । ढूँ० कर ('कुण' के स्थान में) । ढूँ० मूंका । मा० मूंकि । ढूँ० सं० कलि ('किल' के स्थान में) । सं० मुंभ । ढूँ० कुण ('कण' के स्थान

में)। मा० किल सुप मुंभ वयण सोभण कण। सं० चालिणी।

दो० २९६—ढूँ० पंडि। मा० सं० पिंडे। ढूँ० लग। मा० गहणे ढूँ० सं० सु० भूषणे। ढूँ० मै। सु० वांणि। सं० मइ। सं० लागि रहि। ढूँ० सै। सं० सु० सइ। सु० रहि असइ जिमि।

दो० २९७—ढूँ० भाषा पराकृत सहकृत। टैसी० भाखा। मा० सं० संस्कृत, प्राकृत। सु० प्राकृत संस्कृत। टैसी० संसक्रित, पराक्रित। ढूँ० भणंता। टैसी० भणताँ। मा० ढूँ० सं० सु० रसदायिनी। टैसी० रसदाइनी। सु० सेजि। सं० अंतरइ। सु० अंतरि। मा० अंतरीष। ढूँ० भोम। मा० सं० सु० भूमि। टैसी० भोमि।

दो० २९८—ढूँ० वेल। सं० करण। ढूँ० कहण ('करणि' के स्थान में)। ढूँ० जो ('तौ' के स्थान में)। सं० मुंभ। मा० इतो। ढूँ० अरथ ('इते' के स्थान में)। सं० सु० ताइ ('इते' के स्थान में)। सं० प्रामिसउ। ढूँ० प्रामिसे पूरे। सु० प्रामिस्यु। मा० ईर्या। ढूँ० अर ('इअे' के स्थान में)। सु० पूरु, अरु।

दो० २९९—मा० सं० ज्योतिपी। टैसी० जोतिखी। सु० योतिपी। सं० सु० वेद। ढूँ० पुराणिक। मा० तारकीक। सं० तार्किक। सं० करइ। सु० करे। मा० अेकटा। सु० अंतिम पंक्ति का 'तो' लुप्त किया गया है।

दो० ३००—मा० गिलीया ('ग्रहिया' के स्थान में)। ढूँ० मुपि। टैसी० सु० मुख। ढूँ० मा० उगलिया ('ऊग्रहिया' के स्थान में)। मा० मइं। ढूँ० गाणि। मा० गिणि।

टैसी० गुण। हूँ० मोटां। टैसी० मोटा। सु० कहि। मा० अउ अइठउ आतम अधम। हूँ० स्रम।

दो० ३०१—सु० यस। सं० करि। हूँ० मूं। हूँ० वेनती। सं० अम्हीणाहं। हूँ० मा० तम्हीणे। सं० तुम्हीणइ। सु० तुम्हीणि। टैसी० तुम्हीणे। हूँ० स्रमण। मा० श्रवण। टैसी० स्रवण। सं० श्रवणे। सं० सु० वचन ('वयण' के स्थान में)।

दो० ३०२—सं० जगदीस। हूँ० तणा। हूँ० रसि। हूँ० तस। सु० तसु। हूँ० सरसति। हूँ० रुपमणि। टैसी० रुकमणि। सं० रुपमिण। सु० रुपुमिणि। मा० रुपमिणि। मा० सं० हूँ० मइ। सु० मि ("मैं" के स्थान में)। हूँ० तिम्ह। सु० तिम।

दो० ३०३—हूँ० तू। सु० अलि। सु० सकि। सु० क्रम्म। सु० भलुं। हूँ० तिको ('ताइ' के स्थान में)। हूँ० भूंडो। टैसी० भूँडुँ। मा० भूंडउ। सु० भूडुं। सु० माहरुं।

दो० ३०४—मा० सं० लषण। टैसी० लक्खण। हूँ० रुपमे लषिण त्री वणां रुपमणी। सु० मा० सं० रुपमिणी। टैसी० रुकमणी। हूँ० जंपि ('जाइ' के स्थान में)। सु० मई ("मैं" के स्थान में)। मा० जाणिया जिसा ('जाइ जाणिया' के स्थान में)।

दो० ३०५—सु० बरस। सं० ससि। मा० न रस शशि वच्छरि ('अङ्ग ससी संवति' के स्थान में)। सु० सं० श्री। सं० श्रवणे। सं० कंठ। टैसी० स्री०, स्रवणे, कण्ठि। सु० रावि। सं० सु० भगत। ढूंढाड़ी प्रति में यह दोहला छोड़ दिया गया है।

हिन्दी में नोट

दोहला १—

काव्य के आरम्भ में शास्त्ररीति के अनुसार मंगलाचरण होना चाहिए। प्राय: सभी संस्कृत एवं हिन्दी भाषा के कवियों ने इस रीति का प्रतिपालन किया है।

दण्डिन के मतानुसार ग्रन्थ के आरम्भ में मंगलाचरण तीन प्रकार से किया जाना चाहिए। "आशीर्नमस्क्रिया वस्तुनिर्देशो वापि तन्मुखम्"। इस दृष्टि से देखने पर वेलि का प्रारम्भिक मंगलाचरण 'नमस्क्रिया' और 'वस्तुनिर्देश' दोनों प्रकार से किया गया है।

परन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि कवि ने मंगलाचरण की प्रणाली में और किसी शास्त्र-निर्देश का भी अनुगमन किया है।

'चार सु ए ही मंगलचार' पर टिप्पणी करते हुए "वेलि" के संस्कृत टीकाकार, वाचक सारंग ने अपनी 'सुबोध-मंजरी' टीका में निम्न श्लोक को उद्धृत किया है :—

"मंगलं चाभिधेयं च सम्बन्धश्च प्रयोजनं।
चत्वारि कथनीयानि शास्त्रस्य धुरि धीमता॥"

संभव है, कवि का आशय इन्हीं चार मंगलाचरणों से रहा हो, परन्तु क्रम-पूर्वक परमेश्वर, सरस्वती, सद्गुरु को प्रणाम करके मंगल-स्वरूप माधव का गुणानुवाद करना प्रमाणित करता है कि कवि का लक्ष्य किसी दूसरे उच्च, व्यापक एवं उदार आध्यात्मिक आदर्श की ओर है; न कि केवल "मंगलं चाभिधेयं" इत्यादि, की ओर। हमारा विचार है कि केवल मंगलाचरण की लोक-सम्मत संख्या

को चार मान कर कवि ने स्वतन्त्र रूप में अपने ही ढंग से चार प्रकार का मंगलाचरण किया है। 'ए ही' कह कर इस स्वतन्त्रता एवं मौलिकता की ओर संकेत भी किया गया है।

इस दोहले में प्रथम तो कवि ने सृष्टि के नियन्ता, उसकी उत्पत्ति, प्रलय और रक्षा के हेतुस्वरूप सर्वतोपरं परमेश्वर को प्रणाम किया है; पुनः सरस्वती देवी का अभिवादन किया है, जो ज्ञान, विज्ञान और काव्य की अधिष्ठातृ देवी हैं और कवियों की पूज्या इष्टदेवी हैं। तीसरी बार में गुरुदेव को नमस्कार किया है, जिनकी कृपा से कवि सरस्वतीदेवी की कृपा का पात्र बन सका, जिन्होंने कवि को प्रतिभा के आलोकित साम्राज्य में प्रवेश कराया और अन्तःकरण का प्रज्ञा-चक्षु खोलकर 'सत्यं शिवं सुन्दरम्' का मार्ग दिखलाया। व्याप्य-व्यापक के न्याय से यह क्रम युक्ति-संगत ही प्रतीत होता है।

चौथी बार में माधव के मंगल-रूप का गान करने से कवि का विशेष आशय 'वेलि' की कथावस्तु की ओर निर्देश करने का है, न कि अपने इष्टदेव का सबसे अन्त में प्रणाम कर किसी प्रकार भी उनके महत्त्व को कम बताने का।

'मंगल रूप गाइजै माहव' कवि की इस उक्ति के अनुसार, जिसकी पूर्णरूप से पुष्टि कवि ने ग्रन्थ के उत्तर भाग में की है, समस्त 'वेलि' काव्य माधव के गुणों की एक स्तुति-मात्र है। अतएव अन्त में कथावस्तु की ओर निर्देश करते हुए कवि ने 'वेलि' को माधव की स्तुति बताकर अपना आशय स्पष्टतः प्रकट कर दिया है।

ततसार=तत्त्व का सार, तत्त्व का तत्त्व, अन्तिम तत्त्व।

वयणसगाई—प्रत्येक दोहले का प्रत्येक पंक्ति के प्रथम और अन्तिम शब्दों के प्रथम वर्णों में जो अनुप्रास होता है, उसे

डिंगल में वयण-सगाई कहते हैं। डिंगल-काव्य में इस शब्दालंकार का बहुतायत से प्रयोग होता है और यह इस साहित्य का एक विशेष चमत्कार है। वयण=वचन अथवा शब्द। सगाई=सम्बन्ध, सगपन। इस प्रकार इस अलंकार का शाब्दिक अर्थ,—वचनों अथवा शब्दों का पारस्परिक सम्बन्ध अथवा मैत्री—स्पष्ट है। वेलि में इस अलकार का नियमत: सर्वत्र प्रयोग हुआ है। कहीं कहीं आपत्ति भी हुई है। उस स्थल पर नोट देखना चाहिए।

दो० २—

जेणि (डिं०)=[सं० येन (सर्व० यत्)] कर्तृवाच्य प्रयोग

उपायौ (डिं०) = (सं० उत्पादित) प्रा० उप्पाइउ— उपायौ= उत्पन्न किया।

हूँ (डिं०) = (सं० अहम्)=मैं। देखो अपभ्रंश रूप, "हउँ जिज्झउँ"। व्रजभाषा, 'हौं'।

किरि (डिं०)=उपमा, दृष्टान्त और उत्प्रेक्षा में समानता का निश्चयार्थक चिह्न। देखो० दो० १२, १६, २३, २४, ४०, ८४।

कठचीत्र (डिं०)=(सं० काष्ठचित्रित) काष्ठमयी मूर्त्ति अथवा काष्ठ पर रंगों द्वारा चित्रित मूर्त्ति। राजस्थान में काष्ठ के कपाटों पर कृष्णादि देवताओं के चित्र रंगों में चित्रित किये हुए अब भी देखे जाते हैं।

पूतली (डिं०)=(सं० पुत्तलिका) लकड़ी, मिट्टी, धातु, कपड़े अथवा रंग से बनी हुई आकृति या मूर्त्ति।

चीत्रारै (डिं०)=(सं० चित्रकार) प्रा० चित्तआर=चित्रकार (कर्म) को

अलंकार=दृष्टान्त। उत्प्रेक्षा।

"चीत्रारै—चित्रण" में असम्भव अलकार की ध्वनि है।

नोट—ग्रन्थारम्भ में विषय की गहनता और अपेक्षाकृत अपनी अक्षमता को प्रकट करना कवियों में प्रथानुमत है। देखो तुलसीकृत रामचरितमानस, अथवा कालिदासकृत रघुवंश। भूमिका में उक्त कवियों की इस समानता को प्रकट किया गया है।

दो० ३—

तणी (डिं०) = (सं० तनु = शरीर) (स्त्रीलिंग), तनी। हिन्दी—तन, तनी = तरफ, प्रति, की, का—सम्बन्धकारक षष्ठी का चिह्न। उदा० "विहँसे करुणा ऐन, चितै जानकी लखन तन"। तुलसी

कहेवा = (सं० कथन० प्रा० कहण) = कहना। व्रजभाषा, और बुन्देलखण्डी भाषाओं में ऐसे रूपों का अधिक प्रचार है। उदा० "कहिवे को हरिनाम"

आदरी = (सं०) स्वीकार किया है; अंगीकार किया है; आदर किया है। उदा० "जो प्रबन्ध बुध नहीं आदरहीं, सो श्रम बादि बाल-कवि करहीं" तुलसी।

जु (डिं०) = (हिन्दी) जो।

जाणे (डिं०) = (सं० जाने) उत्प्रेक्षा का चिह्न। यथा, हिन्दी में, जनु, मनु, जानौ, मानौ। उदा० "जनु विधु मंडल लोल" तुलसी।

वाद माँडियौ (डिं० मुहावरा) = (सं० वाद + मंडनम् = हठ ठानना, वाद करना। देखो हिन्दी का मुहाविरा—'वाद मेलना'। उदा० "वाद मेलि कर खेल पसारा, हार देय जो खेलन हारा" जायसी

जीपण (डिं०) = जीतना, जीतने के लिए।

वागेसरी = (सं०वागीश्वरी) वाग्देवी—सरस्वती। यह देवी पुराणों में ब्रह्मा की पुत्री और स्त्री दोनों कही गई है। महाभारत में इसे दक्षप्रजापति की कन्या भी कहा गया है। लक्ष्मी और सरस्वती का स्वाभाविक बैर प्रसिद्ध ही है।

अलंकार—उत्प्रेक्षा

विरोधाभास = चतुर्थपंक्ति

यमक = आदर—आदरी—में

दो० ४—

सूझै = (सं० सुध्यै) = ज्ञात होना, दिखाई देना। उदा० 'असमंजस मन को मिटै, सो उपाय न सूझै'। (तुलसी)

सोझै = 'सूझ' का प्रेरणार्थक रूप।

ताइ (डिं०) = स० ता (सर्व० स्त्री) + हि (प्रत्यय) = उसे। देखो, हिन्दी रूप ताहि, ताइ उदा० 'ताइ प्रात टुलरावै गुलाब चटकारी दै' (देव)

इसी प्रकार के प्रयोग के लिए देखो दो० १२

वाउलौ (डिं०) = (सं० वातुलक· प्रा० वाउलउ) हिन्दी—बावला, पागल० उदा०। पिय विहीन अस वाउर जीऊ, पपिहा जस बोलै पीउ पीउ' ॥ (जायसी)

वाउला (डि०) = स० वातुल का दूसरा रूप = वातरोगग्रस्त।

सरिसौ (डि०) = (स० सदृश) प्रा० सरिस = समान।

पै.ह (डिं०) = परन्तु

पाँगुलौ (डिं०) = (स० पङ्गुलक) प्रा० पाँगुलउ = पङ्गु, पैरविहीन।

पूजै (डिं०) = (स० पूर्यते, प्रा० पूज्जइ)—पूजै = पूरा होना, बराबर होना, पहुँचना।

देखो हिन्दी-मुहाविरा, 'कमी पूजना,' 'अवधि का पूजना'

नोट—परमतत्व परमेश्वर की शुद्ध विभूति को ध्यान में लाना मन की गति से परे है। उपनिषद्कारों ने इस विषय में लिखा है, 'यतो वाचो निवर्त्तन्ते अप्राप्य मनसा सह'। कवि ने इसी बात को दूसरे शब्दों में कहा है।

अलंकार—सन्देह = पूर्वार्ध में।

विशेषोक्ति = उत्तरार्ध में।

अनन्वयोपमा = तृतीय पंक्ति में।

दो० ५—

जिणि (डिं०) = (सं० (सर्व०) यत्-येन) (हिं०); जिस, जिन (डिं०) जेण, जिण।

बि बि (डिं०) = (सं० द्वि) = दो दो, देखो हिन्दीप्रयोग, बि, बिय, बे इत्यादि उदा० (१) 'बि बि रसना तन श्याम है, वक्र चलनि विषखानि' (तुलसी)

(२) 'श्रुति मंडल कुंडल बि बि मकर, सुविलसत सदन सदाई' (सूर)

जीह (डिं०) = (सं० जिह्वा) हिन्दी—जीभ। उदा० 'राम नाम मनि दीप धरु, जीह देहरी द्वार, तुलसी भीतर बाहरौ। जौ चाहसि उजियार।' (तुलसी)

नव नव = (सं०) उदा० 'स्तर किरीट अति लसत जटित नव नव कनगूरे।' (गिरिधर)

तिणि = (सं० (सर्व०) तत्-तेन), जिण-तिण-अपेक्षित सर्वनाम हैं।

त्रीकम = (सं० त्रिविक्रम) विष्णु का पाँचवाँ अवतार वामन के रूप में बलि राजा को छल कर उसका गर्व दूर करने के लिए हुआ था। वामनावतार में विष्णु का नाम त्रिविक्रम इसलिए

पड़ा क्योंकि उन्होंने तीन पैंड में आकाश, पृथ्वी और पाताल लोकों को नाप कर बलि से दान में माँग लिया था। देखो, भट्टिकाव्य—"विष्णुस्त्रेधा विचक्रमे।"

अथवा—"छलयसि विक्रमणे बलिमद्भुतवामन"—(जयदेव)

वयण (डिं०) = (सं० वचन, प्रा० वयण) बोली, वचन।

डेडरा (डिं०) = (सं० डुंडुभ)—डेडहा—एक प्रकार का पानी का साँप जिसमें विष बहुत कम होता है। यहाँ पर आशय मेंढक से है जिसके विषय में प्रसिद्ध है कि उसके एक भी जीभ नहीं होती। अपनी वाणी को मेंढक की उपमा देना उपयुक्त ही है। जहाँ "शेष सहस फण, फणि फणि बि बि जीह" से भी भगवद्गुणानुवाद नहीं किया जाता, वहाँ बिना जीभवाले मेंढक की असामर्थ्य तो स्वतः स्पष्ट है। 'डेडरा' राजस्थानी भाषाओं में सदा मेंढक के लिए प्रयुक्त होता है।

किसौ = (सं०कीदृशः + अक्)—प्रा० किसउ—किसौ = कौन सा।

अलंकार—सार—समस्त दोहले में। शेष के सहस फण, प्रत्येक फण में दो जीभ, प्रत्येक जीभ में "नवनवी जस"—

परिकराङ्कुर = 'डेडरा' शब्द साभिप्राय विशेष्य है।

काव्यार्थापत्ति = उत्तरार्ध में (जब शेष गुणानुवादन कर सका, तो मेंढक क्या करेगा)

पुनरुक्ति प्रकाश = फणि-फणि; बिबि, नवनवी, में।

दो० ६—

तूझ (डिं०) = (सं० तुभ्यम्—प्रा० तुज्झं)—तूझ = तेरे

देखो दो० ५८

तवति (डिं०) = (सं० स्तवति) स्तुति कर सकता है, देखो दो० ३०५, 'तवियौ'

सु—जु (डिं०) = (सं० स—यः) आपेक्षिक सर्वनाम। सो, जो।

तारू (डिं०) = तरनेवाला—तैराक।

कुण—कवण (डिं०) = (सं० कः) हिं० कवन। उदा० 'कारन कवन नाथ मोहिं मारा'—(तुलसी)

गयण (डिं०) = (सं० गगन) प्रा० गयण।

लगि (हिं०) = (सं० लग्न) = पर्यंत, तक। उदा० (१) "जब लगि घट में प्राण" (गिरधर)

(२) एक मुहूरत लगि कर जोरी, नयन मूँद श्रीपतिहिं निहोरी। (तुलसी)

करि = सप्तमी विभक्त्यन्त 'कर' = हाथ में।

मेरु = एक पौराणिक विख्यात पर्वत-विशेष। यह सुवर्ण का माना गया है। इसे सुमेरु भी कहते हैं।

अलंकार—निदर्शना-माला—"स्रीपति·········करै।

सरिस वाक्य युग के अरथ, करिये एक अरोप।
भूपण ताहि निदर्शना, कहत बुद्धि दै ओप॥
जो, सो, जे, ते, पदन करि, असम वाक्य सम कोन।
ता कँह प्रथम निदर्शना, वरनै कवि परवीन॥

दो० ७—

दीध (डिं०) = (सं० दत्त) प्रा० और अपभ्रंश दिन्ह, दिण्ण। हिं० दीन्ह।

कीधा (डिं) = (सं० कृत) प्रा० अपभ्रंश 'किन्ह'। हिं० कीन्ह

कीरतन = (सं० कीर्तन) = यशगान। यथा—हरिकीर्त्तन, नगरकीर्तन।

जगि, मुखि = सप्तमी विभक्त्यन्त जग, मुख = जग में, मुख में।
जीहा (डिं०) = (सं० जिह्वा) हिं० जीभ।
पोखण (डिं०) = (सं० पोषण) डिंगल में मूर्धन्य 'ष' का 'ख' उच्चारण होता है और तदनुसार लिपि-प्रयोग भी।
तणी (डि०) = (सं० तनु) डिंगल में षष्ठी विभक्ति, सम्बन्ध कारक का चिह्न।
हिन्दी में इसी प्रकार का प्रयोग देखो—उदाहरण
"विहँसे करुणा ऐन, चितै जानकी लखण तन"
केम (डिं०) = (सं० किम्) = क्योंकर, क्यों। डिंगल में इस प्रकार के गुजराती भाषा के कई प्रयोग मिलते हैं।
सरै (डिं०) = सरना, पूजना, पूरना। हिन्दी में बोलचाल में इसका प्रयोग देखा जाता है।

अलंकार—वृत्यानुप्रास { जिणि, जनम, जगि, जीहा।
दो० ८— { तणो, तिणि, तणी, कोरतन।

शुकदेव = कृष्णद्वैपायन व्यासजी के पुत्र। ये पुराणों के भारी ज्ञाता थे। इन्होंने राजा परीक्षित को मरने से पहले मोक्षधर्म का उपदेश किया था। कहते हैं यही उपदेश भागवतपुराण में निहित है। देखो—
'भजति कि शुक मुखि भागवत'—(वेलि)
व्यास = पराशर के पुत्र कृष्णद्वैपायन, जिन्होंने वेदों का संग्रह, विभाग और सम्पादन किया था। कहा जाता है कि अठारहों पुराण, महाभारत, वेदान्तदर्शन इत्यादि के रचयिता यही हैं। भागवत के रचयिता होने के नाते कृष्णभक्तों में कवि ने इनकी गणना की है और श्रद्धा-सहित काव्यगुरु माना है।

जैदेव = संस्कृत भाषा के प्रसिद्ध कवि, 'गीतगोविन्द' के रचयिता, वैष्णव भक्तश्रेष्ठ। इनका जन्म ८००-९०० वर्ष पूर्व पश्चिम बंगाल में हुआ था। गौड़ महाराज लक्ष्मणसेन की सभा में राज्यकवि थे। भक्तमाल में इनकी कृष्ण-भक्तों को श्रेणी में गणना हुई है।

सारिखा (डिं०) = (सं० सदृश)—प्रा० सरिस, हिं० सरिस = समान।

सन्थ (डिं०) = (सं० सन्ति) = हैं, हुए हैं।

गूँथियै = (सं० ग्रंथन) हिं० गूँथना। 'ग्रंथ' के संकलन के सम्बन्ध में इस क्रिया का प्रयोग अत्यन्त उपयुक्त है।

त्रीवरण.........सिंगार ग्रंथ = शास्त्राज्ञा का प्रमाण है। "आदौ वाच्य: स्त्रिय: राग: पुंस: पश्चात्तदिङ्गितै:" (सा० दर्पण)

जिस प्रकार, उदा० "पार्वतीपरमेश्वरौ" (रघुवंश)
"राधामाधवयोर्जयन्ति यमुनाकूले रह: केलय:" (जयदेव)

दो० ९—

वले (डिं०) = (सं० वलय) = फिर, पुन: समय का पुनरावर्त्तन।

इहाँ (डिं०) = हिन्दी में भी प्रयोग होता है। उदा० "इहाँ कुम्हड़ बतिया कोउ नाँही" (तुलसी)

जिवड़ी (डिं०) = (सं० जीव) = जीव, आत्मा।

हेत (डि०) = (सं० हित) = स्नेह, प्रेम। उदा० "हित करि श्यामसों कह पायौ" (सूर)

पेखतां (डि)=(सं० प्रेक्षण) प्रा० पेक्खण=देखते । हिन्दी में प्रयोग—उदा० "मज्जन फल पेखिय तत्काला" (तुलसी)

प्रति (सं०)=अपेक्षा ।

वली (डिं०)=स्त्रीलिंग में 'वल' का रूप ।

विसेखे (डिं०)=(सं० विशेष) अधिक ।

दो० १०—

दीपति=(सं० दीप्त) प्रकाशित होता है; शोभित है ।

सिरहर=(सं० शिरोधार्य्य) प्राकृत की तरह डिंगल में भी घ, थ, ख, फ, का 'ह' हो जाता है=शिरमौर, श्रेष्ठ ।

डा० टैसीटरी इसे सं० 'शिखर' का डिंगल रूप बताते हैं । शिखर=सिहर, 'र' का आगम ।

कुँदणपुर=कुंडिनपुर अथवा कुंडिन । एक प्राचीन नगर जो विदर्भ देश में था । विदर्भ का अर्वाचीन नाम बिदर (Bidar) है जो हैदराबाद राज्य में है । बिदर से कुछ दूर पर कुंडिलवती नाम की पुरानी नगरी आज तक है जिसके ध्वंसों से पूर्व समृद्धि के चिह्न पाये जाते हैं ।

विदर्भ=आधुनिक बरार-प्रान्त का प्राचीन नाम है । इसी नाम के एक राजा ने इस प्रान्त को बसाया था । कुंडिनपुर इसकी राजधानी थी ।

दो० ११—

ताइ (डिं०)=(सं० सर्व ता(स्त्री) + हि) वह, उसकी, उसका, देखो दो० १२

विमलकथ=(सं०)=निष्कलंक ख्यातिवाला ।

अनै, नै (डिं०)=और। इसी अर्थ में "अनै" का गुजराती में प्रयोग होता है। "नै" का प्रयोग जोधपुरी भाषा में अब तक होता है।

दो० १२—

रामावतार=पौराणिक गाथा के अनुसार सीता, रुक्मिणी और राधिका लक्ष्मी का अवतार मानी गई हैं।

बालकति=(सं० बालकृति) बाल्यकाल को क्रीड़ाएँ।

मानसरोवरि= (सं०) हिमालय के उत्तर प्रदेश में एक प्रसिद्ध पौराणिक झील है। इच्छामात्र से ब्रह्मा ने इसे उत्पन्न किया था। इसके चारों ओर की प्राकृतिक शोभा अद्भुत है। प्राचीन ऋषि-मुनि इसे स्वर्ग-भूमि मान कर इसके आस-पास रहा करते थे। सप्तऋषि इसमें स्नान-संन्ध्या करके ईश-चिन्तन किया करते थे। हंसों का इसके साथ बड़ा घनिष्ठ सम्बन्ध है। शरद् के आगम में वे सब दिशाओं से यहाँ आते हैं। महात्मा तुलसीदास ने रामायण में इसी मानसरोवर का साहित्यप्रसिद्ध रूपक 'रामचरितमानस' के रूप में लिखा है।

मेरुगिरि=भागवत के अनुसार पर्वतों का राजा सुमेरु है। यह सोने का है। भारतवर्ष के सात द्वीपों में से प्रथम जम्बू-द्वीप में स्थित है। यह चार आश्रित पर्वतों, चार सुरम्य उद्यानों और चार मनोरम सरोवरों से घिरा हुआ है। सुराङ्गनाओं के साथ देवता लोग यहाँ विहार करते हैं।

हंस =(सं०)=बत्तख के आकार और जाति का एक जलपक्षी-विशेष। इसकी गर्दन लम्बी और सुन्दर; चाल मनोहर और रङ्ग श्वेत माना गया है। इन गुणों में संस्कृत और हिन्दी-कविता

में कवियों-द्वारा यह उपमान की तरह बहुतायत से प्रयुक्त हुआ है। हंस भारतवर्ष में वर्षाकाल के प्रारम्भ में मानसरोवर की ओर से चले आते हैं और शरद् के प्रारम्भ में वहीं लौट जाते हैं। कविप्रथानुसार मुक्ता चुगना, नीरक्षीर-विवेक करना हंस के विशिष्ट गुण माने गये हैं। यह सरस्वती देवी का वाहन माना गया है। अँग्रेज़ी काव्य में हंस का अन्तिम संगीत Swan-song अत्यन्त मनोहर माना जाता है।

चौ (डिं०)=संबन्धकारक का विभक्ति-चिह्न 'का'। मराठी में इसका प्रयोग होता है।

बालक=यह शब्द उभयलिङ्ग द्योतक है—पुंलिङ्ग नहीं। शिशु, बच्चा। अँग्रेज़ी में जिस प्रकार 'Child' साधारणलिङ्गद्योतक (Common gender) होता है।

कनक-वेलि=(सं०) कनक-लता, ज्योतिष्मती, सुरलता, मेधावती, तेजोवती, सुरप्रभा इत्यादि साहित्य में इसके कई नाम हैं। इसे साधारण भाषा में मालकँगनी लता कहते हैं। यह हिमालय पर्वत पर ४००० फुट की ऊँचाई पर, उत्तरीय भारत, बरमा, लङ्का इत्यादि प्रदेशों के पहाड़ों में पाई जाती है। इसकी पत्तियाँ गोल और नुकीली होती हैं। पेड़ों पर फैल कर यह लता उन्हें भली भाँति आच्छादित कर लेती है। चैत्र में गुच्छे के गुच्छे फूल लगते हैं और इसके फलों के बीज वैद्यक में उपयोगी होते हैं।

बिहुँ (डिं०)=(सं० द्वि) दो। हिन्दी के कवियों ने इस शब्द का प्रयोग किया है। उदा० माणिक निकर सुरा मेरु के शिखर, बिहुँ कनक बनाए विधि कनक सरोज के। (देव)

पान (डिं०) = (सं० पर्ण) प्रा० पण्ण, हिन्दी० पान, पत्ते। उदा० श्रोषधि
मूल, फूल, फल, पाना, कहे नाम गनि मङ्गल नाना। (तुलसी)

श्रलंकार = वाचकधर्मलुप्तोपमा

"फिरि" को उत्प्रेक्षा का चिह्न लेकर—उत्प्रेक्षा सिद्ध होती है।

यथासंख्य श्रथवा क्रमालंकार—यथा:—

(१) मानसरोवर में "हंस चौ बालक।"

(२) मेरु गिरि में "कनक-वेलि विहुँ पान फिरि"।

"कनकवेलि...फिरि"—मिलाश्रो:—ऊपर मेरु मनो मनरोचन, स्वर्ण लता जनु रोचति लोचन। (केशव)

दो० १३—

श्रनि (डिं०) = (सं० श्रन्यत्) स्त्री प्रत्ययान्त = दूसरी

वधै (डिं०) = (सं० वर्द्धन) प्रा० वढ्ढण, हिं० बढ़ना, डिं० बधणो।

ढूलड़ी (डिं०) = गुड़ियाँ

रमन्ति = खेलती है। हिं० उदा० "श्रलि यों रमै ज्यों मुक्त" (केशव)

लखण बत्रीस = बाललीला के वे प्रसिद्ध ३२ लक्षण कौन से हैं, जिनका कवि ने उल्लेख किया है, पता नहीं लगता। परन्तु डिंगल में श्रौर प्रचलित मारवाड़ी भाषाश्रों में स्त्री-सौन्दर्य के श्रादर्श को लक्ष्य करके साधारणतया बत्तीस लक्षणों की गणना की जाती है। हमारी समझ में ये बत्तीस लक्षण बाल्यकाल के नहीं, परन्तु उदीयमान युवावस्था के हाव-भाव, श्रंगविकास, हेला इत्यादि स्वाभाविक श्रलङ्करण हो सकते हैं। साहित्य में इनकी संख्या इस प्रकार मानी गई है:—

यौवने सत्वजास्तासामष्टाविंशतिसंख्यका: ।
अलङ्कारास्तत्र भावहावहेलास्त्रयोऽङ्गजा: ॥
शोभाकान्तिश्च दीप्तिश्च माधुर्य्यश्च प्रगल्भता ।
औदार्य्यं धैर्य्यमित्येते सप्तैव स्युरयत्नजा: ॥

इस प्रकार १८ सत्वज अलङ्कार + ३ अंगज (हाव, भाव, हेला) + ७ अयत्नज भाव = २८ । इनमें स्थायि, संचारी, व्यभिचारी और सात्विक जोड़ने पर भावों की संख्या ३२ होती है। यह हमारी कल्पना है । शायद कवि का आशय दूसरे किन्हीं लक्षणों से रहा हो, जिनका हमें पता नहीं है।

पहले के १८ सत्वज अलंङ्कार ये हैं :—

लीलाविलासौ विच्छित्तिर्विब्बोककिलकिंचितं ।
मोट्टायितं कुट्टमितं विभ्रमो ललितं मद: ॥
विकृतं तपनं मौग्ध्यं विक्षेपश्च कुतूहलम् ।
हसितं चकितं केलिरित्यष्टादशसंख्यका: ॥
स्वभावजाश्च भावाद्या दश पुंसां भवन्त्यपि ।

कामसूत्र में नायिका की भाव-परीक्षा के ३० लक्षणों का विवेचन किया है, जो इन्हीं से कुछ मिलते-जुलते हैं।

दो० १४—

वेस (डिं०) = (सं० वयस्) = उमर में

समाणी (डिं०) = समान (खो०) समानवयस्का

परि (डिं०) = के समान। यह उपमा के वाचक शब्द की तरह डिंगल में प्रयुक्त होता है।

कली = अधखिला फूल—अतएव अप्राप्तयौवना, मुग्धा ।

पदिमणी = कोकशास्त्र के मतानुसार स्त्रियों की चार जातियों में से सर्वोत्तम जाति की स्त्री।

रतिमंजरी में पद्मिनी की परिभाषा यों दी गई है:—

भवति कमलनेत्रा, नासिका क्षुद्ररंध्रा।
अविरलकुचयुग्मा, चारुकेशी कृशाङ्गी॥
मृदुवचनसुशीला, गीतवाद्यानुरक्ता।
सकलतनुसुवेशा, पद्मिनी पद्मगंधा॥

वीरज = (सं० विरज) (१) रजरहित, निर्मल, स्वच्छ। (२) बीज (डिं०) = दूज का चाँद। डिंगल में कहीं कहीं शब्द के बीच में 'र' का निरर्थक आगम कर दिया जाता है। अतएव 'बीज' का बीरज बना। यथा:—'शिखर' का "सिरहर" देखो दो० १०

अम्ब = (सं० अम्बर) आकाश। यह शब्द 'अम्बर' से लघुत्व को प्राप्त होकर बना है। 'र' उड़ गया है।

उदा० "अम्बर के तारे डिगैं, जूआ लाड़ै बैल"॥

हरि (सं०) चन्द्रमा।

अम्बहरि (डिं०) = अम्बरि। यहाँ शब्द के बीच में 'ह' का निरर्थक आगम किया गया है। देखो इस शब्द का इसी अर्थ में प्रयोग दो० १९४

उडीयण (डिं) = (सं० उडुगण) ताराओं के समूह।

अलंकार—उपमा।

नोट—डा० टैसीटरी ने 'अम्बहरि' को अम्बरि का परिवर्तित रूप सिद्ध किया है। और 'वीरज' को डिंगल 'बीज' अर्थात् दूज का रूपान्तर। प्रथम में 'ह' का और द्वितीय में 'र' का निरर्थक आगम किया गया है। इस प्रकार के दृष्टान्त डिंगल में मिलते हैं। इस प्रकार इस पंक्ति का अन्वयार्थ यों होगा:— [अम्बहरि उडियण वीरज] अर्थात् आकाश में ताराओं के बीच में दूज का चन्द्रमा। यह अर्थ भी सुन्दर है।

दो० १५—

सुखपति—जाग्रति—सुहिणा = सं० सुषुप्ति, जागृति, स्वप्न। ये तीन शरीर की अवस्थाओं के नाम हैं।

(१) वेदान्तदर्शन के अनुसार मनुष्य की चार अवस्थाएँ होती हैं:—

(१) जागृति (२) स्वप्न (३) सुषुप्ति (४) तुरीय।

(२) सांख्यदर्शन के मतानुसार पदार्थों की तीन अवस्थाएँ होती हैं.—

(१) अनागतावस्था, (२) व्यक्ताभिव्यक्तावस्था, (३) तिरोभाव। साधारणतया भौतिक शरीर की ३ अवस्थाएँ ही मानी गई हैं, जिनका कवि ने उल्लेख किया है।

सुखपति = (सं० सुषुप्ति) पतंजलि के अनुसार चित्त की एक वृत्ति या अनुभूति। इस अवस्था में जीव नित्यब्रह्म की प्राप्ति करता है, परन्तु उसे इस बात का ज्ञान नहीं होता कि उसने ब्रह्म की प्राप्ति की है।

सुहिणा (डिं०) = (सं० स्वप्न) प्रा० सुमिण, डिं० सुहिण, हिं० सपना। प्राय: पूरी नींद न आने की दशा में मन में अनेक प्रकार के विचार उठते रहते हैं जिनके कारण कुछ घटनाएँ मन के सामने उपस्थित होती हैं। इसे स्वप्नावस्था कहते हैं। वास्तव में, उस समय नेत्र बंद होते हैं, पर मन को अनुभव होता है।

जोवण (डिं०) = (सं० यौवन) प्रा० जोव्वण, हिं० यौवन।

वेससन्धि (डिं०) = (सं० वयस् + सन्धि) आयु की दृष्टि से मनुष्य की चार अवस्थाएँ होती हैं—बाल्य, कौमार, यौवन और वार्द्धक्य। इन चारों के बीच की सन्धि की तीन अवस्थाएँ

वय:सन्धि कहलाती हैं। यों तो वय:सन्धि तीन प्रकार की होती हैं, परन्तु कौमार से यौवनावस्था के परिवर्त्तन में जो वय:सन्धि होती है वही साहित्य में वय:सन्धि के नाम से रूढ़ि हो गई है।

वरि (डिं०)='परि' की तरह यह भी उपमा का वाचक शब्द है।

हिव (डिं०)=अब। इसी अर्थ में 'इव,' 'इव' का प्रयोग भी होता है।

चढ़तौ=उन्नति करता हुआ।

होइसै (डिं०)=(सं० भविष्यति) प्रा० होइस्सइ, होइस्सदि। डिं० होइसै।

एहवौ (डिं०)=इस प्रकार का, ऐसा।

अलंकार—उपमा, वाचक लुप्तोपमा (द्वितीय पंक्ति मे)।

दो० १६—

राग=(सं०) लाली, अरुणिमा। उदा० "रागेण बालारुणकोमलेन चूतप्रवालोष्ठमलंचकार" (कुमार०)

थ्यौ (डिं०)=(सं० स्थित) प्रा० थिअ, थिय=हुआ। गुजराती में, भी इसी अर्थ में इस क्रिया का प्रयोग होता है—'थियो,' 'थिया'।

प्राची=(सं०) पूर्व दिशा। उदा० 'प्राची बीच पतंग'—(तुलसी)

अरुण=(सं०) गहरा लाल रंग, सूर्य का सारथी, प्रात:कालीन उषा-लालिमा।

अरुणोद=(सं० अरुणोदय) अन्तिम 'य' का लोप हुआ है, यथा दो० १४ में 'अम्बर' में अन्तिम 'र' का लोप हुआ।

पयोहर (डिं०)=(सं० पयोधर) डिंगल में प्राकृत की तरह 'ध' का 'ह' होता है।

"पेखे········रिखेसर" = इस प्रकार का भाव कालिदास के कुमारसंभव में भी मिलता है, जहाँ सन्ध्या की भ्रान्ति हुई है—"अकालसन्ध्यामिव धातुमत्ताम्" । (कुमार०)

अलंकार = उत्प्रेक्षा । 'कि' और 'किरि' उत्प्रेक्षा के चिह्न हैं । "पयोहर जागिया" में उत्कृष्ट कोटि की अर्थध्वनि है ।

दो० १७—

जम्प (डिं०) = (सं० जल्प) प्रा० जम्प = चैन, कल, शान्ति । जक, थ्यावस (डिं०)

जाणे, जाण (डिं०) = (सं० ज्ञा) जान कर ।

विलखी (डिं०) = (सं० विकल) प्राकृत के नियमानुसार अक्षरों का स्थान-परिवर्तन होने पर 'विकल' का 'विलक' और 'विलख' हुआ है । व्याकुल होना, बेचैन होना । उदा० (१) सुनहु भरत भावी प्रबल, बिलखि कहेहु मुनिनाथ । (तुलसी) (२) विकसित कंज कुमुद विलखाने । (तुलसी)

बीछड़ती (डिं०) = (सं० विच्छेद) वियोग होते हुए, अलग होती हुई ।

बाला (सं०) = साहित्य में १३ से १६ वर्ष तक की स्त्री को 'बाला' कहा है,

सँघाती (डिं०) = (सं० संघ, संघात + ई) = साथी, सहचर

अलंकार—अनुप्रास का विशेष चमत्कार है (चारों पंक्ति में) हेतु—(समस्त में) ।

दो० १८—आगलि (डिं०) = (सं० अग्रम्) = आगे । उदा०
(१) आगलि सोच निवारिकै, पाछिल करो गोहारि । (कबीर)
(२) आगलि बात समुझि डर मोहीं ।
दैव दैव फिरि सो फल ओही ॥ (तुलसी)

काम-विराम (सं०) = कामदेव के आश्रयस्थान । कामशास्त्र के अनुसार युवा स्त्री के कुच, कपोल, नेत्र, नितम्ब, जंघा, ओष्ठ

इत्यादि कामदेव के निवासस्थान माने गये हैं। यौवन के पदार्पण होने पर इन स्थलों के रूप-रंग-आकार में विशेष विकास दृष्टिगोचर होता है। यहाँ कुचों से आशय है।

छिपाड़न (डिं०) = डिंगल में क्रिया से प्रेरणार्थक रूप बनाने में "ड़" का आगम होता है। यथा, छिपणो, छिपाड़नो।

काज = (सं० कार्य) के लिए, वास्ते। देखो, हिन्दी में इसी प्रकार का प्रयोग:—"परस्वारथ के काज शीश आगे धर दीजै" (गिरधर)

एहविधि = इस प्रकार, इस कारण से। उदा० "एह विधि राम सबहिं समुझावा"—(तुलसी)

अलंकार—(१) स्वभावोक्ति—लज्जा का सहज स्वभाववर्णन है।

(२) छेकानुप्रास और लाटानुपास—लाजवती, लाज, लाज, लाज।

(३) विभावना—विरुद्ध हेतु से कार्य की उत्पत्ति—"लाज करती हुई को लाज आती है"।

(४) अत्युक्ति—लज्जा-भाव की अत्युक्ति।

दो० १९—

सहु (डिं०)—(सं० सर्व)। हि० सभी, डिं० सही, सहु। उदा० नीचे 'परिग्रह' के नोट में देखिये।

गिणि = गिनकर, जानकर। हिन्दी-कविता में इसका बहुलायत से प्रयोग होता है।

थयो, तणौ, तिणि = इन पर पूर्व दोहलों में नोट देखिए।

परिग्रह (सं०) = कुटुम्ब, आश्रितजन, परिवार। उदा० "राजपाट दर परिगह तुमही सहु उजियारे ॥"

तरुणापौ (डिं०) = (सं० तरुणत्वं) = तरुणावस्था का भाव। हिं०—'बुढ़ापा'।

गुण गति मति = ऋतुराज और यौवन का रूपक सिद्ध करने के लिए कवि ने अपनी काव्यमयी कल्पना के बल पर ऋतुराज और यौवन के साथ साथ उनके तीन तीन सहायकों—गुण, गति, मति—का पदार्पण कल्पित किया है।

(१) 'गुण' की सहायता से जिस प्रकार वसन्त ऋतु में प्राकृतिक सौन्दर्य्य का विकास होता है, उसी प्रकार यौवन में रुक्मिणी के अङ्गों में सौन्दर्य्य बढ़ने लगा।

(२) "गति" की सहायता से जिस प्रकार वसन्त प्रकृति में चंचलता का भाव उत्पन्न करता है उसी प्रकार यौवन ने अङ्गों में चंचलता एवं स्फूर्त्ति का भाव उत्पन्न कर दिया है।

(३) 'मति' की सहायता से जिस प्रकार ऋतुराज प्रकृति में आनन्द की लहरें उठाता है, उसी प्रकार यौवन ने उसकी सहायता से रुक्मिणी के हृदय को नवीन भावनाओं और उमंगों से भर दिया है।

कवि की यह कल्पना अनूठी है। काव्य-रचना में उसकी प्रखर प्रतिभा का परिचय देती है।

अलंकार—रूपक।

दो० २०—

दल (डिं०) = (सं० दल) = शरीर के अवयव। संस्कृत में 'दल' शब्द का अनेक अर्थों में प्रयोग होता है। एक अर्थ यह भी है—भाग, अंश, अवयव (Apte) ढूँढारी टीका में 'दल' का यह अर्थ लिया गया है। देखो दो० २३१ "लागी दलि कलि मलयानिल लागै"—टीकाकार "दलि" की व्याख्या

करता है:—"दल कहताँ शरीर थी"। इसी प्रकार के अर्थ में 'दल' का प्रयोग दो० १८६ में देखो।

दल=(सं०) कमल-दल=कमल की पंखुड़ी।

सर (डिं०)=(सं० स्वर) प्रा० सर; हिं० स्वर=शब्द।

पाँपणि (डिं०)=पलक, भाँपणी। मिलाओ—हिं० क्रिया—भाँपना (पलक उठा कर देखना)।

भूँहारे (डिं०)=हिन्दी में 'भँवारे'=भ्रकुटि, भौंह। उदा:—"विवरन आनन अरिगनी, निरखि भँवारे मैार, दरकि गई आँगी नई फरकि उठे कुचकोर" (शृं० सतसई)।

भ्रमिया (डिं०)=(सं० भ्रमण)=फिरना, घूमना। उदा० "केशवदास आसपास भँवत भंवर जल-केलि में जलजमुखी जलजसी सोहियै"॥ (केशव)

परि (डिं०)=रीति से, ढंग से, प्रकार। देखो पूर्व दोहलों में—"परि", "वरि"

अलंकार=रूपक—समस्त वस्तु-विषयक रूपक।

इस दो० के भाषा-लालित्य और मनोरम कान्तपदावली को पढ़कर जयदेव का स्मरण होना स्वाभाविक है।

दो० २१—

मलै=(सं० मलय) साहित्य में मलयाचल पर्वत प्रसिद्ध है। यह भारत के दक्षिण में है और वसंत-ऋतु में इसकी ओर से शीतल मंद सुगन्ध पवन चलकर उत्तर भारत में प्रवाहित होती है।

मौरे=(सं० मुकुल) प्रा० मउल-मउर-मौर=मंजरी—आम्रमंजरी।

मन मलै मौरे=मन में यौवनागमन के समय नवीन उत्साह, नवीन स्फूर्त्ति, नवीन तरङ्गों का प्रादुर्भाव होना अत्यन्त स्वाभाविक

है। मनरूपी मलयतरु में नवीन इच्छाओंरूपी मंजरी की कल्पना अत्यन्त मनोज्ञ है। ध्वनि के आधार पर यह उपमा उत्तम काव्य, व्यंग्य-काव्य का लक्षण है।

कि = क्या है, क्या है मानो। यह डिंगल में रूपक और उत्प्रेक्षा के चिह्न की तरह प्रयुक्त हुआ है।

काम-अङ्कुर = देखो दो० १८ "काम-विराम छिपाड़ण काज"—अङ्कुरित यौवना स्त्री उसे कहते हैं जिसके यौवनावस्था के काम-चिह्न कुच नितम्बादि अङ्कुरित होकर दृष्टि-गोचर होने लगे हों।

त्रिगुणमै = (सं०) त्रिगुणात्मक दाक्षिणात्य पवन—शीतल, मंद, सुगंध।

ऊरध सास = ऊपर को चढ़ती हुई साँस। यौवनागम के साथ स्त्रियों की साँस की गति भी तीव्र हो जाती है।

उच = (सं० वच्) कहना चाहिए, कहिए।

अलंकार = रूपक—समस्त-वस्तु-विषयक।

दो० २२—

उदै (डिं०) = (सं० उदय) प्रा० उदअ—उदै = उदय होना।

उहास (डिं०) = हिं० उजास = उज्ज्वलता का भाव, प्रकाश, उजेला उदा० नित प्रति पूनौ ही रहै, आनन ओप उजास" (विहारी)

रद = (सं०) दाँत—उदा० "हद रद छद छबि देखियत, सद रदछद की रेख" (विहारी)

रिखपंति (डिं०) = (सं० ऋक्षपंक्ति) (१) नक्षत्रों की पंक्ति। नक्षत्र २७ माने गये हैं। अश्विनी, भरिणी, कृत्तिका इत्यादि।

(२) ऋषिपंक्ति = आध्यात्मिक और भौतिक तत्त्वों को ज्ञाता, वेद मंत्रों की प्रकाशक, दिव्य आत्माएँ। ये सात माने गये हैं। प्रत्येक मन्वंतर के लिए पृथक् होते हैं। वर्त्तमान वैवस्वत मन्वंतर के लिए ये हैं :—

कश्यप, अत्रि, वशिष्ठ, विश्वामित्र, गौतम, जमदग्नि और भरद्वाज।

रुख (डिं०) = (सं रुक्) शोभा, कान्ति से। लाक्षणिक अर्थ में— ...की भाँति शोभायमान, की तरह कान्तिमान् इत्यादि।

मैन (डिं०) = अंधकार। हि० मैन, मदन = कामदेव मन में मोहान्धकार पैदा करता है। इसी से यह शब्द "अन्धकार" द्योतक बन गया।

अलंकार = रूपक—समस्तवस्तुविषयक—उपमा पुष्टिकृत।
"राजति रद रिखपंति रुख"—पूर्णोपमा।

दो० २३—

सरवरि (डिं०) = (सं० शर्वरी) रात्रि। उदा० "विगत शर्वरी शशाङ्क" (तुलसी)

वधन्ती-वधिया (डिं०) = (सं० वर्द्धनं) प्रा० वढ्ढण० डिं० वधणो देखो, पूर्व० दो० "वधै मास ताइ पहर वधन्ति" (वेलि)

तणा-तणौ (डिं०) = देखो पूर्व दोहलों में व्याख्या—दो० ३, ७

जल जोर = (फा० ज़ोर) = जल का वेग, प्रवाह। इसी 'ज़ोर' से 'ज्वार'। हिं० उदा० अति उच्छलि छिच्छ त्रिकूट छयो, पुर रावण के जलजोर छयो (केशव)

करग (डिं०) = (सं० कराग्र) = 'कर' शब्द के साथ अन्य शब्द का योग होने से हथेली, पंजा, अगुली इत्यादि अर्थ होता है। यथा: 'करपल्लव'।

बाण काम रा = (सं० कामबाण) = साहित्य में कामदेव को पंचबाण, पुष्पबाण, पुष्पधन्वा, पंचशायक कहा है:—

कामदेव के बाण दो प्रकार के हैं:—

(१) संमोहनोन्मादनौ च शोषणस्तापनस्तथा।
स्तंभनश्चेति कामस्य पंचबाणा: प्रकीर्तिता: ॥

इन बाणों के विस्तृत वर्णन के लिए देखो, दो० १०६ (वेलि)

(२) अरविंदमशोकं च चूतं च नवमल्लिका।
नीलोत्पलं च पंचैते पंचबाणस्य शायका: ॥

वरुण (सं०) = एक वैदिक, प्रधान देवता। इनको अदिति के आठ पुत्रों में से और द्वादश आदित्यों में से एक बतलाया है। ऋग्वेद में अनेक मंत्र इनकी स्तुति में हैं। पुराणों में इनको जल का देवता और इनका अस्त्र वरुण-पाश, जलपाश माना है।

दोर = (सं० दोस्) हाथ, भुजाएँ।

उदा:—"अविरलपरिरंभैर्व्यापृतैकैकदोष्णो:" (उत्तरचरित)

डोर = (सं० दोर) डोरी, वरुणपाश की डोरी। उदा० डीठि डोर, नैना दही, छिरकि रूप रस तोय। मथि मो घट प्रीतम लियौ, मन नवनीत बिलोय। (विहारी)

अलंकार—रूपक—समस्त में।

सहोक्ति—प्रथम पंक्ति में।

दो० २४—

किरि—जाणि (डिं०) = उत्प्रेक्षा के वाचक चिह्न = मानो, जानो।

कामिणि (डिं०) = (सं० कामिनी) युवा सुन्दर स्त्री।

दाण (डिं०) = (सं० दान) = हाथी का मदजल। उदा० (१) दान देत यों शोभियत दीन नरनि के साथ। दान सहित ज्यों राजहां मत्त गजन के माथ। (केशव)

(२) रणित भृंग घंटावली, झरत दान मधु नीर।
मंद मंद आवत चल्यो, कुंजर कुंज समीर॥ (बिहारी)

दिखालिया (डिं) = हिं० देखना—प्रेरणार्थक—दिखलाना।
डिं०-दिखलाना,—देखालना।

अलंकार = उत्प्रेक्षा।

दो० २५—

धरधर (डिं०) = (सं० धराधर) = पर्वत।

सधर (डिं०) = कठोर, कठिन। धरा अर्थात् पृथ्वी के गुण, काठिन्य के सहित। संस्कृत टीकाकार इसका अर्थ यों करता है—सधरौ माहात्म्यवन्तौ" = महत्त्वपूर्ण।

सुपीन (सं०) = मोटे, ताज़े, सुडौल।

घणी (डिं०) = (सं० घनत्वं) राजस्थानी भाषाओं में अब तक इस शब्द का क्रियाविशेषण अव्यय की तरह बहुतायत से प्रयोग होता है। = अधिक, विशेष, अत्यन्त, बहुत। हिं० घनी।

खीण (डिं०) = (सं० क्षीण) = कृश, पतली। कटि का क्षीण होना साहित्य में सौन्दर्य्य का लक्षण माना गया है।

सुघट = (सं०) = सुंदर, सुडौल, सुघटित। उदा०—"सुघट ग्रीव रस सींव, कंठ मुगता विघटत तम"। (हनुमन्नाटक)

पदमणि (सं०) = कामशास्त्र के अनुसार स्त्रियों के तीन लक्षण हैं:—पद्मिनी, चित्रणी, शंखिनी। इन तीनों में सौन्दर्य्य, स्वभाव, आचार-व्यवहार इत्यादि में श्रेष्ठ पद्मिनी को माना है।

त्रिबलि (सं०) = स्त्री के शरीर में, पेट पर पड़नेवाली तीन रेखाओं को साहित्य में सौन्दर्य्य का लक्षण माना है।

त्रिवेणी (सं०) = गंगा, यमुना और सरस्वती के संगम को "त्रिवेणी" कहते हैं।

स्रोणि (सं०) = नितम्ब

अलंकार—रूपक—उपमागर्भित।

दो० २६—

नितम्बणी = (सं०) सुन्दर नितम्बोंवाली स्त्री।

करभ = हथेली के पीछे का भाग—करपृष्ठ।

रंभ (स०) = कदली, केले का वृक्ष अथवा खंभ।

रुख = तरफ़, ओर, दिशा में। उदा० मनहु महाजल उमगि उदधि रुख चले नदी नद नारे (तुलसी)
मिलाओ 'रुख' का अन्यत्र प्रयोग० दो० २२ (वेलि)

जुअलि (डिं०) = (सं० युगल) प्रा० जुअल = दो।

नालि = (सं० नलिका) नल के आकार की भीतर से पोली हड्डी जिसमें मज्जा बहती है; घुटने के नीचे, पैर की पिंडली का स्थान। संस्कृत टीकाकार उपमा के भाव का स्पष्टीकरण करता हुआ लिखता है:—"तस्या. कदल्या: गर्भसदृशं विशेषसौकुमार्येण निरोमत्वमपिप्रकाशितम्"—अर्थात् इससे पिंडली की निरोमता का भाव प्रकट होता है।

तसु = (सं० तस्य) उसके,—अर्थात् कदली-खंभ के।

जेहवी = (स० यादृशी) प्रा० जाइसी (डिं) जेहड़ी, जेहवी = जैसी।

गरभ = (स० गर्भ) मध्यभाग।

विदुख = (स० विद्विष्) = विद्वान्, कवि। उदा० "विदुष जनन विराट प्रभु दीखे, अति मन में सुख पायौ" (सूर)।

वयण = (स० वचन) प्रा० वयण = वचन

वाखाणि (डिं०) = हि० बखानना = वर्णन करना।

अलंकार—(१) प्रतीप—चौथा। "सरवरि में उपमेय की जब न तुलै उपमान"

(२) उपमा।

दो० २७—

पदपलव (सं० पदपल्लव) 'कर' या 'पद' के साथ दूसरे शब्द का योग होने से हाथ अथवा पैर का अग्रभाग—पंजा—यह अर्थ होता है। यथा—करपल्लव, पदपल्लव।

पुनर्भव (सं०) = नख।

ओपति = (सं० ओप = चमक) क्रिया प्रयोग। हिं० उदा—(१) "आनन ओप उजास" (बिहारी)।

(२) सूरदास प्रभु प्रेम हेम ज्यों अधिक ओप ओपी (सूर)

न्रिमल (डिं०) = (सं० निर्मल) अन्यान्य आधारभूत भाषाओं—संस्कृत इत्यादि के शब्दों में वर्णों का स्थान-परिवर्त्तन करके डिंगल शब्दों के बनाने का नियम है। यहाँ पर 'म' पर के रेफ का स्थान-परिवर्त्तन होकर 'नि' में सम्मिलित हो जाना इसी नियम का उदाहरण है। इसी प्रकार 'कर्म' का 'क्रम' हो जाता है। यथा: "भूँडा क्रम भागीरथी" (पृथ्वीराज)।

कि तार कि तारा = अथवा तारों का प्रकाश है।

(सं० तार) = प्रकाश, दीप्ति, चमक। सं० उदा० तारहार: = प्रकाशमान हार। 'उरसि निहितस्तारोहार:'।

हरिहँस = (सं० हरि + हंस) हरि = कपिल, ताम्रवर्ण अर्थात् लालिमा लिया हुआ रंग। हंस = सूर्य। अतएव बालसूर्य।

सावक ससिहर (डिं०) = (सं० शावक + शशधर) = बालचन्द्र।

अलंकार = उत्प्रेक्षा—पूर्वार्ध में।

रूपक—'पद-पल्लव' में।

सन्देह—उत्तरार्ध में।

उल्लेख—समस्त में। "एकहिं वरणि बहुरीति"।

दो० २८—

व्याकरण = वेद के छः अङ्गों मे से एक अंग व्याकरण है। पाणिनि, यास्क, पतञ्जलि इत्यादि आठ वैयाकरणों के पीछे आठ व्याकरण के भेद माने गये हैं।

पुराण = प्राचीन आख्यान और परम्परा के अनुसार १८ पुराण माने गये हैं। यथा—विष्णु, पद्म, ब्रह्म, शिव, भागवत, नारद, मार्कण्डेय, अग्नि, ब्रह्मवैवर्त्त, लिङ्ग, वाराह, स्कंद, वामन, मत्स्य, कूर्म, गरुड़, ब्रह्माण्ड और भविष्य।

सम्रृति (डिं०) = (सं० स्मृति) भारतीय आर्यों—हिन्दुओं—के धार्मिक ग्रंथ दो विभागों में विभक्त हैं। (१) वेद, ब्राह्मण और उपनिषद्, जिन्हें 'श्रुति' कहते हैं (२) 'स्मृति'—जिनमें वेदांग, धर्मशास्त्र, दर्शन, आचार-व्यवहार, नीति शास्त्र इत्यादि का विवेचन किया गया है। स्मृतिकारों के पीछे ये स्मृतियाँ १८ हैं। यथा:— मनु, याज्ञवल्क्य, अत्रि, विष्णु, हारीत, उशनस्, अंगिरा, यम, कात्यायन, बृहस्पति, पराशर, व्यास, दक्ष, गौतम, वशिष्ठ, नारद, भृगु और आपस्तंब। साधारण और अधिक व्यापक अर्थ में, ६ वेदाङ्ग, गृह्यादि ८ सूत्र, मन्वादि १८ स्मृतियाँ, रामायण, महाभारतादि इतिहास, १८ पुराण तथा नीतिशास्त्र के ऋषिप्रणीत सब ग्रंथ स्मृतियाँ कहलाते हैं।

सासत्र-विधि = (सं०—शास्त्र-विधि) = शास्त्राज्ञा के ग्रंथ। वास्तव में शास्त्र ४ माने गये हैं। यथा.—"आयुर्वेदो धनुर्वेदो गांधर्वश्चेति ते त्रयः। अर्थशास्त्रं चतुर्थं च"॥ परन्तु व्यापक अर्थ में कहीं कहीं १४ विद्या और ये ४ शास्त्र सम्मिलित करके सभी १८ को 'शास्त्र' की संज्ञा दी गई है।

वेद च्यारि = ऋक्, यजुः, साम, अथर्व—चार वेद ।

खट अङ्ग = (सं० षट् + अङ्ग) शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छंद और ज्योतिष ये छः वेदांग हैं ।

विचार = दर्शन-शास्त्र—षड्‌ दर्शन—सांख्य, योग, न्याय, वैशेषिक, मीमांसा, और वेदान्त ।

चतुरदस = चौदह विद्यायें शास्त्र-सम्मत हैं—इनकी गणना इस प्रकार है :—

अंगानि, वेदाश्चत्वारो मीमांसा न्यायविस्तरः ।
धर्म-शास्त्रं पुराणं च विद्या ह्येता चतुर्दश ॥

चौसठि = चौंसठ कलाएँ । कामशास्त्र के अनुसार कलाएँ ६४ गिनाई गई हैं । वे इस प्रकार हैं:—गीत, वाद्य, नृत्य, नाट्य, आलेख्य (चित्रकला), विशेषकच्छेद्य, तंडुलकुसुमावलिविकार, पुष्पास्तरण, दशनवसनांगराग, मणिभूमिकाकर्म (ऋतु अनुकूल घर सजाना), शयनरचना, उदकवाद्य (जलतरङ्ग बजाना), उदकघात (पानी के खेल), चित्रयोग, माल्यग्रंथन, केशशेखरापीड़न, नेपथ्ययोग (वस्त्र-भूषा धारण करना), कर्णपत्रभङ्ग, गंधयुक्ति, भूषणयोजन, इन्द्रजाल, कौचुमारयोग (कुरूप को सुन्दर बनाने की विधियाँ), हस्तलाघव (हाथ की सफ़ाई के खेल), चित्रशाकापूपभक्ष्यविकारक्रिया (पाक-कौशल), पानकरस रागासवभोजन, सूचीकर्म (सीना), सूत्रकर्म (कसीदा काढ़ना), प्रहेलिका, प्रतिमाला (अंत्याक्षरी श्लोक कहना), दुर्वाचक योग (कठिन पदों का अर्थ कहना), पुस्तकवाचन, नाटकाख्यायिका दर्शन, काव्यसमस्यापूर्ति, पट्टिका वेत्र बाण विकल्प (नेवाड़, मुंज, बेंत इत्यादि से बुनना), तर्क कर्म, तक्षण,

वास्तुविद्या (इंजीनियरी), रूप्यरत्नपरीक्षा, धातुवाद मणिरा-गाकरज्ञान (रत्न के रंग की परीक्षा), वृक्षा-युर्वेदयोग (वनस्पति-शास्त्र), मेषकुक्कुटलावक-युद्धविधि, शुकसारिकाप्रलापन, उत्सादन (उबटन लगाना, सर दबाना आदि), केशमार्जनकौशल, अक्षरमुष्टिकाकथन, म्लेच्छितकलाविकल्प (विदेशी भाषाज्ञान), देशभाषाज्ञान, पुष्प-शकटिका, निमित्त=ज्ञान (शकुनशास्त्र और घटनाओं के आधार पर भविष्य कथन), यंत्रमंत्रिका (यंत्र बनाना), धारणमातृका (स्मृति बढ़ाना), संपाठ्य (स्मृति से पाठ० क०), मानसीकाव्यक्रिया, क्रियाविकल्प, छलित-कयोग, अभिधानकोष, छंदोज्ञान, वस्त्रगोपन, द्यूतविशेष, आकर्षण-क्रीड़ा, बालक्रीड़ाकर्म, वैनायिकी-विद्या-ज्ञान (विनय शिष्टाचार का ज्ञान), वैजयिकी विद्याज्ञान, वैतालिकी विद्या-ज्ञान।

अनँत अनँत=भगवान् अनंतस्थायी विष्णु का अनंत, अपरिमित अधिकार अर्थात् व्याप्ति पाई।

मधि (डिं०)=सं० मध्य। में, अन्दर, बीच में। हिन्दी काव्य में इसी अर्थ में बहुतायत से प्रयोग मिलता है।

अलंकार—पर्याय 'एक वस्तु क्रम सों जहाँ आश्रय लेय अनेक'। 'अनन्त' का व्याकरण पुराण आदि अनेक वस्तुओं में। अधिकार है।

[तसु मधि अनँत अनँत अधिकार]=इस पंक्ति का दूसरा अर्थ इस प्रकार भी लिया जा सकता है:— उस पर अर्थात् लक्ष्मी-रूपा रुक्मिणी पर विष्णु भगवान (श्रीकृष्ण) का अनंत अधिकार है॥

दो० २६—

साँभलि (डिं०)=(सं० संभार) हिं० सँभालना=स्मरण करके, मन में एकत्रित करके।

उदा०

(१) गंगा अरु गीताह, श्रवण सुणी अरु साँभली।
जुग नर वह जीताह, वेद कहै भागीरथी॥
(पृथीराज)

(२) वंदि पितर सब सुकृत संभारे, जो कछु पुण्य प्रभाव हमारे।
(तुलसी)

श्यामा=(सं०) श्यामा के लक्षण :—

(१) शीते सुखोष्णसर्वांगी, ग्रीष्मे च सुखशीतला।
तप्तकांचनवर्णाभा सा स्त्री श्यामेति कथ्यते॥
(भट्टिकाव्य)

(२) 'यौवनमध्यस्था' स्त्री को भी श्यामा कहते हैं।

(३) कोई सुंदरी स्त्री जिसके अभी तक संतान हुआ न हो।

(४) देखो दो० ८०, संस्कृत टीकाकार ने श्यामा के लक्षणों के विषय में ये श्लोक उद्धृत किये हैं :—

श्यामा च श्यामवर्णा स्यात् श्यामा मधुरभाषिणी।
अप्रसूता भवेत् श्यामा श्यामा षोडशवार्षिकी॥
या शीते चोष्णशरीरा उष्णे शीतशरीरिणी।
मध्यकाले भवेन्मध्या सा श्यामा इत्युदाहृता॥

ऊपनी (डिं०)=(सं० उत्पन्न) उत्पन्न हुई। हिं० उदा० वन बनवृच्छन चन्दन होई। तन तन विरह न उपनै सोई॥ (जायसी)

जिका (डिं०) = (सं० या + का) = जो कोई, जैसी कैसी, जैसी।

हर (डिं०) = डिंगल में "हर" शब्द, उत्कट इच्छा, वासना, स्मृति के अर्थ में प्रयुक्त होता है।

भणि (डिं०) = (सं०) डिंगल में 'भणनो' पढ़ना, परिशीलन करना के अर्थ में प्रयुक्त होता है। हिन्दी में इस शब्द का प्रयोग काव्य में मिलता है।

अलंकार—वर, वर, हरि, हर, हरि, हरि में—यमक और पदार्थावृत्तिदीपक।

दो० ३०—

ईखे (डिं०) = (सं० ईक्षण) = देखकर।
एरिसा (डिं०) = (सं० ईदृश् (स्त्री)) प्रा० ईरिस-एरिस = इस प्रकार के।
अवयव = (सं०) शरीर-सम्बन्धी चिह्न।
सरि = (सं० सदृश प्रा० सरिस) हिं० सरि = समान। उदा०

दाड़िम सरि जो न कै सका, फाटेउ हिया दरकि।

(जायसी)

नाह (डिं०) = (सं० नाथ) = वर, पति, दूलह। हिन्दीकाव्य में इसी अर्थ में बहुतायत से प्रयुक्त होता है।
नाह = नहीं।
अलंकार = उपमा—अन्तिम पंक्ति।

दो० ३१—

अम्हां (डिं०) = (सं० अस्माकं) प्रा० अम्हाअं—अम्हां (डिं०) = हमारे, मेरे।
वासना वसी = इच्छा हुई है, धारणा हुई है।

इसी (डिं०) = (सं० ईदृशी) प्रा० ईरिसी—ईइसी ≈ ऐसी ।

ग्याति (डिं०) = (संज्ञा) जान पहचान, सम्बन्ध, ज्ञातिसम्बन्ध ।

किसी (डिं०) = (सं० कीदृशी) प्रा० कीरिसी—कीइसी = कैसी (हिं०)

राजवियाँ (डिं०) = राजवी, राजवंशी, राजपूत, क्षत्रिय, उदा:—

"नम नम नीसरियाह, राण विना सह राजवी ।"

(पृथीराज)

ग्वालाँ = हिं० ग्वाल = अहीर, गोरक्षक जाति ।

कुलपाँति (डिं०) = (सं० कुल-पंक्ति) कुल की श्रेणी, कुलमर्यादा ।

दो० ३२—

सरिस = (सं० सदृश) प्रा० सरिस = सरीखों से, के समान ।

सगाई = (सं० सह + ज्ञाति) विवाह के लिए, पूर्व-सम्बन्ध की प्रथा ।

औलाँडे = हिं० उलारना, उजेड़ना, ओलारना = क्रमभङ्ग कर देना, ऊपर से नीचे फेंक देना, प्रतिष्ठाच्युत कर देना ।

उदा० रुकि गये बाटन नारे पैंड़े, नवकेसर के माट उलेड़े ॥

(सूर)

इता = (सं० एता) = इतने ।

त्रिधपणै (डिं०) = हिं० वृद्धपना । डिं० 'त्रिमल', 'क्रम' की तरह यहाँ भी रेफ का स्थान-परिवर्तन हुआ है ।

वेसासौ (डिं०) = (सं० विश्वास) = विश्वास करो ।

पाँतरिया (डिं०) = डिंगल में 'बुद्धि का पाँतर जाना'—यह एक मुहाविरा है—बुद्धि का भ्रष्ट हो जाना—बुद्धि बिगड़ जाना ।

दो० ३३—

प्रभणै = (सं० प्रभणन्ति) कहते हैं ।

जसु = (सं० यस्य) प्रा० जस्स = जिसकी ।

समी (डिं०) = (सं० सम + ई, स्त्री प्रत्ययान्त) = समान।

डिंगल में अव्ययों को भी लिङ्गभेद का चिह्न दे देते हैं, यथा—समी-समौ।

लाड़ी (डिं०) = (सं० लालन्-लाड़न्) डिंगल में 'लाडी' नवविवाहिता प्रियतमा को कहते हैं। दुलहिन अथवा नववधू का भी अर्थ है।

वासुदेव = विष्णु के अवतारस्वरूप श्रीकृष्ण।

अलंकार = उपमा।

दो० ३४—

मावीत्र (डिं०) = (सं० मातृ + पितृ) प्रा० माइ + वित्री-विइ। डिं० मावित्री—मावीत्र = माता-पिता।

म्रजाद (डिं०) (सं० मर्यादा) डिं० रेफ का स्थान-परिवर्त्तन = लज्जा, कान, सम्मान। उदा० भो मर्याद बहुत सुख लागा, यहि लेखे सब संशय भागा। (कबीर)

मेटि = हिं० मिटाना—(सं० मृष्ट-प्रा० मिट्ट)

सुवर = सुन्दर वर।

ऊफणियौ (डिं०) = (सं० उत् + फेन) = क्रोध से उबल पड़ा। इस शब्द की व्यञ्जना-शक्ति से यह अर्थ-चमत्कार उत्पन्न होता है। उदा० भौंर भरी उफनात खरी, सु उपाय की नाव तरेरनि तोरत। (घनानंद)

बरसालू (डिं०) = हिं० बरसाती = बरसने को उद्यत। जिस प्रकार—कृपा-कृपालु; दया-दयालु, उसी तरह वर्षा-वर्षालु बना है।

बाहला (डिं०) = हिं० (१) बादला, बादल (२) सं० टीका—वाहलां = क्षुद्र नदी। राजस्थानी में 'वाहला'-बरसात के नाले को कहते हैं।

वरि (डिं०) = की तरह। उपमा का वाचक चिह्न।

अलंकार = लुप्तोपमा—उपमा।

बरसालू वहला वरि = दूसरा अर्थ यह भी हो सकता है कि कुँवर रुक्मि कुपित होकर इस प्रकार उफन पड़ा जिस प्रकार बरसात का क्षुद्र नाला अथवा नदी। परन्तु जिस प्रकार बरसाती नाले वा नदी का जल थोड़े समय तक रहता है वैसे ही रुक्मि के क्रोध को समझना चाहिए। यह अर्थ ज्यादा रोचक है।

दो० ३५—

गुरु = सं० गुरु शब्द का तीन पृथक् अर्थों में प्रयोग हुआ है:—

(१) गुरु = शिक्षक, अध्यापक।

(२) गुरु = माता पिता। उदा० गौरी गुरोः गह्वरमाविवेश (रघु०)

(३) गुरु = भारी, असह्य, कठिन। उदा० "गुर्वपि विरहदु:ख ...."

(शाकुन्तला)

नर (डिं०) = (सं० नर = पौरुषयुक्त पुरुष—वीर पुरुष) = वीर पुत्र। डिं० उदा० "नराँ नाहराँ डिगमराँ पाकाँ ही रस होय।" (लोकोक्ति)

हेक (डिं०) = एक

वरै = वरण करै—विवाह करै।

सुसा (डि०) = (सं० स्वसा)—बहिन।

दमघोष = (१) शिशुपाल के पिता का नाम। (२) दूसरे अर्थ में शिशुपाल का विशेषण—अर्थ—जिसके दमन की घोषणा सर्वत्र है, ऐसा वीर।

अलंकार 'गुरु' में—यमक।

दो० ३६—

आइस = (सं० आयषु) हिं० आयसु = आज्ञा, हुक्म। उदा० "आयसु दोन्ह मोहिं रघुनाथा" (तुलसी)।

इ = (सं० हिं० निश्चयार्थक) = ही।

पुहती (डिं०) = (स० प्रभूत) प्रा० पहूच, डिं० पहूत। डिंगल में 'च' 'त' का विपर्य्यय होता है।

चंदेवरी = एक पौराणिक इतिहास-प्रसिद्ध प्राचीन नगरी जो चेदि देश की राजधानी थी। ग्वालियर—राज्य के नरवार ज़िले में इसकी पूर्व समृद्धि के सूचक ध्वंस मिलते हैं। अलबरूनी ने चंदेरी का उल्लेख किया है।

अलंकार—अत्यन्तातिशयोक्ति—उत्तरार्द्ध में।

दो० ३७—

हुइ (डिं०) = हिं० होइ = होकर।

हालियौ (डिं०) = (सं० हल्लान) हलचल की, गतिवान हुए। उदा० "हालति न चंप लता, डोलत समीरन के बानी कल कोकिल कलित कंठ परिगो।"

कुण (डिं०) = हिं० कवन, कौन।

केतला (डिं०)—मराठी प्रयोग = कितने।

चा (डिं०) मराठी प्रयोग = का।

गति = ढङ्ग, तरह से । उदा० "भइ गति साँप छुछंदर केरी" (तुलसी)।

अलंकार—वक्रोक्ति—शब्दालंकार—उत्तरार्द्ध में ।

दो० ३८—

मण्डिजै (डिं०) = मांड़े जाते हैं, मनाये जाते हैं ।

नीसाणे (डिं०)=हिं० निशान (देशीय) = नगाड़ा, धौंसा । देखो दो० ४० । उदा० "बीस सहस घुम्मरहिं निसाना" (जायसी)।

निहस (डिं०) = चोट, प्रहार, डंके की चोट ।

कुंदणपुरि = एक प्राचीन पौराणिक नगर जो विदर्भ देश में था। विदर्भ का आधुनिक नाम बिदर है जो हैदराबाद-राज्य में है। बिदर से कुछ दूर कुंडिलवती नाम की पुरानी नगरी आज तक है। यही स्थान प्राचीन कुंडिनपुरी हो सकता है।

कुंदणमै = सुवर्णमय । कुंदन = सोना ।

बाझै (डिं०) = (सं० बध्यन्ते) प्रा० बज्झइँ, हिं० बाजैं = बजते हैं।

अलंकार—यमक, कुन्दणमै, 'कुंदणपुरि' में ।

दो० ३९—

हींगलू (डिं०) = (सं० हिङ्गुल) हिं० ईंगुर। एक खनिज पदार्थ जो चीन आदि देशों में पाया जाता है । इसकी ललाई बड़ी चटकीली होती है और स्त्रियाँ इसको बेंदी लगाने और माँग भरने के काम में भी लाती हैं । ईंगुर से पारा निकाला जाता है । आजकल सूखा और गीला दो प्रकार का नकली ईंगुर भी बहुत बनने लगा है ।

चुणी (डिं०) = (सं० चयन) = हिं० चुनना, जोड़ाई करना। उदा०
कंकड़ चुण चुण महल उठाया, लोग कहँ घर मेरा॥ (कबीर)।

पाट (डिं०) = (सं० पट्ट) = हिं० पाट, पटड़े, लकड़ी के लम्बे तख्ते जो मकान की छत ढकने के काम आते हैं।

ई (डिं०) = (सं० हि)—निश्चयार्थ में प्रयोग होता है।

खुम्भी (डिं०) = हिं० कुम्भी—खंभे के नीचे का भाग, जो ऊपर के हिस्से से कुछ बाहर निकला हो और उस पर कुछ शिल्पकारी भी चित्रित हो।

पनाँ (डिं०) = हिं० पन्ना, एक प्रकार का कीमती हरे रंग का जवाहिर-पत्थर।

प्रवाली = (सं०) = मूँगिया।

फिटकमै (डिं) = (सं०) = स्फटिकमय।

अलंकार—उदात्त।

पुनरुक्तिप्रकाश। "ग्रिह ग्रिह"—

दो० ४०—

जोइ (डिं०) = (१) जो, जो भी।

(२) दूसरे अर्थ में ढूँढारी टीका इस शब्द का अर्थ "तम्बू"—शामियाना करती है, यथा: "रंग रंग रा सामियाना ऊभा किया छ."।

(३) एक और तीसरे अर्थ में, संस्कृतटीका इस शब्द का अर्थ करती है। यथा—जोइ इति स्त्रीपर्यायः।

हमारी समझ में प्रथम अर्थ सरल एवं प्रसंगोपयुक्त होने से सर्वश्रेष्ठ है। 'जोइ' का द्वितीय पंक्ति के "सोइ" से सम्बन्ध होना इस आशय को प्रतिपादित करता है।

(४) पश्चिमी मारवाड़ी टीका ने भी 'जोइ' का अर्थ 'स्त्री' लिया है।

पटल = (सं०) = (१) कपड़े, परदा, विस्तीर्ण वस्त्र (२) समूह। यहाँ पहले अर्थ में यह शब्द प्रयुक्त है। उदा० निकसे जनु जुग विमल विधु जलद पटल बिलगाय॥ (तुलसी)

साँवल (डिं०) = (सं० श्यामल) = श्याम रंग के।

घुरै (डिं०) = (सं० घुर) शब्द करना; घहराना। उदा०

(१) "घुरत निसान मृदंग शंखध्वनि भेरि-झाँझ सहनाई।" (सूर)

(२) डंकन के शोर-चहुँ ओर महाघोर घुरैं। मानो घनघोर घोरि उठे भुव ओर तैं॥ (सूदन)

नीसाण (डिं०) = नगाड़ा। देखो, दो० ३८

प्रोलि (डिं०) = (सं० प्रतोली) प्रा० पओली, हिं० पोल = प्रवेशद्वार, फाटक।

तोरण = (सं०) = एक प्रकार का काम किया हुआ, सुसज्जित महराब। मालाओं, बन्दनवारों और पताकाओं से सजाया हुआ घर अथवा नगर का बहिर्द्वार।

राजस्थान में 'तोरण' सजावट की एक वस्तु-विशेष का नाम है जो विवाह के घरों के बहिर्द्वार पर लटकाया जाता है और काष्ठ का बना हुआ होता है। इसमें मयूर इत्यादि पक्षी बने होते हैं और रंगों की चित्रकारी भी रहती है।

परठीजै (डिं०) = (सं० प्रस्थीयते)—प्रा० परठीजइ = स्थापित किये जाते हैं।

मण्डे (डिं०) = (सं० मंडन) हिं० मँडे हुए, लिखे हुए, चित्रित।

ताण्डव (डिं०)=(सं० ताण्डव)=आन्तरिक आनन्द का द्योतक उत्साहपूर्ण नाच नाचना 'ताण्डव' कहलाता है। शिवजी का ताण्डव-नृत्य करना प्रसिद्ध है।

नोट :—प्रथम पंक्ति, "जोइ अनद······ऊजल्" का दूसरे प्रकार से यह अर्थ भी किया जा सकता है :—

(१) स्त्रियों ने श्यामल उज्ज्वल इत्यादि रंग-बिरंगे जो वस्त्र पहने हैं वही मानों रंग-बिरंगे बादलों के समूह हैं। यह अर्थ संस्कृत और मारवाड़ी, दोनों टीकाएँ लेती हैं।

(२) ढूँढाड़ी टीका ने एक तीसरा अर्थ लिया है :—
रंग रंग के शामियाने खड़े किये हैं, वही मानों बादल के समूह हैं।

अलंकार=रूपक—उत्प्रेक्षागर्भित।

दो० ४१—

राजान (डिं०)=(सं० राजान: (बहु० व))=राजा लोग।

जान (डिं०)=(सं० यान)=बरात। राजस्थानी भाषाओं में 'बरात' के लिए यह शब्द अब तक प्रयुक्त होता है।

हुंता (डिं०)=डिंगल में भूतकाल क्रिया का चिह्न=थे।
इसी से मिलते-जुलते 'हुँता,' 'हूँता,' 'हूँत' राजस्थानी में अपादान विभक्ति के चिह्न की तरह प्रयुक्त होते हैं जो प्राकृत और अपभ्रंश की 'हिन्तो' 'सिन्तो' विभक्तियों से बने हुए हैं। उदा० (१) "पातल् जो पतशाह, बोले मुख हूँता बयण" (पृथ्वीराज) (२) खुशी हूँत पीथल् कमध, पटको मूछाँ पाण।" (पृथ्वीराज)।

दीध (डिं) = (सं० दत्त) प्रा० दिण्ण, अवधी० हिं० दीन्ह। (डिं०) दीध—यह रूप प्राकृत और अपभ्रंश व्याकरण के अयथार्थ सामंजस्य (false analogy) के नियम के आधार पर बना प्रतीत होता है। इसी प्रकार सं० कृत = प्रा० किध—डिं० कीध—हिं० कीन्ह।

नयर (डिं०) = (१) (सं० नगर) प्रा० नयर—हिं० नगर।
(२) (सं० निकट) प्रा० निग्रड-नयड़-नयर-नैड। डिंगल में इसका दूसरा रूप "नैड़ा" भी इसी अर्थ में प्रयुक्त होता है। = नजदीक, पास, निकट।

नोट—'निकट' का अर्थ लेने से "दूरा' ····दीसै" पंक्ति का अर्थ होगा—"दूर अथवा नजदीक बादलों की कोरण दिखाई दे रही है अथवा······"

कोरण (डिं) = हिं० कोर—छोर = प्रान्त भाग। रूढ़ि अर्थ में डिंगल भाषा में यही शब्द वर्षाकालीन श्याम मेघ के प्रान्त भाग पर बँधी हुई उस श्वेत बादल की कोर को कहते हैं जो श्याम चद्दर पर चमकीली चाँदी की गोटन की तरह मनोरम प्रतीत होती है। राजस्थान की वर्षा के दृश्य को देखनेवाले पाठकों को इस शब्द का अर्थ भली भाँति विदित हो जायगा। इसी शब्द के अन्यत्र प्रयोग के लिए देखो दो० १९५—"कालो करि काँठलि, ऊजल कोरण"—जहाँ "कोरण" का आशय व्यक्त करके वर्णन किया गया है।

दीसै (डिं०) = (सं० दृश्यते) प्र० दीसइ—दीसै = दिखाई देता है।

धवलागिरि = हिमालय के एक उत्तुंग शृंग का नामविशेष; बर्फ से ढका हुआ श्वेत चमकीला पर्वत।

धवलहर=(सं० धवल+गृह) प्रा० धवलहर, धौलहर, धवरहर=ऊँचे ऊँचे श्वेत प्रासाद। काशी में माधोराव का 'धरहरा' अपनी ऊँचाई में शहर के सब प्रासादों से बड़ा है। हिन्दी शब्द-सागर में इसकी व्युत्पत्ति यों की गई है। (सं० धुर=ऊपर के, गृह—हर=घर)।

उदा० चढ़ि धवरहर विलोकि दखिन दिसि बूझ धौं पथिक कहाँ ते आये वे हैं।" (तुलसी)।

किन (डिं०)=(सं० किं+न)—संशयात्मक सर्वनाम=क्या यह तो नहीं है। हिं० उदा० 'कोटि उपाय करौ किन कोऊ' (सूर)

यहाँ—'किन'—हिन्दी में 'किधौं' के प्रयोग की तरह है।

अलंकार=पूर्वार्ध में—स्वभावोक्ति।

उत्तरार्ध में—सन्देह।

दो०—४२

मङ्गल् (डिं०)=(सं०)=राजस्थान में शुभ और मंगल यथा वैवाहिक आदि अवसरों पर 'धवल्-मंगल्' नामक एक प्रथा बरती जाती है जिसके साथ साथ मंगल गीत भी स्त्रियों द्वारा गाये जाते हैं। "मंगल् करि" से यह आशय स्पष्ट होता है कि 'मंगल्' कोई प्रथाविशेष है जो (करि) की जाती है।

'धवल'—(देखो० हि० श० सा०)—[भरत के मत से यह एक राग है जो हिंडोल राग का आठवाँ पुत्र माना गया है। सम्भव है, प्राचीन काल में इस राग में वैवाहिक गीत विशेष गाये जाने के कारण ही उपरोक्त प्रथा का नाम धवल-मंगल पड़ा है।]

दीध (डिं) = (सं० दत्त) प्रा० दिण्ण, अवधी० हिं० दीन्ह। (डिं०) दीध—यह रूप प्राकृत और अपभ्रंश व्याकरण के अयथार्थ सामंजस्य (false analogy) के नियम के आधार पर बना प्रतीत होता है। इसी प्रकार सं० कृत = प्रा० किध—डिं० कीध—हिं० कीन्ह।

नयर (डिं०) = (१) (सं० नगर) प्रा० नयर—हिं० नगर।
(२) (सं० निकट) प्रा० निअड-नयड़-नयर-नैड। डिंगल में इसका दूसरा रूप "नैड़ा" भी इसी अर्थ में प्रयुक्त होता है। = नजदीक, पास, निकट।

नोट—'निकट' का अर्थ लेने से "दूरा ····दीसै" पंक्ति का अर्थ होगा—"दूर अथवा नजदीक बादलों की कोरण दिखाई दे रही है अथवा······"

कोरण (डिं) = हिं० कोर—छोर = प्रान्त भाग। रूढ़ि अर्थ में डिंगल भाषा में यही शब्द वर्षाकालीन श्याम मेघ के प्रान्त भाग पर बँधी हुई उस श्वेत बादल की कोर को कहते हैं जो श्याम चद्दर पर चमकीली चाँदी की गोटन की तरह मनोरम प्रतीत होती है। राजस्थान की वर्षा के दृश्य को देखनेवाले पाठकों को इस शब्द का अर्थ भली भाँति विदित हो जायगा। इसी शब्द के अन्यत्र प्रयोग के लिए देखो दो० १९५—"काली करि काँठलि, ऊजल कोरण"—जहाँ "कोरण" का आशय व्यक्त करके वर्णन किया गया है।

दीसै (डिं०) = (सं० दृश्यते) प्र० दीसइ—दीसै = दिखाई देता है।

धवलागिरि = हिमालय के एक उत्तुंग शृंग का नामविशेष; बर्फ़ से ढका हुआ श्वेत चमकीला पर्वत।

धवलहर = (सं० धवल + गृह) प्रा० धवलहर, धौलहर, धवरहर = ऊँचे ऊँचे श्वेत प्रासाद। काशी में माधोराव का 'धरहरा' अपनी ऊँचाई में शहर के सब प्रासादों से बड़ा है। हिन्दी शब्द-सागर में इसकी व्युत्पत्ति यों की गई है। (सं० धुर = ऊपर के, गृह—हर = घर)।

उदा० चढ़ि धवरहर बिलोकि दखिन दिसि बूझ धौं पथिक कहाँ ते आये वे हैं।" (तुलसी)।

किन (डिं०) = (सं० किं + न)—संशयात्मक सर्वनाम = क्या यह तो नहीं है। हिं० उदा० 'कोटि उपाय करौ किन कोऊ' (सूर)

यहाँ—'किन'—हिन्दो में 'किधौं' के प्रयोग की तरह है।

अलंकार = पूर्वार्ध में—स्वभावोक्ति।

उत्तरार्ध में—सन्देह।

दो०—४२

मङ्गल् (डिं०) = (सं०) = राजस्थान में शुभ और मंगल यथा वैवाहिक आदि अवसरों पर 'धवल्-मंगल्' नामक एक प्रथा बरती जाती है जिसके साथ साथ मंगल गीत भी स्त्रियों द्वारा गाये जाते हैं। "मंगल् करि" से यह आशय स्पष्ट होता है कि 'मंगल्' कोई प्रथाविशेष है जो (करि) की जाती है।

'धवल'—(देखो० हिं० श० सा०)—[भरत के मत से यह एक राग है जो हिंडोल राग का आठवाँ पुत्र माना गया है। सम्भव है, प्राचीन काल में इस राग में वैवाहिक गीत विशेष गाये जाने के कारण ही उपरोक्त प्रथा का नाम धवल-मंगल पड़ा है।]

ढूँढारी टीका और संस्कृत टीका से यह अर्थ पुष्ट होता है :—

(१) ढूँढारी—"मङ्गल गावै छ:"।

(२) सं० टीका—"*मङ्गलानि कृत्वा गीतानि गायन्ति*"॥

गौखे (डिं०) = (सं० गवाक्ष) = झरोखा, गौखा, अटारी।

मनै (डिं०) = हिन्दी में, मानहु, मनु, मनो इसके पर्याय हैं।

पदमिणि, अनि, परि, रुख = इन शब्दों के अर्थ पूर्व दो० के नोटों में देखो।

अलंकार = पूर्वार्ध में—उत्प्रेक्षा।
उत्तरार्ध में—उपमा।
समस्त में—व्याघात।

दो० ४३—

जाली (हिं) = (सं० जाल) = लकड़ी, पत्थर अथवा चूने का छिद्रदार फलक।

पन्थी = (सं० पंथ) = पथिक, राहगीर।

जोवै (डिं०) = हिं० जोहना, देखना, ध्यानपूर्वक दृष्टि लगाना।

भुवणि (डिं०) = (सं० भुवन, भवन) = भवन में, घर में। सप्तम्यांत।

भिलित (डिं०) = (सं भिद्) हिं० भेटना, भिड़ना, भिलना = सामने से आकर मिलना। संस्कृत और भाषाओं में 'ड़' 'ल' और 'र' का अभेद होता है।

कागल (डिं०) = (अरबी० काग़ज़) हिं० काग़ज़, कागद, कागर, गुजराती में भी इसी अर्थ में प्रयुक्त होता है।

हिं० उदा० "तुम्हरे देश कागर मसि खूटी।
प्यास अरु नींद गई......" (सूर)

भारतीय भाषाओं में 'र' और 'ल' का अभेद माना है।

काजल (डिं०) = (सं० कज्जल) = आँखों में लगाने का अंजन।

अलंकार—रूपक।

दो० ४४—

तितरै (डिं०)=(सं० 'तति'—अपेक्षित रूप—'कति')=उतने में।
हिं० तितना, तितने में।

हेक (डिं०)=हिं० एक। देखो० पूर्व० दो० में।

दीठ (डिं०)=[सं० दृष्ट (भू० क्रिया)] प्रा० दिट्ठ। हिन्दी में 'दीठ' का प्रयोग काव्य में इसी अर्थ में होता है। उदा०,
नहि लावहिँ परतिय मन दीठी—(तुलसी)
दूलो ह्वै लागन लगी दिये दिठौना दीठ। (विहारी)

गलि ग्रागौ (डिं०)=गले में जो पवित्र धागा—सूत्र अर्थात् जनेऊ पहिनता है=ब्राह्मण।

प्रणपति (डिं०)=(सं० प्रणिपत्=वंदना करना)=प्रणाम।
उदा० "वागीशं वाग्भिरर्घ्याभि: प्रणिपत्योपतस्थिरे" (कुमार)।

वीर (डिं०)=भाई। हिन्दी में भी इस अर्थ में प्रयुक्त होता है।
उदा० "को घटि ये वृषभानुजा वे हलधर के वीर" (विहारी)।

वटाऊ (डिं०)=हिन्दी में भी बहुतायत से प्रयुक्त होता है।
उदा० "राजिवलोचन राम चले तजि बाप को राज वटाऊ की नाँई। (तुलसी)।

वीर वटाऊ ब्राह्मण=ये तीन सम्बोधन एक साथ कहने से कवि ने रुक्मिणी के मन की आतुरता एवं व्यग्रता की दशा का स्वाभाविक चित्र खींचा है। पश्चिमी राजस्थानी टीका में इसको व्याख्या यों की गई है :—"अहो भाई, अहो पथिक, अहो ब्राह्मण अत्यन्त ऊतावली थकी वार वार वचन कहइ"।

लगी (डिं०) = (सं० लग्नः) = तक, पर्यंत । हिन्दी में इस प्रकार मुहाविरे में इस शब्द का प्रयोग होता है ।

उदा० (१) "कहँ लगि कहाँ कुचाल ढीठ की नाम लेत मोरा जिया डरपत है ।"

(२) "एक मुहूरत लगि कर जोरू, नयन मूँदि श्रीपतिहिं निहोरू" (तुलसी)

अलंकार = स्वभावोक्ति—उत्तरार्ध में ।

दो० ४५—

म म (डिं०) = (सं० मा मा) मत, मत ।

करिसि (डिं०) = (सं० करिष्यसि, क्रि० भविष्य रूप) करना ।

ढील (डिं०) = (सं० शिथिल) प्रा० सिढिल—प्राथमिक 'सि' का लोप—ढिल – विलम्ब, शिथिलता, देर ।

हुए हेक (डिं०) = देखो० पूर्व० दो० में नोट ।

जाइ (डिं०) = (सं० याहि (क्रिया) = जाओ, जा ।

मुखहुँता (डिं०) = मुख से । 'हुँता' के लिए देखो नोट पूर्व दो० ४१ में ।

माहरे (डिं०) } = (सं० अहम्) डिं० सर्व० म्हा + एर = मेरे ।
ताहरे (डिं०) } = (सं० तव०) डिं० सर्व० था + एर = तेरे ।

देइ (डिं०) = (सं० देहि) = देना, दो ।

जादवाँ इन्द्र (डिं०) = (सं० यादवेन्द्र) जादवाँ (बहु०वचन) + इन्द्र । बहुवचन शब्दों में, डिंगल में, इस प्रकार प्रायः सन्धि नहीं होती ।

जत्र (डिं०) = (सं० यत्र) सीधा संस्कृत प्रयोग ।

दो० ४६—

गहमह (डिं०) = अनुकरण शब्द—जिस प्रकार हिन्दी में 'जगमगाहट'; लक्षणाशक्ति से 'दीपकों की जगमगाहट'—अर्थ है।

घई (डिं०) = गुजराती प्रयोग देखो पूर्व दो० में।

रह रह = रह जाओ २ कहते हुए। उदा० हि० "रहु रहु रे तुम नीच अमरगति रोकन हारे"—(प्रताप)।

वह (डिं०) = (सं० वह) बहना, प्रवाहित होना, चलना। राजस्थानी भाषाओं में चलने (क्रिया) के अर्थ में साधारणतः प्रयुक्त होता है।

रहे (डिं०) = हिं० 'रह गये' रुक गये, ठहर गये।
उदा० "रहु रे मधुकर मधु मतवारे"। (सूर)।

रह (डिं०) - हिं० "राह" से लघुत्व को प्राप्त होकर बना है।

दुज (डिं०) = (सं० द्विज) ब्राह्मण।

नीसरै (डि०) = (सं० निस्सरण = निकलना) प्रा० निस्सरण, नीसरण।
उदा० "नव दसन निसरत वदन माँह, जो दसन कली समान वे"। (सीताराम)

सूती (डिं०) = (सं० स्वपिति) प्रा० सुवति = सो गया—सोता रहा।
उदा० "मोर तोर में सबै बिभूता, जननी उदर गर्भ महँ सूता"। (कबीर)।

नह (डिं०) = हिं० नहीं।

अलंकार—स्वभावोक्ति—पूर्वार्ध में।

नोट—डा० टैसीटरी को "रह रह कोइ वह रहे रह"—इस पंक्ति के अर्थ के सम्बन्ध में अस्पष्टता है। हमें इसके अर्थ में किसी

प्रकार की अस्पष्टता प्रतीत नहीं होती। अर्थ स्वभावोक्तियुक्त एवं सरल है। ढूँढारी, मारवाड़ी एवं संस्कृतटीकाओं से हमारा किया हुआ अर्थ व्यक्त होता है।

दो० ४७—

लगन (डिं०) = (सं० लग्न) विवाह का मुहूर्त्त।

नैड़ी (डिं०) = (सं० निकट) प्रा० निअड–नयड़–नैड़ = नजदीक। देखो नोट दो० ४१ 'नयर' पर। इसी प्रकार हिं० में "नियर"—उदा: "ऋष्यमूक पर्वत नियराई"। (तुलसी)।

भौ (डिं०) = (सं० भय) प्रा० भअ—भौ = भय, डर।

भति (डिं०) = हिं० भाँति। प्रकार, तरह।

जगति (डि०) = द्वारिका—(लक्षणा लक्षितार्थ)—देखो ढूँढाड़ी टीका। ग्रन्थों में भगवान् को "जगन्निवास" कहा है। यथा, उदा० "दिशो न जाने न लभे च शर्म प्रसीद देवेश जगन्निवास"। गीता ११। २५।

भगवान संसार भर में व्याप्त हैं अतएव उनका निवास-स्थान "जगत्" कहा गया। अब, भगवान् कृष्ण ने द्वारिका में भी निवास किया था। अतएव "जगत्" और "द्वारिका" पर्य्यायवाची स्थान हुए। कवि ने अपनी कल्पना से ही "जगति" का यह अर्थ लिया है। अन्यत्र यह प्रयोग नहीं देखा।

नोट—यदि 'जगति' का अर्थ 'द्वारिका' न लेकर संसार लिया जाय, तो चतुर्थ पंक्ति का अर्थ यों होगा:—जब प्रातःकाल वह ब्राह्मण निद्रा से इस जगत् में जागा, तो अगले दो० ४८ में वर्णित वेदादि की ध्वनि उसे सुनाई दी।

अलंकार = विभावना (पंचम)—विरुद्ध कारण से कार्य की उत्पत्ति—उत्तरार्ध में।

दो० ४८—

सुणति (डिं०) हिन्दी में 'सुनती है, सुनता है'—क्रियाएँ "सुनाई देती है—देता है" के अर्थ में बोलचाल में अब तक प्रयुक्त होती हैं। उदा०—"तुमको कम सुनता है"।

नद (डिं०) = (स० नाद) शब्द, शोर, झंकार।

नीसाण (डिं०) = नगाड़ा, देखो० दो० ३८। ४०

झल्लरि (डिं०) = (स० झल्लरी) हिं० झालर, टकोरा, झाँझ; पूजा के समय बजाने का एक वाद्य।

हेका (डिं०) = एक ओर। देखो पूर्व दोहलों में 'हेक'।

कह (डिं०) = कहकहा, कोलाहल।

हीलोहल (डिं०) = (सं० हिल्लोल) = समुद्र की लहर + हल (अनु० शब्द) = हल्ला, शोर, घोर शब्द। समुद्र की लहरों का शोर।

सायर (डिं०) (स० सागर) प्रा: सायर }
नयर (डिं०) (स० नगर) प्रा० नयर } प्राकृत के सीधे प्रयोग।

सरीस (डिं०) = (स० सदृश) प्रा० सरिस, हिं० सरीसा। देखो दो० ८ "सारिसा"।

सद = (डिं०) = (स० शब्द) = शब्द, आवाज, ध्वनि।

अलंकार = (१) देहरी दीपक—"कहुँ" में—(प्रथम पंक्ति)
(२) सार अलंकार-वेदधुनि-सरधुनि—झल्लरी नद—

नीसाणनद—सायर—नयर सद इत्यादि में उत्तरोत्तर ध्वनि की वृद्धि प्रदर्शित की है।

(३) तुल्ययोगिता—अन्तिम पंक्ति में।

दो० ४६—

पणिहारि = (सं० पानीय + आहरण) हिं० पनिहारी = पानी लानेवाली। उदा० "गोकुल पनिहारी पनिया भरन गई, बड़े बड़े नैना तामें खोभि रह्यो कजरा।"

पटल = (सं०) = (१) समूह। (२) वस्त्र। यहाँ 'समूह' अर्थ में प्रयुक्त है। दूसरे (२) अर्थ में प्रयोग के लिए देखो दो० ४०।

दल = (सं०) = दोनों अर्थ में प्रयोग हुआ है (१) समूह। (२) पुष्पदल, पंखुड़ी।

तीरथ = (१) पवित्र पुण्यस्थान (२) घाट, जलाशय। शास्त्रोक्त तीन प्रकार के तीर्थ हैं:—

(१) जंगम-तीर्थ चलते फिरते तीर्थ, यथा ब्राह्मण, साधु इत्यादि।

(२) मानस-तीर्थ = सत्य, क्षमा, दया, ब्रह्मचर्य, मधुरभाषणादि गुण।

(३) स्थावर-तीर्थ = यथा, काशी, प्रयाग, गया इत्यादि स्थल।

नोट—"पटल"-का 'सुन्दर वस्त्र' अर्थ करने पर प्रथम पंक्ति का अर्थ यों होगा:—"सुन्दर वस्त्र पहने हुए पनिहारियों के वृन्द चंपकपुष्प के दल के समान शोभित हैं।

अलंकार = उपमा—पूर्वार्ध में।

रूपक—उत्तरार्ध में।

लाटानुप्रास—तृतीय पंक्ति।

स्वभावोक्ति—पूर्वार्ध में।

दो० ५०—

जोवै (डिं०) = (सं० जुपण) प्रा० जुहण—जोहण, हिन्दी—
जोहना = ध्यानपूर्वक देखना। देखो पूर्व दो० ४३ में प्रयोग।

जाँ (डिं०) हिं० जहाँ।

जगन (डिं०) = (सं० यज्ञाग्नि)—यज्ञ की अग्नि।

जागवै (डिं०) = जगती है, प्रज्वलित होती है।

आलाप = (सं०) = बोलना, शब्द करना।

मौरिया = (सं० मुकुलिता) प्रा० मउलिआ, मउरिया—मौरिया।
मजरीयुक्त हुए हैं। देखो पूर्व दो० २१ में "मौरे"।

अलंकार = एकावलि।

दो० ५१—

सम्प्रति = (स०) = प्रत्यक्ष। राजस्थानी में 'साँपरतै', "साँपरतक"
शब्द प्रत्यक्ष के अर्थ में बोलचाल में अब तक प्रयुक्त
होते हैं।

ए (डिं०) = (सं० एप) = यह। हिं० उदा० 'दुरै न निघट घटी दिये
ए रावरी कुचाल'—(बिहारी)।

किना (डिं०) = (सं० किं + न) संदिग्ध प्रश्नसूचक सर्वनाम = "क्या
यह तो नहीं है ?", क्या। पूर्व दो० ४१ में देखो।

हूँ (डिं०) = (सं० अहम्) प्रथम पुरुष एकवचन पुरुषबोधक सर्वनाम
= मैं। राजस्थानी भाषाओं में विशेषतः मारवाड़ी भाषा में
इसका सर्वत्र प्रयोग होता है।

जाइ (डिं०) = (सं० यत्) = जिसको। हिन्दी में 'जाहिँ, 'जेहिँ' का
प्रयोग होता है। मिलाओ दो० ४५ के 'जाइ' से। वहाँ
'जाना' क्रिया से आज्ञा अथवा पूर्वकालिक रूप यही
बनता है।

इम (डिं०) = ऐसा। गुजराती प्रयोग 'एम' के समान रूप।
सुहिणौ-जम्पियौ (डिं०) = इन पर नोट क्रमशः दो० १५,३०४ में देखो।
आ (डिं०) = यह संकेतबोधक सर्वनाम, स्त्रीलिङ्ग का चिह्न है।
दुआरामती (डिं०) = द्वारावती, द्वारिका।
अमरावती = इन्द्रपुरी।
सु (डिं०) = तो, यह तो। किसी शब्दविशेष पर ज़ोर (emphasis) देने के लिए मारवाड़ी में "सु" या 'स' लगा देते हैं। उदा० आ सु द्वारामती = यह तो द्वारिका है।
अलंकार = सन्देहालंकार।

दो० ५२—

क्रमियौ (डिं०) = (सं० क्रमण = चलना) = चला।
थियौ—तणौ (डिं०) देखो पूर्व दो० में इन पर नोट।

दो० ५३—

वीखियै (डिं०) = (सं० वीक्ष्य) - देखकर।
आलोचै = (सं० आलोचति) प्रा० आलोजइ-आलोजै = विचार करता है।
हुइस्यै (डिं०) = (सं० भविष्यति) प्रा० हुइस्सइ-हुइस्यै = होवेगी।
हूँ, हिव (डिं०) = देखो पूर्व दो० ५१, १५ में इन शब्दों पर नोट।
आपी आप = हिन्दी में—'आपसे आप' मुहाविरा राजस्थानी में 'आपी आप" रूप में साधारणतः व्यक्त होता है।
अलंकार - हेतु अलंकार।

दो० ५४—

ऊठिया (डिं०) = (सं० उत्थिताः) प्रा० उट्ठिआ—ऊठिया = उठे।
दूरन्तरां (डिं०) = (सं० दूरान्तरे) दूर के अन्तर से अर्थात् दूर से।

फरिवन्दण...... . विशेप=वेदशास्त्रोक्त आतिथ्य धर्म से भी विशेप अतिथि-सत्कार किया। वेदशास्त्रोक्त आतिथ्य धर्म से यहाँ धर्मशास्त्रोक्त आतिथ्य धर्म के लक्षणों से आशय है।

जगतपति अन्तरजामी=ये साभिप्राय शब्द हैं। इनके अर्थ से दो० में चमत्कार उत्पन्न होता है। ससार के स्वामी होने पर भी और घट घट की आन्तरिक दशा को विना वताये स्वयं जान लेने की योग्यता होने पर भी उठकर ब्राह्मण का सत्कार, अभिवादन किया और उससे सवाद पूछा। यह आश्चर्य है।

तेणि (डिं०)=(स० तेन) प्रा० तेण=उससे भी।

अलंकार—परिकर।

दो० ५५—

कार्य—, पत्र— } इन दोनों शब्दों का प्रयोग संस्कृत व्याकरण की दृष्टि से अशुद्ध है। दोनों शब्द नपुंसक लिङ्ग जाति के शब्द होने से "कार्यम्" और "पत्रम्" होना उचित है। कवि ने संस्कृत-व्याकरण की ऐसी साधारण गलती किस प्रकार की? क्या उनको सस्कृत-व्याकरण का प्राथमिक ज्ञान भी न था? हमारी समझ में कवि ने छंद में मात्रा-भङ्ग दोप से बचने के लिए और 'कुत्र', 'पत्र' की तुक मिलाने के लिए जानबूझ कर यह गलती की है।

नोट—कृष्ण के मुख से देवगिरा सस्कृत में प्रश्न करवाना कवि ने प्राचीन साहित्यिक परिपाटी के अनुसार निश्चित किया है। इससे उनका प्रभुत्व एव देवत्व प्रदर्शित किया है। सस्कृत-नाटकों में कवियो ने केवल श्रेष्ठकुल के उच्चश्रेणी के

पात्रों-द्वारा ही संस्कृत में भाषण करवाया है। स्त्री, शूद्र और निम्न वर्ग के पात्रों का भाषण प्राकृत में होता था।

अलंकार—दो०—५५ और ५६ में प्रश्नोत्तर का क्रम यथासंख्य अलंकार का चमत्कार उत्पन्न करता है।

दो० ५६—

राज (डिं०)=(सं० राजन्) सम्मानसूचक सर्वनाम—आप। राजस्थानी में लेखबद्ध भाषा में बहुतायत से "आप" के लिए प्रयुक्त होता है।

लगँ (डिं०)=(सं०लग्न)—के लिए, के वास्ते। जिस प्रकार संस्कृत मे 'कृते' का प्रयोग होता है। हिन्दी में भी इस प्रकार का प्रयोग देखा जाता है, यथा: उदा०—"भृगुपति जीति परशु तुम पायौ, तालग हौं लंकेश पठायौ"।

मेल्हियौ (डिं०)=(स० मिलन)=हिं० भेजा है; स्थापित किया है, धारण किया है। उदा० "सिय जयमाल राम उर मेली" (तुलसी)

इणि (डिं०)= हिं० इन, डिं० इण (सप्तम्यान्त) इसमें, इनमें। राजस्थानी भाषा में अब भी साधारणतः प्रयुक्त होता है।

माहि=(सं० मध्ये) में, भीतर, अन्दर, अधिकरण विभक्तिचिह्न। हिन्दी-कविता मे बहुतायत से प्रयुक्त होता है।

सहि (डिं०)=(स० सर्व+अपि) हिं० सभी, डिं० सही, सह, सहु, सहि।

डिं० उदा० "सह गावड़िये साथ, एकण वाड़े वाड़िया" (पृथ्वीराज)

हिं० उदा० "राजपाट दर परिग्रह, तुमही सऊँ उजियारे। (जायसी)

हुँता—कागल–दीघो–एम (डिं०)=इन पर नोट देखिए पूर्व दो० में।

अलंकार=दो० ५५ की अपेक्षा में इस दो० का उत्तर क्रमबद्ध है। अतएव यथासंख्य अलंकार है।

दो० ५७—

आणंद लखण=आनन्द के लक्षण कहने से आशय आनन्द के अनुभवों से हो सकता है। भावों की आन्तरिक अनुभूति का बाह्य जगत् में शारीरिक अवयव-विकृति के रूप में प्रकट होने को "लक्षण" कहा गया है। इसी दृष्टि से देखने पर आनन्द-लक्षण, वर्त्तमान प्रसंग के अनुसार सात्विकभाव के पर्याय हुए। इस दोहले में शास्त्र-सम्मत ८ सात्विकभावों में से चार तो व्यक्त कर ही दिये गये हैं—स्तम्भ, रोमांच, स्वरभंग (गदगद) और अश्रु। आठ सात्विक भाव ये हैं:—

स्तंभस्वेदोऽथ रोमांचः स्वरभंगोऽथ वेपथुः।
वैवर्ण्यमश्रुप्रलय इत्यष्टौ सात्विकाः स्मृताः॥

(सा० दर्पण)

वाचव.........वणै=गदगद (स्वरभंग अथवा भावावेश के कारण कंठ अवरुद्ध हो जाने) से पत्र बाँचते नहीं बनता।

पश्चिमी, मारवाड़ी टीका का अर्थ—"बचायइ नहीं"।

संस्कृत-टीका—"वाचयितुं न वणइ इति न शक्यत्वं संभवति॥"

हिं० कविता में इस प्रकार के मुहाविरे का प्रयोग होता है:—

उदा०:—"बनै न बरनत बनी बराता"—(तुलसी)

'तिखि' और तणै=देखो नोट पूर्व दो० में।

ज (डिं०)=दो० ४१ मे के 'सु' की तरह यह भी शब्द विशेष और असाधारण ज़ोर (emphasis) देने के लिए प्रयुक्त होता है=ही, भी, तो।

अलंकार=स्वभावोक्ति।

दो०—४८

चै (डिं०)=चौ, चा, ची, चै, इस प्रकार के मराठी प्रयोग "वेलि" में बहुतायत से प्रयुक्त हुए हैं। षष्ठी विभक्ति का सम्बन्ध चिह्न। देखो प्रयोग पूर्व दो० १२, ३७ में।

लाधै (डिं०)=(सं० लब्ध) प्रा० लद्ध। मिथ्या अनुकरण के सिद्धान्त से सं० 'दा' धातु के 'दत्त' का डिंगल मे 'दीध' बनता है। प्राकृत और अपभ्रंश में इस प्रकार मिथ्यानुकरण से शब्दों का रूपान्तर बहुधा हो जाया करता है।

हिं० उदा०—"इन सम काहु न शिव अवराधे। काहु न इन समान फल लाधे।" (तुलसी)

दूवै (डिं०)=(अरबी० दुआ=प्रार्थना) दुआ-माँगना, दुआ देना। राजस्थानी में इसका अर्थ आज्ञा लेना—देना, प्रचलित है, देखो दो० ८०।

वाचण (डिं०)=(सं० वाचन)=बाँचना, पढ़ना। .

वीनवियौ (डिं०)=(सं० विनय) विनय की, निवेदन की।

तूझ (डि०)=(सं० तुभ्यम्) प्रा० तुज्झ =तेरी। देखो पूर्व० दो० ६ में प्रयोग।

असरणसरण=(सं०) जिसकी कोई शरण नहीं है, उसे शरण देनेवाले। इस अर्थ का समर्थन ढूँढाड़ी और संस्कृतटीका करती हैं। पश्चिमी मा० टीका—"बीजउ सरण कोई न थो" यह अर्थ करती है।

अलंकार = परिकर—'असरणसरण' अभिप्राय गर्भित है।

दो ५६—

बलि-बन्धण = सम्बोधन, हे बलि को बाँधनेवाले, भगवान् ! कथाप्रसङ्ग यह है :—राजा बलि, विरोचन का पुत्र और प्रह्लाद का पौत्र दैत्य जाति का एक बड़ा पराक्रमी राजा था। पौराणिक इतिहास के अनुसार यह त्रिलोक का स्वामी था। इसके बढ़ते हुए आतंक और अभिमान को रोकने के लिए भगवान् विष्णु ने वामन का अवतार लेकर इसे छलकर बाँध लिया और त्रिलोकी का राज्य दान में लेकर इसे पाताल में भेज दिया। देखो पूर्व दो० "तिणि ही पार न पायौ त्रीकम" दो० ५

सिङ्घ बलि स्याल ग्रासै = सिंह के भक्ष्य को शृगाल खाने की चेष्टा करे। उदा० (१) हम सेवक वा त्रिभुवनपति के, सिंघ को बलि कौवा को खाई। (सूर)

(२) बैनतेय बलि जिम चह कागू, जिमि सस चहै नाग अरि भागू। (तुलसी)

मूझ (डिं०) = (सं० मह्यम्) प्रा० मुज्झं, डिं० मूझ, मुझि, हिं० मुझे, मुझको।

बलि = (सं०) = भक्ष्य, देवता के लिए उत्सर्ग किया हुआ पशु अथवा पदार्थ।

ग्रासै (डिं०) = (सं० ग्राशन = खाना) = खावै।

बीजौ (डिं०) = (सं० द्वितीय) प्रा० बिईज; डिं० बिओ, बीजो, दूजौ = दूसरा। हिं० दूजा यथा—उदा० "ए मन के गुण गुंथत जे, पहिचानत जानकी और न बीजो।" (हनुमान)

परणै (डिं०)=(सं० परिणयन=ब्याहना)=ब्याहे (डिं० परणनौ क्रिया)।

कपिल धेनु दिन पात्र कसाई=कपिला गाय कसाई जैसे कुपात्र को दी जाय। हिं० उदा० "जिमि कपिलहिं घालै हरहाई"—तुलसी

कपिल धेनु=सफ़ेद रंग की गाय; सीधी गाय; भूरे अथवा लाल मिश्रित भूरे रंग की गाय। यह पवित्र समझी जाती है।

पात्र=(सं०) भाजन, अधिकारी। 'कसाई' के सामीप्य सम्बन्ध से, लक्षणा से इसका अर्थ "कुपात्र" हुआ।

दिन (डि०)=(सं० दत्त)। प्रा० और अपभ्रंश रूप—दिण्ण। उदा० "जे मइँ दिण्णा दियहड़ा दइएँ, पवसन्तेण" (हेमचंद्र)।

तुलसी=तुलसी के पौधे को वैष्णव अत्यंत पवित्र मानते हैं और ठाकुर पर चढ़ाकर प्रसादरूप में भक्तों में बाँटते हैं। शालिग्राम ठाकुर की पूजा बिना तुलसीदल के नहीं होती। यह चरणामृत आदि में भी डाली जाती है। गरम देशों में यह अधिक पाई जाती है। वैद्यक में यह कई ज्वरों पर अत्यन्त लाभदायक ओषधि समझी जाती है। भारत में कई प्रकार की तुलसी मिलती है। गंधतुलसी, श्वेततुलसी या रामा, कृष्णतुलसी या कृष्णा, वर्बरी तुलसी या ममरी।

ब्रह्मवैवर्त्तपुराण में तुलसी के माहात्म्य के विषय में कथा है :—तुलसी नाम की एक गोपिका गोलोक में राधा की सखी थी। एक दिन राधा ने उसे कृष्ण के साथ विहार करते देखा और शाप दिया कि मनुष्य शरीर धारण करके संसार-

यातना भोगे। शाप के अनुसार वह धर्मध्वज राजा की कन्या हुई। उसके रूप की तुलना किसी से नहीं की जा सकती थी। अतएव 'तुलसी' नाम पड़ा। तुलसी ने वन में जाकर घोर तप किया और ब्रह्मा से यह वर माँगा, कि मुझे पतिरूप में कृष्ण की रति प्राप्त हो, क्योंकि मैं उनके प्रेम से तृप्त नहीं हुई। ब्रह्मा के निर्देशानुसार इसने शंखचूड़ राक्षस से विवाह किया। शंखचूड़ को वर मिला था कि बिना उसकी स्त्री का सतीत्व भ्रष्ट हुए उसकी मृत्यु न होगी जब शंखचूड़ ने सब देवताओं को परास्त कर दिया, तो वे विष्णु के पास गये। विष्णु ने शंखचूड़ का रूप धारण कर तुलसी का सतीत्व भ्रष्ट किया। तुलसी ने शाप दिया कि तुम पत्थर के हो जाओ। परन्तु पीछे विष्णु को पहचान कर पछताई और पैरों पड़ कर क्षमा-याचना की। विष्णु ने प्रसन्न होकर वरदान दिया, "तुम यह शरीर छोड़कर लक्ष्मी के समान मेरी प्रिया होवोगी। तुम्हारे शरीर से गंडकी नदी और केशों से तुलसी वृक्ष होगा।" तब से शालिग्राम (विष्णु) की पूजा होने लगी और तुलसीदल उसके मस्तक पर चढ़ने लगा। कार्त्तिक मास में वैष्णव लोग तुलसी और शालिग्राम का विवाह बड़े समारोह से विधिपूर्वक करते हैं। राजस्थान में इस अवसर पर कुमारी कन्याएँ ३ दिन का अनशन व्रत रखती हैं और अक्षयदीप जलाती हैं। कार्त्तिकी अमावस्या तुलसी की जन्मतिथि मानी गई है। तुलसी की लकड़ी की कंठी और माला वैष्णव भक्त पहनते हैं।

अलंकार=(१) परिकर—"बलिबंधन" साभिप्राय शब्द है।
(२) निदर्शना।

दो० ६०—

अम्ह (डिं०)=(स० अहम्) प्राकृत में मिलित व्यजनों का स्थान विपर्य्यय होने का नियम है। इसी प्रकार, डिंगल में, अहम् के 'हम्' का 'म्ह' हो गया है।

कजि (डिं०)=(स० कार्य) के लिए। हि० उदा०="पर स्वारथ के काज . " (गिरधर)

तुम्ह (डिं०)=(स० त्वम्)—तुमको।

छण्डि (डिं०)=(स० छर्दन) प्रा० छड्डण=छोडना, त्यागना।
हि० उदा०"सप्तदीप भुजबल वस कीन्है, लेइ लेइ दड छाँड सब दान्है। (तुलसी)

अवर (डिं०)=(स० अपर) प्रा० अवर। शुद्ध प्राकृत प्रयोग।
हि० उदा० "गम दुर्गम गढ़ देहु छुडाई, अवरो बात सुनो कछु आई"। (कबीर)

आणै (डिं०)=(स० आनय) प्रा० आणअ=लावै।
हि० उदा० "कपि मुद्रिका मेलि मुख आनी" (तुलसी)।

ऐंठित (डिं०)=(स० उच्छिष्ट) डिंगल में "ऐंठा" उच्छिष्ट पदार्थ झूठे अन्न इत्यादि के लिए प्रचलित है।

सालिगराम=विष्णु की एक प्रकार का श्याम मूर्त्ति जो पत्थर की होता है और गडकी नदी में पाई जाती है। इस पर चक्राकार जनेऊ का चिह्न होता है। अनेक पुराणा में इस मूर्त्ति की पूजा का माहात्म्य है। शालिग्राम-कथा के लिए "तुलसी" पर नोट देखो दो० ५६ में।

सूद्र=वर्णाश्रमधर्मविहीन, हिन्दू=इतर अस्पृश्य जाति के लोग। पुराणों में म्लेच्छों का वर्णन कई जगह मिलता है। इनकी उत्पत्ति के विषय में कहा है कि ये राजा वेणु के

शरीर-मन्थन से उत्पन्न हुए। द्रविड़, शक, यवन, शबर, किरात, पौड्र, बर्बर, खस, पह्लव,—ये म्लेच्छों की कुछ जातियाँ पुराणों में वर्णित हैं। साधारणतः किसी भी गो-मांसभक्षी, अनार्य-भाषा-भाषी, सर्वाचार-विहीन जाति को म्लेच्छ संज्ञा दी जाती थी।

संग्रहि=(सं०) संस्थापन, संग्रहण—स्थापित करना।
संस्कृतटीका—"संग्राहयन्ति ददते इव"।

अलंकार—निदर्शना।

दो० ६१—

हए (डिं०)=(सं० हतः) हनन किया, मारा, वध किया। हिन्दी में भी प्रयोग होता है। उदा० (१) छन में सकल निशाचर हये। (२) देवन हये निसाण (तुलसी)

ऊधरी (डिं०)=(सं० उद्धरण)=उद्धार किया, बचाया। हिं० उदा० "भरत विवेक बराह विशाला, अनायास उधरी तेहि काला"। (तुलसी)

हूँ (डिं०)=(सं० अहम्) मैं।

हूँ (डिं०)=डिं० हूँत, हुँतौ—इत्यादि का अल्परूप है। 'त' का लोप। राजस्थानी भाषाओं में इस अर्थ में हूँ, हूँत, हुँता, अब तक प्रचलित हैं।

तई (डिं०)=(सं० तदा) तब, उस समय (सप्तम्यन्त इकारान्त)।

सीख=शिक्षा, राय। हिं०। उदा० "याकी सीख सुनै ब्रज कोरे" (सूर)

किण (डिं०)=किसने। हिन्दी में 'किन', 'किन्ह' इसी अर्थ में प्रयुक्त होते हैं॥

हरि........पताल हूँ=दैत्यराज हरिण्यकशिपु का भाई हरिण्याक्ष एक प्रसिद्ध दैत्य था। कश्यप और अदिति से इसकी उत्पत्ति

हुई थी। इसने अपने पराक्रम से पृथ्वी को लेकर पाताल में रख छोड़ा था। ब्रह्मादि देवताओं की प्रार्थना पर विष्णु ने वराहावतार धारण करके इसे मारा और पृथ्वी का उद्धार किया था। उदा०—

वसति दशनशिखरे धरणी तव लग्ना शशिनिकलंक कलेव निमग्ना। केशव धृत शूकररूप। जय जगदीश हरे।

(गीतगोविन्द)

अलंकार = काकुवक्रोक्ति--उत्तरार्ध में।

दो० ६२--

आणे (डि०) = देखो नोट दो० ६०, हिं० उदा० "आनेहु रामहिं वेगि बुलाई"। (तुलसी)

जई–तई (डि०) = (सं० यदा–तदा) जब, तब। देखो दो० ६१ नोट "तई" पर।

नेत्रै = (सं०) = मथानी की रस्सी।

नहि (डिं०) = नाथकर। हिं० नाथना, नाँधना, = काम में लगाना, जोतना, संयुक्त करना। हिं० उदा० "पसु लौं पसुपाल ईस बाँत छोरत नहत"। (तुलसी)

रई (डिं०) = मंथनदंड—दधि मथने की लकड़ी। हिं० उदा० "वासुकी नेति अरु मंदराचल रई, कमठ में आपनी पीठ धार्यो"। (सूर)

मेँदर = मंदराचल। एक प्रसिद्ध पौराणिक पर्वत। देवासुर-संग्राम मे यह समुद्र-मंथन के लिए मंथन-दंड की तरह उपयुक्त हुआ था।

महण (डिं०) = (सं० महार्णव) महासमुद्र।

महमहण (डिं०)=(सं० महार्णव + मंथन) हे महासमुद्र का मंथन करनेवाले ।

मूँ (डिं०)=मुझको । दूसरा रूप 'मूझ' भी बनता है। उसी का अल्परूप है ।

सीखव्या (डिं०)=शिक्षा दी, सिखाया । 'सीखाव्या' भी बनता है ।

अलंकार=उत्तरार्ध में—काकुवक्रोक्ति ।

नाग-नेत्रे, मंदर-रई=रूपक ।

नोट—प्रथम पंक्ति में वयण-सगाई के असाधारण नियम का प्रयोग है । जिसे आन्तरिक वयण सगाई कह सकते हैं । 'आणे' का 'असुर' के साथ और 'नाग' का 'नहि' के साथ वयण-सगाई-सम्बन्ध है । इसी प्रकार के अन्य असाधारण प्रयोगों के लिए देखो भूमिका ।

दो० ६३—

रामा अवतारि=त्रेतायुग में विष्णु का रामचन्द्र रूप में अवतार। मिलाओ—दो० १२ में "रामाअवतार" जहाँ अर्थ विभिन्न है ।

वहे (डिं०)=(सं० वध) प्रा० वह=मारा, संहार किया, मारकर ।

रणि (डिं०)=(सं) रण में, युद्ध में ।

किसो (डिं०)=देखो नोट दो० ३१ में "किसी जात कुलपांत किसी" ।

हूँ-ऊधरो-हूँ तो (डिं०)=देखो नोट पूर्व दो० ६१ में ।

वेलाहरण (डिं०)=(सं० वेला=समुद्रकूल + हरण=हरण करने-वाला)=प्रचल तरङ्गों से आकुल समुद्र । 'वेला' के इस अर्थ के लिए देखो "सवेला वप्रवलयां"······ (रघुवंश)

त्रिकुटगढ़ = लङ्का, जो त्रिकूट पर्वत पर बसी हुई है।

त्रिकूट एक कल्पित पौराणिक पर्वत है, जो सुमेरु का पुत्र माना गया है। वामन-पुराण के अनुसार क्षीरोद समुद्र में स्थित है। वहाँ देवर्षि, विद्याधर, किन्नर तथा गन्धर्व क्रीड़ा करते हैं। इसकी एक चोटी सोने की है जिस पर सूर्य आश्रित है, दूसरी चोटी चाँदी की है जिस पर चन्द्र आश्रित है। तीसरी बर्फ़ से ढकी है। नास्तिकों को यह पर्वत दिखाई नहीं देता।

अलंकार = वक्रोक्ति।

दो० ६४—

चौथी आ वार = चौथो यह बारी है, जब मेरा उद्धार करने का अवसर आया है। चौथी वार कहने से कवि का आशय उपरोक्त ६१, ६२, ६३ दोहलों में वर्णित क्रम के उपरान्त यह कवि-कल्पित चौथी बारी है। यों तो विष्णु के शास्त्रोक्त दश अवतार पृथ्वी के उद्धार करने के लिए हुए हैं। उनके क्रम से यह चौथा अवतार नहीं है। दश प्रधान अवतार ये हैं :—

मत्स्यकूर्मो वराहश्च नरसिंहोऽथ वामनः ॥
रामो रामश्च कृष्णश्च बुद्धकल्की च ते दशः ॥

वाहर (डिं०) = बचाव, शरणागत की रक्षा और उद्धार करना। अब भी राजस्थान में आपद्ग्रस्त प्रजा को आततायियों से बचाने के लिए राजा की ओर से "वाहर चढ़ने" की प्रथा है।

चत्रभुज = (सं० चतुर्भुज) = चार भुजायुक्त विष्णु का अवतार। आगे की पंक्ति में "शंख चक्रधर गदा सरोज" कह कर चारों भुजाओं के आयुध गिनाये हैं।

मुख करि=मुख से। हिन्दी में भी इस प्रकार करण और अपादान विभक्ति में 'करि' का प्रयोग होता है।

किसूँ (डिं०)=(सं० कीदृशं, प्रा० कईस)=कैसे।

आलोज (डिं०)=(सं० आलोच्य) प्रा० आलोज्ज=विवेचन, विचार देखो दो० ५३, १३२।

अलंकार=वक्रोक्ति (शाब्दी)।

परिकर—"अन्तर्यामी" साभिप्राय विशेषण शब्द है। जो भगवान् अन्तर्यामी हैं, उनको मुख से हृदय के भाव कहना वृथा है और कहे भी कैसे जा सकते हैं।

दो० ६५—

तथापि=(सं०) संस्कृतप्रयोग।

तिणि (डिं०)=(सं० तेन) इसलिए।

त्रिया (डिं०)=(सं० स्त्री)=स्त्री। हिन्दी में भी प्रयोग होता है।

"तिरिया तेल हमीर हठ, चढ़े न दूजोबार।"

अनै (डिं०)=गुजराती में भी प्रयुक्त होता है। देखो पूर्व दो० ११

आतुरी (सं०)=आतुरता।

राज (डिं०)=आप। देखो प्रयोग पूर्व दोहा ५६ में।

दुरी दिन=(स० दु:+दिन) यह ऐसा दृष्टान्त है जिसमें वयण-सगाई घटाने के लिए 'दिन' शब्द को उपसर्ग "दु:" से पृथक् कर दिया है, जिससे 'दुर्दिन' एक शब्द होते हुए भी भिन्न मालूम होते हैं।

नेडउ (डिं०)=(सं० निकटक:)—देखो प्रयोग पूर्व दोहा ४७ में।

नोट—इस दोहले में कवि ने स्त्री के नैसर्गिक स्वभाव का बड़ा अच्छा चित्र खींचा है। भाव बड़े स्वाभाविक हैं।

अलंकार=समुच्चय। द्वितीय पंक्ति मे हिन्दी में इस अलंकार का प्रसिद्ध उदा० "ग्रहग्रहीत पुनि वातवश... .." (तुलसी)।

दो०६६—

तै (डिं०)=(सं० सर्व० तै, सर्व० स का तृतीया बहु०)= उससे।

दीह (डिं)=(सं० दिवस) प्रा० और अपभ्रंश—दिग्रह, दीह, दिहाड़ा, दिग्रहड़ा।

त्रिणि (डिं)=(सं० त्रीणि)=तीन।

आड़ा (डिं०)=बीच में, अन्तर में। हिन्दी में अड, आड़, आड़ा प्रयुक्त होते हैं। आड़े हाथों लेना, आड़े आना।
उदा० (१) सात समुद आड़ा पड़ै मिलै अगाऊ आय।
(कबीर)

(२) मर्यादा आड़ी भई, आगे दियौ न राव।
(लक्ष्मण)

आ (डिं)=यह (स्त्री०) देखो दो० ५१ में।

घात (डिं०)=(स० घात)—षड्यंत्र, चोट, प्रहार। हिं० उदा०
(१) चुकै न घात मार मुठभेरी। (तुलसी)।
(२) हित की कहीं न कहीं अंत समय घात की। (प्रताप)

नोट—आघात को आ+घात पृथक् पृथक् न पढ़कर एक साथ पढ़ने से भी यही अर्थ निकलता है।

आविसि (डिं०)=(स० आगमिष्यति)=आवेंगे (भविष्यत् क्रिया)

आरात् (स०)=शुद्ध सस्कृत प्रयोग=निकट। "आरात् दूर-समीपयो."

दो० ६७—

सारङ्ग (सं०)=विष्णु का धनुष। शुद्ध संस्कृत प्रयोग।

शिलीमुख (सं०)=बाण। हि० उदा० "न डगै न भगै जिय जानि शिलीमुख पंच धरे रतिनायक हैं।" (तुलसी)

चौ, कागलि, साँभलि—देखो नोट पूर्व दो० में।

दो० ६८—

सुग्रीवसेन—मेघपुहप—समवेग-बलाहक=श्रीकृष्ण के रथ के चार घोड़ों के नाम। भागवत में—"समवेग"—की जगह चौथे अश्व का नाम 'शैव्य' दिया है। 'समवेग' नाम कवि का स्वयं कल्पित है।

हिं० उदा० "शैव्य बलाहक मेघपुष्प सुग्रीव बाजी रथ।" (गोपाल)

इसै (डिं०)=(सं० ईदृश) इस प्रकार से, इस वेग से। इस क्रिया-विशेषण का अपेक्षित सम्बन्धी वाक्य यह है:—(कि) घर गिरि पुर साम्हा धावन्ति।" जिसके विषय में डॉ० टैसीटरी ने अकारण सन्देह प्रकट किया है।

वहन्ति (डिं०)=(सं० वह) चलते हैं, गतिशील होते हैं। हिन्दी में भी प्रयोग होता है, यथा:—उदा० (१) अस कहि चढ्यौ ब्रह्मरथ माँही, श्वेत तुरग वहे रथ काँहीं। (रघुराज) (२) वहइ न हाथ दहइ रिस छाती। (तुलसी)

खाँति (डिं०)=डिङ्गल में 'ख्याँत', 'खाँत' शब्द, सावधानी, लगन, चतुरता के अर्थ में प्रयुक्त होते हैं।

खेड़ै (डिं०) = (सं० खेटनं) प्रा० खेटणउ=चलाना, खड़ना (मारवाड़ी), गाड़ी चलाना।

माम्हा (डि ०)=(सं० सन्मुख) प्रा० सम्मुह, हिं० सामुहा। हिन्दी-प्रयोग का उदा० "जनु घुघची वह तिल कर मूहाँ, विरहवान साँधो सामूहा"। (जायसी)

नोट—संस्कृतटीका पूर्वार्ध की दो पंक्तियों का अर्थ विचित्र ढङ्ग से करती है। सुग्रीवसेन=वानरसैन्यं। नै मेघपुहुप मम= इति नदीजलपूरसमये यादृग् वहति। बलाहकानां=वर्षा-भ्रागां यादृशं तादृशं वेगवत्वमिति॥

हमारी समझ में यह कष्ट कल्पना है।

धर गिरि पुर माम्हा धावन्ति=वेगपूर्वक यात्रा का कितना स्वाभाविक वर्णन है। इसी प्रकार का वर्णन कालिदास के शाकुन्तल में है, जब मातलि दुष्यंत का रथ वेगपूर्वक आकाश-मार्ग में हाँकता है।

अलंकार=स्वभावोक्ति।

दो० ६८—

थम्भि (डिं०)=(सं० स्तभनम्) प्रा० थम्भणं, डिं० थांभणउ =रोकना क्रि० के आज्ञा का रूप है।

श्री (डिं०)=सर्वनाम संकेतबोधक। स्त्रीलिंग में "आ"। देखो पूर्व दो० "आ सु दुआरामती" (५१)।

इम—जिम (डिं०)=इस प्रकार—जिस प्रकार। एम, जेम रूप भी बनते हैं। गुजराती में भी प्रयोग होता है।

अम्हींणो (डिं०) सम्बन्धकारक—मैं, हैं, मुझ, मम्ह का षष्ठीरूप= हमारा। उदा० "भूंडी जिकां अम्हांणी भाग"। (पृथ्वीराज) 'हमीणो' भी रूप बनता है।

नै (डिं०)=डिंगल में सर्वत्र उपयुक्त कर्मकारक का चिह्न=को। बोलचाल की मारवाड़ी में इसी प्रयोग में आता है।

दो० ७०—

रहिया (डिं०) = रह गये, रुक गये, विराम कर लिया। इसी प्रकार के प्रयोग के लिए देखो नोट दो० ४६ "रह रह कोइ वह रहो रह"।

सही (हिं०) = हिन्दी में साधारणत: ठीक, सत्य, सचमुच, वास्तव में, के अर्थ में प्रयोग होता है।

हिं० उदा० "प्रणतपाल पाए सही, जे फल अभिलाखे।" (तुलसी)

कीध, ढील (डिं०) = देखो नोट पूर्व दो० में।

इ = वड़ी (डिं०) = इतनी।

कई (डिं०) = (सं० कदापि) = कभी भी। डिं० में जई, तई, कई, का यदा, तदा, कदा के अर्थ में प्रयोग होता है।

थई (डिं०) हुई। व्रज भाषा में 'भई'। दूसरी 'थई' के प्रयोग से मालूम होता है कि 'धीर' को कवि ने स्त्रीलिंग माना है।

थई छींक......थई = यहाँ कवि ने हिन्दू जाति में और विशेषत: राजस्थान में प्रचलित एक विश्वास का स्वाभाविक उल्लेख किया है। किसी काम के आरम्भ में छींक होना अशुभ माना जाता है। छींक के साथ 'शतंजीव', 'चिरंजीव' उसके अशुभ प्रभाव का निराकरण करने के लिए कहते हैं। पाश्चात्य-जाति के कई लोग God bless thee (ईश्वर कल्याण करे) कहते हैं। इससे यह प्रतीत होता है कि छींक को अशुभ मानने का विश्वास विश्व-व्याप्त है।

चिन्तातुर होने पर छींक का होना शुभ लक्षण होता है, क्योंकि उससे चिन्ता मिट जाने का लक्षण अभिप्रेत होता है।

अलंकार = अनुमानप्रमाण—पूर्वार्ध में ।
हेतु—उत्तरार्ध में ।

दो० ७१—

चलपत्र = (सं०) पीपल का वृक्ष । इसे 'चलदल', अश्वत्थ' भी कहते हैं । पीपल के पत्ते थोड़ी सी हवा से चलायमान होने लगते है । अतएव यह नाम पड़ा ।

जिम, तिम = हिं० ज्यों, त्यों ।

आसन्न (सं०) = निकट, नज़दीक ।

धारणा (सं०) = आकृति, मुद्रा, ढंग, मन का विचार ।

तकन्ति (हिं०) = ध्यानपूर्वक देखती, तकती है । हिं० उदा० देखि लागि मधु कुटिल किराती, जिमि गँव तकइ लेउँ केहि भाँती। (तुलसी)

सकै न रहति—सकन्ति = मिलाओ—देखे बनै न देखते विन देखे अकुलाय । (बिहारी)

दो० ७२—

सन्ति
मनसि } शुद्ध संस्कृत प्रयोग ।

श्यामा = देखो नोट दो० २६, ८० में ।

महन्ति = (सं० महती = महिमा, बड़ाई) अतएव गंभीर वात, संवाद। गुजराती में "माहिती" शब्द का इस अर्थ में प्रयोग होता है । हिन्दी में भी प्रयोग मिलता है ।

हिं० उदा० "मातु पितु गुरु जननि जान्यौ भली गोई महति" (सूर)

कुससथली (डिं०) (सं० कुशस्थली) द्वारिका का नाम।
कहन्ति (डिं०)=(सं० कथयन्ति—प्रा० कहन्दि) कहते हैं।

दो० ७३—

वम्भण (डिं०)=(सं० ब्राह्मण) प्रा० वम्भण।
बीजौ (डिं०)=देखो नोट पूर्व दो० ५९ में।
कथ (डिं०)=(सं० कथन)=बात, कथा।
नमे (डिं०)='नम' का पूर्वकालिक रूप, 'कहे', 'वहे' की तरह। देखो पूर्व दो० में।
कही—कथ=मिलाओ—"स्रवण सुणी अरु साँभली" (भागीरथी के दोहे)

लिखमी आप······लागी=यहाँ "लिखमी आप" का विशिष्ट आशय यह है कि यद्यपि लक्ष्मीरूपा रुक्मिणी ने प्रत्यक्ष में उस संदेशवाहक ब्राह्मण को कुछ भी पारितोषिक नहीं दिया परन्तु जिस लक्ष्मी के कृपाकटाक्ष मात्र से लोगों का दरिद्र दूर हो जाता है वह यदि स्वयं विनीत होकर किसी के पाँव पड़े तो उस पुरुष के भविष्य में भाग्योदय का अनुमान किया जा सकता है।
अलंकार—उत्तरार्ध में काव्यार्थापत्ति।

दो० ७४—

चढ़िया (डिं०)=युद्ध के लिए चढ़ाई की, प्रस्थान किया। इस अर्थ में हिन्दी में भी प्रयोग होता है। उदा० "सूर नंद सों कहत यशोदा दिन आये अब करहु चढ़ाई।" (सूर)
सङ्करखण (सं०)=बलभद्र का नाम—'संकर्षण'। इन्होंने यमुना को हल से खींच लिया था।

कटकवंध (सं०)=कटक बाँधना, युद्धरचना, व्यूहरचना।

किध (डिं०)=(सं० कृत, प्रा० किध) किया।

घणा (डिं०)=(सं० घन) ज्यादा। हिन्दीकाव्य में 'घना, घनी, घन, का प्रयोग होता है।

उजाथर (डिं०) हिं० उजागर का रूपान्तर=प्रसिद्ध, विख्यात, प्रकाशमान, यशस्वी। हिं० उदा० (१) जाँबवान जो बली उजागर सिंहमार मणि लीन्हीं (सूर)

(२) सोइ विजई विनई गुण सागर, जासु सुजस त्रयलोक उजागर। (तुलसी)

संस्कृत और प० मारवाड़ी टीकाओं ने 'ओज+स्थिर', ओज में स्थिर, युद्धधीर, रणधीर यह अर्थ लिया है॥

कलहि (डिं०)=(सं० कलह=युद्ध) सप्तम्यन्त=युद्ध में।

एहवा (डिं०)=ऐसे (बहुवचन, सम्मान-सूचक) एकवचन...एहवो, एहड़ो (डिं०)

सहु (डिं०)=सभी। देखो प्रयोग दो० ११० में।

आखाड़ सिध (डिं)=(सं०अक्षवाट०, प्रा० अक्खआड, अख्खाड़+सिद्ध) अखाड़े, मल्लयुद्धस्थान अथवा रणक्षेत्र में सिद्धहस्त वीर। संस्कृतटीका "उजाथर कलहि एहवा" का यों अर्थ करती है:—"ये ओजायरइ इति संग्रामे धीराः पुनः ओहावा इति अग्रेसरणयोग्या" यह कष्टकल्पना-मात्र है। पश्चिमी मारवाड़ी टीका के आधार पर यह मिथ्या कल्पना की गई है। प० मारवाड़ी टीका=जिके उजाथर संग्रामधीर, जे कल—हे अेवाहा अग्रेसरी आगइ चालइ स्वामिभक्त ते 'साथे लीधा।"

अलंकार—उत्तरार्ध में—समुच्चय।

दो० ७५—

पिण (डिं०) = (सं० पुनः प्रा० पुण) यद्यपि, परन्तु, तो भी।

जूजुआ (डिं०) = (फारसी० जुदा + जुदा) पृथक् पृथक्, अलग अलग।

भेला (डिं०) = हिं० भेंट, भेड़ना, भिड़ना, भिलना-भेला = एकत्रित, इकट्ठा। हिं० उदा० "कृष्ण संग खेलव बहु खेला। बहुत दिवस मँह पड़िगो भेला।" (रघुराज)

जण (डिं०) = (सं० जन) प्रा० जण। प्रसंग से यहाँ 'जण' का लाक्षणिक अर्थ 'सज्जन' लिया है। जिस प्रकार पूर्व दो० ५६ में "पात्र" का अर्थ कुपात्र लिया गया है।

जोवण (डिं०) = (सं० जुपण) = देख-भाल करना, ध्यानपूर्वक देखना। देखो नोट पूर्व दो० ४३, ५० में "जोवै" पर।

अलंकार—उत्तरार्ध में—देहरी दीपक "जोवण" क्रिया में।

दो० ७६—

केवी (डिं०) = (सं० के + अपि) = कोई दूसरे। यहाँ पर प्रसंग से इन दूसरों का अर्थ 'दुर्जन' लिया है। शब्द का लक्षणार्थक प्रयोग है। संस्कृत टीकाकार "केवी दुर्जनाः इति" यही अर्थ लेता है। देखो इसी प्रकार का प्रयोग "जण" दो० ७५।

अवर (डिं०) = (सं० अपर) प्रा० अवर, हिं० और, अउर = दूसरे।

वेदारथ = वेदवित् का 'वेदार्थ' कहने से आशय यह होता है कि जिस प्रकार वेदों में आध्यात्मिक गंभीर भाव भरे हुए हैं और जिस प्रकार वेदों का आशय ऐश्वर्य्य एवं विभूतिसम्पन्न है उसी प्रकार भगवान् का दर्शन भक्तों के लिए गंभीर आशय-पूर्ण है।

जोग तत्त=योग के शास्त्रोक्त, आठ अग माने गये हैं —

यमो नियमश्चासन च प्राणायामस्तत पर।
प्रत्याहारो धारणा च ध्यान सार्ध समाधिना।
अष्टाङ्गान्याहुरेतानि योगिना योगसिद्धये॥

उपरोक्त योग के अष्टाग, भगवान् से सायुज्य प्राप्ति करने के हेतु, साधन हैं। सबका लक्ष्य भगवत्प्राप्ति है। अतएव योगेश्वरा का भगवान् को योगसाधनों का लक्ष्य रूप अर्थात् 'योगतत्त्व' रूप में देखना उपयुक्त ही है।

कामिणि कह''' ''जोगेसवर=इसी प्रकार के भाव कविवर तुलसी-दास ने सीय-स्वयवर के समय भगवान् के प्रभुत्व से विस्मित राजाओ के हृदय से प्रकट किये हैं —

देखो —"जाकी रही भावना जैसी प्रभु मूरति देखी तिन तैसी"— उन भावों में और इनमें बहुत कुछ सामजस्य है।

भगवद्गीता में भगवान् के विराट् स्वरूप को देखकर इसी प्रकार अपनी अपना मनोवृत्ति के अनुसार देवता, असुर इत्यादि भगवान के स्वरूप को देखते हैं।

अलकार——उल्लेख।

दो० ७७—

वीखे (डि ०) = (स० वीक्ष्य) = देखकर।

आप पर (डि०) = (स० आत्मन् + पर) = हि० परस्पर, अपने और दूसरे क बीच में। 'आपस्पर' राजस्थानी में 'परस्पर' के पर्याय के रूप म अब तक प्रयुक्त होता है।

हर (डि ०) = (स० स्मर) प्रा० म्हर, हर = आकांक्षा, उत्कट इच्छा, स्मरण इत्यादि।

देखो इसी प्रकार का प्रयोग० पूर्व० दो० २६ में।

म (डिं०)=(सं० मा) मत। देखो० पूर्व० दो० ४५ में—'म म'।

अनि (डिं०)=(सं० अन्य)=दूसरे, अन्य।

रायहर (डिं०)=(सं० राज्यगृह) प्रा० राइहर, रायहर=राज्यकुल।

पुणे (डिं०)=कहते हैं। डिंगल मे अन्यत्र भी प्रयोग मिलता है—
उदा० "पाँचमौ वेद भाखियौ पीथल, पुणियो उगणीसमौ पुराण"।

दो० ७८—

आवासि (डिं०)=(सं० आ+वास)=निवासस्थान में, डेरों में।

ऊभा (डिं०)=(सं० उत+भू)=खड़ा होना, खड़े हुए। हिं० में प्रयोग होता है। हिं० उदा०—"ऊभा मारूँ बैठा मारूँ, मारूँ जागत सूता। "(दादू)

राजा रै=राजा के यहाँ, राजा के घर पर—स्थान पर। इस प्रकार का मुहाविरा हिन्दी और अन्यान्य देश भाषाओं में प्रचलित है—जिसमें 'घर मे,' 'स्थान में', इत्यादि पूरक शब्द अन्तर्हित रहते हैं। यथा, अँग्रेज़ी में 'I called at yours'।

रैं (डिं०)=(सं० कृत्) विभक्ति चिह्न केर, एर=के, के यहाँ।

मनुहार (डिं०)=(सं० मन+हरण)=वह विनती जो किसी को प्रसन्न करने के लिए की जाती है, मनौआ, ख़ुशामद। हिन्दी में बहुतायत से प्रयोग होता है।

हि० उदा० (१) "मारौ मनुहारन भरी गारिउ भरी मिठाहि।" (बिहारी)

(२) कहत रुद्र मन माँहि विचारि, अब हरि की कीजै मनुहारि। (लल्लूलाल)

(३) सबै करति मनुहारि ऊधो कहियो हो जैसे गोकुल आवें। (सूर)

(४) सौहें कियेहू न सौहें करे, मनुहार करेहु न सूध निहारे। (केशव)

अलंकार:—उत्तरार्ध में काव्यार्थापत्ति।

दो० ७९—

सीखावि (डिं०) गुजराती में क्रिया का प्रेरणार्थक रूप इस प्रकार "आवी" लगा कर बनता है। राजस्थानी में और गुजराती में बहुत से समान प्रयोग देखे जाते हैं।

आखै (डिं०)=(सं० आख्यायते) प्रा: आक्खाअइ, आखै=कहती है।

सुजि (डिं०)=(सं० सा+एव) वही। देखो 'सु' और 'जि' का पृथक् पृथक् प्रयोग प्राय: एक ही अर्थ मे, पूर्व दो० १५ में।

जात्र (डिं०)=(सं० यात्रा)=देवदर्शनार्थ देवमन्दिर को जाना। देव-यात्रा। राजस्थान में 'देव=यात्रा' अथवा 'जात' को जाना अब तक मांगलिक प्रथा के रूप में सर्वत्र प्रचलित है। विवाह, पुत्रोत्पत्ति अथवा अन्य शुभ अवसरों पर देवताओं की 'जात' फिरी जाती है।

दो० ८०—

तदि=(सं० तदा) स्त्रीलिंग एवं सप्तमी विभक्तिद्योतक इकारान्त चिह्न सहित। अन्यत्र इसी अर्थ में 'तई' 'तइ' का प्रयोग हुआ है। देखो पूर्व दो० ६१, ६२, में।

दूवौ (डिं०)=(अरबी० दुआ = प्रार्थना)=आज्ञा। देखो पूर्व दो० ५८ में।

परसण (डिं०)=(सं० स्पर्शनम्)=मिलना, स्पर्श करना, आलिङ्गन करना, हिन्दी में बहुतायत से प्रयोग होता है।

प्री (डिं०) = (सं० प्रिय) = प्रिय, प्रियतम, प्यारा।

आरँभिया (डिं०) = (सं० आरम्भ-क्रिया प्रयोग) = आरंभ किया।

हिं० उदा० "अनरथ अवध अरंभ्यौ जब ते, अशकुन होत भरत कहँ तब ते। (तुलसी)

स्यामा = देखो नोट पूर्व दोहलों में।

दो० ८१—

कुमकुमै = (सं० कुंकुम) = (१) केशर, रोली, गुलाबजल।

(२) (तुरकी० कुमकुमा) = लाख का बना हुआ एक चपटा लट्टू जो अबीर-गुलाल से भरा हो।

उदा० चंदन कालकूट सम जानहु। कुमकुम पवि पहार इव मानहु। (मधुसूदन)

यहाँ (१) अर्थ में यह शब्द 'गुलाबजल' के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। हिन्दी में इस प्रकार के प्रयोग मिलते हैं। हिं० उदा० "जहाँ स्यामघन रास उपायौ, कुमकुम जल सुखवृष्टि रमायौ।" (सूर)

मँजण (डिं०) = (सं० मज्जन) = नहाना। हिं० उदा० "मंजन फल पेखिय तत्काला" (तुलसी)।

वसत (डिं०) = (सं० वस्त्र) वस्त्र।

धौत (सं०) = शुद्ध संस्कृत प्रयोग—धुले हुए।

चिहुरे (डिं०) = (सं० चिकुर) = सिर के केश।

हिं० उदा० "छूटे चिहुर बदन कुम्हिलाने, ज्यों नलिनी हिमकर का मारी" (सूर)।

चुवण (डिं०) = (सं० च्यवन) प्रा० चवण, डिं० चुवणो, हिं० चूना, चूवना = टपकना, गिरना। हिं० उदा० "कोइ मुख शीतल नीर चुवत, कोई अंचल सों पवन डुलावै।" (जायसी)

छीणे (डिं०) = (सं० छिन्न) प्रा० छिण्ण, छीण = टूट जाने पर ।

छछोहा (डिं०) = अनुकरण शब्द । फुहार, फव्वारा ।

मखतूल (हिं०) = (सं० महर्घ + तूल) काला रेशम, जो क़ीमती होता है ।

गुण = (सं०) डोरा, सूत, तागा । हिन्दी में श्लिष्ट अर्थों में यह शब्द इस अर्थ में बहुधा प्रयुक्त होता है ।

गुणमोती (डिं०) = एक प्रकार का बहुमूल्य मोती-विशेष । जिस प्रकार 'गजमुक्ता', 'सीपमोती', 'सर्पमणि' होते हैं, उसी प्रकार यह भी है । राजस्थानी में "गुणमोती" विशेष सौन्दर्य्य और आभाद्योतक मोती की एक जाति गिनी गई है ।

अलंकार = उत्प्रेक्षा—उत्तरार्ध में ।

दो० ८२—

बिहुँ (डिं०) = (सं० द्वि) दोनों । डिङ्गल में और हिन्दी में बहुधा प्रयोग होता है । देखो० पूर्व, दो० १२ में ।

धूपणै (डिं०) = (सं० धूप) क्रिया—धूपना, डिं० धूपड़ो = धूप देकर सुवासित करना । राजस्थान में स्त्रियों के शरीर-शृङ्गार का यह एक अंग है । स्त्रियाँ गंध द्रव्य जला कर उनके सुगंधित धुएँ से धोये हुए स्वच्छ केशों को सुवासित करती हैं । हिं० उदा० "वास धूपि अगारन धूपि कै धूम अँध्यारी पसारी महा है ।" (मतिराम)

कारणै, लांधै (डिं०) = यहाँ सम्प्रदान विभक्ति के चिह्न की तरह मुहाविरे में इन शब्दों का प्रयोग हुआ है = के लिए । जिस प्रकार हिन्दी में "लगि", "काज" का प्रयोग होता है—'तुम लगि', 'मारन काज' ।

मुगता (डिं०) = (सं० मुक्त) फैलाना, खुला करना, खोलना।
चै, चौ (डिं०) = मराठी प्रयोग, देखो नोट पूर्व दो० में।
वागुरि (डिं०) = (सं०) वागुरा = मृग को फँसाने का जाल।
जाणे = (डिं०) = उत्प्रेक्षा का चिह्न, मानो, जानो।
अलंकार = उत्प्रेक्षा-उत्तरार्ध में।

दो० ८३—

वाजोटा (डिं०) = (सं० वाद्य + पट्ट) मंच की तरह ऊँचा, बैठने का एक चौकी अथवा पटड़ा जो स्नान के लिए काम आता है। राजस्थानी भाषाओं में प्रचलित शब्द है।

रस (सं०) = रुचि, इच्छा, अनुरक्ति से। हिं० उदा० "जो जो जेहि जेहि रस मगन वहँ सो मुदित मन मानि।" (तुलसी)

इतरै (डिं०) = इतने में।

आली = (सं० आलि) = सखी सं० उदा० "अलमलमालि मृणालै।"

आगलि (डिं०) = हिं० क्रि० विशेषण—अगला = सामने—आगे का। उदा० "आगल से पाछल भयो, हरि सों कियो न हेत।"

आनन, आदरस = शुद्ध संस्कृत प्रयोग = मुख, शीशा।

दो० ८४—

कंठपोत (डिं०) = गले में पहनने की पवित्री। स्त्रियों के गले में बाँधने का एक रेशमी अथवा ऊन का काले रङ्ग का डोरा। गले की कंठी जो काले काँच के मनकों, चौड़ों अथवा गुरियों से पिरोई हुई होती है। उदा० "पतिव्रता मैली भली, गले काँच की पोत।" (कबीर)

कालिन्द्री = (सं० कालिन्दी) यमुना नदी का नाम।

वली (डिं०) = (सं० वलयित) परिवेष्टित, घिरी हुई।
बड़गिरि (डिं०) हिमालय, पर्वतश्रेष्ठ।
सङ्खधर = विष्णु भगवान्, जिनके चार आयुधों में से एक शंख है।
एकणि (डिं०) = एक से।
समै भागि = बराबर भागों मे; अर्थात् बराबर हिस्सों के बीच में से; बीच से।
अलंकार = संदेह—पूर्वार्ध में।
उत्प्रेक्षा—उत्तरार्ध में।

दो० ८५—

कबरी = (सं०) = चोटी, स्त्रियों की बेणी के ऊपर शिखा का स्थान।
सं०—प्रयोग, उदा०—"दधती विलालकबरीकमाननम्" (उत्तरचरित)
करम्बित = (सं०) = बीच बीच में सजा कर गुथी हुई।
सं० प्रयोग, उदा० "स्फुटतरफेनकदम्बकरंबितमिव यमुना-जलपूरं।" (जयदेव)
उतमंग (डिं०) = (सं० उत्तमाङ्ग) शीर्ष, सिर, मस्तक।
आधो अधि (डिं०) = डिंगल मे मुहाविरा है "आधो आध"—पूरा पूरा आधा, बीचोबीच में।
कुँआरमग (डिं०) = हिन्दी में इसे आकाशगंगा; अँगरेजी में Milky way कहते हैं। देहाती लोग इसे किसी २ प्रदेश मे 'आकाश का जनेऊ' और 'हाथी की डहर' कहते हैं। राजस्थान में देहाती लोगों का यह विश्वास है कि आकाश के बीचोंबीच जो यह घना तारकपुंज दिखाई देता है, उस मार्ग से कुँआरे (अविवाहित युवा पुरुष) रात्रि के समय में नमक ढोहते हैं। इसी लिए इसे 'कुमारमग' कुँवारे पुरुषो का मार्ग कहा गया।

संस्कृत-टीकाकार लिखता है "स्वर्गदण्डक इवाश्विने कार्त्तिके मासि नीरजस्के गगने श्वेतदण्डको दृश्यते।"

अलंकार = उत्प्रेक्षा।

दो० ८६—

अणियाला (डिं०) = हिं० अनियारे = अणीवाले, अणीदार, नोंकदार, नुकीले, तीखे। हिं० उदा० "अनियारे दीरघ नयनि किती न तरुणि समान" (बिहारी)।

खुरसाण (डिं०) = (सं० क्षुर + शाण) अस्त्र तेज़ करने का शाण अथवा सिल्ली। सं० उदा० "मणिः शाणोल्लीढ़ः" (भर्तृहरि)

सिरि (डिं०) = हिं० 'सिर' (सप्तमी विभक्तियोतक इकारान्त) = ऊपर।

सजि (डिं०) = (सं०) = सज्जित किये गये हैं, तैयार किये गये हैं, तेज़ किये गये हैं।

वले (डिं०) = (सं० वलय) फिर, और। 'वली', 'वले' डिंगल में इस अर्थ में बहुतायत से प्रयुक्त होते हैं।

वाढ़ दे = (सं० वाट = धार) धार तीक्ष्ण करके। हिन्दी में भी यह मुहाविरा इस अर्थ में प्रयुक्त होता है।

सिलो (डिं०) = (सं०) वाण या भाले की तीक्ष्ण अणी या नोक—यथा शिलीमुख = बाण। यहाँ पर, अंजन डालने की शलाका से आशय है।

सिली (डिं०) = (सं० शिला) डिंगल में स्त्रीलिंग की तरह प्रयुक्त होता है। एक प्रकार के पत्थर का टुकड़ा जिस पर अस्त्र तेज़ किये जाते हैं। शाण, सिल्ली।

वरि (डिं०) = के ऊपर। अन्यत्र यही शब्द "परि" के पर्याय रूप में उपयुक्त हुआ है। यहाँ पर यह सं० 'उपरि' का अपभ्रंश रूपान्तर की तरह प्रयुक्त हुआ है।

वालिया (डि०) = डाला, गिराया, उत्सर्ग करके छोड़ा। डिंगल में 'वाड़नो' 'वारनो' 'वालना' इसी अर्थ में प्रयुक्त होते हैं।

पश्चिमी राजस्थानी (मा०) टीका:—"जल वालियौ पाणी दीधउ"। संस्कृतटीका—"जलं दत्तं"।

अलंकार = पूर्वार्ध—रूपक।

उत्तरार्ध—उत्प्रेक्षा।

दो० ८७—

कुंकुं = (सं०) 'यहाँ कुंकुं' का अर्थ 'रोली' से है। मिलाओ प्रयोग पूर्व दो० ८१। हिं० उदा० "कुंकुं रङ्ग सुअंग जितो, मुख-चंद सों चंदन होड़ पड़ी है।" (तुलसी)

नेत्र-तिलक = (सं०) = शिवजी के ललाटस्थ तीसरे नेत्र के समान आकारवाला तिलक। अर्थात् गोल शून्य के आकार का तिलक या बिन्दी।

हर-निलाट-तिलक = शिवजी के ललाट पर विराजमान द्वितीया के चन्द्र के समान आकारवाला तिलक। अर्थात् अर्द्ध-चन्द्राकार तिलक।

बे (डि०) = (सं० द्वि०), दोनों। अन्यत्र बिहुँ, बिबि, बिऊँ का प्रयोग इसी शब्द के रूपान्तर की तरह हुआ है।

काट काढे = काट निकाले, निकाल बाहर किये, निकाल दिये।

काढे (डिं०) = (सं० कर्षण, प्रा० कडढण) हिन्दी मे प्रयोग होता है। हि० उदा० (१) "मीन दीन जल ते जनु काढ़े"।

(२) "खनि पताल पानी तहँ काढ़ा, छीर समुद्र निकसा हुत बाढ़ा"। (जायसी)

संस्कृत-टीकाकार—"काटशब्देन दोषं"—अनुमान से यह अर्थ लेते हैं। हमारा उपरोक्त अर्थ ज्यादा स्पष्ट है।

कलँक धूम काढ़ै ये काट=कलंक तो "हर-निलाट-तिलक" में से निकाला क्योंकि वह चन्द्राकार है और चन्द्रमा कलंकयुक्त है। धूम, 'नेत्र-तिलक' में से निकाला क्योंकि शिवजी का तीसरा नेत्र क्रोधाग्नि से ज्वलन्त है और उससे उन्होंने कामदेव को भस्म किया था। अग्नि धूम्रयुक्त होती है *अतएव उसका यह दोष भी निकाला।*

अलंकार=व्यतिरेक-पूर्वार्ध में (उपमान का अपकर्ष)।

दो० ८८—

मुख सिख सँधि=मुखमण्डल और सिर की सन्धि का स्थान अर्थात् दोनों के बीच का अंग=लिलाट।

तिलक=भाल पर पहनने का स्त्रियों का एक गहनाविशेष।

रतनमै=(सं० रत्नमय) "मै" का इस प्रकार लघु-प्रयोग हिन्दी में भी कहीं कहीं मिलता है। यथा उदा०—

"श्रम शीकर साँवरी देह लसै, मनो रासि महातम तारक मै॥" (तुलसी)

गलि पूठि=(सं० गलपृष्ठ)=गले के पृष्ठ-भाग में अर्थात् गले के पीछे।

सं० पृष्ठ—प्रा० पुट्ठ, हिं० पीठ।

हूँतो (डिं०)=था। देखो नोट० पूर्व० दो० में। हिं० उदा० "छोर समुद निकसा हुँत बाढ़ा" । (जायसी)

भालियलि (डिं०)=(सं० भाग्य+फलक)=ललाटपट्ट, ललाट।

अलंकार=उत्प्रेक्षा।

दो० ८९—

जूँ (डिं०)=(सं० युज्, प्रा० जुग्र) हिं० जुआ=बैलों के गले पर की छकड़ा जोड़ने की लकड़ीविशेष।

सहरी (डिं०) = (सं० सदृशी—प्रा० सरिसी) = के समान।

भ्रूह (डिं०) = (सं० भ्रू) हिं० भौंह, भ्रू, भँवारे।

विसहर (डिं०) = (सं० विषधर—प्रा० विसहर) = साँप।
हिं० उदा० "विसहर सी लट सो लपटि मो मन हठि लपटाति" (मुबारक)

रामि (डिं०) = (अरबी शब्द) घोड़े को लगाम, बागडार। (सं० रश्मि—प्रा० रस्सि) हिं० रास।

वाली (डि) = (सं० वलय) डिंगल में स्त्रीलिंग प्रयोग होता है = सोने के पतले तार का बना हुआ चक्राकार, कान में पहनने का एक गहना।

वाँकिया (डिं०) = (१) रथ के चक्र के आगे वह धनुषाकार टेढ़ा लकड़ी जिस पर धुरी टिकती है।
(२) वाँकिया—नरसिंघा के आकार का बजाने का एक वाद्य भी होता है।

ताटंक = (सं० ताटक) = तरकी, तरयौना, कर्णफूल, कान में पहनने का गहनाविशेष। पहले यह ताड़ के पत्तों से बनता था। अतएव इसका नाम ऐसा पड़ा।
"अज्यौं तरयौना ही रह्यौ"। (विहारी)

चक्र = (सं०) रथचक्र, पहिया।

अलंकार = उपमा—"जुँ सहरी भ्रूह"।
रूपक—"नयण मृग"।
सन्देह—द्वितीय पंक्ति।
उत्प्रेक्षा—उत्तरार्ध में।

दो० ६०—

इभकुंभ = (सं०) हाथी का कुंभस्थल।

अन्धारी (डिं०) = हिं० अन्धेरी; घोड़े, हाथी अथवा बैलों की आँखों पर डालने का परदा।

कंचुकी = (सं०) स्त्रियों के वक्षःस्थल पर पहनने का एक वस्त्र। हिं० उदा० "कंचुकि पट सूखत नहीं कबहूँ, उर बिच बहत पनारे"। (सूर)

आगमि = (सं०) सप्तम्यन्त इकारान्त = आगमन में, स्वागतार्थ।

वारगह (डिं०) = (सं० वारि + ग्रह) (१) पानी को ग्रहण कर, उससे जो बचाते हैं—अर्थात् तम्बू।

(२) (सं० वारण + गृह) = हाथियों को बाँधने का स्थान—पायगाह।

पहले अर्थ का समर्थन संस्कृत टीका यों करती है :—

"पटकुटीयुगल रचितमिव"।

दूसरे अर्थ का प्रयोग करने से अन्तिम पंक्ति का यह आशय होगा :—मानो कुचरूपी हाथियों को उनके स्थान में गजबंधिनी डोरों अथवा साँकलों से बाँध दिया है।

बंधण (डिं) = (सं० बंधन) = बाँधने की डोरें; बंधन।

कलह, दीध = युद्ध, दिया। 'कलह' के प्रयोग के लिए देखो नोट ७४ पूर्व दो० में।

अलंकार = उत्प्रेक्षा, उल्लेख, रूपक।

इभकुंभ......कलह (पूर्वार्ध) का मिलान करो :—

"जाली की आँगी कसी यों उरोजनि, मानो सिपाही सिलाह किये है।" (मन्नालाल)

दो० ९१—

कंठसरी (डिं०) = (सं० कंठ + सरि) = कंठ का माला, कंठी।

अन्तरिख (डिं०) = (सं० अन्तरिक्ष) = अन्तर्धान, गुप्त, अप्रकट।
हिं० उदा० "भखे ते अन्तरिक्ष रिच्छ लच्छ लच्छ जातहीं।"
(केशव)

हूँती (डिं०) = से—अपादान विभक्ति चिह्न—देखो प्रयोग, नोट पूर्व दो० ७२ में।

कल = (सं०) = मनोहर।

सरि = (सं०) = मोती की माला, लड़ी।

नोट—गले में सरस्वती का वास और सुन्दर "कंठसिरी" कंठी का वास होना, उत्प्रेक्षा की साङ्गोपाङ्ग उपयुक्तता को प्रदर्शित करते हैं। श्रीरुक्मिणी इस समय प्राणप्रिय हरि से मिलने के लिए ही शृङ्गार सजा रही थीं। उनके हृदय मे मनमोहन की मोहिनी भावना बस रही थी। अतएव उनकी मनोगत वाणी प्राणप्यारे हरि के गुणों का ही निरन्तर गान करे, तो इसमें सन्देह ही क्या हो सकता है। मानो, अपने मनोगत भावों को कंठी के मोतियों के रूप में लिये हुए रुक्मिणी को कंठस्थ गिरा (सरस्वती) ही 'कंठसिरी' (कंठी) के रूप में प्रतिबिम्बित होती हुई दृष्टिगोचर हो रही है। उत्प्रेक्षा अत्यन्त मनोज्ञ है।

अलंकार = उत्प्रेक्षा।

दो० ९२—

बाजूँबंध (डिं०) = (फारसी० बाजू) = भुजबंध, एक प्रकार का भुजा पर पहनने का गहना।

सिरी (डिं०)=(सं० श्री)=(१) शोभा, कान्ति।
(२) हिं० 'सिरा'=किनारा, छोर, अन्त, प्रान्तभाग।
पाट=(सं० पट्ट-पाट)=रेशम। यथा—'पाटम्बर' शब्द में।
हीँडि (डिं०)=(सं० हिंडनम्)=झूलना, घूमना, भ्रमण करना।
हीँडलै (डिं०)=(सं० हिन्दोल-हिंडोल)=झूलो में।
श्रीखंड=(सं०)=चन्दन।
किरि (डिं०)=उत्प्रेक्षा का चिह्न—मानो।
अलंकार=उत्प्रेक्षा।

दो० ८३—

गजरा (डिं०)=कलाई पर पहनने का स्त्रियों का एक गहना। हिं० उदा० छाप छला मुँदरी झमकै, दमकै पहुँची गजरा मिलि मानो। (गुमान)

नवग्रही=(सं०) नवग्रहों के सूचक, नव प्रकार के रत्नों से जटित, नवरत्नो नाम का गहना, जो कलाई पर पहना जाता है। पुराणों में दिये हुए ज्योतिष के प्रमाणों के अनुसार नवरत्न पृथक् पृथक् एक एक ग्रह के दोषों की शान्ति करने के लिए उपकारी होते हैं; यथाः—

सूर्य की शान्ति के लिए लहसुनिया।

बुध..................पुखराज	राहु की शान्ति के लिए गोमेद
शनि ....नीलम	मंगल..............माणिक्य
चंद्र............ ...मोती	शुक्र ....हीरा
बृहस्पति ....मूँगा	केतु ....पन्ना

प्रोंचिया (डिं०)=हिं० पहुँची=कलाई पर पहनने का कँगूरेदार अथवा दानेदार एक गहना। हिं० उदा० "पग नूपुर औ पहुँची कर कंजन, मंजु बनी बनमाल हिये। (तुलसी)

प्रौंचे (डिं०)=(सं० प्रकोष्ठ)=अग्रबाहु और हथेली के बीच का भाग, कलाई, मणिबन्ध। हिं० उदा० "छिल छिगुनी पहुँचो गिलत" (बिहारी)।

वल़ (डिं०)=(सं० वलयित) पहनी, धारण की।

वल़ (डिं०)=(सं० वलय) वलयन सूत्र; वह काला रेशमी डोरा जिससे पहुँचियाँ गूँथी जाती हैं।

वलि़त (डिं०)=गुँथी गई थी। परिवेष्टित थी।
हिं० उदा० "कंटक वलित तृन वलित बिंधजल।"
(केशव)

हसत नखित्र (डिं०)=हस्तनक्षत्र। ज्योतिष के अनुसार नक्षत्र-मंडल का एक नक्षत्र जिसमें पाँच तारे सम्मिलित होते हैं और जिसका आकार आकाश में खुले हुए हाथ के पंजे की तरह माना गया है। अतएव रुक्मिणी के हाथ के पंजे को हस्त नक्षत्र की उपमा देना अत्यन्त युक्तिसंगत है।

नक्षत्र=चन्द्रमा के पथ में पड़नेवाले तारों के गुच्छ या समूह को, जिसकी पहचान के लिए उसके आकार से मिलता-जुलता कोई नाम निर्दिष्ट किया जाता है, नक्षत्र कहते हैं। इन नक्षत्रों को ग्रहों से भिन्न समझना चाहिए, जो सूर्य की परिक्रमा करते हुए उसके पथ में पड़ते हैं। नक्षत्र चन्द्रमा से सम्बन्ध रखते हैं और २७ हैं। ग्रह सूर्य से सम्बन्ध रखते हैं और १२ हैं। चन्द्रमा २७-२८ दिन में पृथ्वी के चारों ओर घूम जाता है। खगोल में यह भ्रमण-पथ इन्हीं तारों के बीच से होकर पड़ता है। सारा पथ इन २७ नक्षत्रों में विभक्त होकर नक्षत्र-चक्र कहलाता है।

नोट—हस्तनक्षत्र-समूह में जब चन्द्रमा का प्रवेश होता है तो वह शुभ-सूचक माना गया है। इस प्रसंग में रुक्मिणी के लिए विवाह-सूचक है।

वेधियौ (डि॰)=(सं॰ वेधन) वेध लिया है, पार कर लिया है।

हिमकरि=चन्द्रमा में।

आवरित=(सं॰ आवृत्त)=घिरा हुआ।

हसत......हिमकरि=रुक्मिणी का हाथ-रूपी हस्तनक्षत्र गजरा-नवग्रही-पौंचिया रूपी गोलाकार चन्द्र को पार कर गया है। उत्प्रेक्षा युक्ति-संगत है।

अलंकार=उत्प्रेक्षा।

दो॰ ९४—

आरोपित=(सं॰) धारण किये हुए। सं॰ उदा॰ "हारो नारोपितो मया विश्लेषभीरुणा"।

लहै (डि॰) (सं॰ लभते) प्रा॰ लहइ-लहै=प्राप्त करता है। हिन्दी में इसका बहुतायत से कविता में प्रयोग होता है।

तिणि (डि॰)=(सं॰ तेन)=इसलिए।

नाखै (डि॰)=डालता है। हिन्दी में भी इस अर्थ में प्रयोग होता है। उदा॰ "जो उर झारन श्री झरसो, मृदु मालती माल वहै मग नाखै।"

रज तिणि सिर नाखै गजराज—मिलाओ—"पद्मिनि गवन हंस गये दूरी। हस्ति लाज मेलहि सिर धूरी॥" (जायसी)

अलंकार=हेतूत्प्रेक्षा।

नोट—डा॰ टैसीटरी ने "उरुस्थल" पाठान्तर लिया है, जो असंभव है। 'उरु' का अर्थ 'जंघा' होता है। और यहाँ 'जंघा' से

आशय न होकर 'वक्षःस्थल' से है। 'उरस्थल' सब तरह से ग्राह्य पाठान्तर है।

दो० ६५—

धरिया (डिं०)=(सं० धारिता) धारण किये हुए।

वाखाणण (डिं०)=(सं० व्याख्यान)=व्याख्या करने में, वर्णन करने में।

क्रिमत्र (सं०)=शुद्ध संस्कृत प्रयोग।

भति (डिं०)=हिं० भाँति=तरह, सदृश।

वसत्र (डिं०)=(सं० वस्त्र) दो० ८१ में "वसत" प्रयुक्त हुआ है।

अलंकार=उपमा—उत्तरार्ध में।

दो० ६६—

क्रिसा अंग=(सं० कृशाङ्ग)=पतली, कृश अंगवाली।

मापित (डिं०)=(सं० मी=नापना) हिं० मापी हुई।

करग (डिं०)=(सं० करग्र)=हाथ का अग्र-भाग, हथेली। 'कर' के साथ दूसरा शब्द जोड़ा जाने पर जो यौगिक शब्द बनता है, उसका आशय—"अँगुली-सहित हथेली" होता है। यथा 'करपल्लव'। देखो प्रयोग पूर्व दो० २३ में—'करग'।

कटिमेखला=(सं०) कटि में पहनने का एक गहना, करधनी।

समरपित=(सं०)=धारण की हुई है, पहनी हुई है।

भावी-सूचक=(सं०) भवितव्यता को बतानेवाले। भविष्य में अवश्य होनेवाली बात को "भावी" कहते हैं। भविष्यवादियों का विश्वास है कि कुछ घटनायें या बातें ऐसी होती हैं जिनका

भविष्य में होना पहले से ही किसी अदृश्य शक्ति द्वारा निश्चित होता है। हिं० उदा०—"भावी काहू सों न टरै। कहँ वह राहु कहाँ वह रवि शशि आनि सँजोग पड़ै।" (सूर)

ग्रह-गण = नवग्रहों का समूह। ग्रह ये हैं :—रवि, चन्द्र, मङ्गल, बुध, बृहस्पति, शुक्र, शनि, राहु और केतु।

सिंघरासि = आकाश में पृथ्वी जिस मार्ग से होकर सूर्य की परिक्रमा करती है वह "क्रान्तिवृत्त" कहलाता है। इस क्रान्तिवृत्त में पड़नेवाले विशिष्ट तारा-समूह जिनकी संख्या ज्योतिष के अनुसार १२ हैं, "राशि" कहलाते हैं। इनके नाम नक्षत्रों के नामों की तरह, तारा-समूह की आकृति के अनुसार ही रखे गये हैं। १२ राशियाँ ये हैं। मेष, वृष, मिथुन, कर्क, सिंह, कन्या, तुला, वृश्चिक, धन, मकर, कुम्भ, मीन। इनमें 'सिंह' राशि का पाँचवाँ स्थान है।

भेला (डिं०) = एकत्रित। देखो पूर्व दो० में "भिलति" का पयोग।

थिया (डिं०) = हुए।

भावी... ..ग्रहगण सकल = श्री रुक्मिणी का नाम रकार से आरम्भ होता है। अतएव उनकी राशि तुला हुई। सिंहराशि (अर्थात् सिंह की कटि के समान रुक्मिणी की कटि) पर ग्रहों (नवरत्नों से जटित कटि-मेखला का धारण करना) का आ जाना, रुक्मिणी के लिए ज्योतिष के प्रमाण से शीघ्र ही किसी बड़े लाभ होने की शुभ सूचना देता है। कटि-मेखला में जटित नवरत्नों के मिस से मानो सिंहराशि-रूपी कटि पर आये हुए शुभ ग्रह सूचना दे रहे हैं कि अब शीघ्र ही उनकी मनोकामना सिद्ध होगी और पतिरूप में आनन्दकन्द भगवान प्राप्त होंगे।

नोट—दो० ६३ तथा ६६ में कवि ने अपने ज्योतिष के गंभीर ज्ञान एवं रुचि का परिचय दिया है। "वेलि" के अन्त में दो० २६६ में "जोतिखी वैद पौराणिक जोगी" का आशय समझने के लिए पाठकों को इन दोहलों पर ध्यान देना चाहिए।

अलंकार=अत्युक्ति—द्वितीय पंक्ति में।
उत्प्रेक्षा—समस्त में।

दो० ६७—

चामीकर=(सं०) सोना, धतूरा।

नूपुर=(सं०)=पैरों में पहनने का एक गहना। उदा०—"कंकण किंकिणि नूपुर धुनि सुनि"। (तुलसी)

घूघरा (डिं०)=(अनुकरण शब्द) घुँघरू—नाचने के समय पहनने का एक गहना; मंजीर।

सजि=(स० सज्ज) धारण किये, पहने, सजे। हिं० उदा०—"तीज परब सौतिन सजे, भूषन वसन शरीर"। (बिहारी)

पहराइत (डिं०)=(सं० प्रहरी) हिं० पहरुआ, पहरेदार। मिलाओ: हिं० उदा "काम पठाये पहरुआ निस दिन पहरा देत।" (रतिरानी)

कजि (डिं०)=(सं० कार्यम्)=के लिए, के निमित्त। हिं० उदा०—"भक्त काजि लाज धरि हिय में पाँव पयादे धाऊँ॥ (सूर)

भमर (डिं०) = (सं०) भ्रमर, भौंरा।

सगा (डिं०) = सम्बंधकारक का चिह्न। देखो नोट पूर्व दो० २३ में।
मिलाओ, बिहारी के इस दोहे के भाव से—'हग पग पोंछन को किये भूषण पायंदाज'। (बिहारी)

अलंकार = उत्तरार्द्ध में—गम्योत्प्रेक्षा।

दो० ८८—

दधि (डिं०) = (सं० उदधि) प्रथम 'उ' का विकल्प करके लोप। =समुद्र। इस अर्थ में 'दधि' का प्रयोग सूरदास ने बहुतायत से किया है। हिं० उदा०—

(१) दधिसुत जामें नंद दुवार। (सूर)

(२) राधा दधिसुत क्यों न दुरावति। (सूर)

वीणि लियौ = (सं० विनयन) हिं० बीन लेना = चुन लेना।
हिन्दी० उदा०—सुंदर नवीन निज करन सों बीन बीन, येला की कली ये आजु कौन छीन लीन्ही है। (प्रताप)

जाइ (डिं०) = (सं० यत्) जिसको। 'जाइ-ताइ' का पारस्परिक आपेक्षिक सम्बन्ध में प्रयोग होता है।

वणतौ (डिं०) = (सं० वर्णन, प्रा० वण्णण) शोभित होता हुआ।
इस अर्थ में हिन्दी "बनना" का प्रयोग होता है:—
उदा० "ब्रज नव युवति कदम्ब मुकुटमणि श्यामा आजु बनी।" (हितहरि)

दीठी (डिं०) = (सं० दृष्ट) प्रा० दिट्ठ = देखा।

साखियात (डिं०) = (सं० साक्षात्) = साक्षात्, प्रत्यक्ष, ठीक-ठीक।

ससत (डिं०) = (स० ससत्य) = सचमुच, निस्सन्देह।

गुणमय (डिं०) = एक प्रकार का मोती जिसे डिंगल में गुणमोती कहते हैं। देखो प्रयोग पूर्व दो० ८१ में।

नोट—दो० ९३ तथा ९६ में कवि ने अपने ज्योतिष के गंभीर ज्ञान एवं रुचि का परिचय दिया है। "वेलि" के अन्त में दो० २९९ में "जोतिखी वैद पौराणिक जोगी" का आशय समझने के लिए पाठकों को इन दोहलों पर ध्यान देना चाहिए।

अलंकार=अत्युक्ति—द्वितीय पंक्ति में।
उत्प्रेक्षा—समस्त में।

दो० ९७—

चामीकर=(सं०) सोना, धतूरा।

नूपुर=(स०)=पैरों में पहनने का एक गहना। उदा०—"कंकण किंकिणि नूपुर धुनि सुनि"। (तुलसी)

घूघरा (डिं०)=(अनुकरण शब्द) घुँघरू—नाचने के समय पहनने का एक गहना; मंजीर।

सजि=(स० सज्ज) धारण किये, पहने, सजे। हिं० उदा०—"तीज परब सौतिन सजे, भूषन बसन शरीर"। (बिहारी)

पहराइत (डिं०)=(सं० प्रहरी) हिं० पहरुआ, पहरेदार। मिलाओः हिं० उदा "काम पठाये पहरुआ निस दिन पहरा देत।" (रतिरानी)

कजि (डिं०)=(स० कार्यम्)=के लिए, के निमित्त। हिं० उदा०—"भक्तन काजि लाज धरि हिय में पाँव पयादे धाऊँ॥ (सूर)

भमर (डिं०) = (सं०) भ्रमर, भौंरा।

वणा (डिं०) = सम्बंधकारक का चिह्न। देखो नोट पूर्व दो० २३ में। मिलाओ, विहारी के इस दोहे के भाव से—'दग पग पोंछन को किये भूषण पायंदाज'। (विहारी)

अलंकार = उत्तरार्द्ध में—गम्योत्प्रेक्षा।

दो० ८८—

दधि (डिं०) = (सं० उदधि) प्रथम 'उ' का विकल्प करके लोप। =समुद्र। इस अर्थ में 'दधि' का प्रयोग सूरदास ने बहु-तायत से किया है। हिं० उदा०—

(१) दधिसुत जामें नंद दुवार। (सूर)

(२) राधा दधिसुत क्यों न दुरावति। (सूर)

बीणि लियौ = (स० विनयन) हिं० बीन लेना = चुन लेना। हिन्दी० उदा०—सुंदर नवीन निज करन सों बीन बीन, येला की कली ये आजु कौन छीन लीन्ही है। (प्रताप)

जाइ (डिं०) = (स० यत्) जिसको। 'जाइ-ताइ' का पारस्परिक आपेक्षिक सम्बन्ध में प्रयोग होता है।

वणतौ (डिं०) = (सं० वर्णन, प्रा० वण्णण) शोभित होता हुआ। इस अर्थ में हिन्दी "बनना" का प्रयोग होता है — उदा० "व्रज नव युवति कदम्ब मुकुटमणि श्यामा आजु बनी।" (हितहरि)

दीठौ (डिं०) = (सं० दृष्ट) प्रा० दिट्ठ = देखा।

साखियाव (डिं०) = (सं० साक्षात्) = साक्षात्, प्रत्यक्ष, ठीक-ठीक।

ससव (डिं०) = (सं० ससत्य) = सचमुच, निस्सन्देह।

गुणमय (डिं०) = एक प्रकार का मोती जिसे डिंगल में गुणमोती कहते हैं। देखो प्रयोग पूर्व दो० ८१ में।

मुताहल (डिं०)=(सं० मुक्ताफल) प्रा० मुत्ताहल=मोती का दाना।

निहसति (डिं०)=(सं० नि+हसति)=बड़ा हँसता सा है—लाक्षणिक अर्थ में,—शोभा देता है।

शुक=शुकदेव मुनि। देखो पूर्व दो० ८ का नोट।

भागवत=अठारह पुराणों में से एक पुराण, जिसमें १२ स्कंध, ३१२ अध्याय और १८००० श्लोक हैं। अधिकांश कृष्ण के प्रेम और भक्ति की कथायें हैं। यह वेदान्त-दर्शन का तिलक (टीका) स्वरूप भी माना जाता है। सनातनधर्मी हिन्दुओं में अन्यान्य पुराणों की अपेक्षा इसका ज़्यादा आदर है। विशेषत: वैष्णवों के लिए यह धर्म-ग्रन्थ है। इसे महा-पुराण भी कहते हैं। वेलि का आधार इसी के दशम स्कंध के कुछ अध्यायों से लिया गया है। पश्चिमी राजस्थानी (मा०) टीका ने 'ससत' और 'निहसत' का भिन्न अर्थ किया है। 'ससत आघल पाछउ हालतउ'। 'निहसत लटकतउ सोभइ'।

नोट—समुद्र में से शोध कर सौन्दर्य आदि गुणों में अत्यन्त मनोहर मोती को रुक्मिणी की नासिका में धारण करने योग्य समझ कर प्राप्त किया था। वह सुन्दर तो पहले से ही था, पर रुक्मिणी के धारण करने से सौन्दर्य और गुण में और ज़्यादा बढ़ गया। अतएव अपने नाम 'गुणमोती' को सार्थक करने लगा। यों तो, मोती किसी स्त्री के सौन्दर्य्य को बढ़ाता है, परन्तु यहाँ मोती के सौन्दर्य्य को बढ़ा कर रुक्मिणी ने उसे 'गुणमय' कर दिया।

उत्तरार्ध का एक दूसरा अर्थ:—इस प्रकार सौन्दर्य को बढ़ाता हुआ वह गुणमोती रुक्मिणी की नासिका में क्या झूल रहा है मानो रुक्मिणी की नासिका के समान सुन्दर कोई तोता अपने मुख से मोती के समान उज्ज्वल भगवान् के गुणों का बारंबार गान कर रहा है। बार बार उसके मुख से "हरे कृष्ण, हरे कृष्ण !!" की ध्वनि हो रही है।

अलंकार = उत्प्रेक्षा।

दो० ९९—

कोकनद = (सं०) लाल कमल।

तँबोल (डिं०) = (सं० ताम्बूल) = पान, बीड़ा।

मझि (डिं०) = (सं० मध्ये) प्रा० मज्झे। सप्तमी इकारान्त।

किंजल्क = (सं०) = पद्मकेशर, केशर। हिं० उदा०—

"किंजल्क बसन किशोर मूरति, भूरि गुण करुणाकरम्।" (तुलसी)

तसु (डिं०) = (सं० तस्या) उसके, अपने।

बीड़ौ (डिं०) = (सं० वीटकः) प्रा० वीडउ = पान का बीड़ा। हिं० उदा:—"बीरा खाय चले खेलन को मिलि कै चारो बीर। (सुर)

कीर—क्रीड़न्ति = "जावो" का दूसरा अर्थ "जाति" से 'सजातीय' लेकर एक अर्थ यह भी होता है:—रुक्मिणी का चमेली की डाल के समान कोमल हाथ है, जिस पर उँगलियों के नखरूपी श्वेत पुष्प लगे हैं। इनके सन्निकट बैठा हुआ

बीड़ारूपी एक तोता, पास ही बैठी हुई नासिका रूपी तोती (शुकि) के साथ प्रेम-क्रीड़ा कर रहा है।

इस अर्थ का समर्थन संस्कृत-टीका करती है।

अलकार = उपमा—पूर्वार्ध में।

उत्प्रेक्षा—उत्तरार्द्ध में।

दो० १००—

सिणगार (डिं०) = (सं०) शृङ्गार।

देहरा दिसि = (स० देवगृह) प्रा० देवहर। हिं० देहरा = देवालय की ओर। हिं० उदा० "नेव बिहूणा देहरा, देव बिहूणा देव। (कबीर)

होड़ (डिं०) = हिं० होड़ = स्पर्धाभाव, ईर्षा।

मनकीधौ (डिं०) = मन किया, इच्छा की। यह मुहाविरा हिन्दी में भी प्रयुक्त होता है। उदा० "मन न मनावन को करै देत रुठाय रुठाय।" (विहारी)

मोतो लगि = (सं० मुक्ता + लग्ना) मोती जटित, मोती लगी हुई।

पाणही (डिं०) = (स० उपानह) = जूती।

उदा० बिनु पानहि पयादेहि पाये, संकर साखि रहेउ यहि धाये। (तुलसी)

अलंकार = कैतवापह्नुति—उत्तरार्द्ध में।

दो० १०१—

नीलम्बर = नीलवस्त्र, नाले वर्ण का चीर।

अबल (डिं०) = (सं० अवलि) = पंक्ति, कतार, समूह।

नग (डिं०) = हिं० नग—रत्न, नगीना, जवाहिरात।

सजोई (डिं०) = (सं० संयोजित) प्रा० सजोइअ = सुसज्जित की है। यहाँ प्रसग से "जलाई है" यह अर्थ लगता है। राजस्थानी

में दीपक जलाने को "दीवो सजोवणु" लिखते, बोलते हैं। हिन्दी में भी यह मुहाविरा प्रयुक्त होता है—उदा० "सूर सजोइल साजि सुबाजि, सुसेल धरे बगमेल चले हैं" (तुलसी)

उदित = (स०) प्रकाशमान, उज्ज्वल, कान्तिमान्।

मदन दीपमाला मुदित = कामदेव ने मुदित होकर आभूषणरूपी दीप माला क्यों प्रज्वलित की ? रुक्मिणी के शरीर का आश्रय पाकर अब उसे आत्मगौरव का भाव होने लगा।

अलंकार = उत्प्रेक्षा—उत्तरार्द्ध में।

उत्तरार्द्ध में "कोमकान्तपदयोजना" का सौष्ठव और शब्द-माधुर्य्य देखते ही बनता है।

दो० १०२—

किहि (डिं०) = (स० कस्मिन्) प्रा० कहि = किसी के। हिन्दी में भी इसका प्रयोग होता है।

करगि, करि (डिं०) = दोनों शब्द एक ही अर्थ के द्योतक हैं। 'करगि' का अर्थ हाथ का अग्र-भाग, हथेली है।

कुमकुमौ (डिं०) = गगाजल का पात्र। इसी अर्थ में "कुमकमै मजण करि" .....दो० ८१ में प्रयोग देखो।

"कुमकुमौ" और "कुङ्कुम" दोनों का एक साथ प्रयोग करके कवि ने इनका अर्थ-वैभिन्य स्पष्ट कर दिया है। "कूंकूं" पूर्व दो० ८७ में 'रोलो' के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है।

अरगजौ = एक प्रकार के पीले रङ्ग का मिश्रित सुगन्धित द्रव्य जिसका शरीर में लेपन किया जाता है। यह केशर, चन्दन, कपूर आदि के मिलाने से बनता है।

हि० उदा० (१) लाल तिहारो अरगजा, उर ह्वै लग्यो अबीर। (बिहारी)

(२) खर को कहा अरगजा लेपन मर्कट भूषण अग॥ (सूर)

पान = हि० पान = पान का बीड़ा, ताम्बूल।

धूप = (सं०) जलाने का एक सुगन्धित द्रव्य।

डा० टैसीटरी 'धूप' की जगह "धोति" पाठान्तर देते हैं जो प्रसग में यथास्थान नहीं जँचता।

अलंकार = उल्लेख।

दो० १०३—

चकडोल (डिं०) = (स० चक्र + दोला) एक प्रकार की जनानी पालकी। इसका राजस्थान में बड़े घरानों में प्रयोग होता है। हिन्दी में इसका पर्याय 'महाडोल' है। पालकी, शिबिका। उदा० "महाडोल दुलहिन के चारो, देहु बताय होउ उपकारो" (रघुराज)

लगै (डिं०) = डिङ्गल में यह अव्यय दिशासूचक अर्थ में प्रयुक्त होता है = की ओर, की तरफ।

तै (डिं०) = उसकी, जिसकी। देखो प्रयोग पूर्व दो० ६६ में। 'तइ' का रूपान्तर है।

मूँ (डिं०) = मैं। पूर्व दो० ६२ में भी इसी अर्थ में प्रयुक्त हुआ है।

सील आवरित लाज सूँ = शील की मूर्त्ति रुक्मिणी अपनी सखियो रूपी मूर्त्तिमान् लज्जागुण से घिरी हुई है। रुक्मिणी के चारित्रिक शील का कैसा दिव्य आदर्श कवि ने स्थापित किया है। "शीलं पर भूषणं" नारी के चरित्र का आदर्श

शील ही में व्यवस्थित रहता है और शील का एक बाह्य लक्षण लज्जा है। उत्प्रेक्षा की मनोज्ञता पर मनन करना चाहिए।

अलंकार = उत्प्रेक्षा।

दा० १०४—

आइस्यै (डिं०) = (सं० आयसु) = आज्ञा। हिन्दी में प्रयोग :—
"आयसु दीन्ह मोहिं रघुनाथा" (तुलसी)

जाइ (डिं०) = (सं० य. + हि) हिं० जाहि = जिसको।

तुरी (डिं०) = (सं० तुरग)—(अरबी० तुरय) = घोड़ा (स्त्री०)

लागि (डिं०) = हिं० लगती = योग्य। अपने अपने लगतीं अर्थात् अपने अपने योग्य। हिन्दी में मुहाविरा भी है:—"तुम्हारे लगै, वैसा करो।"

ताकि = हिं० ताकना = ताककर, देख-भाल कर।

सिलह = (अरबी० सिलाह) = जिरहबख़्तर, कवच। हिं० उदा० "आपु गुसल करि सिलह करि, हुवै नगारे दोइ। (सूदन)

गरकाब = (फ़ारसी० ग़रकाब) = डूबा हुआ, निमग्न, ढका हुआ।

सँपेखी (डिं०) = (सं० सं० + प्रेक्ष्य) देखे जाते हैं, दीखते हैं।

जोध (डिं०) = (स० योद्धा) = योद्धा।

मुकुर = (सं०) = दर्पण, आईना।

नोट—इस दोहले की दूसरी पंक्ति में 'लाग' शब्द को संस्कृत धातु "लग" ('वेग' के अर्थ में) का पर्याय समझा जाय और 'ताकि' को डिंगल 'तारखि' (जिसका अर्थ 'गरुड़' होता है)

समझा जाय तो इस पंक्ति का अर्थ होगा—"गरुड़ के समान वेगवाले घोड़ों को लेकर"।

अलंकार = उपमा—उत्तरार्द्ध में।

दो १०५—

रखपाल (डिं०) = हिं० रखवाला, रक्षक, अंगरक्षक।

पाइदल (डिं०) = (सं० पाद + दल) प्रा० पायदल। हिं० पैदल = पैदल सैनिक।

पाइक (डिं०) = (सं० पादातिक) = पैदल सिपाही। हिन्दी में रूढ़ अर्थ में 'पायक' का अर्थ नौकर होता है। उसी अर्थ में यहाँ भी प्रयोग हुआ है।

उदा०—"हे दसशीश मनुज रघुनायक, जाके हनूमान से पायक" (तुलसी)।

हिलवलिया (डिं०) = हिं० हड़बड़ाये (अनु० शब्द) = उत्तेजित होकर चले, उतावले हुए।

हलिया (डिं०) = (सं० हल्लन) = चलायमान हुए, चले। (हिं० हिलना, हिले)

गमे गमे (डिं०) = (अनुकरण-शब्द) = घमघम करते हुए।

मदगलित = (सं०) = मद झरता है जिनके, मदमस्त।

गुड़न्ता (डिं०) = (अनु० शब्द) लुढ़कते हुए, झूमते हुए, मस्त होकर झूमते हुए।

गिरोवर (डिं०) = (स०) गिरिवर।

नोट:—उपरोक्त दो दोहलों में कवि ने राजघराने की किसी राजकुमारी की सवारी का अच्छा सजीव चित्र खींचा है।

राजपूताने के राज्यों में अब तक ये गौरव-पूर्ण दृश्य देखने में आते हैं।

अलंकार = उपमा।

अनुप्रास की छटा प्रत्येक पंक्ति में अत्यन्त चमत्कार-पूर्ण है।

दो १०६—

अस (डिं०) = (सं० अश्व) घोड़े।

वहै (डिं०) = (सं० वह्) बहता है, चलता है। राजस्थानी में चलने के अर्थ में 'वहणो' आता है।

चाहि (डिं०) = हिं० (१) चाह से, चाव से, चावपूर्वक (पूर्वकालिक प्रयोग) (२) अव्यय की तरह प्रयोग भी किया जा सकता है। यथा 'मग चाहि'—मार्ग की ओर—की तरफ़। जिस प्रकार "लगै" का दो० १०३ में प्रयोग हुआ है।

किरि वैकुण्ठ........माँहि = उत्प्रेक्षा का स्पष्टीकरण यों करना चाहिए—आकाश-मार्ग से चलते हुए भगवान् के रथ की और उसके नीचे पृथ्वीतल पर मार्ग में चलती हुई रुक्मिणी की सवारी की कैसी मनोहर छटा दिखाई देती है, मानो मार्ग-रूपी सरयू नदी में, वैकुण्ठ जाने के निमित्त, रुक्मिणी की सवारी के साथ चलनेवाले अङ्गरक्षक-रूपी अयोध्यावासी, स्नान कर रहे हैं (जिस प्रकार त्रेता में, राम-राज्य में अयोध्यावासी सरयू नदी में अन्तिम स्नान कर, सदेह स्वर्ग को गये थे)। उनके ऊपर आकाश-मार्ग से अदृश्य रूप में चलता हुआ भगवान् कृष्ण का रथ क्या है, मानो भगवान् श्रीरामचन्द्र अपने पुष्पक विमान में बैठे हुए,

समझा जाय तो इस पंक्ति का अर्थ होगा—"गरुड के समान वेगवाले घोड़ों को लेकर"।

अलंकार = उपमा—उत्तरार्द्ध में।

दो १०५—

रखपाल (डिं०) = हिं० रखवाला, रक्षक, अंगरक्षक।

पाइदल (डिं०) = (सं० पाद + तल) प्रा० पायदल। हिं० पैदल = पैदल सैनिक।

पाइक (डिं०) = (सं० पादातिक) = पैदल सिपाही। हिन्दी में रूढ़ अर्थ में 'पायक' का अर्थ नौकर होता है। उसी अर्थ में यहाँ भी प्रयोग हुआ है।

उदा०—"है दसशीश मनुज रघुनायक, जाके हनूमान से पायक" (तुलसी)।

हिलवलिया (डिं०) = हिं० हड़बड़ाये (अनु० शब्द) = उत्तेजित होकर चले, उतावले हुए।

हलिया (डिं०) = (स० हल्लन) = चलायमान हुए, चले। (हिं० हिलना, हिले)

गमे गमे (डिं०) = (अनुकरण-शब्द) = घमघम करते हुए।

मदगलित = (सं०) = मद झरता है जिनके, मदमस्त।

गुड़न्ता (डिं०) = (अनु० शब्द) लुढ़कते हुए, झूमते हुए, मस्त होकर झूमते हुए।

गिरोवर (डिं०) = (सं०) गिरिवर।

नोट:—उपरोक्त दो दोहलों में कवि ने राजघराने की किसी राजकुमारी की सवारी का अच्छा सजीव चित्र खींचा है।

राजपूताने के राज्यों में अब तक ये गौरव-पूर्ण दृश्य देखने में आते हैं।

अलंकार = उपमा।

अनुप्रास की छटा प्रत्येक पंक्ति में अत्यन्त चमत्कार-पूर्ण है।

दो १०६—

अस (डिं०) = (सं० अश्व) घोड़े।

वहै (डिं०) = (सं० वह) बहता है, चलता है। राजस्थानी में चलने के अर्थ में 'वहणो' आता है।

चाहि (डिं०) = हिं० (१) चाह से, चाव से, चावपूर्वक (पूर्वकालिक प्रयोग) (२) अव्यय की तरह प्रयोग भी किया जा सकता है। यथा 'मग चाहि'—मार्ग की ओर—की तरफ़। जिस प्रकार "लगे" का दो० १०३ में प्रयोग हुआ है।

किरि वैकुण्ठ.........मांहि = उत्प्रेक्षा का स्पष्टीकरण यों करना चाहिए—आकाश-मार्ग से चलते हुए भगवान् के रथ की और उसके नीचे पृथ्वीतल पर मार्ग में चलती हुई रुक्मिणी की सवारी की कैसी मनोहर छटा दिखाई देती है, मानो मार्ग-रूपी सरयू नदी में, वैकुण्ठ जाने के निमित्त, रुक्मिणी की सवारी के साथ चलनेवाले अङ्गरक्षक-रूपी अयोध्यावासी, स्नान कर रहे हैं (जिस प्रकार त्रेता में, राम-राज्य में अयोध्यावासी सरयू नदी में अन्तिम स्नान कर, सदेह स्वर्ग को गये थे)। उनके ऊपर आकाश-मार्ग से अदृश्य रूप में चलता हुआ भगवान् कृष्ण का रथ क्या है, मानो भगवान् श्रीरामचन्द्र अपने पुष्पक विमान में बैठे हुए,

अयोध्यावासियों को सदेह वैकुण्ठ पहुँचाने के लिए, विमान रोक कर उनके आने की प्रतीक्षा कर रहे हैं। दोहले में भगवान् के रथ का अदृश्य अन्तरिक्ष में चलना वर्णित है। सवारी के साथवाले लोगों के लिए वह भले ही अदृश्य हो, कवि की क्रान्त दृष्टि के लिए नहीं।

अलंकार = उत्प्रेक्षा—उत्तरार्द्ध में, पौराणिक गाथा के आधार पर। तृतीय पंक्ति में असाधारण नियमों के अनुसार वयणसगाई का प्रयोग किया है। स्पष्टीकरण के लिए भूमिका देखिए।

दो० १०७—

पारस (डिं०) = (सं० पार्श्व) = नज़दीक, समीप, निकट।

सम्पेखे (डिं०) = (स० सम्प्रेक्ष्य) = भली भाँति देखकर या देखने से।

जलहरी (डिं०) = (सं० जलधरी) = जिस प्रकार शिवलिङ्ग के चारों ओर अर्घ्यपात्र के आकार का पत्थर अथवा धातु का बना पात्र रहता है, जो पानी से भरा रहता है, उसी प्रकार चन्द्रमा के चारों ओर एक मालाकार चक्र भी रहता है। चन्द्र के चारों ओर चक्राकार मण्डल।

पारवती (डिं०) = (सं० पक्षत या पार्श्वत.) पास की, इर्द-गिर्द की, चारों ओर की।

ध्रू (डिं०) = (सं० धुर = मस्तक) प्रधान अंग, सिर, मुण्ड। ध्रूमाला = मुण्डमाला।

नोट—'जलहरी' शब्द का प्रयोग यहाँ आशयगर्भित है। चन्द्र के चारों ओर जब चक्र दिखाई देता है तब निमित्त-ज्ञानी लोग भावी वर्षा अथवा तूफ़ान की आशंका करते हैं। इस

प्रसंग में भी बहुत निकट भविष्य में घनघोर युद्ध का तूफ़ान मचेगा और मेह की तरह रक्तवर्षा होगी।

अलंकार = उत्प्रेक्षा।

दो० १०८—

पैसि (डिं०) = (सं० प्रविश्य) प्रविष्ट होकर, घुसकर।

भाव = (सं०) प्रीति, श्रद्धा। उदा०-रामहिं चितव भाव जेहि सीया। सो सनेह सुख नहिं बरणीया। (तुलसी)

कियौ हाथा लगि = हाथ में किया, हथियाया। यह मुहाविरा हिन्दी में भी प्रयुक्त होता है।

दो० १०९—

आकरसण........सर पंच = कामदेव के प्रसिद्ध पाँच बाण इस प्रकार हैं:—

(१) संमोहनोन्मादनौ च शोषणस्तापनस्तथा।
स्तंभनश्चेति कामस्य पंच बाणा: प्रकीर्तिता:॥

दूसरे प्रकार से:—

(२) अरविंदमशोकं च चूतं च नवमल्लिका।
नीलोत्पलं च पंचैते पंचबाणस्य शायका:॥

कवि के गिनाये हुए बाणों की नामावली में और शास्त्रोक्त नामावली में नामों का भेद है, परन्तु आशय की एकता है। 'सम्मोहन' शर का नाम कवि ने 'वसीकरण'; 'तापन' का 'द्रविण' और 'स्तंभन' का 'आकरसण'—कहा है, ऐसा प्रतीत होता है।

चितवणि......सँकुचणि = क्रमानुसार पूर्वोक्त पाँचों शरों की काम-शक्तियाँ इन पाँच पृथक् पृथक् व्यापारों एवं मनो-वृत्तियों द्वारा प्रदर्शित की हैं। रुक्मिणी के चितवन में हृदय को आकर्षण करने की; हँसने में हृदय को वश में करने की; लास्यपूर्वक अङ्गभंगी में उन्माद पैदा करने की, गति अर्थात् उनकी चाल में हृदय पिघला देने की तथा उनके संकोच-पूर्ण लज्जा और शील में हृदय की चेतनता हर लेने की शक्ति है। इन प्रबल शक्तियों के होते हुए यह अनुमान होता है कि रुक्मिणीजी अवश्य ही भगवान् के हृदय पर विजय पा लेंगी।

परठि (डिं०) = (सं० प्र + स्था) स्थापन करके, धारण करके, ग्रहण करके।

संच (डिं) = (सं० सं + चर) (१) संचार किया, प्रवेश किया।
(२) देखा। यह भी अर्थ लगाया जा सकता है।
ढूँढाड़ी टीका—"उद्यम कियउ।"
संस्कृतटीका—"प्रपञ्चकृत.।"

अलंकार = यथासंख्य। प्रथम, द्वितीय और तृतीय पंक्ति के क्रम में।

दो० ११०—

सहु (डिं०) = सभी। देखो नोट पूर्व दो० ७४ में।

तह (डिं०) = (फ़ारसी, अरबी शब्द) = यथार्थ बात या यथार्थ ज्ञान, किसी बात की तह (यथार्थता) तक पहुँचना। यथा:—तहकीक, तहकीकात इत्यादि। मारवाड़ी मुहाविरे की भाषा में बोला जाता है, यथा:—"बात करण रउ तहन कोइ नहिं"—अर्थात् बात करने का भी ज्ञान नहीं है।

मठ = (सं०) देवालय, मंदिर।

नीपायौ (डिं॰) = (सं॰ निष्पद्यते) प्रा॰ निपज्जइ—(हिं॰) निपजै। प्रेरणार्थक हिं॰ निपजायो। डिंगल में इसी प्रेरणार्थक का रूपान्तर "नीपायौ" है। 'ज' का लोप होगया है।
हिं॰ उदा॰ राम नाम कर सुमिरन, हँसि कर भावै खीझ।
उलटा सुलटा नीपजै, ज्यौं खेतन में बीज॥ (कबीर)

निकुटी (डिं॰) = (सं॰ नि + कृत) प्रा॰ निकुट = निकाली हुई, बहिष्कृत, खोद के निकाली हुई अथवा खोदकर बनाई हुई (मूर्त्ति); गढ़ी हुई।

पूतली (डिं॰) = (सं॰ पुत्तलिका) = प्रतिमा, मूर्त्ति। देखो नोट पूर्व दो॰ २ में।

तदि (डिं॰) = (सं॰ तदा) सप्तमी विभक्ति चिह्न इकारान्त सहित = तब।

नोट—रुक्मिणी के हरण करने का यही उपयुक्त समय था। दैवी इच्छा से रुक्मिणी की मोहिनी मूर्ति का द्वारदेश में प्रकट होकर दर्शकों को चैतन्य-शून्य करना—ये सब बातें उनकी मनोरथ-सिद्धि में सहायक हो रही हैं। इस वर्णन में काव्य-चातुरी का बहुत कुछ प्रमाण है।

मन पंगु थियो = मन निश्चल होगया—संज्ञाहीन होगया। यहाँ पंगु का लाक्षणिक अर्थ लिया गया है, 'निश्चलता' के अर्थ में।

अलंकार = उत्प्रेक्षा।

दो॰ १११—

अस (डिं॰) = सं॰ अश्व।

खेड़ि (डिं॰) = (सं॰ खेटनम् = रथ चलाना) = चलाकर, हाँक कर। देखो प्रयोग पूर्व दो॰ ६८ में "खेँति लागौ त्रिभुवनपति खेड़ै।"

अंतरै (डिं॰) = (सं॰ अन्तर = बीच में) मध्य। उदा॰ "तृण अंतर दै दृष्टि तिरौछी, दई नैन जलधार।" (सूर)

प्रधिमी (डिं०) = सं० पृथ्वी ।

नोट—उत्तरार्द्ध में रथ को तीव्र गति का वर्णन किया गया है। अंतिम पंक्ति का दूसरा अर्थ यह भी हो सकता है कि त्रिभुवननाथ के रथ की इतनी तीव्र गति थी कि लोगों के मन में यह भ्रम सा पैदा होगया कि उन्होंने भगवान् के रथ का शब्द ही सुना अथवा उसे देखा भी। रथ का शब्द सुन ही रहे थे कि दिखाई भी दिया, अतएव स्मृति और दृष्टि के अनुभवों में पारस्परिक भ्रम पैदा होगया।

अलंकार = चपलातिशयोक्ति या भ्रान्तिमत्।

दो० ११२—

बलि-वंध-समरथि = बलि जैसे पराक्रमी राजा को बाँधने में समर्थ; अतएव इस छोटे से साहस के कार्य में तो अनायास ही समर्थ, भगवान्। भगवान् का यह अभिप्रायगर्भित विशेषण है।

वैसारी (डिं०) = (सं० वेश) प्रेरणार्थक रूप = विठाई। हिं० उदा० (१) "देखा कपिन जाइ सो बैसा, आहुति देत रुधिर अरु भैंसा।" (तुलसी)

(२) "ऐसी को ठाली बैसी है, तो सों मूँड खवावै" (सूर)।

सु करि = स्वकर में, अपने हाथ में।

साहे (डिं०) = (स० साधनं) = साध कर, सहारा देकर, थाम कर।

वाहर (डिं०) = आर्त्त की रक्षा या सहायता करना।

नोट—उत्तरार्द्ध की पंक्तियों की शब्द-योजना अभिनयात्मक गुण लिये हुए है। उनमें चित्ताकर्षक स्फूर्त्ति है। इसी प्रकार का चमत्कार कुमारसंभव के "क्रोधं प्रभो संहर संहरेति" वाले मदनदहन के वर्णन को पढ़ने से होता है।

अलंकार—परिकर—साभिप्राय विशेषण में।

दो० ११३—

धवल् सर (डिं०) = (सं० धवल (मंगल) + स्वर) = 'धवल' नामक मङ्गलगीत सुनते हुए; मांगलिक गीतों को सुनते हुए। देखो नोट पूर्व दो० ४२ में।

सम्भलि, सम्भलत (डिं०) = हिं० सम्भालते = सुनते हुए; मनन करते हुए। देखो प्रयोग पूर्व दो० ७३, १११ में।

साहुलि (डिं०) = (सं० स + हुल्ल) = शोर, हल्ला, पुकार।
ढूँढारी टीका—'साहुलि कहतां पुकार'।
पश्चिमी मारवाड़ी टीका—'साहुलि कूकाणउ'।
सं० टीका—'कूकरवम्'।

आलूदा (डिं०) = अलहड़, अलबेला। इस अर्थ में अब तक मारवाड़ी भाषा में प्रयुक्त होता है।
सं० टीका—आलूदा सज्जीभूता: इति।
पश्चिमी मा० टीका—आलूदा सनद्ध बद्ध थया।

ठाकुर (डिं०) = (सं० ठक्कुर) हिं० ठाकुर = सरदारगण। क्षत्रियों की एक उपाधि। हिं० उदा० सब कुँवरन फिर खेंचा हाथू। ठाकुर जेंव तो जेंवे साथू। (जायसी)

अलल् (डिं०) = (अरबी० आला = अव्वल दरजे का, श्रेष्ठ, यथा:—आली शाह, जनाब आली-आला, आलीजाह) = आला आला, एक से एक बढ़कर, बेठिकाने के (हास्य अर्थ में)।
हिन्दी में प्रचलित भाषा में, "अललटप्पू" = बेठिकाने, 'बिना सिर पैर के' अर्थ में प्रयुक्त होता है।

पिँड (डिं०) = (सं०) = शरीर। डिङ्गल में यह शब्द हास्य के साथ इस अर्थ में प्रयुक्त होता है।

बहुरुप भेस पालटे = बहुरूपियों ने मानो भेष बदला है, इस प्रकार राजाओं ने अपनी अपनी सैनिक पोशाकें पहनीं।

पालटे (डिं०) = (सं० पर्यस्त—प्रा० पलट्ट) = बदले।

केसरिया (हिं०) = केशर के रङ्ग के वस्त्र। राजपूत लोग युद्ध के समय केशरिया वस्त्र पहनते हैं, यह प्रथा बहुत प्राचीन है।

ठाहे (डिं०) = (सं० स्थाने) प्रा० ठाणे = स्थान में।

झिगल (डिं०) = कवच, जिरहबख़्तर।

नोट—इस दोहले की शब्द-योजना विचित्र है। कवि ने आलुदा, अलल, पिंड, बहुरुप, भेष पालटे—शब्दों में हास्य-रस कूट कूट कर भर दिया है। यह दो० कवि की हास्यवृत्ति का उत्कृष्ट उदाहरण है। हास्य भी बड़ी उत्कृष्ट श्रेणी का है; क्योंकि ध्वनित होता है। उत्तरार्द्ध में अपने हास्य आशय को 'बहुरूपिया', शब्द द्वारा प्रकट कर दिया है। मानो, तुरन्त ही वेष बदलने में दक्ष बहुरूपियों ने एक प्रकार के वेष बदलकर दूसरे प्रकार के वेष धारण कर लिये हैं। इसमें विरुद्ध पक्ष के नकली योद्धाओं की कृत्रिम वीरता की हँसी उड़ाई है।

अलंकार = उत्प्रेक्षा।

उत्तरार्द्ध में व्याजनिन्दा व्यंग्य है।

दो० ११४—

नरवरै = (सं०) नरश्रेष्ठ श्रीकृष्ण के।

लारोवरि (डिं०) = डिंगल में "लारोलार" पीछे पीछे अनुसरण करने के अर्थ में प्रयुक्त होता है। लार (डिं०) = पीछे + उपरि

=ऊपर=पीछे पीछे चढ़ाई किये हुए। 'लार'=
-हिन्दी में भी प्रयुक्त होता है।
—(१) कूप पड़े हम देखतां अंधे अंधा लार। (दादू)
जन्म जन्म के दूत तिरोवन, को नहिं लार लगाए।
(सूर)

ाखिया (डिं०)=(सं० चित्रलिखित इव) चित्र में लिखे
ी भाँति। हिं० में भी यह उपमागर्भित मुहाविरा
होता है। हिं० उदा०—राम वदन विलोकि मुनि ठाढ़ा।
चित्र माँझ लिखि काढ़ा। (तुलसी)
ार घोड़ों के वेगपूर्वक दौड़ने की अत्युक्ति है।
०)=(१) {[सं० नि. + सवण (अक० क्रिया)] प्रा०
निस्सरण
[सं० नि॰ + चरणः]
=निकलना, बाहर निकलते हुए।
(२) (स० निः + खेटनं)= खूब तेजी से (खड़ते)
हाँकते, दौड़ाते हुए।

ारी (डिं०)=हिं० महरा, महरी=ग्वाल-ग्वालिन,
—अहीरिन। यहाँ 'महरी' की जगह डिं० में
ारी' प्रयुक्त हुआ है।
(स० भवति) प्रा० हुवइ, हुवै=होतो है, है।
)=हिं० मक्खन।

हले में भी पूर्व दो० की तरह हास्यवक्रोक्ति और
भरा है। उत्तरार्द्ध में व्यंग्य स्पष्ट है। अर्थ यह है,
अहीर, तूने अब तक अहीरिनों को ही चुराया है
तेरा काम गूजरों-अहीरों से ही पड़ा है। हमारे जैसे

वीरों से तो झगड़ने का काम इसी बार पड़ा है
देखो, कैसा मज़ा चखाते हैं।"
ध्यान रहे कि ये शब्द उन्हीं "आलूदा ठाकुर अल
मुँह से निकल रहे हैं, जिन्होंने "पिँड बहुरूप कि भेप
थे। हास्य-रस का पूरा आस्वादन होता है।

अलंकार = अत्युक्ति, पूर्वार्द्ध में, (घोड़ों के वेग की)
वक्रोक्ति (आर्थी)—उत्तरार्द्ध में।

दो० ११५—

ऊपडी (डिं०) = (सं० उत्पटन) प्रा० उप्पड़न, हिं० उप
उखड़ना, रेत का उखड़ कर उड़ना।

रजी (डिं०) = (स० रज) = धूल।

अरक (डिं०) = (सं० अर्क) = सूर्य।

वातचक्र = (सं०) हवा का बगूला, चक्रवात, बवन्डर।

सिरि = हिं० सिर, सप्तम्यन्त इकारान्त = सिर पर।

सद (डिं०) = (सं०) = शब्द।

नीसाण, नीहस = नगाड़ों का निर्घोष। दोनों शब्दों पर नोट दे
दो० ३८, ४०, ४८ में।

वरहासाँ (डिं०) = (देशीय शब्द) = घोड़ों की।

संभवतः—(सं० वर + हास्य = सुन्दर है हास्य जिसका)।

नासौं (डिं०) = (स० नासिका) = नाक, नथुने।

वाजन्ति (डिं०) = (स० वाद्यन्ते) प्रा० बाज्जइ-बाजै = बजते
करते हैं।

नोट—पूर्वार्द्ध में कवि ने अपनी प्रतिभा की अन्तर्दृष्टि से र
की प्रकृति के एक ऐसे स्वाभाविक चित्र को चित्रि

है, जो अनुभव करते ही बनता है। राजस्थान के मरुस्थल की आँधियों और बवंडरों का जिन्हें अनुभव है, वे इस दृश्य को स्वाभाविकता की ताईद करेंगे। ऐसा वर्णन करना उत्कृष्ट रहस्यवादी कवियों का कार्य है।

उत्तरार्द्ध में युद्ध के पूर्व होनेवाले आक्रमण के वेग, भयानकता और ओज का सजीव चित्र है। वर्णन में इतनी स्वाभाविकता होनी स्वाभाविक ही है। कवि ने ऐसे हज़ारों अनुभव स्वयं युद्धस्थल में किये होंगे। यदि उनको कोई सर्वप्रिय व्यापार था, तो युद्ध करना, जैसा कि आगे प्रकट होगा।

अलंकार = उत्प्रेक्षा = पूर्वार्द्ध में।
स्वभावोक्ति = उत्तरार्द्ध में।

दो० ११६—

अलगी (डिं०) = (सं० अलग्ना) प्रा० अलग्गा, हिं० अलग = दूर पर।

ही (डिं०) = हिं० "है" का स्त्रीलिंग में इकारान्त रूपान्तर करने पर डिंगल "ही" बनेगा। डिंगल में क्रिया के काल-सूचक चिह्नों को भी लिङ्गों के अनुरूप रूप दिया जाता है।

नैड़ी (डिं०) = (सं० निकट) प्रा० निअड, नयड़, नैड़ = निकट। देखो प्रयोग पूर्व दो० ४७ में।

ऊखवते = (सं० उत्खिदन) प्रा० उक्खिडण = उखड़ना, किसी जमी हुई चीज का उठ खड़ा होना।

(स० उत्खेटनं) प्रा० उक्खेड़ण, डिं० उखेड़णउ। घोड़ों को उखेड़ना अर्थात् उनका साधारण चाल एकदम बदल कर तीव्र-गति कर देना। यह मुहाविरा भी है।

देठाळी (डिं०) = हिं० दिखलावा, दिखावा = साक्षात्कार, सामना।

दळां (डिं०) = (सं०) दलों में, फ़ौजों में।

वागां = हिं० बाग = घोड़ों की लगामें।

ढेरवियां (डिं०) = (सं० स्थिरीकृता) ठहरा ली, स्थिर कर ली, रोक लीं।

वाहरुए (डिं०) = 'वाहर' करनेवाले = रक्षक दलवाले।
'वाहर' (डिं०) = रक्षा करने के लिए आक्रमण करनेवाले।
'वाहर' का पूर्व ११२ दोहे में नोट देखिए।

मारकुए (डिं०) = प्रहार सहनेवाले, आक्रमण को झेलनेवाले।
अँगरेज़ी में इन डिंगल शब्दों—वाहरुए, और 'मारकुए' के लिए offensive, defensive शब्द हैं।

नोट—इस दोहले में दो विपक्षी सेनाओं की मुठभेड़ का दृश्य अंकित किया गया है।

दो० ११७—

वे (डिं०) = (सं० द्वि) दोनों।

काळाहणि (डिं०) = (सं०काल + अहन) = प्रलयकालीन।
या—(सं० काल + अयन) प्रलयकारिणी।
डिं० में "कलायण" वर्षाकालीन घनी घटा को भी कहते हैं। इस प्रकार श्लिष्टार्थ में इस शब्द के (१) घनी घटा और (२) प्रलयकालीन घटा = ये दो अर्थ होते हैं।

घटा = (१) सैन्यदल (२) घनघटा। श्लिष्टार्थ है।

आमुहो सामुहे (डिं०) = राजस्थानी में 'आमने सामने' प्रयुक्त होता है, जिसका अर्थ होता है—सामने सामने।

समुहे (डिं०) = (सं० सम्मुखे) प्रा० सम्मुहे = सामने।

हिं० उदा० जनु घुँघची वह तिल कर मुँहा।

विरहवान साधे सामूहा ॥

(जायसी)

कढ़ी (डिं०) = हिं० कढ़ी = निकली, बाहर आई।

हिं० उदा० "मो चित चाहत ए री भट्ट, मनमोहन
लै के कहूँ कढ़ि जइयै" ॥ (पद्माकर)

जोगिणि (डिं०) = (सं० योगिनी) (१) एक प्रकार की रणदेवी जो मरे हुए योद्धाओं के रुण्ड-मुण्डों को देखकर आनंदित होती है और रणक्षेत्र में उनसे खेलती है। उदा० भूमि अति जगमगी जोगिनी सुनि जगी, सहस फन शेष सो शीश काँपे। (सूर)

(२) वर्षा के योग-विशेष = किसी तिथि-विशेष में, किसी दिशा-विशेष में अवस्थित योगिनी वर्षा-सूचक होती है। इसी प्रकार भिन्न भिन्न निमित्त-सूचक ज्योतिष की योगिनियाँ होती हैं।

आषाढ़ कृष्णा एकादशी को जब वर्षायोग का प्रारम्भ माना जाता है, तब योगिनियों का चक्र हुआ करता है जिसे ज्योतिष में योगिनी-चक्र कहते हैं।

आड़ँग (डिं०) = वर्षा के आसार; वर्षा-चिह्नों को राजस्थान की वर्षा-सम्बन्धी विशेष-भाषा में 'आड़ँग' कहते हैं; वर्षा-सूचक आकाश-चिह्न।

बेपुड़ी बहै (डिं०)=(डिं० बे=दो । पुड़ी (डिं०)=परतवाली ।) दो परत अथवा तहवाली; दोहरी चलती हुई; दोनों ओर से चलती हुई ।

रत (डिं०)=(सं० रक्त) लोहू ।

नोट=कवि ने इस दोहले से भावी युद्ध का वर्षा के साथ रूपक स्थापित किया है । 'घटा' और "कालाहणि" श्लिष्टार्थ में युद्ध और वर्षा, दोनों ओर लगते हैं। दो० का विशेष चमत्कार इस बात में है कि कवि ने 'जोगिणि' 'आड़ँग' 'बेपुड़ी' और 'कालाहणि' शब्दों का प्रयोग करके राजस्थानी वर्षा का सजीव चित्र उपस्थित कर दिया है। ये शब्द राजस्थान की स्थानीय वर्षा-सम्बन्धी विशेषताओं को प्रकट करने के लिए अब तक प्रचलित हैं ।

अलंकार=श्लिष्टरूपक, उत्प्रेक्षा ।

"बेपुड़ी बहै" की व्याख्या ढूँढाड़ी टीका यों करती हैं:— "बेपुड़ी कहताँ बादल् की बेपुड़ी कहै जो दो बड़ा बादल् आम्हों साम्हा होइ तब कहैं जु मेह बरससी तैसे फोज पिण बेपुड़ी बहै, सु जाणे रगत बरससी ।"

दो० ११८—

हथनालि (डिं०)=(हि० हाथी+नाल)=एक प्रकार की प्राचीन तोप जो हाथियों पर चलती थी ।

हवाई (डिं०)=(अरबी) हवा+ई (प्रत्यय)=हवा में कुछ दूर झोंके से जाकर बुझ जानेवाली एक प्रकार की आतशबाजी। इस प्रकार का दूर तक प्रहार करनेवाला, बन्दूक की तरह कोई अग्निशस्त्र-विशेष रहा होगा ।

कुहक बाण = एक प्रकार का बाण, जो बाँस की कई पट्टियाँ जोड़ कर बनाया जाता है, जिसके चलते समय कुछ शब्द निकलता है। अतएव 'कुहक' शब्द करनेवाला बाण-विशेष। हिं० उदा० चले चंदबान घनबान और कुहुकबान, चलत कमान धूम आसमान छ्वै गयौ। (भूषण) .

वीरहक (डिं०) = हिं० वीरों का हाँका अथवा शोर-गुल।

गैगहण (डिं०) = अनुकरण शब्द-गहगहाना = आकाश को गुँजानेवाला शब्द। उदा० "अति गहगहे बाजने बाजे" (तुलसी) ढूँढाड़ो टीका—"गय हस्ती त्याँ की गहणि कहताँ भीड़ हुई" अर्थात् हाथियों की भीड़।

सिलहाँ (डिं०) = (अरबी० सिलाह) = ज़िरह-वख़्तर, कवच। देखो प्रयोग पूर्व दो० १०४ में।

महण (डिं०) = (सं० महार्णव) समुद्र में, देखो प्रयोग पूर्व दो० ६२ में।

माहे (डिं०) = (सं० मध्ये) = में, अन्दर।

संस्कृत टीका पूर्वार्द्ध की यों व्याख्या करती है:—

> "हथनाल हवाई कुहकबाणाः सर्वाण्यप्यातसबाजीलक्षणानि तेषां हुविरित्युच्छलनं जातं।" टीकाकार की व्याख्या से यह व्यक्त होता है मानो कोई आतशबाज़ी का खेल हो रहा था। ऐसा नहीं था। वास्तव में, एक वास्तविक युद्ध में अनेक नाम के प्राचीन अग्निशस्त्रों का प्रयोग होना बताया है। राजस्थान में अब भी प्राचीन काल की नामी तोपों

के नामों में 'बान' लगा रहता है—यथा 'सूरजबान' चंदबान।

अलंकार = श्लिष्टरूपक।

दो० ११६—

कलकलिया (डिं०) = (अनुकरण शब्द) कलकल शब्द करने लगे; चमचमाने लगे।

कुन्त = (सं०) भाले, शेल।

कलि (डिं०) = (सं० कलहे) युद्ध में।

ऊकलि (डिं०) = (सं० उत्कलन) प्रा० उक्कलण = उकलना, तह से अलग होना, गरम होकर खौलना। सं० उत्कलिका = लहर। सं० उदा० क्षुभितमुत्कलिका तरलं मनः। (भवभूति)

वाउ (डिं०) = (सं० वायु) = हवा।

धड़िधड़ि = हिं० धड़ = शरीर = शरीर शरीर पर, प्रत्येक शरीर पर।

धबकि (डिं०) = (अनु० शब्द), धबक धबक करके चमकना।

धारूजल (डिं०) = तलवार, उज्ज्वल है धारा जिसकी।

सिहरि सिहरि (डिं०) = (सं०शिखर) = शिखर शिखर पर।

सिलाउ (डिं०) = (सं० शलाका)—विद्युत्शलाका = बिजली।

समरवै (डिं) = (सं० स्मृ से व्यंग्यार्थ) चमकती है।

नोट—उत्तरार्द्ध की शब्दयोजना पर ध्यान देने से ज्ञात होगा कि उसमें विद्युत् की चमक का सजीव चित्र खड़ा किया गया है। कवि की शब्द-योजना अत्यन्त आशयपूर्ण है और वर्णन की स्वाभाविकता को हृदय पर अंकित करने में शब्दों का चमत्कृत संयोजन अत्यन्त सहायक है। दूसरी पंक्ति की स्वभावोक्ति तो अत्यन्त मनोरम है।

"सिहरि" डा० टैसीटरी ने दो०—१० के नोट 'में सिरहर' को 'सिहर अथवा 'शिखर' का डिंगलरूपान्तर बताया है और 'र को विकल्प करके वृद्धि होने की कल्पना की है। हमार समझ में यह कष्ट-कल्पना है। शिखर का डिंगल रूपान्तर 'सिरहर' नहीं होता। हाँ, 'शिखर' का 'सिह होना युक्त है।

अलंकार=स्वभावोक्ति—समस्त में।

रूपक—द्वितीय पंक्ति में।

अनुप्रास—प्रत्येक पंक्ति में।

दो० १२०—

कायराँ (डिं०)=(सं० कातर) प्रा० कायर=डरपोक, भीरु।

हिं० उदा० कपटी कायर कुमति कुजाती।

लोक वेद निंदित बहु भाँती॥

(तुलसी)

असुभकारियौ=(सं०) अशुभ करनेवाले, अनिष्टकर्त्ता अनि चिन्तक।

गड़ड़ै (डिं०)=(अनु० शब्द) गड़गड़ाहट।

गाजन्ति (डिं०)=(सं० गर्जन्ति) (१) मेघ गर्जन करते हुए (२) शब्द करते हुए।

ऊबन्नियाँ धाराँ=(सं०) उज्ज्वल धाराओं से। शस्त्रों की उज्ज्व धाराओं से।

ऊबड़ियौ (डिं०)=हिं० उमड़ा हुआ, उमड़ता हुआ। उ "उमड़ि घुमड़ि घन बरसन लागे।"

परनाळ (डिं०)=(सं० प्रणाली)=हिं० पनाला=बड़े नालों

के नामों में 'बान' लगा रहता है—यथा 'सूरजबान' चंदबान।

अलकार = श्लिष्टरूपक।

दो० ११६—

कलकलिया (डिं०) = (अनुकरण शब्द) कलकल शब्द करने लगे, चमचमाने लगे।

कुन्त = (स०) भाले, शेल।

कलि (डि ०) = (स० कलहे) युद्ध में।

ऊकलि (डिं०) = (स० उत्कलन) प्रा० उक्लण = उकलना, तह से अलग होना, गरम होकर खौलना। स० उत्कलिका = लहर। स० उदा० क्षुभितमुत्कलिका तरल मन। (भवभूति)

वाउ (डिं०) = (स० वायु) = हवा।

धड़िधड़ि = हिं० धड = शरीर = शरीर शरीर पर, प्रत्येक शरीर पर।

धवकि (डिं०) = (अनु० शब्द), धवक धवक करके चमकना।

धारूजल (डिं०) = तलवार, उज्ज्वल है धारा जिसकी।

सिहरि सिहरि (डि०) = (स०शिखर) = शिखर शिखर पर।

सिलाउ (डिं०) = (स० शलाका)—विद्युत्‌शलाका = बिजली।

समरवै (डि) = (स० स्मृ से व्यंग्यार्थ) चमकती है।

नोट—उत्तरार्द्ध की शब्दयोजना पर ध्यान देने से ज्ञात होगा कि उसमें विद्युत् की चमक का सजी[illegible] चित्र खड़ा किया गया है। कवि की श[illegible] [illegible] है और वर्णन की स्वाभावि[illegible] [illegible] में शब्दों का चमत्कृत [illegible] पंक्ति [illegible]

"सिहरि" डा० टैसीटरी ने दो०—१० के नोट 'में सिरहर' को 'सिहर' अथवा 'शिखर' का डिंगलरूपान्तर बताया है और 'र' की विकल्प करके वृद्धि होने की कल्पना की है। हमारी समझ में यह कष्ट-कल्पना है। शिखर का डिंगल में रूपान्तर 'सिरहर' नहीं होता। हाँ, 'शिखर' का 'सिहर' होना युक्त है।

अलंकार=स्वभावोक्ति—समस्त में।

रूपक—द्वितीय पंक्ति में।

अनुप्रास—प्रत्येक पंक्ति में।

दो० १२०—

कायराँ (डिं०)=(सं० कातर) प्रा० कायर=डरपोक, भीरु।

हिं० उदा० कपटी कायर कुमति कुजाती।

लोक वेद निंदित बहु भाँती॥

(तुलसी)

असुभकारियाँ=(सं०) अशुभ करनेवाले, अनिष्टकर्त्ता अनिष्ट-चिन्तक।

गड़ड़ै (डिं०)=(अनु० शब्द) गड़गड़ाहट।

गाजन्ति (डिं०)=(सं० गर्जन्ति) (१) मेघ गर्जन करते हुए। (२) शब्द करते हुए।

ऊजलियाँ धाराँ=(सं०) उज्ज्वल धाराओं से। शस्त्रों की उज्ज्वल धाराओं से।

ऊवड़ियौ (डिं०)=हिं० उमड़ा हुआ, उमड़ता हुआ। उदा० "उमड़ि घुमड़ि घन बरसन लागे।"

परनाळे (डिं०)=(सं० प्रणाली)=हिं० पनाला=बड़े नालों से।

रुहिर (डिं०)=(सं० रुधिर)।
अलंकार=रूपक।

दो० १२१—

चोटियाली चौसठि=६४ युद्ध की योगिनियाँ अथवा रणपिशाचिनियाँ; लम्बी लम्बी चोटी और खुले हुए केशपाश के कारण भयङ्कर वेश धारण किये हुए रणचण्डिकाएँ। इनकी साधारणतः चौसठ संख्या मानी गई है परन्तु इन चौसठों का क्या नाम, कैसा स्वरूप है, इसका प्रमाण हमें नहीं मिला। ढूँढाड़ी टीका दूसरा ही अर्थ करती है:—"रुधिर एकठो हुश्रो छः अर ऊपरा सु रुधिर की बूँदाँ पड़े छै त्याकी जु ऊँची बूँदाँ उछलें छः सु चोटियाली कहावै।" ऐसा अर्थ करने पर "चौसठि" का क्या अर्थ लिया जाय इसमें संशय है। संस्कृत और मारवाड़ी टीका हमारे अर्थ का समर्थन करती हैं।

चाचरि (डिं०)=युद्धस्थल में; 'चर्चरी' योग की एक मुद्रा का नाम भी है; 'चर्चरी' एक राग भी है।

ध्रू (डिं०)=(सं० ध्रुर) सिर, मुण्ड। देखो पूर्व प्रयोग "ध्रू माला संकर धरी।"

ढलियै (डिं०)=(हिं० ढलना, ढरना)=नीचे गिरने पर, ढल जाने पर।

ऊकसै (डिं०)=(सं० उत्कर्षण) प्रा० उक्कसण, हिं० उकसना= ऊपर उठना, उभरना। हिन्दी में प्रयोग होता है। उदा० "पुनि पुनि मुनि उकसहिं अकुलाई।"

(तुलसी)

धड़ (डिं०)=(हिं० धड़)=शरीर। देखो पूर्वप्रयोग दो० ११६ "धड़िधड़ि"।

अनँत=(सं०)=बलराम। अन्यत्र श्रीकृष्ण के लिए भी प्रयुक्त हुआ है। देखो पूर्व दो० "अनँत अनँत तसु मधि अधिकार"। 'अनंत' का वास्तविक अर्थ बलराम, लक्ष्मण और शेषनाग हुआ करता है।

श्रीभड़े (डिं०)=(क्रि० विशेषण, हिं० श्रीभड़)=निरन्तर, लगातार। यहाँ पर 'भड़ी' के विशेषण की तरह प्रयुक्त हुआ है।

हिं० उदा० "हिरना बिरभेउ सिंह से श्रीभर खुरी चलाय।" (गिरधर)

भड़ (डिं०)=(हिं० भड़ी)=वर्षा की बौछाड़, बौछाड़, भड़ी।

मातैा (डिं०)=(सं० मत्त)=मोटा, बड़ा, गहरा।

माँडियैा (डिं०)=(सं० मंडनम्)=हिन्दी में भी युद्ध मांड़ना, रण माँड़ना, मुहाविरा प्रयुक्त होता है।

अलंकार=रूपक।

यमक—'भड-भड'।

दो० १२२—

रलतलिया (डिं०)=(हिं० रलना+तरना)=मिलकर बह निकला, बह चला, प्रवाहित हो चला।

हूँ (डिं०)=डिंगल "हूँत" का अल्परूप है=से (अपादान विभक्ति-चिह्न)।

पड़े (डिं०)=(हिं० पड़े)=गिरते, हताहत होते हैं।

हिर (डिं०)=(सं० रुधिर)।
लंकार=रूपक।

० १२१—

टियाळी चौसठि=६४ युद्ध की योगिनियाँ अथवा रणपिशाचिनियाँ, लम्बी लम्बी चोटी और खुले हुए केशपाश के कारण भयङ्कर वेश धारण किये हुए रणचण्डिकाएँ। इनकी साधारणत: चौसठ संख्या मानी गई है परन्तु उन चौसठों का क्या नाम, कैसा स्वरूप है, इसका प्रमाण हमें नहीं मिला। ढूँढाड़ी टीका दूसरा ही अर्थ करती है—"रुधिर एकठो हुओ छ अर ऊपरा सु रुधिर की बूँदाँ पड़े छै त्यांकी जु ऊँची बूँदाँ उछलँ छ सु चोटियाळी कहावै।" ऐसा अर्थ करने पर "चौसठि" का क्या अर्थ लिया जाय इसमें संशय है। संस्कृत और मारवाड़ी टीका हमारे अर्थ का समर्थन करती हैं।

चाचरि (डिं०)=युद्धस्थल में, 'चर्चरी' योग की एक मुद्रा का नाम भी है; 'चर्चरी' एक राग भी है।

ध्रू (डिं०)=(सं० ध्रुर) सिर, मुण्ड। देखो पूर्व प्रयोग "ध्रू माळा संकर धरी।"

ढळियै (डिं०)=(हिं० ढलना, ढरना)=नीचे गिरने पर, ढल जाने पर।

उकसै (डिं०)=(सं० उत्कर्षण) प्रा० उक्कस्सण, हिं० उकसना= ऊपर उठना, उभरना। हिन्दी में प्रयोग होता है। उदा० "पुनि पुनि सुनि उकसहिं अकुलाई।"

(तुलसी)

धड़ (डिं०) = (हिं० धड़) = शरीर। देखो पूर्वप्रयोग दे० ११६ "धड़िधड़ि"।

अनँत = (सं०) = बलराम। अन्यत्र श्रीकृष्ण के लिए भी प्रयुक्त हुआ है। देखो पूर्व दे० "अनँत अनँत तसु मधि अधिकार"। 'अनंत' का वास्तविक अर्थ बलराम, लक्ष्मण और शेषनाग हुआ करता है।

औझड़ै (डिं०) = (क्रि० विशेषण, हिं० औझड़) = निरन्तर, लगातार। यहाँ पर 'झड़ो' के विशेषण की तरह प्रयुक्त हुआ है।

हिं० उदा० "हिरना बिरझेत सिंह से औझर खुरी चलाय।" (गिरधर)

झड़ (डिं०) = (हिं० झड़ी) = वर्षा की बौछाड़; बौछाड़, झड़ी।

मातै (डिं०) = (सं० मत्त) = मोटा, बड़ा, गहरा।

माँडियौ (डिं०) = (सं० मंडनम्) = हिन्दी में भी युद्ध माँड़ना, रण माँड़ना, मुहाविरा प्रयुक्त होता है।

अलंकार = रूपक।

यमक—'झड-झड'।

दे० १२२—

रलतलिया (डिं०) = (हिं० रलना + तरना) = मिलकर बह निकला; बह चला, प्रवाहित हो चला।

हूँ (डिं०) = डिंगल "हूँत" का अल्परूप है = से (अपादान विभक्ति-चिह्न)।

पड़ै (डिं०) = (हिं० पड़ै) = गिरते, हताहत होते हैं।

ऊँधा (डिं०)=(सं० अधः) हिं० औंधा=उलटा, निम्नमुख।
हिं० उदा० "औंधा घड़ा नहीं जल डूबै, सूधै सों घट भरिया" (कबीर)

पत्र (डिं०)=सं० पात्र का ह्रस्व रूपान्तर=बर्त्तन, भाजन, पात्र। "जोगिणी तणा पत्र=योगिनियों के पात्र अर्थात् मुंडों के बने खप्पर।

जोगिणी (डिं०)=युद्ध चण्डिकाएँ। देखो प्रयोग दो० ११७ में। कई टीकाकार 'घणा' को 'घड़ा' का रूपान्तर समझ कर वैसा अर्थ लेते हैं, जो इतना संगत नहीं प्रतीत होता।

अलंकार=स्वभावोक्ति।

दो० १२३—

बेलो (डिं०)=साथी, सहायक। मारवाड़ी में इस अर्थ में बोलचाल में प्रचलित है।

बापूकारे (डिं०)="बाबू", "बापू", कहकर उत्तेजित किया है। राजस्थान में घुड़सवार अब तक घोड़ों को "बापू ओ बापू" कह कर उत्तेजित करते हैं। यथा, उदा०—"बापू मत कह बरत्रसो, काँपत है केकाण (घोड़ा)। एकर बापू और कह्याँ तुरग तजै लौ प्राण।"

सत्र (डिं०)=(सं० शत्रु) डिङ्गल में कभी कभी शुद्ध संस्कृत शब्दों की मात्राएँ लुप्त करके अथवा मात्राओं का विपर्यय या परिवर्त्तन करके नये शब्द बना लिये जाते हैं। यथा पत्र=पात्र; सत्र=शत्रु।

सावतौ (डिं०) = (अरबी० साबित, सबूत) = पूरा, पूर्णाङ्ग, सुरक्षित, सही सलामत, सम्पूर्ण। मारवाड़ी में अब तक प्रचलित है। हिं० उदा० "द्वै लोचन साबित नहिं लेऊ।" (सूर)

अजे लगि = हिन्दी में "अजौंलगि" मुहाविरा प्रयुक्त होता है। = अब तक।

साथ (डिं०) = 'समूह' के अर्थ में। साथी, संगी, सहायकदल।

वूठै (डिं०) = (देशीय शब्द) = मेंह बरसने पर, वर्षा होने पर। एक राजस्थानी लोकोक्ति प्रसिद्ध है :—"शेखे मारी पालखी, मैं वूठाँ हीं चालसी" अर्थात् शशक ने प्रतिज्ञा करके आसन जमा लिया है, अब मेह बरसने पर ही चलेगा।

वाहवियै (डिं०) = (सं० वह) हिं० हल वाहना = हल चलाना, हल जोतना।

वाहिस्यइ हाथ = (सं० वह) हिं० हाथ वाहना, हाथ चलाना, प्रहार करना। हिं० में इस अर्थ में 'वाहना' प्रयुक्त होता है। उदा० (१) वाहत अस्त्र नृपति पहँ आये। (पद्माकर)
(२) वहइ न हाथ दहइ रिस छाती॥ (तुलसी)
वाहने के साधारणतः तीन अर्थ होते हैं :—
(१) चलाना, फेंकना, प्रवाहित करना।
(२) गाड़ी, घोड़ा हाँकना।
(३) हल चलाना, खेत जोतना।

जोपिस्यै (डिं०) = जोतेंगे। हिं० 'जोत' का डिंगलरूपान्तर 'जोप' है।

नोट—वर्षाकालीन व्यापारों और युद्ध के व्यापारों का यह रूपक अत्यन्त सराहनीय है। प्रधान रस—शृङ्गार—को विस्तृत

होने से बचाने के लिए कवि ने जान बूझ कर वर्षा के रूपक को व्यवधान की तरह खड़ा किया है। परन्तु स्वभाव-वीर और राजपूत होने के कारण वे युद्ध के वर्णन को बिना किये ही सन्तुष्ट नहीं रह सकते थे। इस रूपक के सम्बन्ध में विशेष ज्ञातव्य विषयों के लिए भूमिका देखिए।

दो० १२४—

विसरियाँ विसर (हिं०)=बीती हुई वेला को बिसार कर। (सं० वि+स्मरण) प्रा० विम्हरण, विस्सरण, हि० बिसरना। हिं० उदा० सुरति श्यामघन की सुरति बिसरेहु विसरैन।

(बिहारी)

बीजिजै=(स० बीज) हिं० बीजिये=बोइये, बीजारोपण करिये।

खलाँह (डिं०)=(सं०) खलों को, दुष्टों को, अर्थात् हमारे वैरियों को।

हालाहलाँ (डिं०)=हलाहल की तरह, विष की तरह।

खारी (डिं०)=(हिं०)=कड़वी। ध्यान में रखना चाहिए कि यह शब्द स्त्री प्रत्ययान्त इसलिए है, क्योंकि इसका सम्बन्ध दो० १२३ के 'आ वेला' (स्त्री०) से है।

त्रूटै (डिं०)=(सं० त्रुटन्ति) हिं० टूटै=टूटते हैं।

कंधमूल (सं० स्कंध+मूल)=(१) कंधा (२) वृक्ष की पैंडी।

उदा० (१) "वृषभ कंध केहरि ठवनि, उर भुज बाहु विशाल"

(तुलसी)

(२) अव्यक्त मूल मनादि तरुत्वच चारि निगमागम भने।
षट कंध शाखा पंचबीस, अनेक पर्ण सुमन घने। (तुलसी)
(३) "तीव्राघातप्रतिहततरुस्कंधलग्नैकदंत ॥ (शाकुन्तल)
मूल = जड़। कंध-मूल = कंधे की जड़।

हलधर = (सं०) बलराम।

वाहताँ = (हिं०) चलाते हुए, हल चलाते हुए। देखो नोट दो० १२३ में।

अलंकार = श्लिष्टरूपक।

नोट:—कवि ने इस दो० में प्राय: सभी खेती-सम्बन्धी विशिष्ट शब्दावली का प्रयोग किया है:—बीज, बीजिजै, खारी, हलाँह, खलाँह, कन्ध, मूल, जड़, हलधर, वाहताँ। अतएव मुद्रालंकार गर्भित है। इनमें से कई एक शब्द श्लिष्ट भी हैं।

विसरियाँ विसर = मिलाओ "बीती ताहिं बिसार दे, आगे की सुध लेहु।" डाक्टर टैसीटरी को इन शब्दों और "खारी" के प्रयोग के सम्बन्ध में बड़ा संशय है। हमने जो अर्थ किया है उसमें किसी प्रकार के संशय को स्थान नहीं है।

दो० १२५—

घटि घटि = (सं०) शरीर शरीर मे। हिं० उदा० "अन्तर्यामी घटघटवासी।"

घण = (सं० घन) बहुत, ज़्यादा। हिं० उदा० "उतै रूपाई है घनी न्यांरे मुख पै नेह।" (बिहारी)।

घाउ = हिं० घाव।

छिंछ (डिं०) = (अनु० शब्द) = छींटा, फव्वारा, धार। हिं० उदा०
(१) शोणित छिंछ उछरि आकाशहिं गजबाजिन सिर लागी।
(सूर)

(२) अति उच्छलि छिंछ त्रिकूट छयो, पुर रावन के जलजोर भयो। (केशव)

पिड़ि (डिं०) = (सं० पिंड) = (१) वृक्ष की पेंड़ी, तना।
(२) मनुष्य के शरीर का ऊपरी भाग—धड़।

नीपनौ (डिं०) = (सं० निष्पद्यते। प्रा० णिपज्जइ) हिं० निपजना। उत्पन्न हुए। हिं० उदा० उलटा सुलटा नीपजै, ज्यों खेतन में बीज। (कबीर)

प्रवाली = (सं०) (१) मूँगा, विद्रुम।

(२) किशलय, कोंपल, नवीन उगे हुए कोमल पत्ते।

सिरा (डिं०) = (हिं० सिरा = (१) ऊपर का भाग, शीर्ष भाग। (सं० शिरा) = (२) रक्तनाड़ी—मनुष्य-शरीर में जाल के समान गुँथी हुई शिराएँ होती हैं। मानवशरीर की आठ प्रधान शिराएँ हैं और आठों दिशाओं के स्वामियों के पीछे उनका नाम है यथा:—आग्नेयी, ऐन्द्री, महाशिरा इत्यादि।
(डिं० सिरा) = (३) धान्य के भुट्टे, सिट्टे, बाल, बाली। श्लिष्ट अर्थ में (१) और (३) अर्थ लग सकता है।

हंस (डिं०) = जीव, जीवात्मा। हिं० उदा० "सिर धुनि हंसा चले हो रमैया राम।" (कबीर)

नीसरै (डिं०) = (सं० निः + सरण) = निकलना।

नोट—इस दोहले में प्रधान रस शृङ्गार का लोप होकर, बीभत्स का आरोप होता है। मम्मट के अनुसार "अंगिनः अननुसंधानम्" दोष यहाँ लागू होता है।

अलंकर = उत्प्रेक्षा, स्वभावोक्ति, श्लेष (शब्द)।

१२६—

नै (डिं०) (प्र० + हरति) = नष्ट करते ।

ा (डिं०) = (१) तलवार । } श्लिष्ट
(२) हँसुआ । धान्य काटने का औज़ार (Sickle)

(डिं०) = (१) सिरों का, मुंडों का । } श्लिष्टार्थ में
(२) बालों का, भुट्टों का ।

(डिं०) हिं० बिड़ारना = भयभीत करते हुए, नष्ट-भ्रष्ट करते हुए, छिन्न-भिन्न करते हुए ।

—हिं० बिडवना = तोड़ना, नष्ट करना ।

हिं० उदा० (१) कुंभकरन कपि फौज बिड़ारी ।" (तुलसी)

(२) घूँघट पट बागुर ज्यों बिड़वत जतन करत शशि हारे । (सूर)

(डिं०) = प्रकार से, रीति से । देखो पूर्व दो० २५, ४२ में ।

ार = यमक —'बल' में —बलदेव, महाबल, भुजा बलि ।

रूपकातिशयोक्ति ।

श्लिष्टरूपक ।

१२७—.

ते (डिं०) = (सं० गाह्) = विलोड़ना, गोता लगाकर मथना । नष्ट-भ्रष्ट करना । उदा० "ममगाहिष्ट चाम्बरं ।" (भट्टिकाव्य)

(डिं०) = खलिहान में, धान्य-पूर्ण खेत में ।

(सं०) = बलराम ।

(डिं०) = (हिं० मेंढ़) मिट्टी डाल कर बनाई हुई खेत की सीमा या पानी का बाँध ।

। (डिं०) चढ़कर ।

संघार फेरताँ = फिरा फिरा कर संहार (नाश) के कार्य में फेरते हुए ।

केकाणाँ (डिं०) = घोड़े। उदा० "बापू मत कह बखतसो, काँपत है केकाण.।।"

सुगह (डिं०) = भली प्रकार से गाहटन।

इस दोहले में भी कृपि-कार्य में उपयुक्त विशिष्ट शब्दावली का कवि ने श्लिष्ट अर्थ में समावेश किया है।

गाहटतै, खलाँ, मेढ़, फेरताँ, केकाण, सुगह—ये शब्द कृपि-प्रयोज्य हैं।

अलंकार = श्लिष्टरूपक।

दो० १२८—

कण एक लिया = कई एक कण (धान्य) रूपी योद्धाओं को पकड़ लिया।

एक कण कण किया = कई एक (योद्धाओं) को कण कण—टुकड़े टुकड़े—करके नष्ट कर दिया।

भिड़ = (हिं० भिड़ना) = भिड़ करके (युद्ध में भिड़ करके)।

भंजिया (डिं०) = भगा दिया।

भर खञ्चे = भार खिंचा; धान्य का भार गाड़ियों में लादा जाकर खींचा गया।

खलै (डिं०) = खलिहान में।

खलाँ (डिं०) = शत्रुओं के।

ग्रीधणी (डिं०) = हिं० गिद्धनी, एक प्रकार का स्मशान-पक्षी—विशेष।

चिड़ (डिं०) = चिड़ियाँ। खेत में धान्य-कण चुगने को आनेवाली साधारण चिड़ियाँ।

पल = (सं०) मांस; मरे हुए शवों का मांस।

चारौ (हिं०) = चिड़ियों के चुगने का चारा।

अलंकार = रूपक।

दो० १२६—

लोह साहिये (डिं० मुहाविरा) = लोहा साधते हैं, लोहा लेते हैं = युद्ध करते हैं। हिन्दी में 'लोहा लेना' 'लोहा बजाना' मुहाविरे इसी अर्थ में प्रयुक्त होते हैं।

उदा० (१) सनमुख लोह भरत सन लेऊँ। (तुलसी)

(२) "जासों कीजै मोह तासीं लोह कैसे गहिये"।

(हनुमन्नाटक)

विरुधि (डिं०) = (सं०) विरोध में, विरोध करने के लिए, शस्त्रों-द्वारा बचाव करने में।

संस्कृतटीका—"विरुद्धो यमो" यह अर्थ करती है।

वडफरि (डिं०) = ढाल को।

ऊछजतै (डिं०) = (सं० उत् + सज्जत:) = ऊपर उठा कर, बचाव के लिए तैयार करते हुए।

भलाभली सति = "भलाभली इत्यादि" वाली कहावत सत्य है। राजस्थानी में प्रचलित कहावत है, "भलाभली प्रिथमी छै" जिसका आशय यह है कि पृथ्वी पर एक से बढ़ कर एक महापुरुष हैं। यहाँ पर यह कहावत सत्य यों हुई कि दुर्योधन और जरासंध वीरता और पराक्रम में अब तक अद्वितीय समझे जाते थे, परन्तु बलराम इनसे भी बढ़कर योद्धा निकले, जिन्होंने इन दोनों को परास्त किया। अतएव "भलाभली पृथ्वी" वाली कहावत को बलभद्र ने चरितार्थ कर दिखाया।

केकाणाँ (डिं०) = घोड़े। उदा० "बापू मत कह बखतसी, काँपत है केकाण ॥"

सुगह (डिं०) = भली प्रकार से गाहटन।

इस दोहले में भी कृषि-कार्य में उपयुक्त विशिष्ट शब्दावली का कवि ने श्लिष्ट अर्थ में समावेश किया है।

गाहटतै, खलाँ, मेढ़, फेरताँ, केकाण, सुगह—ये शब्द कृषि-प्रयोज्य हैं।

अलंकार = श्लिष्टरूपक।

दो० १२८—

कण एक लिया = कई एक कण (धान्य) रूपी योद्धाओं को पकड़ लिया।

एक कण कण किया = कई एक (योद्धाओं) को कण कण—टुकड़े टुकड़े—करके नष्ट कर दिया।

भिड़ = (हिं० भिड़ना) = भिड़ करके (युद्ध में भिड़ करके)।

भंजिया (डिं०) = भगा दिया।

भर खञ्चे = भार खिंचा; धान्य का भार गाड़ियों में लादा जाकर खींचा गया।

खलै (डिं०) = खलिहान में।

खलाँ (डिं०) = शत्रुओं के।

ग्रीधणी (डिं०) = हिं० गिद्धनी, एक प्रकार का स्मशान-पक्षी—विशेष।

चिड़ (डिं०) = चिड़ियाँ। खेत में धान्य-कण चुगने को आनेवाली साधारण चिड़ियाँ।

पल = (सं०) मांस; मरे हुए शवों का मांस।

चारौ (हिं०)=चिड़ियों के चुगने का चारा।

अलंकार=रूपक।

दो० १२९—

लोह साहिये (डिं० मुहाविरा)=लोहा साधते हैं, लोहा लेते हैं= युद्ध करते हैं। हिन्दी में 'लोहा लेना' 'लोहा बजाना' मुहाविरे इसी अर्थ में प्रयुक्त होते हैं।

उदा० (१) सनमुख लोह भरत सन लेऊँ। (तुलसी)

(२) "जासों कीजै मोह तासों लोह कैसे गहिये"।

(हनुमन्नाटक)

विरुधि (डिं०)=(सं०) विरोध में, विरोध करने के लिए, शस्त्रों-द्वारा बचाव करने में।

संस्कृतटीका—"विरुद्धो यमो" यह अर्थ करती है।

वडफरि (डिं०)=ढाल को।

ऊछजतै (डिं०)=(सं० उत्+सज्जत:)=ऊपर उठा कर, बचाव के लिए तैयार करते हुए।

भलाभली सति="भलाभली इत्यादि" वाली कहावत सत्य है। राजस्थानी में प्रचलित कहावत है, "भलाभली प्रिथमी छै" जिसका आशय यह है कि पृथ्वी पर एक से बढ़ कर एक महापुरुष हैं। यहाँ पर यह कहावत सत्य यों हुई कि दुर्योधन और जरासंध वीरता और पराक्रम में अब तक अद्वितीय समझे जाते थे, परन्तु बलराम इनसे भी बढ़कर योद्धा निकले, जिन्होंने इन दोनों को परास्त किया। अतएव "भलाभली पृथ्वी" वाली कहावत को बलभद्र ने चरितार्थ कर दिखाया।

भंजिया (डिं०)=(सं० भग्न)=भाँग दिया, तोड़ दिया, पूर्णतया पराास्त कर दिया। दो० १२८ में "भंजियौ" भगा दिया, के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। संस्कृत में यह धातु 'भगाना' और 'तोड़ देना' दोनों अर्थ में प्रयुक्त होता है।

तोई ज (डिं०)=(सं० तदा + एव) तभी तो।

दो० १३०—

वीर (डिं०)=भाई। हि० उदा० "वे हलधर के वीर।" (विहारी)

आडोअड़ि (डिं०)=बीच में अड़ कर, आड़ा आकर, रुकावट करके। हिन्दी में अड़, आड़, आड़ा, प्रयुक्त होते हैं। हिं० उदा०

(१) सात समुद आड़ा पड़ै, मिलै अगाऊ आय। (कबीर)

(२) विरहा सेती मत अड़ै, रे मन मोर सुजान। (कबीर)

एकाएक (डिं०)=हिं० एकाएक, यकायक, अकस्मात्, अचानक।

वाग्यो (डिं०)=(सं० वाक्) वोला।

अवला=(सं०) सार्थक विशेष्य है; निस्सहाय, निर्बल स्त्री।

पग माँडि (डिं० मुहाविरा)=पैर रोक, खड़ा रह, पैरों को स्थिर कर, भागना बन्द कर।

मा० पृथ्वीराज ने डिङ्गल के मुहाविरों का बहुतायत से प्रयोग कर भाषा का प्रसादगुण और बढ़ा दिया है।

भुँइ=(सं० भूमि)।

दो० १३१—

बिलकुलियौ (डिं०)=रक्तवर्ण होगया; क्रोध से तमतमा गया।

वाकार्‌यो (डिं०)=राजस्थानी में 'बकारना' हिं० ललकारना, प्रचारना, चुनौती देना, के अर्थ में प्रयुक्त होता है।

पुणच (डिं०) = (सं० पनच) प्रत्यंचा, धनुष की डोरी।

आउध (डिं०) = (सं० आयुध) शस्त्रास्त्र, हथियार।

वेलरिस (डिं०) = बाण का फर, पुङ्खस्थान।

प० मारवाड़ी टीका—"जिहाँ शर थापी नइ खाँचीयइ ते वेलरस।"

अणी = शर का आगे का तीव्र भाग।

मूठि = (सं० मुष्टि) = मुट्ठी। उदा० "मूठि कुबुद्धि धार निठुराई। धरी कूबरी शान बनाई॥" (तुलसी)

द्रिठि (डिं०) = (सं० दृष्टि) दृष्टि में।

नोट—डा० टैसीटरी ने अन्तिम पंक्ति में "द्रिढ" पाठान्तर लिया है। हमारी समझ में 'द्रिठि' पाठ ज़्यादा उपयुक्त और चमत्कार-पूर्ण है। "द्रिढ" लेने से 'यथासंख्य' और 'दीपक' अलंकार की हानि होती है।

अलंकार = यथासंख्य-'वेलरिस' को 'मूठि' में और अणी को 'द्रिठि' में बाँधा।

दीपक = 'बंधि'—दोनों तरफ़ लगता है।

दो० १३२—

आरणि (डिं०) = हिं० ऐरण = लोहार का घन जिस पर रख कर तपे हुए लोहे को पीटा जाता है। (सं० अयस् + घन) = लोहे का घन।

तपत = (१) संतप्त, क्रोध के मारे तपा हुआ।

(२) तपाया हुआ (लोहा)।

प्रसन (डिं०) = (सं० प्रस्रवण) गिरना, अश्रुमोचन।

(२) द्रवीभूत होते हुए।

निय (डिं०) = (सं० निज) = अपने।

तणु (डिं०) = (सं० तन) = (१) शरीर।
(२) सम्ब-धकारक का विभक्ति-चिह्न—का (देखो पूर्व दो० ३ मे प्रयोग)।

सॉडसी (डिं०) = हिं० सँड़सी। एक प्रकार का औज़ार जिससे लोहार तपे हुए लोहे को पकड़ कर घन पर रखता है।

किउ (डिं०) = हिं० कियहु = किया।

नोट—कवि ने लोहार के व्यापारो से रूपक बॉध कर स्पष्ट कर दिया है कि जीवन के निम्न से निम्न व्यापार को कविता में प्रयुक्त करके कवि उसे कितना चमत्कृत रूप दे सकता है। कवि के अनुभव और मौलिक प्रतिभा की प्रशंसा करते ही बनती है।

अलंकार = रूपक।
दीपक—'किउ' का सम्बन्ध 'मन' और 'शरीर' दोनों तरफ़ है।

दो० १३३—

सगपण (डिं०) = सम्बन्ध की आत्मीयता; सम्बन्ध।

सनस (डिं०) = (सं० संशय) हिं० संस = संशय, आशंका, संकोच, लज्जा। हिं० उदा० "करुणा करी छाँड़ि पशु दीनो, जान सुरन मन संस।" (सूर)

सन्निधि = (सं०) = शुद्ध संस्कृत प्रयोग; निकट, समीप।

अणमारिबा (डिं०) न मारने का। 'अन' उपसर्ग 'नहीं' के अर्थ में। यथा संस्कृत—हिन्दी मे—'अनर्थ' 'अनशन'।

आलोजि (डिं०) = (सं० आलोच्य) = विचार से। देखो० पूर्व प्रयोग दो० ६४ में, "अन्तरजामी सूँ आलोज"।

आखियात (डिं०) = (सं० आख्यात = स्तुति की हुई) आश्चर्यजनक बात। प० मारवाड़ी टीका:—आखियात आश्चर्य्यकारी बात। सं० टीका :—ख्यातिराश्चर्य्यस्तुतियोग्या वार्त्ता।

आउधि (डिं०) = (सं० आ + युधि) युद्ध में।

सो जि (डिं०) = (हिं० सो + जु) वह भी, वहीं।

सजै = (हिं०) सजता है, प्रयोग करता है।

नोट:—इस दो० में "भावसबलत्व" का चमत्कार देखने योग्य है।

दो० १३४—

सोनानामी = (सं० सुवर्णनाम्नः) सोने का पर्यायवाची है नाम जिसका। अर्थात्—'रुक्मि'। सं० रुक्म = सुवर्ण।

विरूप (सं०) = विकृत रूपवाला, कुरूप।

छिणियै जीवि = (सं० क्षण + जीवि) क्षण भर ही का जीवन है जिसका।

जीव = (सं०) प्राण, जीव, जीवित।

छण्डियौ = हिं० छाँड़ियौ = छोड़ दिया।

नोट—केश उतार कर रुक्मि को कुरूप करना, कवि का कल्पित वृत्त है। भागवत में इसका उल्लेख नहीं मिलता।

दो० १३५—

अग्रज = (सं०) = ज्येष्ठ, बड़ा, जिसका जन्म पहले हुआ है। 'अनुज' का आपेक्षिक शब्द है।

आखै (डिं०) = (सं० आख्याति) प्रा० आक्खाइ = कहता है। पंजाबी में 'आखना' इसी अर्थ में प्रयुक्त होता है। हिं० उदा० (१) बार बार का आखियै मेरे मन की सोय। (कबीर)

(२) "सत्यसंध साँचे सदा, जे आखर आखे" (तुलसी)।

दुसट सासना (सं० दुष्ट + शासन) = दुष्टोचित दंड।

पासै (डिं०) = (सं०पार्श्वे) = पास में, नज़दीक।

बैसारै (डिं०) = (सं० वेशनम्) = बैठाना (प्रेरणार्थक)। हिं० उदा० "ऐसी को ठाली बैसी है, जो तोसों मूँड़ खवावै" (सूर)

भलौ.........भई = यह प्रचलित वक्रोक्ति है। हिन्दी में भी प्रयोग होता है, यथा: भला भई, भला काम किया।

अलंकार = वक्रोक्ति (आर्थी)।

दे० १३६—

आदेस (सं०) = आज्ञा।

पालिवा (डिं०) = पालने के लिए। हिं० उदा० "किंकरी करि पालिबौ करुणामई।" (तुलसी)। अवधी प्रयोग।

मिरिगाखी = (सं० मृगाक्षी) = मृग के समान सुंदर नेत्रवाली।

मन राखिवा = मन रखने के लिए। यह मुहाविरा हिन्दी में भी प्रयुक्त होता है = मन की बात करना।

पुंडरीकाख = (सं० पुण्डरीकाक्ष) = कमलनयन, भगवान् श्रीकृष्ण।

सुसमित (डिं०) = (सं० सुस्मित) मुसकराते हुए।

सुनमित (डिं०) = (सं० सु + नम) मुख को नीचा किये हुए (संकोच और लज्जा से)।

सुव्रीड़ित (डिं०)=(सं० सु+व्रीड़ित) भलीभाँति लज्जित होकर।

थिया (डिं०)=हुए।

अलंकार=स्वभावोक्ति।

समुच्चय= उत्तरार्द्ध में।

दो० १३७—

अकरण करण (स०)=अकारण को करनेवाले; असम्भाव्य को संभव करनेवाले। न्याय में 'करण,' कार्य को करनेवाले 'कारण' को कहते हैं।

क्रित अन्नथा करणां=किये हुए कार्य को अन्यथा करनेवाले, सम्भाव्य को असम्भव करनेवाले।

सगल़ (डिं०)=(सं० सकल)=तमाम, समस्त।

थोके (डिं०)=(सं० स्तोमक=समूह)=तमाम बातों में, कुल बातों में।

ससमरथ (डिं०)=(सं० ससामर्थ्य)=सामर्थ्ययुक्त, समर्थ, योग्य।

हा लिया (डिं०)=डिं० लिया हा=लिये थे, उतार लिये थे। 'हा'=डिंगल में यह क्रियाचिह्न "है" वर्त्तमानकालिक एकवचन क्रिया के बहुवचन और भूतकालिक रूप में प्रयुक्त होता है। इसे हिन्दी, 'था' 'थे' क्रिया का रूपान्तर समझना चाहिए। बोलचाल की राजस्थानी भाषा में अब तक यह क्रिया इस अर्थ में प्रयुक्त होती है।

डाक्टर टैसीटरी को इस शब्द के अर्थ के विषय में संशय है। वे इसे डिं० 'हालणो'=चलना क्रिया से बना हुआ समझ कर संदेह में पड गये हैं। वास्तव में यह क्रिया दो पदों से बनी है 'लिया+हा,' जैसा कि हम ऊपर स्पष्ट कर

चुके हैं। संस्कृत टीकाकार भी उसी प्रकार भ्रम में पड़ कर "हा इति खेदमाकलय" यह अर्थ करते हैं।

डा० टैसीटरी ने इस पंक्ति का पाठ ही ऐसा लिया है जो भ्रमपूर्ण है;—"हालिया जा इलगाया हूँता"।

थापे (डिं०)=स्थापित किये, रक्खे।

हत्थ (डिं०)=(सं० हस्त) हाथ।

अलंकार=विरोधाभास—पूर्वार्द्ध में।

व्याघात—उत्तरार्द्ध मे।

दो० १३८—

परदल=(सं०) शत्रुदल। शत्रु के अर्थ मे 'पर' यथा, परंतप।

पिण (डिं०)=भी। वाक्य में किसी शब्दविशेष अथवा अर्थ पर जोर देने अथवा विशेषता प्रकट करने के लिए डिंगल मे यह अव्यय प्रयुक्त होता है। पण, पिण=भी।

जींपि=हिं० जीत कर। देखो पूर्व० दो० ३ में "जाणे वाद माँडियो जीपण।"

परणे (डिं०)=(सं० परिणयन)=ब्याह किया।

उभै (डिं०)=(सं० उभय)=दोनों।

एकार (डिं०)=हिं० एक बार=एक ही साथ। 'हेकार' रूपान्तर भी मिलता है। उदा० "गंगाजल हेकार, श्रवण सुणै जु साँभलै"। (पृथीराज)

वादो वदि=हिं० बदाबद, बदाबदी=हठपूर्वक, उत्साह और स्पर्धापूर्वक। हिं० उदा० "बदाबदी जिय लेत हैं ये बदरा बदराह"। (बिहारी)

वाधण (डिं०)=(सं० वर्द्धन)=बढ़ना। देखो—पूर्व प्रयोग दो० १२ में "अनि बरस बधै ताइ मास बधै ए"।

बधाइहार=(हिं० बधाईदार)=बधाई देनेवाले, मंगलसंवाद सुनाने-वाले। उदा० "जब ते राम ब्याह घर आये, नित नव मंगल मोद बधाये"। (तुलसी)

नोट—द्वितीय पंक्ति के कई एक पाठान्तर मिलते हैं। हमने ढूँढाड़ी प्रति का पाठान्तर सर्वोपयुक्त समझ कर लिया है।

डा० टैसीटरी ने "सत्रु सिरि अधिक वावरे सार" यह पाठान्तर लिया है। जो "परदल पिण जोपि" प्रथम पंक्ति के आशय की पुनरावृत्ति करता है, अतएव अनावश्यक है।

दो० १३६—

भूलिग्या (डिं०)=भूल गये। अब तक प्रचलित राजस्थानी में 'गया' क्रिया संयुक्त रूप में बोली जाती है; बैठग्या, उठग्या, चलग्या इत्यादि।

ग्रिहगति(सं०)=ज्योतिष के अनुसार ग्रहों की निमित्तसूचक स्थिति।

पूछीजै=(सं० पृच्छ्यते) प्रा० पुच्छिज्जइ-पूछीजै। पूछे जाते हैं। कर्मवाच्य में प्रायः सभी डिङ्गल अक० क्रियाओं के अन्त में "जै" लगता है। यथा: करीजै, खावीजै, बैठीजै, उठीजै इत्यादि।

मन.....मारग=भगवान् के मार्ग की ओर उत्सुकतापूर्वक मन लगाये हुए। प्रेमपूर्वक प्रतीक्षा का कैसा स्वाभाविक और मनोरम चित्र है।

प्रज (डिं०)=(सं० प्रजा)।

ओटे चड़ी=(हिं० ओट-ओटा)='ओटा'-उस परदे की दीवाल को कहते हैं जो परदे के निमित्त बनाई जाती है; कोई ऊँचा स्थान, कोठा, छत पर चढ़ी हुई।

चाहै (डिं०) = (हिं० चाहना = इच्छा करना, चाहपूर्वक देखना) = देखती है। देखो पूर्व प्रयोग दो० १०६ "चालिया चंद्राणणि मग चाहि।"

"वेलियो गीत" की मात्रा-गणना के अनुसार इस दो० की २ और ४ पंक्ति में १४ मात्रा होनी चाहिए। परन्तु है १३ ही। स्पष्टीकरण के लिए देखो भूमिका।

दो० १४०—

ऊतामला (डिं०) = (सं० उत् + त्वर) = जल्दी जल्दी चलना। हिन्दी में प्रयोग होता है, यथा:—

कोउ गावत कोउ वेणु बजावत, कोउ उतावल धावत। (सूर)

झँखणा (डिं०) = (हिं० झंखना) = खोजना, बहुत अधिक दुखी होकर पछताना। हिं० उदा० (१) बरस दिवस धण रोयकर, हार पड़ी चित झंख। (जायसी)

(२) उड़ि मुनिया डारी पर बैठे, झंखन लागै सारी दुनिया। (कबीर)

झल (डिं०) = हिं० झल, झार = (१) ताप, दाह, आँच; जलन (२) उग्रकामना, उत्कट इच्छा।

हिं० उदा० साहब मिलै न झल बुझै, रही बुझाय बुझाय। (कबीर)

नील (डिं०) (हिं० नीला = आसमानी रंग)। राजस्थानी में 'नीला' 'लीला' सघन हरे, वानस्पत्य रंग के लिए सर्वदा प्रयुक्त होते हैं।

करि (डिं०) = सं०-'कर,' सप्तमी विभक्त्यन्त = हाथ में।

नीलाणा (डिं०) = (सं० नीलायित) = हरे होगये। व्यंग्य अर्थ में, हृदय में प्रसन्न होगये। हिन्दी में यह मुहाविरा इस व्यंग्य अर्थ में प्रयुक्त होता है। "स्याम हरित दुति होय" (विहारी)।

कुशस्थली वासी = कुशस्थलीनिवासी, द्वारिकावासी।

नोट—राजस्थान में यह प्रथा वर्ती जाती है कि शुभ-सवाद अथवा वधाई लेजानेवाले अपने हाथ में वृक्ष की हरी डाली ले जाते हैं। जिसका आशय यह होता है कि जिस प्रकार वृक्ष हरा भरा रहता है वैसा ही अमुक कुटुम्ब समृद्ध-सुखी रहे। यह प्रथा—पुत्रजन्म, विवाह, शत्रुविजय इत्यादि शुभ अवसरों पर मानी जाती है। कवि ने 'उर उठी झल' और "नीलाणा" में देशीय मुहाविरेदार भाषा का प्रयोग किया है। दोनों में उत्तम व्यंग्यार्थ है।

अलंकार = रूपक, 'कुसमथली वासी कमल' में।

दो० १४१—

सहू (डि०) = सभी। देखो पूर्व प्रयोग पूर्व दो० ७२ में।

साऊजम (डि०) = (स० स + उद्यम) प्रा० साउज्जम-साऊजम = उद्यम-शील, कार्य तत्पर।

वधावणा (डि०) = 'वधाई' देकर स्वागत करना। स्वागतपूर्वक अगवानी करना।

रेस (डिं०) = के लिए। अपभ्रंश भाषा में इसी अर्थ में इसी प्रकार इस शब्द का प्रयोग हुआ है। उदा० "हउँ झिज्झउँ तउ केरि पिय तुम्ह पुणु अन्नह रेसि"। अन्नह रेसि = दूसरे के लिए।

लहरीरव = (सं०) लहरियों का रव जिसमें होता है अर्थात् समुद्र।

लहरिउँ लियै (डिं०मुहा०) = लहरें लेता है (१) तरंगित होता है। (२) आह्लादित होता है।

हिन्दी में भी 'लहरें लेना" आनन्द की उमंग का अनुभव करने के अर्थ में मुहाविरे की तरह प्रयुक्त होता है।

लहरिउँ......राकेस = विज्ञान और समुद्र-शास्त्र की दृष्टि से देखने पर यह एक प्राकृतिक तथ्य है। चन्द्रमा की ज्योत्स्ना के प्रभाव से समुद्र में लहरें बढ़ती हैं। उन्हें ज्वार "जलजोर" (देखो पूर्व दो० २३ में) कहते हैं।

अलंकार = उत्प्रेक्षा।

दो० १४२—

अखित (डिं०) = (१) (सं० अक्षत) = चावल, मांगलिक चावल।
(२) " " = निरन्तर, अनवरत।

द्रोब (डिं०) = (सं० दूर्वा) = दूब, दूर्वा।

हलिद्र (डिं०) = (सं० हरिद्रा) = हलदी, एक प्रकार का पीला मसाला।

ऊछव (डिं०) = (सं० उत्सव) प्रा० उच्छव, ऊछव।

उत्तरार्द्ध का दूसरा अर्थ यों भी किया जा सकता है :—"उत्सव हुए; मांगलिक चावल, हरी दूब, केशर और हलदी उछाले गये ॥"

राजस्थान में शुभ अवसरों पर अक्षत, हलदी, दूब, केशर, कुंकुम इत्यादि मांगलिक पदार्थों को उछालने की प्रथा अब तक बरती जाती है।

दो० १४३—

क्रमिया (डिं०)=(सं० क्रमण) चले, चलते थे ।

ऊछाह (डिं०)=(सं० उत्साह) प्रा० उछ्छाह, ऊछाह=उत्साह-सहित; उमंग-सहित ।

अङ्कमाल=(सं०) अङ्क में माला की तरह धारण करना । आलिङ्गन करना ।

नयर (डिं०)=(सं० नगर) प्रा० नयर=नगर ।

आपिवा (डिं०)= लगाने के लिए; प्राप्त करने के लिए । गुजराती में इसी अर्थ में प्रयुक्त होता है ।

तिकरि (डिं०)=के लिए । (सं० त्वत्कृते=तुम्हारे लिए) हमारा अनुमान है कि यह शब्द 'त्वत्कृते' का डिंगल में रूपान्तर है । संस्कृत और प० मारवाड़ी टीकाकारों ने इसका क्रमशः 'त्वत्करे' और 'करि हाथइ' अर्थात् हाथ में—ऐसा अर्थ किया है, जो अनुपयुक्त है । डा० टैसीटरी का अनुमान, कि यह शब्द सम्भवतः 'अतिकरि' का रूपान्तर हो सकता है, ऊहात्मक है । देखो प्रयोग दो० २३४, २७६ में ।

पसारी (डिं०)=(सं० प्रसारित) फैलाई ।

बेउ (डिं०)=(सं० द्वि + अपि)=दोनों ।

नोट—कवि ने अपनी कल्पना में द्वारिका के आदर्श नागरिक सौन्दर्य का नक़शा चित्रित किया है । वर्त्तमान समय के बड़े बड़े शहर इस आदर्श तक पहुँचने की कितनी चेष्टा कर रहे हैं, परन्तु यह कष्ट-साध्य अवश्य है । फिर उत्तरार्द्ध में जो उत्प्रेक्षा की गई है वह तो अत्यन्त मौलिक एवं मनोरम है ।

म० पृथ्वीराज की प्रतिभा की मौलिकता के विषय में किसी को भी संदेह नहीं हो सकता, जब इस प्रकार के प्रमाण देखे जायँ।

अलंकार = उत्प्रेक्षा।

दो० १४४—

दंड = (सं०) खंभे, धातु के बने लम्बे-मोटे छड़।

झालरिये (डिं०) = (सं० झल्लरी) झालर से। किसी छोटे शामियाने के किनारे पर शोभा के लिए लगाया हुआ लटकता हुआ हाशिया 'झालर' कहलाता है। कभी कभी इसके किनारे पर मोती भी लगाये जाते हैं।

झड़ण = गिरना, झड़ना, बौछाड़ में गिरना।

छत्रे = (सं०) तम्बू या शामियाने की छतों से।

औछायौ (डिं०) = (सं० आच्छादित) छाया हुआ, ढका हुआ।

घण वरण घण आयो = घने (बहुत से) वर्णों के (रंग-बिरंगे) बादल आये हैं।

अलंकार = रूपक—पूर्वार्द्ध में।
उत्प्रेक्षा—उत्तरार्द्ध में।

दो० १४५—

प्रोलिमै (डिं०) = (सं० प्रतोली + मय) प्रा० पओली—पोलि (हिं०) = फाटक, प्रवेशद्वारयुक्त।

मुकरमै = मुकुरयुक्त, दर्पणयुक्त, काँच जड़े हुए, दर्पण से सुसज्जित।

मारग (डिं०) = (सं० मार्ग) इसको डिंगल में स्त्रीलिंग माना है। इसी लिए इसके लिए 'अबीरमई' स्त्रीलिंग विशेषण प्रयुक्त हुआ है।

पैसार्‌यो (डिं०) = (सं० प्रसारित, प्रविष्टः) प्रेरणार्थक अर्थ में = प्रविष्ट करवाया।

नीरोवरि (डिं०) = समुद्र। जिस प्रकार 'सर' से 'सरोवर' उसी प्रकार मिथ्या = सादृश्य (false analogy) के नियम से, 'नीर' से नीरोवर, बना हुआ प्रतीत होता है।

नई (डिं०) = (सं० नदी) प्रा० णई = नदी, सरिता।

अलंकार = एकावलि—पूर्वार्द्ध में।

उपमा—उत्तरार्द्ध में।

दो० १४६—

जस धवलित = (सं०) यश से उज्ज्वलीकृत। 'यश' का वर्ण उज्ज्वल मानकर संस्कृत कवियों ने बहुतायत से प्रयोग किया है :— "महाराज श्रीमन जगति यशसा ते धवलिते।" भोजप्रबन्ध।

(२) "स्वामिकाजि करिहौं रन रारी, जस धवलिहौं भुवन दशचारी"। (तुलसी)

सधण (डिं०) = (सं० स + धनी (युवती स्त्री)) = स्त्रीसहित, वधूसहित। हिं० उदा० (१) नूपुर पाँय उठे झननाय, सुजाय लगी धण धाय झरोखे। (देव)

(२) पुनि धन भरि अंजुलि जल लीना। (जायसी)

धवलहरे (डिं०) = ऊँचे श्वेत प्रासाद, भवन। देखो प्रयोग पूर्व दो० ४१ में।

नागर धण = सं० नगर की अथवा नागरिकों की स्त्रियाँ।

धवल दियै = धवल मंगलाचार करके, 'धवलमंगल' के मांगलिक गीत गाने लगी। देखो प्रयोग पूर्व० दो० ११३ में।

सबल् =(सं० स+बलदेव) बलदेवसहित। अल्परूप में 'बलदेव' के लिए 'बल' प्रयुक्त हुआ है।

सिरि सामल् =श्री श्यामल, अर्थात् श्रीकृष्ण। श्रीकृष्ण के शरीर का वर्ण श्यामल है।

पुहप (डिं०) =(सं० पुष्प) प्रा० पुम्फ, हिं० पुहुप।

अलंकार =अनुप्रास की छटा सब दो० में देखने योग्य है।

रूपक—'पुहप-बूँद' में।

यमक—'धवल' के अनेक प्रयोगों में। प्रथम पंक्ति में।

दो० १४७—

पै वारि =पानी वार कर, पानी न्योछावर करने की प्रथा करके। राजस्थान में शुभ अवसरों पर 'लूण-पाणी' नमक और पानी वार कर फेंकने की प्रथा अब तक प्रचलित है। कोई महत्त्व-पूर्ण काम करके आने के बाद पुरुष या स्त्री पर पानी वारा जाता है। डा० टैसीटरी को उपरोक्त अर्थ में संशय है। वे "पै" को "परि" का रूपान्तर लेते हैं और पानी के अर्थ मे लेने के लिए यह आशङ्का प्रकट करते हैं कि उस दशा में—"वारि" की वृथा पुनरुक्ति हो जायगी। हमारे अन्वयार्थ को देखने पर उनकी आशङ्काएँ निर्मूल प्रमाणित होंगी।

वारि = उत्सर्ग करके, वार कर।

वारै =(हिं०) =वारना लेती है; बलैयाँ लेती है, न्यौछावर करती है; उत्सर्ग करती है। हिं० उदा० (१) तो पर वारौं उरबसी सुन राधिका सुजान। (बिहारी)

(२) कोशल्या की कोधि पर तोषि तन वारियै री।
राम दशरत्थ की बलाय लीजै आलि री। (तुलसी)

आरती उवारि=शुभ मांगलिक अवसरों पर आरती उतारने की प्राचीन हिन्दू प्रथा है। राजस्थान में वैवाहिक अवसरों पर वर-वधू की आरती अब तक उवारी जाती है।

अलंकार=लाटानुप्रास, यमक।

दो० १४८—

वधावे (डिं०)=स्वागत कृत्य (हो रहे हैं)। देखो प्रयोग पूर्व दो० १४१ "वधावण"।

वाजित्र (डिं०)=(सं० वाद्य+यंत्र)=बाजे।

वावे (डिं०)=हिं० बाजै=बजते हैं।

अभिन वाणि=एक ही वाणी अर्थात् भगवान् के यशगान का अभिन्न वाणी।

राजान (डिं०)=(सं० राजानः) राजा लोग। देखो पूर्व प्रयोग० दो० ४१ में "राजान जान सँग हुवा"—

राज रमणि=राजा की रानियाँ। श्रीकृष्ण की अन्य रानियाँ।

गृह=(सं०)=अन्तःपुर में।

नोट—इस दोहले की चमत्कारपूर्ण संगीतमय शब्दयोजना ध्यान देने योग्य है। शब्दालंकार का चमत्कार भरा पड़ा है।

दो० १४६—

दैवज्ञ=(सं०) ज्योतिषी, निमित्तज्ञाता, शुभाशुभ दैवफलज्ञाता।

तेड़ि० (डिं०)=बुलाकर। यह राजस्थानी देशीय शब्द है। अब तक इसी अर्थ में प्रचलित भाषा में प्रयुक्त होता है।

ई (डिं०)=यही, ही।

लगन (डिं०)=(सं० लग्न)=मुहूर्त्त, साइत, विवाह का शुभ मुहूर्त्त।

कइ (डिं०)=(सं० कदा) कब, किस समय। राजस्थान की प्रचलित भाषाओं में 'कब' के आशय मे 'कद', कदि क्रि० विशेषण प्रयुक्त होते हैं।

दियौ (डिं०)=दो; बतलाओ (आज्ञा का रूप)। मारवाड़ी भाषा की शाखा, चूरू-शेखावाटी प्रान्त की भाषा में इस क्रिया का आज्ञा में यही रूप बनता है।

दो० १५०—

•वेदोगत (डिं०)=(सं० वेदोक्त)।

कम्पित चित=(सं०) आशंकित चित्त, भयभीत चित्त होकर।

भयभीत इसलिए होते थे क्योंकि पुन: पाणिग्रहण न करने की व्यवस्था दे रहे थे। वेदविद् ब्राह्मण, भगवान् का रुक्मिणी के साथ विष्णु-लक्ष्मी का पूर्व=सम्बन्ध जानकर संकुचित होते थे।

हेकणि (डिं०)='एकणि'=एक के साथ (सप्तम्यन्त)।

सुत्री (डिं०)=सं० 'स्त्री' का डिंगलरूपान्तर है।

सरिस (डिं०)=(सं० सदृश) के साथ।

नोट—पाणिग्रहण का शाब्दिक अर्थ होता है 'हाथ पकड़ना'। वह तो हरण के समय हो ही चुका था। भगवान् ने 'पाणि-ग्रहण' करके रुक्मिणी को रथ में बिठलाया था। इस शाब्द अर्थ को देखते हुए पुन: पाणिग्रहण कराना, अनुचित ही था। क्योंकि यह पुनर्विवाह होता।

दो० १५१—

सगळ दोख (डिं०) = (सं० सकल दोष) = सब दोषों से।

साहा (डिं०) = विवाह आदि शुभ कार्यों के लिए निश्चित लग्नवेला या मुहूर्त।

जई (डिं०) = (सं० यदा) = जब। देखो पूर्व दो० ६२ में प्रयोग 'जई-तई'।

हूँतौ (डिं०) = था।

दो० १५२—

हथलेवौ (डिं०) = (सं० हस्त + लेपन) हिं० हाथ + लेना – पाणिग्रहण हिन्दूविवाह के समय की एक प्रथा है जब वरवधू एक दूसरे का हाथ पकड़ कर संस्कार करते हैं।

उदा० "हियो दियो सँग हाथ के, हथलेवा ही हाथ"। (बिहारी)

सेस संसकार = पाणिग्रहण को छोड़ कर विवाह = वेदी में होनेवाले वैदिक धर्मोक्त सभी संस्कार।

हूवइ (डिं०) = (सं० भवति) प्रा० भोदि, होइ = होंगे।

सहि (डिं०) = सभी। देखो पूर्व प्रयोग "सहू, सहु,"।

नोट—ब्राह्मणों ने पहले तो 'पाणिग्रहण' को पुनः करवाना शास्त्र-विरुद्ध समझ कर दो० १५० वाली व्यवस्था दी थी। परन्तु बाद में आपस में परामर्श करके "सेस-संसकार" करने की आज्ञा दे दी। देश-काल का विचार करके और भगवान् की नरलीला का ध्यान करके उन्होंने ऐसी व्यवस्था दी होगी।

दो० १५३—

आद्र=(सं० आर्द्र)=गीले, हरे, ओदे।

अर्जुनमै=(सं० अर्जुन+मय)=(१) उज्ज्वल, स्वच्छ,शुभ्र, चाँदीयुक्त। (२) एक वृक्ष-विशेष जो दक्षिण से अवध तक नदियों के किनारे होता है।

वेह (डिं०)=विवाह-वेदी के चारों ओर जो मंडप होता है उसमें हरे बाँसों के बीच में चित्रित तथा सुसज्जित, सोने चाँदी के अथवा मिट्टी के मंगल-कलश रखे जाते हैं। उन्हें "वेह" कहते हैं।

अरणी अगनि (डिं०)=(सं० अरण्याग्नि)=यज्ञाग्नि।

अरणी=एक काठ का बना हुआ पात्र जो यज्ञों में आग निकालने के लिए काम आता है। इसके दो भाग होते हैं। "अरणि" या अधरारणि तथा उत्तरारणि। यह शमीगर्भ अश्वत्थ से बनाया जाता है। अधरारणि के छेद के ऊपर उत्तरारणि रख कर कपास मथा जाता है जिससे उसमें आग लग जाती है। ऋत्विक् लोग मथते समय वेद-मंत्रों का उच्चारण करते हैं। यज्ञों में प्राय: यही अग्नि काम में आती है।

अगरमै=(सं० अगरु+मय) एक प्रकार की सुगन्धित लकड़ीयुक्त।

अछेह (डिं०)=(हिं०)निरन्तर, लगातार।

हिं० उदा० "आठों जाम अछेह, दृग जु बरत बरखत रहत"। (बिहारी)

नोट—इस दोहले में राजस्थान में बर्त्ते जानेवाले विवाह-सम्बन्धी प्रथा और संस्कारों का हूबहू चित्र खड़ा किया गया है। यों तो प्राय: सभी वैदिक धर्मावलम्बी किसी न किसी

रूप में इनमें से बहुत से संस्कारों को करते हैं परन्तु "वंस-आद्र",—"वेह"—"अरणीअगनि"—ये शब्द राजस्थानी "चमरी" अर्थात् विवाह-मंडप के साथ ही विशेषत: सम्बन्ध रखते हैं।

दो० १५४—

पूठ (डिं०) = (सं० पृष्ठ) प्रा० पुट्ठ-पिट्ठ, हिं० पीठ।

परठित (डिं०) = (सं० प्र + स्थित, प्र + स्थापित) = स्थापित किया हुआ है; सुसज्जित किया हुआ है, सुशोभित है। देखो प्रयोग पूर्व दो० १०९ में "परठि द्रविण सोरण सर पंच"।

आतपत्र = (सं०) = छत्र, चंदोआ।

मधुपर्कादि सँसकार = यज्ञ में दही, घी, जल, शहद और चीनी का मिश्रण देवताओं को चढ़ाया जाता है। पूजा के षोडश उपचारों में से देवताओं को प्रसन्न करने का यह भी एक उपचार है। इस उपचार के करने से करनेवाले के लिए सुखसमृद्धि, सौभाग्य और मोक्ष की प्राप्ति मानी गई है।

धार्मिक दृष्टि से पवित्र करनेवाला कोई भी वर्णाश्रम-धर्मानुसार विधान संस्कार कहला सकता है।

त्री० (डिं०) = (सं० स्त्री) वधू।

वैसाणि (डिं०) = (सं० वेशन) = बिठलाई। देखो प्रयोग पूर्व दो० १३५ में "वैसारी"।

दो० १५५—

आरोपित = (सं०) स्थापित, लगी हुई।

मछे (डिं०) = (सं० मत्स्य) = मछलियों से।

गृहीत=(सं०)=पकड़ा हुआ, घिरा हुआ।
अंगणि=(सं० अङ्गना)=स्त्रियाँ, औरतें।
ओटे चढ़ि चाहै=छत पर चढ़ कर बड़े चाव (बड़ी चाह) से देखती हैं (निरखती हैं) देखो नोट पूर्व दो० १३९ में "चाहै प्रज ओटै चड़ी"।
मङ्गल करि (डिं०) मंगलाचरण की रीति करके। देखो नोट पूर्व दो० ४२ में "धवल मंगल"।
गरभ.........गृहीत—द्वितीय पंक्ति में कवि ने जो उत्प्रेक्षा कल्पित की है वह साहित्य में अनूठी है। मौलिक एवं तत्त्वदर्शिनी प्रतिभा का प्रत्यक्ष उदाहरण है। अत्यन्त मनोज्ञ एवं मनोहर है। सच्चे रहस्यवाद का लक्षण है।

अलंकार=उत्प्रेक्षा।

दो० १५६—

फेरा (डिं०)=(हि० फिराना, फिरना, फेरा (संज्ञा)=प्रदक्षिणा, परिक्रमा, भाँवर फिरना। राजस्थानी में "भाँवर" को "फेरा" कहते हैं। यहाँ पर कवि ने देशीय प्रथा का निर्देश किया है। राजस्थान में विवाह-वेदी के चारों ओर वर वधू चार भाँवरें देती हैं जिनमें पहली तीन में तो वधू वर के आगे होती है। और चौथी में वर वधू के आगे हो जाता है। तदुपरान्त आजीवन जीवन-यात्रा में पति-पत्नी का स्थान-क्रम यही रहता है।
प्री (डिं०)=(सं० प्रिय)=प्रियपति, पति।
आगलै (डिं०)=आगे। देखो प्रयोग दो० १८ में "आगलि पितमात" इत्यादि।

सांगुष्ट कर सूँ=सांगुष्ठ कर से, अँगूठे सहित पूरे हाथ के पंजे से।

चम्पियौ (डिं०) = (सं० चप) हिं० चँपना—दवना, दबाना = दबाया।

अलंकार = उत्प्रेक्षा—उत्तरार्द्ध में।

दो० १५७—

पधरावि (डिं०) = (सं० प्र + धृ) हिं० पग धारण, प्रेरणार्थक अर्थ में = स्थापित करके, बिठला कर।

प्रभणावै (डिं०) = (सं० प्र + भण्) (प्रेरणार्थक) = कहलाते हैं; उच्चारण करवाते हैं।

लाधी वेला (डिं०) = (सं० लब्धवेला) = उपलब्ध सुकाल, पाया हुआ अच्छा अवसर।

पाठके, नवे = यह 'पाठक' और 'नव' शब्द के एकारान्त बहुवचन प्रयोग हैं। एकारान्त बहुवचन डिंगल में साधारणतया प्रयुक्त होता है।

अर्थ:—पाठकों ने नवों निधि......

माँगी = (हिं०) = मुँहमाँगी, इच्छानुकूल।

लाधी (डिं०) = (सं० लब्ध) प्रा० लब्ध = प्राप्त की।

हिं० उदा०—इन सम काहु न शिव अवराधे,
काहु न इन समान फल लाधे।
(तुलसी)

वाच परसपर यथा विधि = ऊपर के कई दो० में कवि विवाह-सम्बन्धी देशीय अनुष्ठानों, प्रथाओं तथा विधानों का उल्लेख करते आये हैं। यहाँ विवाह-वेदी के सामने वर-वधू के प्रतिज्ञा-बद्ध प्रश्नोत्तर का उल्लेख किया गया है जो भारत में

सार्वदेशिक हिन्दू-विवाह-वेदियों में प्रचलित है। इसे शास्त्र में सप्तपदी वचन कहते हैं, जो क्रमश: ये हैं—

पत्नी से पति को :—

तीर्थव्रतोद्यापनदानयज्ञान्, मया सहार्थं यदि कान्त कुर्याः।
वामाङ्गमायामि तदा त्वदीयं, जगाद वाक्यं प्रथमं कुमारी॥

पति से पत्नी को :—

मदीयचित्तानुगतं स्वचित्तम्, सदा मदाज्ञा परिपालनं च।
पतिव्रताधर्मपरायणं चेत्, कुर्याः तदा सर्वमिदं मदत्तम्॥

दो० १५८—

सूणहर दिसि (डिं०) = (सं० स्वप्न + गृह), प्रा० सुवण + हर, सूणहर (डिं०) = सोने के महलों की ओर, शयनागार की ओर।

क्रम दीन्हा (डिं०) = (सं० क्रमण = चलना) = चल दिये, धीरे धीरे चल पड़े।

चौरी (डिं०) = राजस्थान में विवाह-मंडप के लिए साधारण बोल-चाल में "चौरी"—"चँवरी;" 'चमरी' शब्द प्रचलित हैं। हिन्दी में भी यह शब्द इसी अर्थ में प्रयुक्त होता है। उदा० "रचो चौरी आप ब्रह्मा चरित खंभ लगाइ कै।" (सूर)

अञ्चला = (सं० अंचल) साड़ी का छोर, पल्ला, वस्त्र का छोर।

मनबन्धे अञ्चला मिसि = विवाह-वेदी से उठने पर वर के दुपट्टे का छोर वधू के अंचल के छोर से बाँध दिया जाता है। तब वे देवयात्रा, देवदर्शन इत्यादि धार्मिक कृत्य करते हैं। ऐसा प्रतीत होता है, मानो अंचल के मिस दम्पति के मन बँध गये हैं।

अलंकार = कैतवापह्नुति—उत्तरार्द्ध में।

दो० १५६—

केलिगृह (सं०)=केलिभवन, दम्पति के एकान्त में निवास करने का महल।

करेण (सं०)=शुद्ध संस्कृत विभक्तियुक्त पद का प्रयोग। तृतीयाविभक्ति=हाथ से।

अंगण (डि०)=(सं०) आँगन।

मारजण (डिं०)=(स० मार्जन) साफ करना, स्वच्छ करना, धोना।

वियाज (डिं०)=(सं० व्याज) मिस से। अपह्नुति का चिह्न।

तसु (डिं०)=(स० तस्य)=उसके।

नोट—यह दो० संस्कृतप्रयोगों से भरा है। कवि ने अपनी भाषा को ओजस्वी, अधिक परिमार्जित एवं साहित्यिक बनाने के लिए जगह जगह संस्कृत शब्दावली का प्रयोग किया है। किसी भी भारतीय देश-भाषा का काव्य संस्कृत के इस दैन से नहीं बचा है। यह संस्कृतभाषा के काव्य के उच्च आदर्शों के कारण है; जिनका सभी देश-भाषाओं ने अनुकरण किया है।

इस दो० में कवि ने भगवान् श्रीकृष्ण के शेषशायी विष्णुरूप की ओर निर्देश किया है।

अलंकार=कैतवापह्नुति। उत्तरार्द्ध में।

दो० १६०—

सूध मणि (डिं०) (सं० सौधमणि)=प्रासाद श्रेष्ठ, सर्वश्रेष्ठ महल।

अनि अनि रंगि रचित=अन्यान्य रंगों में या रङ्गों से रचित, भिन्न भिन्न रङ्गों से चित्रित।

मणि दीपक करि = मणिमय दीपकों करके, अर्थात् मणि-दीपकों से ।

आभा = (सं०) शोभा, कान्ति, प्रतिबिम्बित शोभा ।

माँडि रहे = मँडे हुए, चित्रित, खिँचे हुए, लिखे हुए । डिङ्गल में 'माँडणो', लिखना, अङ्कित करना, के अर्थ में प्रयुक्त होता है । संस्कृत में चित्रित करने के लिए "लेखनम्" पर्यायवाची क्रिया का प्रयोग होता ही है ।

चन्द्रवा = हिं० चँदवा, चँदोवा ।

(१) एक छोटा सा सुसज्जित मंडप जो राजसिंहासन या राजगद्दी पर चाँदी या सोने के चार चोबों पर खड़ा किया जाता है । चंदोवा, वितान ।

(२) मोर पंख की चन्द्रिका । उदा० "मोरन के चदवा माथे बने राजत रुचिर सुदेश री । (सूर)

(३) (डिं०) मोरपंख की चंद्रिकाओं की आकारवाली, छत की दीवाल पर चित्रित, चन्द्रिकाएँ । राजस्थान में राजाओं के अन्तःपुर के महलों में प्रायः इस प्रकार की चन्द्रिकाएँ छत के अन्दर की ओर चित्रित देखी जाती हैं । कवि को अपने महलों की चन्द्रिकाओं का स्मरण हो जाना अत्यन्त स्वाभाविक है । उन्हीं की उपमा शेष के सहस्रफणों से दी गई है, जो अत्यन्त उपयुक्त है । "चन्द्रवा" के पहले दो अर्थ हिन्दी में अकसर प्रयुक्त होते हैं परन्तु यहाँ उनसे आशय नहीं है ।

अलंकार = कैतवापह्नुति, उत्तरार्ध में ।

नोट—संस्कृत टीका "सूधमणि" का "शुद्ध मानसा" अर्थ करके उसका सम्बन्ध शेषनाग से संयोजित करती है, जो अनुपयुक्त है ।

दो० १६१—

संसकृत (डिं०) = (सं० संस्कृति) = संस्कार।

खिणन्तरि (डिं०) = (सं० क्षणान्तरे) = क्षणेक के बाद, थोड़े समय के बाद।

रति सु तणु संसकृत = रति है जो, उसके संस्कार करने—अर्थात् रति-संस्कार करने।

मिलिवा (डिं०) = मिलने के लिए। डिंगल में वा' प्रत्यय क्रिया के अन्त में जोड़ कर, 'के लिए,' 'के निमित्त'—यह अर्थ लिया जाता है। देखो पूर्व प्रयोग दो० १३६ 'पालिवा, करिवा' इत्यादि।

विचित्रे सखिये = विचित्र सखियाँ। सखियों के लिए 'विचित्र' विशेषण अत्यन्त आशय-गर्भित है। यहाँ उन विचित्र स्वभाव-वाली सखियों से मतलब है जिन्हें साहित्य में नायिका-भेद के अन्तर्गत "दूती" भी कहते हैं।

एकारान्त बहुवचन द्योतक है।

मन्दिरन्तरि (डिं०) = अन्तर पर स्थित, पृथक् पृथक् मन्दिरों में अर्थात् जुदे जुदे महलों में।

'अन्तर' शब्द संस्कृत में कई अर्थों में प्रयुक्त होता है यथा—अवकास, भेद, दूसरा, पीछे इत्यादि।

यहाँ 'दूसरे' का अर्थ लेना चाहिए, यथा—गृहान्तर, स्थानान्तर।

नोट—इस दोहले में सुहाग-रात्रि का वर्णन है। यूरोपीय देशों में इसे Honeymoon night कहते हैं। कवि ने अपने अनुभव से विचित्र सखियों—दूतियों—के कर्म की बड़ी सूक्ष्म विवेचना

की है। उन्होंने दम्पति को "मन्दिरन्तरि किया" पृथक् पृथक् मन्दिरों में रखा; उनका चिर-वियोग करने के मतलब से नहीं, बल्कि, "खिणान्तरि रति संसक्रित करण मिलिवा," क्षणेक के बाद पुनः मिलाने के लिए। रसज्ञ जानते हैं कि संयोग शृङ्गार का पूर्ण आनन्द तभी प्राप्त होता है जब उसके पहले, थोड़े समय के लिए वियोगजनित प्रेम-प्रतात्ता हो चुकी हो। काव्य में इसी गुण को लाने के लिए कवि ने 'विचित्रे सखिये' द्वारा यह व्यापार करवाया है।

दो० १६२—

संकुड़ित (डिं०) = (सं० संकुचित) हिं० सिकुड़ा हुआ = संकुचित, संकोचमय। यह शब्द वाच्य और लक्ष्य दोनों अर्थों में प्रयुक्त हुआ है। सन्ध्या के संकोच के सम्बन्ध में तो सिकुड़ने, कम होने का अर्थ है और रुक्मिणी के सम्बन्ध में, लज्जा, संकोच, शील का आशय है।

पंखियाँ (डिं०) = (सं० पक्षी बहु० व०) पंखधारियों, पक्षियों।

उदा० "पंखिन देखि सबै डर खावा।" (जायसी)

किरणि (डिं०) = सूर्य की किरण।

इकारान्त का प्रयोग 'रमणि' से तुक मिलाने को किया गया है। शब्द का लिंगभेद द्योतक नहीं है।

वञ्छिति (डिं०) = (सं० वाञ्छति) डिंगल मे मध्यस्थित मिलित वर्णों के पूर्व आनेवाले दीर्घ को ह्रस्व कर दिया जाता है। = चाहती है।

यदि ढूँढाड़ी प्रति का पाठान्तर "वञ्छित" ग्रहण किया जाय तो इस द्वितीय पंक्ति का यह अर्थ भी हो सकता है:—

रुक्मिणी-रमण अर्थात् भगवान् श्रीकृष्ण के हृदय में भी रति-काल को सन्निकट आया जान, रति की इच्छा हो रही है।

नोट—मानव प्रकृति और बाह्य प्रकृति के अन्योन्याश्रित संकोच के भावों का कवि ने किस सूक्ष्मता के साथ विवेचन किया है, यह सहृदय रसज्ञों के मनन करने योग्य है। हम १६२ तथा १६३ दो० वाले वर्णनों को एक उच्च रहस्यवादी प्राकृतिक कवि की प्रतिभा की उत्कृष्ट सूझ समझते हैं।

अलंकार = दीपक।

दो० १६३—

पेखण (डिं०) = (सं० प्रेक्षण) प्रा० पेक्खण = देखने के लिए। हिं० उदा० "श्रमकण सहित स्याम तनु देखे, कहँ दुख समउ प्राणपति पेखे।" (तुलसी)

निसा तणौ मुख = (१) रात्रि का मुख। (२) निसा-मुख, सन्ध्या की वेला, गोधूलिवेला।

निसाचर = (सं० निशाचर) = रात्रि को चलने फिरनेवाले यथा, राक्षस, शृगाल, गीदड़, उल्लू, सर्प, चक्रवाक, भूत-प्रेत, कुलटा स्त्री, अभिसारिका, पिशाच इत्यादि।

दीठ (डिं०) = (सं० दृष्टः) प्रा० दिट्ठ = दिखाई दिया। हिन्दी में भी इसका प्रयोग होता है। बहुधा संज्ञा की तरह दृष्टि के अर्थ में आता है। कभी कभी क्रियार्थक भी उपयुक्त होता है। उदा० "तहँ शाख बैठो नीठि, तब पर्‌यो वानर दीठि।" (केशव)

निठ, नीठ (डिं०) = (सं० अनिष्टि) प्रा० अनिट्ठि—प्रथम 'अ' का लोप। = मुश्किल से, कठिनता से, अत्यन्त श्रम के बाद। हिन्दी-काव्य में भी यह शब्द प्रयुक्त होता है।

उदा० (१) चको जको सो ह्वै रह्यो, बूझे बोलति नीठि।
(बिहारी)

२) सदा समीपनि सखिनहूँ, नीठि पिछानी जाय।
(बिहारी)

द्रवड़ित (डिं०) = हिं० दौड़ना। डिङ्गल में शब्दों में रेफ लगा कर उनको विकृत करने का साधारण नियम है। जैसे, 'कर्म' से 'क्रम,' "तूटै" से "त्रूटै"। इसी प्रकार हिं० दौड़ना से द्रवड़णउ, द्रौड़णौ।

अभिसारिका = (सं०) अवस्थानुसार नायिकाओं के दश भेद होते हैं। उनमें से एक यह भी है। वह स्त्री जो प्रेमी से मिलने के लिए स्वयं संकेतस्थल पर जाय या स्वयं उसे बुलावे उसे 'अभिसारिका' कहते हैं। 'शुक्ला' और 'कृष्णा' ये दो अभिसारिकाओं के भेद हैं। कई एक तीसरा भेद 'दिवाभिसारिका' भी मानते हैं। शुक्लपक्ष की रात्रि में प्रिय से मिलनेवाली को शुक्ला और कृष्णपक्ष की अँधेरी भयावनी रात्रि में प्रेमी से संकेतस्थल में मिलनेवाली को कृष्णाभिसारिका कहते हैं। दिवाभिसारिका का लक्षण केशवदास ने यों लिखा है:—

(१) चकित चित्त साहस सहित, नीलवसनयुत गात।
कुलटा सन्ध्या अभिसरै, उत्सव तम अधरात॥

अभिसारिकालक्षण :—

अभिसारिका बुलवै पियहिं कै आपुहि चलि जाय।
करि सिंगार भूषण पहिरि तिया चली हरषाय ॥ (भानु)

कुलटा=(सं०) बहुत से पुरुषों से प्रेम रखनेवाली। पुँश्चली, व्यभिचारिणी, स्वैरिणी। परकीया नायिका का एक भेद।

लक्षण :—

कुलटा कुल बोरनि करै, बहु लोगन सों प्रेम।
फँसै सरस जन द्रुमन सों, है विधि कर अस नेम ॥ (भानु)

साहित्य मे नायिका-भेद इस प्रकार माना गया है :—

(१) प्रकृत्यनुसार—(१) उत्तमा (२) मध्यमा (३) अधमा नायिकाएँ।

(२) धर्मानुसार—(१) स्वकीया (२) परकीया या अन्या (३) सामान्या या गणिका।

(३) वयक्रमानुसार—(१) स्वकीया—मुग्धा, मध्या, प्रौढ़ा, धीरा, अधीरा, धीराधीरा, ज्ञातयौवना और अज्ञातयौवना उपभेदों-सहित। (२) परकीया—ऊढ़ा और अनूढ़ा (अविवाहिता) भेदों-सहित।

(४) व्यापारभेदानुसार—नायिकाओं के अगणित भेद और नाम हैं जिनमें दस मुख्य हैं, यथा—कलहान्तरिता, मानिनी, खण्डिता, प्रोषितपतिका, अभिसारिका, वासकसज्जा, विप्रलब्धा, उत्कंठिता, स्वाधीनपतिका, प्रवत्स्यत्पतिका।

नोट—इस दोहले में प्रकृति में विस्तार के भाव का दिग्दर्शन किया है। यह चित्र दो० १६२ वाले चित्रफलक की दूसरी ओर के दृश्य का प्रतिबिम्ब है। दोनों दो० को मिला कर प्राकृतिक विस्तार और संकोच के भावों का अध्ययन करना चाहिए और साथ ही मानवप्रकृति में इन्हीं भावों का प्रतिबिम्ब

निठ, नीठ (डिं०) = (सं० अनिष्टि) प्रा० अनिट्ठि—प्रथम 'अ' का लोप। = मुश्किल से, कठिनता से, अत्यन्त श्रम के बाद। हिन्दी-काव्य में भी यह शब्द प्रयुक्त होता है।

उदा० (१) चकी जकी सी ह्वै रही, बूझे बोलति नीठि।
(बिहारी)

२) सदा समीपनि सखिनहूँ, नीठि पिछानी जाय।
(बिहारी)

द्रवड़ित (डिं०) = हिं० दौड़ना। डिङ्गल में शब्दों में रेफ लगा कर उनको विकृत करने का साधारण नियम है। जैसे, 'कर्म' से 'क्रम,' "तूटै" से "त्रूटै"। इसी प्रकार हिं० दौड़ना से द्रवड़णउ, द्रौड़णौ।

अभिसारिका = (सं०) अवस्थानुसार नायिकाओं के दश भेद होते हैं। उनमें से एक यह भी है। वह स्त्री जो प्रेमी से मिलने के लिए स्वयं संकेतस्थल पर जाय या स्वयं उसे बुलावे उसे 'अभिसारिका' कहते हैं। 'शुक्ला' और 'कृष्णा' ये दो अभिसारिकाओं के भेद हैं। कई एक तीसरा भेद 'दिवाभिसारिका' भी मानते हैं। शुक्लपक्ष की रात्रि में प्रिय से मिलनेवाली को शुक्ला और कृष्णपक्ष की अँधेरी भयावनी रात्रि मे प्रेमी से संकेतस्थल में मिलनेवाली को कृष्णाभिसारिका कहते हैं। दिवाभिसारिका का लक्षण केशवदास ने यों लिखा है:—

(१) चकित चित्त साहस सहित, नीलवसनयुत गात।
कुलटा सन्ध्या अभिसरै, उत्सव तम अधरात॥

अभिसारिकालक्षण :—

अभिसारिका बुलवै पियहिं कै आपुहि चलि जाय।
करि सिंगार भूषण पहिरि तिया चली हरषाय॥ (भानु)

कुलटा=(सं०) बहुत से पुरुषों से प्रेम रखनेवाली। पुँश्चली, व्यभिचारिणी, स्वैरिणी। परकीया नायिका का एक भेद।

लक्षण :—

कुलटा कुल बोरनि करै, बहु लोगन सों प्रेम।
फँसै सरस जन द्रुमन सों, है विधि कर अस नेम॥ (भानु)

साहित्य में नायिका-भेद इस प्रकार माना गया है :—

(१) प्रकृत्यनुसार—(१) उत्तमा (२) मध्यमा (३) अधमा नायिकाएँ।

(२) धर्मानुसार—(१) स्वकीया (२) परकीया या अन्या (३) सामान्या या गणिका।

(३) वयक्रमानुसार—(१) स्वकीया—मुग्धा, मध्या, प्रौढ़ा, धीरा, अधीरा, धीराधीरा, ज्ञातयौवना और अज्ञातयौवना उपभेदों-सहित। (२) परकीया—ऊढ़ा और अनूढ़ा (अविवाहिता) भेदों-सहित।

(४) व्यापारभेदानुसार—नायिकाओं के अगणित भेद और नाम हैं जिनमें दस मुख्य हैं, यथा—कलहान्तरिता, मानिनी, खण्डिता, प्रोषितपतिका, अभिसारिका, वासकसज्जा, विप्रलब्धा, उत्कंठिता, स्वाधीनपतिका, प्रवत्स्यत्पतिका।

नोट—इस दोहले में प्रकृति में विस्तार के भाव का दिग्दर्शन किया है। यह चित्र दो० १६२ वाले चित्रफलक की दूसरी ओर के दृश्य का प्रतिबिम्ब है। दोनों दो० को मिला कर प्राकृतिक विस्तार और संकोच के भावों का अध्ययन करना चाहिए और साथ ही मानवप्रकृति में इन्हीं भावों का प्रतिबिम्ब

पृथक् पृथक् श्रीकृष्ण और रुक्मिणी के हृदय में देखना चाहिए और उन दोनों के हृदय के भावों के सम्मिश्रण से क्या सुखद दृश्य उपस्थित होता है, उसकी भी कल्पना करनी चाहिए।

अलंकार = दीपक।

दो० १६४—

चक्रवाक (सं०) = चकवा चकवी का जोड़ा। कवियों ने रात्रि में इनका वियोग माना है।

अनि (डिं०) = (सं० अन्य) = दूसरे।

असन्धे (डिं०) = (सं० अ + सन्धि) पृथक् होगये, जुदा होगये।

लाया दीपकाँ = जलाये हुए दीपकों, लगाये हुए दीपकों। 'लाया,' 'लाये', क्रिया का 'जलाये' 'प्रज्वलित किये' के अर्थ में हिन्दी में प्रयोग होता है—हिं० 'लाय' 'लाइ' = अग्नि।

हिं० उदा० (१) तब लंक हनुमत लाइ दई। (केशव)

(२) लगा लगी इन लोचननि, उर में लाई लाय। (बिहारी)

(३) कबीर चित चंचल किया, चहुँ दिशि लागी लाय।

(कबीर)

नोट—रात्रि के आरंभ का वर्णन है। कवि ने कल्पना की है कि यह दिवसरूपी कामी पुरुष और रात्रि रूपिणी कामिनी स्त्री के सम्मिलन का समय है।

अलंकार = पर्याय—पूर्वार्द्ध में।

कैतवापह्नुति—उत्तरार्द्ध में।

दो० १६५—

ऊभी (डिं०) = (सं० उत् + भव) प्रा० उब्भउ, डिं० ऊभौ, ऊभी (स्त्रीलिङ्ग) = खड़ी हुई। हिन्दी में भी कभी कभी प्रयोग होता है :—

उदा० (१) विरहिन ऊभी पंथ सिर, पंथी पूछै धाय।
(कबीर)

(२) चौदह सहस सुंदरी ऊभी, उठै न कंत महा अभिमानी।
(तुलसी)

क्रितारथी = (सं० कृते + अर्थे) = लिए, निमित्त। दोनों अव्ययों का एक ही अर्थ होने से, एक यहाँ अनावश्यक है। 'कृते' या 'अर्थे' दोनों में से एक भी अर्थ व्यक्त करने को पर्याप्त था।

(ऊभी) कृत = (सं०) की गई—खड़ी की गई।

अटत = (सं०) घूमते हैं, फिरते हैं।

उदा० जाग जोग जप विराग, तप सुतीर्थ अटत। (तुलसी)

स्रुति = (सं०) कान।

आहुटि (डिं०) = (हिं० आहट, संज्ञा, स्त्री०) चलने का शब्द, पद-चाप, पदध्वनि। उदा० "आहट पाय गोपाल की ग्वालि गली मँह जाय के धाय लियौ है ॥"

सप्तमी इकारान्त होने के कारण = आहट में, आहट पर।

समाश्रित = (सं०) भली प्रकार आश्रित, स्थित। शुद्ध संस्कृत प्रयोग।

अलंकार = स्वभावोक्ति।

दो० १६६—

वाधाऊआ (डिं०) = बधाईदारों। बधाई से डिं० बधाऊ, बधाऊ + आ (बहुवचन)

जेहो (डिं०) = (सं० यादृशी) जैसी, की भाँति, की तरह। 'जेहड़ो' 'जेहवो' का यह रूपान्तर-मात्र है। देखो प्रयोग दो० १६८ में।

सूँधा वास (डिं०) = सौंधे की सुगन्धि, सुगन्धित द्रव्यों की सुगन्धि। "सौंधे" का प्रयोग हिन्दी में भी होता है।

उदा० (१) सौंधे की सुवास आस पास भरि भवन रह्यो। भरत उसास वास बासन बसत है। (देव)

(२) सौंधे सनी सुथरी बिथुरी अलकैं हरि के उर आली। (बेनी)

नेउर = (सं० नूपुर) हिं० नेवर, नूपुर = पेंजनी, घुँघरू। उदा० "चींटी के पग नेवर बाजै।" (कबीर)

सद (डिं०) = (सं० शब्द प्रा० सद्द) = शब्द।

क्रमि (डिं०) = (सं० क्रम् धातु = चलना) चलकर। देखो पूर्व प्रयोग "क्रमिया" १४३ दो० में।

अनै, थ्या (डिं०) = गुजराती प्रयोग, पूर्व दो० में भी हुए हैं।

हँसा गति = (सं०) हंसगमनि, हंस के समान मनोहर चालवाली। साहित्य में नायिका की मनोहर गति की उपमा हंस की गति से दी जाती है। यह काव्य-प्रसिद्ध रूढ़ि है।

कहे (डिं०) – कहा। अन्यत्र एकारान्त क्रिया का ऐसा रूप पूर्वकालिक में प्रयुक्त हुआ है, परन्तु कहीं कहीं निश्चयवाचक भूतकाल की सम्पूर्ण क्रिया के लिए भी यह रूप प्रयुक्त होता है।

अलंकार—उपमा—दूसरी, तीसरी पंक्तियों में।
पर्याय—उत्तरार्द्ध में।

दो० १६७—

मदवहती = (सं०) मद को धारण करनेवाली। नायिका के पक्ष मे यौवनमद से युक्त। गजपक्ष में मदजलयुक्त।

गयगमणि = (सं० गजगामिनि) हाथी के समान (झूमती झामती) चालवाली। साहित्य में यह बहुप्रयुक्त उपमा है।

लोह लंगरे = लोहे की बेड़ियाँ या साँकल जो हाथी के पैरों में उसे एक जगह स्थिर करने के लिए डाली जाती है।

लाज लोह लंगरे लगाये = लाजरूपी लोहे के लंगर पैरों में डाले हुए।

हिन्दी-काव्य में यह उपमा कई कवियों-द्वारा प्रयुक्त हुई है। बिहारी के एक दोहे में हूबहू इन्हीं शब्दों में यह भाव प्रकट किया गया है। और भी उदाहरण है :—

"लाज की निगड़ गड़दार अड़दार चहूँ चौंकि चितवनि चरखीन चमकोरे है।" (देव)

गय (डिं०) = (सं० गज) प्रा० गय। हाथी।

आणी (डिं०) = (सं० आ + नी) = लाई। उदा० "कपि मुद्रिका मेलि मुख आनी।" (तुलसी)

नोट—उत्तरार्द्ध में कवि ने श्रीरुक्मिणी के संकोचभाव की उपमा, "लाज लोह लंगरे लगाये गय जिमि" से दी है। यह अत्यन्त मनोहर और समयोपयुक्त है। इस उपमा को ध्यान में रखते हुए कवि ने रुक्मिणी का 'पग पग' पर 'ऊभी' रहना और 'अवलम्बि सखी कर' चलना बड़ी युक्ति और कौशल

के साथ, उनकी लज्जा के भाव को साङ्गोपाङ्ग चित्रित करने के लिए वर्णित किया है तथा साथ ही उनकी हलचलों को मदमस्त हाथी की हलचलों से पूर्णरूपेण मिला दिया है।

अलंकार=रूपकगर्भित उपमा।

दो० १६८—

देहली=(सं०) हिं० देहरी=द्वार के चौखट के नीचे की लकड़ी अथवा पत्थर जिसे लाँघ कर बाहर से भीतर और भीतर से बाहर आते जाते हैं।

उदा० "एक पग भीतर सु एक देहरी पै धरे, एक कर कंज एक कर है किँवार पर।" (पद्माकर)

धसति (डिं०)=(हिं० धँसना)=घुसते, प्रवेश करते हुए।
हिं० उदा० मकराकृत गोपाल के कुंडल सोहत.........
धसत ड्यौढ़ी लसत निसान। (बिहारी)

जेहड़ि (डिं०)=जैसी ही, ज्योंही। सं० टीकाकार ने "चरणाभरण-विशेष इति" कह कर अनुमान लगाया है।

अमाप (डिं०)=(हिं० अ+माप) नहीं है तौल जिसका; अतुलित, बेहद, अपरिमित।

ऊपनौ (डिं०)=(सं० उत्पन्न) प्रा० उप्पण्ण, ऊपण=उत्पन्न हुआ।
उदा० (१) वन वन वृच्छ न चन्दन होइ, तन तन विरह न उपनै सोइ। (जायसी)

(२) तस सुख में दुख ऊपनै, रैन माँझ दिन होय। (जायसी)

ऊभा (डिं०)=खड़ा। देखो नोट पूर्व दो० १६५ में 'ऊभी' पर।

नोट—प्रेम में हृदय के उत्साह की सीमा नहीं रहती। भगवान् ने पैरों खड़े होकर ही नहीं, बल्कि उनके शरीर के प्रत्येक रोम ने खड़े होकर प्रेयसी रुक्मिणी का स्वागत किया है। धन्य।

अलंकार=अतिशयोक्ति—पूर्वार्द्ध में।
पर्यायोक्ति—उत्तरार्द्ध में।

दो० १६९—

दीहां (डिं०) (सं० दिन, दिवस) दांहड़ा, दिहाड़ा, दियअड़ा, दिवहड़ा इन रूपान्तरों का प्रयोग भी डिङ्गल में इसी अर्थ में देखा जाता है।

अन्तरै (डिं०)=(सं० अन्तर) बाद, पीछे।

आपे (डिं०)=लेकर, स्थापित करके। गुजराती में भी प्रयोग होता है।

पधरावी (डिं०)=(सं० प्र+धृ)=स्थापित की, रखी।

अलंकार=प्रहर्षण।

दो० १७०—

माहव......त्रिपतमन=यद्यपि माधव, (विष्णुरूप भगवान्) श्रीकृष्ण तृप्तमन हैं अर्थात् वे सर्वदा निष्काम अथवा पूर्ण-काम रहते हैं। भगवान् का विगत-काम होना ऐश्वरीय गुण है।

अतिरूप प्रेरित=अत्यन्त रूपवाली रुक्मिणी की ओर चल कर लगी हुई। इससे यह स्पष्ट होता है कि रुक्मिणी की रूप-छटा ऐसी आकर्षक थी कि स्वभावत: निष्काम प्रकृतिवाले भगवान् की आँखों को भी उसने आकर्षित कर लिया।

घण (डिं०) = स्त्री । देखो नोट पूर्व दो० १४६ में ।
अलंकार = विरोधाभास—पूर्वार्द्ध में ।
उपमा—उत्तरार्ध में ।

दो० १७१—

आजाति जाति (डिं०) = (सं० आयाति + याति) = आते जाते हैं ।
घूँघट पट (डिं०) = (सं० अवगुंठन पट) = स्त्रियों के मुँह पर लज्जा-निवारणार्थ अञ्चल का छोर परदे की तरह ढका रहता है, उसे घूँघटपट कहते हैं । उदा० "घूँघट के पट खोल री, बोल री तोहिं राम मिलेंगे ।"
अन्तरि = (सं०) अन्दर । देखो दो० १६१, जहाँ पर यह अव्यय दूसरे अर्थ में प्रयुक्त हुआ है ।
उदा० "बसत सुचित अंतर तऊ, प्रतिबिम्बित जग होइ ।
(बिहारी)
अमिली (डिं०) = (सं० अ + मिलित) हिन्दी में "अमिल" का प्रयोग होता है । उदा० (१) "हरखि न बोली लखि ललन, निरखि अमिल सँग साथ । (बिहारी)
(२) निपट अमिल वह तुम्हें मिलिबे की जऊ, कैसे कै मिलाऊँ गति मोपै न विहँग की । (केशव)
मेलण (डिं०) = (सं० मिल) प्रेरणार्थक मिलाना, सयुक्त करना इकट्ठा करना । उदा० "सिय जयमाल राम उर मेली ।"
कटाछि = (सं० कटाक्ष) हिं० कटाछ, कटाछि । तिरछी आँखों से देखना । उदा० "कटाछनि घालि कटा करती है ।" (बिहारी)
नली = (सं० नलिका) हिं० नरी, नली । जुलाहों का नली के आकार का एक यंत्र जिसमें सूत लपेट कर इधर से उधर

फेंकते हैं और कपड़ा बुना जाता है। अँगरेज़ी में Shuttle-l कहते हैं।

सूत्र नियमन = धागे अथवा कपड़े के तन्तुओं को क्रमबद्ध अथ नियमबद्ध करनेवाली।

सं० नियम कोई व्यवस्थित परिपाटी अथवा क्रम।

इससे क्रिया बनी 'नियमन' = नियमबद्ध करनेवाली।

दूति (सं०) प्रेमी-प्रेमिकाओं को मिलानेवाली साहित्य-प्रसि स्त्री को दूती कहते हैं। स्वभाव के अनुसार ये तीन प्रक की होती हैं (१) उत्तमा, (२) मध्यमा, (३) अधमा। यह रुक्मिणी के घूँघट-पट में इधर से उधर जानेवाले नेत्रों व कटाक्ष ही दूती का कार्य कर रहा है।

मन = (१) नायक और नायिका के मन ("दूति मैं" सम्बन्ध मे (२) सूत्र के ताने और बाने के दो धागे ("नली" सम्बन्ध मे

नोट—दो० १३२ में तो कवि ने अपनी मौलिक कल्पना के बल प लोहार के कार्य को उपमान के रूप में संयोजित कर चमत्कारपूर्ण किया था। इस दो० में जुलाहे के कार्य के अमर किया है। सच्चा कवि वही है जो जीवन के साधार से साधारण व्यवसायों को काव्य में उपयुक्त करके अपन प्रतिभा के प्रकाश से उन्हें सौन्दर्य और प्रकाशपूर्ण कर दे कबीर ने भी इसी व्यवसाय को लेकर अध्यात्मविषय प कविता बनाई—"झिनि २ बीनी चदरिया" (कबीर

अलंकार = रूपक।

दो० १७२—

विलासा = (सं०) अंग की मनोहर चेष्टायें, भाव-भंगियाँ, हाव-भाव विकार इत्यादि। संयोग के समय अनेक प्रकार के हाव

भाव अथवा प्रेम-सूचक इतर क्रियायें शरीर के अंगों में होने लगती हैं, जो एक दूसरे प्रेमी की अनुरक्ति का कारण होती हैं। इन्हें "विलास" कहते हैं। हिं० उदा० "भ्रुकुटि-विलास जासु जग होई"। (तुलसी)

जई (डिं०)=(सं० यदा) जब, जिस समय। देखो पूर्व प्रयोग दो० ६२, १५१, में।

हेक हेक हुइ=एक एक होकर, एक एक करके, क्रमशः।

अलंकार=स्वभावोक्ति।

सूक्ष्म।

दो० १७३—

एकन्त उचित क्रीड़ा=एकान्तोचित क्रीड़ा। रहस्य में करने योग्य क्रीड़ा अर्थात् रति-क्रीड़ा।

कहणौ आवै (डिं० मुहा०)=कहने में आवे, कहते बने। हिन्दी में भी यह मुहाविरा प्रयुक्त होता है।

सुजि (डिं०)=वही ही अर्थात् दम्पति श्रीकृष्ण-रुक्मिणी, देखो प्रयोग पूर्व दो० ७९ में। सुजु, सोज इत्यादि इसके रूपान्तर हैं।

दो० १७४—

प्रारथित=(सं०) प्रार्थिता (कर्मवाच्य प्रयोग)=प्रार्थना की जाती हुई।

केहवी (डिं०)=(सं० कीदृशी) कैसी। केही, केहड़ी रूपान्तर भी मिलते हैं। जिस प्रकार—जेही, जेहड़ी, जेहवी।

श्री=(सं०)=शोभा, कान्ति।

विगलित=(सं०)=शिथिल, म्लान, बिगड़ी हुई।

उदा० "ऋतुपति तरु विगलित सुदल, तहँ कुरूपता वास।"

गति=(सं०)=दशा, हालत। उदा० "भइ गति साँप छछुंदर केरी।" (तुलसी)

सुरत - (सं०) रति-क्रीड़ा, संभोग। उदा० "सुरत ही सब रैन बीती, कोक पूरण रंग।" (सूर)

अलंकार = उत्प्रेक्षा।

दो० १७५—

मयण (डिं०) = (सं० मदन) प्रा० मयण, मअग्ग = कामदेव।
उदा० जाहि दीन पर नेह, करहु कृपा मर्दन मयन ॥ (तुलसी)

कुंदण = हिं० कुंदन = बहुत अच्छे और साफ़ सोने का पतला पत्तर जिसे लगा कर जड़िये उस पर नगीना जड़ते हैं। स्वच्छ, ख़ालिस, बढ़िया स्वर्ण।

मिलिया (डिं०) = (सं० मिलिता) हिं० मिलाया = एकत्रित किया।

अलंकार = उत्प्रेक्षा—रूपकगर्भित।

दो० १७६—

ध्रगध्रगी (डिं०) = (अनुकरण शब्द) हिं० धगधगी। डिंगल में रेफ का आगम करने का नियम है। हृदय का धग् धग् करके धड़कना।

उदा० (१) आवत देख्यौ विप्र, जोरि कर रुक्मिणि धाई।
कहा कहैगो आनि, हिये धगधगी लगाई ॥ (सूर)
(२) दशकंधर उर धकधकी अब जनि धावै धनुधारि। (तुलसी)

हुह (डिं०) = हिं० हुआ। 'हुव', 'हुअ' रूपान्तर का भी प्रयोग होता है।

चख (डिं०) = (सं० चक्षु) आँखों में।

कंठ–कुह = पक्षियों के मधुर और ललित स्वर से बोलने को 'कुहुकना' कहते हैं। मधुरभाषिणी स्त्रियों की वाणी की उपमा कोयल के कुहुकने से देते हैं। अतएव यहाँ पर रुक्मिणी के मधुर कोकिलकंठ के स्वर को "कुह" कहा गया है।

निवारण = (सं०), रोकना, हटाना, स्थगित करना।

उदा० (१) पोंछि रुमालन सों श्रमसीकर, भौंर का भीर निवारत ही रहै। (हरिश्चन्द्र)

(२) "सैनहिं लखनहिं राम निवारे"। (तुलसी)

नोट—इस दो० में कवि ने सुरतान्त में रुक्मिणी का वर्णन करते हुए कुछेक स्वाभाविक सात्त्विक-भावों का निदर्शन किया है। दो० ५७ में भगवान् श्रीकृष्ण के शरीर में सात्त्विक भावों का निदर्शन किया था।

सात्त्विकभावाः—

स्तंभस्वेदोऽथ रोमाञ्चः स्वरभंगोऽथ वेपथुः।
वैवर्ण्यमश्रु-प्रलय इत्यष्टौ सात्विकाः स्मृताः।

यहाँ पर पीतता (वैवर्ण्य), चित्तव्याकुलता, हिये ध्रगध्रगो (वेपथु) और खेद—सात्त्विकभावों के लक्षण हैं।

अलंकार = समुच्चय।

देहरीदीपक—उत्तरार्द्ध में (निवारण करे)।

दो० १७७—

तालि (डिं०) = (सं० ताल) संगीत में समयसूचक विराम को 'ताल' कहते हैं। यहाँ पर सिर्फ 'समय में' का अर्थ लिया है।

घणा घाति वल = बहुत से बल डाल कर, बहुत टेढ़ो होकर, हिन्दी में 'बल खाना' मुहाविरा है जिसका अर्थ घुमाव के साथ टेढ़ा होना होता है। 'बल'—लचक, ख़भ को भी कहते हैं। उदा० बल खात दिग्गज कोल कूरम शेष सिर हालत मही। (विश्राम)

केलि = (सं० कदली प्रा० कयली) हिं० केली (स्त्री)।

तेही (डिं०) = उस प्रकार, वैसी। 'तेहवो' का भी प्रयोग होता है। एहवो, जेहवो, केहवो और एही, जेही, केही की तरह।

अवलंब = (सं०) = सहारा, आश्रय, आधार।

हिं० उदा० नहिं कलि कर मन भगति विवेकू, रामनाम अवलंबन एकू।

अलंकार = उपमा।

दो० १७८—

पधरावी (डिं०) = हिं० 'पधारना' का प्रेरणार्थक = स्थापित की, पहुँचाई।

कन्है (डिं०) = पास, निकट, समीप। प्रचलित मारवाड़ी में प्रयुक्त होता है। हिन्दी में भी कहीं कहीं प्रयोग देखा जाता है।

उदा० (१) मीत तुम्हारा तुम कन्हैं, तुमहों लेहु पिछान।

(२) खरी जरी तिनके कनें, खोटी कहत गँवार। (विश्राम)

त्रूटी (डिं०) = (सं० त्रुट्) हिं० टूटी = टूट गई। अन्यत्र "त्रूटै" भी मिलता है। यथा—देखो पूर्वप्रयोग "त्रूटै कंध मूल जड़ त्रूटै"।

एक ही लक्ष्य के साधक हैं परन्तु उनके साधनों में बहुत भेद है। हम नहीं कह सकते कि कवि कौन से मार्ग के विशेष पक्षपाती रहे होंगे। उनके जीवनचरित्र से तो ज्ञात होता है कि वे दोनों मार्गों पर पर्याप्त यात्रा कर चुके थे।

अलंकार = यमक = पूर्वार्द्ध में।
यथासंख्य।

दो० १८१—

लिखमीवर (डि०) = (सं० लक्ष्मीवर) = भगवान् श्रीकृष्ण (विष्णु के अवतार में)।

हरख निगरभर (डि०) = [सं० हर्ष + निकर + भर (भरित)] = हर्ष के समूह से भरे हुए, हर्षोल्लास पूर्ण।

रयणि (डि०) = (सं० रजनी) प्रा० रयणी = रात्रि।

त्रूटन्ति (डि० मुहा०) टूटती हुई, समाप्त होती हुई। राजस्थानी में 'टूटती रात', "टूटतौ दिन"—रात और दिन के पिछले भागों के वास्ते मुहाविरे की तरह प्रयुक्त होते हैं।

किरीटी = (सं० किरीटिन्) कोई मुकुटधारी जीव। यह इन्द्र, अर्जुन या राजा के लिए विशेषण की तरह प्रयुक्त होता है। कुक्कुट को भी 'किरीटी' कहते हैं।

जीवितप्रिय = (सं०) जिसको जीवन प्रिय है।

पोकार (डि ०) = हि ० पुकार = बोली।

घड़ियाल = (सं० घटिकावलि) प्रा० घडिआलि = समय-सूचना के लिए बजाये जानेवाला टकोरा या घंटा।

कहकहाहट (डिं०)=(अनुकरण शब्द) अट्टहास, ठट्ठा, ज़ोर की हँसी। कहकहा मार कर हँसना।

दो० १८०—

राता (डिं०)=(सं० रक्त)—अनुरक्त, रँगे हुए, तन्मय, तल्लीन हुए। उदा० (१) जिन कर मन इन सन नहिं राता, तिन जग वंचित किये विधाता। (तुलसी)

(२) रँग राती राते हिये, प्रीतम लखी बनाय। (बिहारी)

तत (डिं०)=(सं० तत्त्व)=तत्त्व, ब्रह्म। उदा० "यह तत वह तत एक है"। (कबीर)

बिन्हे-गण (डिं०)=दोनों प्रकार के समूह अर्थात् पुरुषवर्ग।

जामिए (डिं०)=(सं० यमी)=संयमी पुरुष। डिंगल में एकारान्त, संज्ञा शब्दों को बहुवचन बनाने के प्रयोग में आता है। यथा दो० १७९ में "सखिए, मनरखिए"।

कामिए (डिं०)=(सं० कामी)=कामी पुरुष।

जागरण=(सं०)=किसी धार्मिक उपलक्ष में जागना। देवताओं के स्तुति-संकीर्तन के लिए मंदिरों में भक्त जागरण करते हैं। उदा० "बासर ध्यान करत सब बीत्यौ, निशि जागरण करत मन भीत्यौ"। (सूर)

महानिशि=(सं०) (१) रात्रि का मध्यभाग, अर्धरात्रि, निशीथ-काल। (२) कल्प के अन्त में होनेवाली प्रलय-रात्रि। इस दोहले में कवि ने अपने दार्शनिक रहस्यवाद से परिपूर्ण गंभीर आशय का परिचय दिया है। 'कामिए' और 'जामिए' 'बिन्हे गण' के विभिन्न सांसारिक लक्ष्यों की ओर निर्देश करके कवि ने प्रवृत्ति और निवृत्ति मार्ग के आदर्शों पर अपने विचार प्रकट किये हैं। कवि के विचार से दोनों मार्ग

कस (डिं०) = (फ़ारसी० कश) = खिंचाव, यथा 'कशिश' = आकर्षण। राजस्थानी में शरीर के वस्त्र को बाँधने के लिए कपड़े का बना हुआ रस्सी के आकार का जो लम्बा बंधन होता है उसे 'कस' कहते हैं। उसी अर्थ में यहाँ प्रयुक्त हुआ है। सं० टीका "कस इति कञ्चुकबंधनानि"।

छुद्रघंटिका = (सं० क्षुद्रघंटिका) घूंघरूदार मधुर शब्द करने-वाली करधनी।

सहित लाज भय प्रीति = लज्जा, भय और प्रीति सहित। भाव-सन्धि का अच्छा उदाहरण है। मिलाओ:—

उदा० (१) "नत मुख ह्वै विहँसी पिया, नयनन में भय प्रीति।" (रतिरानी)

(२) दुहुँ समाज हिय हर्ष-विषादू। (तुलसी)

दो० १७९—

मनरखिए (डिं०) = मन रखनेवाली, इच्छानुवर्त्तिनी। ढूँढाड़ी टीका—मन की राखणहार। सं० टीका—छन्दोवर्त्तिनीभिः।

सँघट = (सं० संघट्ट) = समूह, पुंज, झुंड।

चित्रसाली (डिं०) = (स० चित्रशाला) वह महल जिसमें दीवारों पर चित्र बने हों अथवा टँगे हों।

लका-कांड में तुलसी ने मदोदरी की चित्रसारी का वर्णन किया है।

चौकि (हिं०) = (सं० चतुष्क) प्रा० चउक। आँगन, घर के बीच कोठरियों या बरामदों से घिरा हुआ वह चौरस स्थान जिस पर छत न हो; सहन।

उदा० "कदली खंभ चौक मोतिन के, बाँधे वंदनवार"। (सूर)

कहकहाहट (डिं०)=(अनुकरण शब्द) अट्टहास, ठट्ठा, जोर की हँसी। कहकहा मार कर हँसना।

दो० १८०—

राता (डिं०)=(सं० रक्त)—अनुरक्त, रँगे हुए, तन्मय, तल्लीन हुए। उदा० (१) जिन कर मन इन सन नहिं राता, तिन जग वंचित किये विधाता। (तुलसी)

(२) रँग राती राते हिये, प्रीतम लखी बनाय। (बिहारी)

तत (डिं०)=(सं० तत्त्व)=तत्त्व, ब्रह्म। उदा० "यह तत वह तत एक है"। (कबीर)

बिन्हे.गण (डिं०)=दोनों प्रकार के समूह अर्थात् पुरुषवर्ग।

जामिए (डिं०)=(सं० यमी)=संयमी पुरुष। डिंगल में एकारान्त, संज्ञा शब्दों को बहुवचन बनाने के प्रयोग में आता है। यथा दो० १७६ में "ससिए, मनरखिए"।

कामिए (डिं०)=(सं० कामी)=कामी पुरुष।

जागरण=(सं०)=किसी धार्मिक उपलक्ष में जागना। देवताओं के स्तुति-संकीर्तन के लिए मंदिरों में भक्त जागरण करते हैं। उदा० "बासर ध्यान करत सब बीत्यौ, निशि जागरण करत मन भीत्यौ"। (सूर)

महानिशि=(सं०) (१) रात्रि का मध्यभाग, अर्धरात्रि, निशीथ-काल। (२) कल्प के अन्त में होनेवाली प्रलय-रात्रि। इस दोहले में कवि ने अपने दार्शनिक रहस्यवाद से परिपूर्ण गंभीर आशय का परिचय दिया है। 'कामिए' और 'जामिए' 'बिन्हे गण' के विभिन्न सांसारिक लक्ष्यों की ओर निर्देश करके कवि ने प्रवृत्ति और निवृत्ति मार्ग के आदर्शों पर अपने विचार प्रकट किये हैं। कवि के विचार से दोनों मार्ग

एक ही लक्ष्य के साधक हैं परन्तु उनके साधनों में बहुत भेद है। हम नहीं कह सकते कि कवि कौन से मार्ग के विशेष पक्षपाती रहे होंगे। उनके जीवनचरित से तो ज्ञात होता है कि वे दोनों मार्गों पर पर्याप्त यात्रा कर चुके थे।

अलंकार=यमक=पूर्वार्द्ध में।
यथासंख्य।

दो० १८१—

लिखमीवर (डिं०)=(सं० लक्ष्मीवर)=भगवान् श्रीकृष्ण (विष्णु के अवतार में)।

हरख निगरभर (डिं०)=[सं० हर्ष+निकर+भर (भरित)]=हर्ष के समूह से भरे हुए, हर्षोल्लास-पूर्ण।

रयणि (डिं०)=(स० रजनी) प्रा० रयणी=रात्रि।

त्रूटन्ति (डिं० मुहा०) टूटती हुई, समाप्त होती हुई। राजस्थानी में 'टूटती रात', "टूटतौ दिन"—रात और दिन के पिछले भागों के वास्ते मुहाविरे की तरह प्रयुक्त होते हैं।

किरीटी=(सं० किरीटिन्) कोई मुकुटधारी जीव। यह इन्द्र, अर्जुन या राजा के लिए विशेषण की तरह प्रयुक्त होता है। कुक्कुट को भी 'किरीटी' कहते हैं।

जीवितप्रिय=(सं०) जिसको जीवन प्रिय है।

पोकार (डिं०)=हिं० पुकार=बोली।

घड़ियाल=(सं० घटिकावलि) प्रा० घड़िआलि=समय-सूचना के लिए बजाये जानेवाला टकोरा या घंटा।

एक दूसरे प्रकार से भी इस दो० का अन्वयार्थ किया जा सकता है। यथा—[हरख निगरभर लिछमीवर त्रूटन्ति रयणि (त्रूटन्ति) श्रायु इम लागी, जिम क्रीड़ाप्रिय किरीटी पोकार, जीवितप्रिय घड़ियाल] हर्षोल्लास से पूर्ण लक्ष्मीवर श्रीकृष्ण को टूटती (पिछली) रात्रि में बीतता हुआ समय इस प्रकार लगा जिस प्रकार विलासी पुरुष को मुरग़े की पुकार और जीवनप्रिय पुरुष को घड़ियाल का शब्द लगता है। (अर्थात् बड़ा अप्रिय लगा)।

लंकार = उपमा।

ाड़ी टीका उत्तरार्द्ध का यों अर्थ करती है:—जिस्यो ज्याँहने घणा दिन जीवबो प्यारो होय त्याँहने घड़ियाल् को साद लागै छ: तिस्यो बुरो किरीटी कहताँ मुरगा को साद लागै छइ। परन्तु यह अर्थ इतना स्वाभाविक अथवा अनुभव-सिद्ध नहीं है जितना हमारा अन्वयार्थ।

० १८२—

न्ती (डि०) = (सं० गरण) = जीर्ण होते हुए, नष्ट होते हुए, धीरे धीरे नष्ट होते हुए—जिस प्रकार बर्फ़ पिघल कर धीरे धीरे नष्ट होता है। 'रयणि गलन्ती' उसी कोटि का मुहाविरा है जिस कोटि का "रयणि त्रूटन्ति"—ऊपर के दोहे में।

दा (डिं०) = (सं० मंद) = धीमा, सुस्त, उदास, फीका अतएव अस्वस्थ। (फ़ारसी० माँद) = थका हुआ, बीमार, अस्वस्थ। हिं० में 'थका-माँदा,' 'भला-माँदा' शब्द-युग्म प्रयुक्त होते हैं।

(डिं०) = हिं० सती = सती, साध्वी।

(डिं०) = (डिं० वर = पति—स्त्री० 'वरि' = पत्नि) = स्त्री, पत्नि।

दीपै=(सं० दीप्) प्रकाशित करता है। उदा० द्वार में दिसान
दुनी में देस देसन में देख्यो दीप दीपन में दीपत दिगंत
(पद्माकर)

नासफरिम (डिं०)=नाश होगया है 'फरिम'—शासन—जिसक
=(फ़ारसी० फ़रम) आज्ञा, शासन, हुकूमत। इस शब्द
बने हुए शब्द हैं:—फ़रमाबरदार, फ़रमाइश, फ़रम
फ़रमाना।

ढूँढाड़ी टीका:—सफरिम पावै जिसौ सूरतन मरद को ड
देखोजै छइ।

सं० टीका:—सफरिम अदातृत्वेन (कंजूसो)।

हिं० उदा० आमिलह छिन पौन प्रवीन लै, नाफरमाँ फरम
पठायौ। (गुमान)

सू रतनि नरि=(सं० सु+नररत्न)=नरश्रेष्ठ।
रत्न का अर्थ 'अपनी जाति में श्रेष्ठ' का होता है। य
ग्रंथरत्न, कविरत्न इत्यादि।

परजलती इ (डिं०)=(सं० प्रज्वलत: अपि)=प्रज्वलित भी, जल
हुआ भी।

अलंकार=उपमा—पूर्वार्द्ध में।
विरोधाभास—तृतीय पंक्ति में।
उपमा—उत्तरार्द्ध में।

दो० १८३—

मेली (डिं०)=(सं० मिलित) मिली, पूर्ण हुई।

साध, साध्र (डिं०)=(हिं० साध) डिंगल की प्रथानुसार 'ध' में र
का आगम किया गया है। साध=इच्छा, कामना, ख्वाहिश
उदा० "जेहि अस साध होइ जिव खोवा।" (जायसी)

"साध पूरना" अथवा "साध पुराना",—मुहाविरे एक और विशिष्ट अर्थ में भी प्रयुक्त होते हैं। गर्भाधान से सातवें महीने में गर्भिणी स्त्री के लिए गृहस्थ में एक उत्सव मनाया जाता है जिसमें उसकी 'दोहद' सम्बन्धिनी इच्छाओं की पूर्त्ति का आयोजन किया जाता है।

कोक=(सं०)—(१) चकवा-चकवो। उदा० "कोक शोकप्रद पंकज द्रोही"। (तुलसी)

(२) कोक देव नाम के पंडित जो रतिशास्त्र के आचार्य माने गये हैं।

(३) संगीतशास्त्र का छठा भेद जिसमें नायिका-नायक, रस, रसाभास, अलंकार, उद्दीपन, आलंबन, समय, समाजादि का शास्त्र-विवेचन किया गया है।

प्रथम पंक्ति के 'कोक' का अर्थ (१) लिया गया है। द्वितीय पंक्ति के 'कोक' का अर्थ (२) और (३) लिया गया है।

रही=हिं० रह जाना=निवृत्त हो जाना, रुक जाना। देखो पूर्व दो० में प्रयोग—"रहिया हरि" (७०) "रह रह........वह रहे रह"। (४६)

ग्रहणे=हिं० गहना। डिंगल रेफ के आगम से रूपान्तर।

प्रफूले फूले=प्रफुल्लित पुष्पों ने। डिंगल में एकारान्त बहुवचन का चिह्न होता है।

अलंकार=व्याघात।

दो० १८४—

अनाहत धुनि=(सं०)=योग का एक साधन। वह नाद या शब्द जो दोनों हाथों के अँगूठों से कानों को बन्द करके

ध्यान करने से अंतःकरण में सुनाई देता है। कबीर के दोहों में तथा पदों में 'अनहद नाद' का प्रसंग बहुतायत से आया है। "अनहद की धुनि प्यारी, साधो"। यह हठयोग के अनुसार शरीर के छः चक्रों में से एक है। इसका स्थान हृदय, रंग पीला, लाल और दलों की संख्या १२ हैं।

जोग अभ्यास (डिं०)=योगाभ्यास की शास्त्रोक्त आठ विधियाँ हैं, जिन्हें अष्टाग=योग कहते हैं। योगी लोग उन्हीं साधनों से योगाभ्यास-द्वारा ब्रह्म की प्राप्ति करते हैं :—

"यमो नियमश्चासनं च प्राणायामस्ततः परम्।
प्रत्याहारो धारणा च ध्यानं सार्धं समाधिना॥
अष्टांगान्याहुरेतानि योगिनां योगसिद्धये"॥

निसामै=(सं० निशामय) रात्रिरूपी।

मायापटल=(स०) अविद्या, अज्ञान अथवा भ्रम का परदा जो बुद्धि के वास्तविक ज्ञान को ढक लेता है।

उदा० सुर मायावश केकई, कुसमय कीन्ह कुचाल।
(तुलसी)

नोट—वेदान्त दर्शन ने प्रकृति तथा असंख्य पुरुषों का एक ही परमतत्त्व ब्रह्म में अविभक्त रूप में समावेश करके, जड़-चेतन के द्वैतभाव के स्थान पर अद्वैत ब्रह्म की स्थापना की है। इस दर्शन में सांख्यों के अनेक पुरुषों का खंडन किया गया है और चेतन-तत्त्व का एक और अविच्छिन्न रूप सिद्ध करते हुए यह बताया गया है कि प्रकृति अथवा माया की अहंकारगुणरूपी उपाधि से ही एक के स्थान पर अनेक पुरुषों या आत्माओं की मिथ्या=प्रतीति होती

है। इसी मिथ्या-प्रतीति को इस दो० में 'माया-पटल' कहा है। यह अनेकता माया-जन्य है—असत्य है—भ्रमात्मक है। योग-द्वारा चित्तवृत्तियों का निरोध करके अष्टांग साधनों से योगी इस भ्रम, मिथ्याप्रतीति का नाश करता है—अर्थात् "मायापटल" को हटाता है। गीता का भी यही उपदेश है।

मंजै=(सं० मार्जन)=मार्जन कर देता है, साफ़ कर देता है, हटा देता है।

प्राणायामे=(सं०) प्राणायाम में। अष्टांग योग का चौथा अंग प्राणायाम है। इसमें श्वास-प्रश्वास की गति का निरोध किया जाता है। इसकी तीन वृत्तियाँ—बाह्य, आभ्यंतर और स्तंभ हैं, जिनका नाम रेचक पूरक और कुंभक भी है। इसके अतिरिक्त एक और शक्ति है जिसे बाह्याभ्यन्तर विषयाक्षेपी कहते हैं। इसमें श्वास-प्रश्वास की बाह्याभ्यंतर-वृत्तियों का निरोध करके रोक देते हैं। पातंजलि ने इसका मूल यह माना है कि इससे ब्रह्म-प्रकाश का व्यवरोध अथवा आवरण ("मायापटल") क्षीण होकर "धारणा" में स्थिति होती है और "ज्योति-प्रकाश" की ओर प्रवृत्ति होती है। प्राणायाम त्रिकालसन्ध्या का प्रधान अग है। शास्त्रों में इसे सर्वश्रेष्ठ तप कहा है।

ज्योति प्रकाश=(सं०) परब्रह्म की अखण्ड ज्योति का प्रकाश।

नोट—दो० २६६ में कवि ने "ज्योतिषी वैद पौराणिक जोगी" इत्यादि के ज्ञान से वेलि पढ़नेवालों को जाँच रक्खी है। वह मिथ्याभिमान नहीं है। "योगी" के सम्बन्ध में यह दो० प्रमाण

है। अन्यान्य शास्त्रों के लिए अन्यान्य वेलि के दो० यथास्थान नोटों में निर्दिष्ट किये गये हैं।

अलंकार = रूपक।

दो० १८५—

दिणयर = (डिं०) = (सं० दिनकर) प्रा० दिणअर, दिणयर = सूर्य्य के।

रई (डिं०) = मंथन-दंड। देखो प्रयोग पूर्व दा० ६२ में।

कैरव श्री = (सं०) कुमुदिनी की शोभा।

एतला (डिं०) = इतनों को।

मोखियाँ (डिं०) = (सं० मोक्ष) मोक्षप्राप्त वस्तुओं को, मुक्त चीज़ों को।

वंध (डिं०) = (सं० बंधन)।

हट = (सं० हट्ट) = हिं० हाट = दूकान, बाज़ार। उदा०—
"पंडित होइ सो हाट न चढ़ा" (जायसी)।

गो-घोख = (सं०) = गोशाला। उदा० देखत रह्यौ घोष के बाहर, कोउ आयौ सिसुरूप रच्यौ रीं। (सूर)

ताल् (डिं०) = हिं० ताले।

ऊगि (डिं०) = (सं० उद्गमन) प्रा० उगवण, हिं० उगना। = उदय होकर। उदा० "उगेहु तात देखहु रवि ताता"। (तुलसी)

मोख (डिं०) = (सं० मोक्ष) मुक्ति।

अलंकार—व्याघात।
यथासंख्य।

दो०१८६—

वाणिजाँ वधू (डिं०) = वणिकों की स्त्री (बहुवचन)। कहीं कहीं समस्त पदों को इस प्रकार पृथक् पृथक् डिंगल में लिखते हैं। देखो पूर्व प्रयोग "जादवाँ इन्द्र" दो० ४५ में।

वाछ (डिं०)=(सं० वत्स)—बछड़े।

असइ (डिं०)=(सं० असती) प्रा० असई-असै=कुलटा स्त्री।

विट=(सं०) नाटक-साहित्य में एक प्रकार का नायक, जो विषय-भोग में सम्पत्ति नष्ट कर देता है। वेष-भूषा में चतुर और रसिक होता है।

वेल (डिं०)=(सं० वेला) समुद्र की लहर, तरङ्ग।

समपिया (डिं०)=(सं० समर्पित)=समर्पण किया, दिया।

अलंकार=व्याघात।

यथासंख्य।

दो० १८७—

राह किय=' राह करना" "राह बनाना"—हिन्दी मुहाविरे में भी प्रयुक्त होते हैं, यथा:—रास्ता बनाया, मार्ग बनाया। (फ़ारसी० राह=रास्ता)।

दीह (डिं०)=(सं० दीर्घ) प्रा० दीह=ख़ूब, बड़ा। उदा०—"बहु वामँह दीह पताक लसैं"। मिलाओ प्रयोग 'दीह' का दो० ६६ में, जहाँ दीह=दिन, दिवस।

गाढ=(सं०) गाढ़ापन, घनत्व, ठोसपना। उदा० 'चैत्र अगम गढ़ गाढ़ सुहावा'। (तुलसी)

द्रव=(सं०) द्रवण का भाव, द्रवत्व, बहाव, तरलत्व, पिघलने की योग्यता।

सूर=सूर्य। उदा०—"सूर सूर तुलसी शशी"।

हेमगिरि (डिं०)=(सं० हिमगिरि)=हिमालय पर्वत, जो वर्फ़ से ढका रहता है। 'हेम'—सोने को भी कहते हैं। अतएव सुमेरुगिरि का भी अर्थ हो सकता है। 'हेमसुता' पार्वती के लिए भी प्रयुक्त हुआ है। इससे यही आशय निकलता है

कि कवियों ने हिमालय और सुमेरुगिरि में विशेष भेद नहीं माना है। कइयों ने तो एक ही दिशा—उत्तर—में दोनों को स्थित किया है। देखो पूर्व दो० १२ में 'सुमेरु' पर नोट। डिं० में "हिम" और "हेम" के उच्चारण में बहुत कम अन्तर किया जाता है। अतएव यह सादृश्य।

अलंकार = व्याघात।

दो० १८८—

विहित = (सं०) = ठीक, यथावत्। सं० विहितमेव = ठीक ही है।

केहवो (डिं०) = कैसा, कौन सा। केहो, केहड़ो, केहवो का भी प्रयोग होता है।

हेम दिसि (डिं०) = (सं० हिम + दिशा) यहाँ भी 'हेम' हिम, बर्फ़ के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। हिमदिशा = उत्तर।

हेम दिसि सरण लोधौ = अर्थात् सूर्य उत्तरायण में है। ग्रीष्म के आरम्भ में सूर्य उत्तरायण में होते हैं।

व्रिख (डिं०) = (सं० वृष, वृक्ष)—(१) वृषराशि, ज्योतिष के अनुसार मेषादि बारह राशियों में से दूसरी राशि। ग्रीष्म मे सूर्य वृषराशि पर आते हैं और आतप बढ़ जाता है।
(२) वृक्ष।

सूरिज ही व्रिख आसरित = 'व्रिख' पर श्लेष होने से श्लेष की ध्वनि से यहाँ यह अर्थ भी निकलता है कि 'आकुल थ्या लोक' को ही 'छाया बछित' नहीं है; अर्थात् केवल मनुष्य ही वृक्षों का आसरा (छाया के लिए) नहीं देखते हैं, बल्कि सूर्य भी वृष (वृक्ष) राशि का आश्रय ले रहे हैं। उनका वृष पर आना मानो गरमी से तप कर वृक्ष की छाया का आश्रय लेना है। 'सूरिज ही' पर ज़ोर इसी अर्थ की ध्वनि को

स्पष्ट करने के लिए दिया है। 'सूरिज' पद का दुहराना भी यही आशय रखता है।

अलंकार=परिकर—'हेमदिशि'—आशयगर्भित है।
श्लेष—'त्रिख' में।

दो० १८६—

श्रीखंड=(सं०)=चन्दन।

कुमकुमी (डिं०)=गुलाबजल, देखो इसी अर्थ में प्रयोग पूर्व दो० १०२ में।

सरि=(सं०) सर में। सप्तमी इकारान्त डिंगल में, में, पर का अर्थ देता है।

दलि=(सं० दल=अवयव, भाग) शरीर पर। देखो प्रयोग दो० २३१ में।

आहरण (डिं०)=(सं० आभरण)=आभूषण।

जुगति (डिं०)=(सं० युक्ति)=प्रकार, ढङ्ग, उपाय से।

एही=(हिं०)=इसी। उदा० "एहि विधि राम सबहिं समुझावा।" (तुलसी)

दलि मुगता आहरण दुति=इस पंक्ति का टीकाकार भिन्न भिन्न अर्थ करते हैं, यथा:—(१) ढूँ० टीका—महगा सब मोतियाँ का ई धारण किया छइ।

(२) सं० टीका—द्युतेः कान्त्या आहरणे आनयनार्थं पीठिकामध्ये मौक्तिकानि दलयित्वा संचूर्ण्य पिण्डीकृतानि।

कि कवियों ने हिमालय और सुमेरुगिरि मे विशेष भेद नहीं माना है। कइयों ने तो एक ही दिशा—उत्तर—में दोनों को स्थित किया है। देखो पूर्व दो० १२ मे 'सुमेरु' पर नोट। डिं० में "हिम" और "हेम" के उच्चारण में बहुत कम अन्तर किया जाता है। अतएव यह सादृश्य।

अलंकार = व्याघात।

दो० १८८—

विहित = (सं०) = ठीक, यथावत्। सं० विहितमेव = ठीक ही है।

केहवो (डिं०) = कैसा, कौन सा। केहो, केहड़ो, केहवो का भी प्रयोग होता है।

हेम दिसि (डिं०) = (सं० हिम + दिशा) यहाँ भी 'हेम' हिम, बर्फ़ के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। हिमदिशा = उत्तर।

हेम दिसि सरण लीधौ = अर्थात् सूर्य उत्तरायण मे है। ग्रीष्म के आरम्भ में सूर्य उत्तरायण में होते हैं।

व्रिख (डिं०) = (सं० वृष, वृत्त)—(१) वृषराशि, ज्योतिष के अनुसार मेषादि बारह राशियों में से दूसरी राशि। ग्रीष्म में सूर्य वृषराशि पर आते हैं और आतप बढ़ जाता है।
(२) वृत्त।

सूरिज ही व्रिख आसरित = 'व्रिख' पर श्लेष होने से श्लेष की ध्वनि से यहाँ यह अर्थ भी निकलता है कि 'आकुल थ्या लोक' को ही 'छाया बंछित' नहीं है; अर्थात् केवल मनुष्य ही वृत्तों का आसरा (छाया के लिए) नहीं देखते हैं, बल्कि सूर्य भी वृप (वृत्त) राशि का आश्रय ले रहे हैं। उनका वृप पर आना मानो गरमी से तप कर वृत्त की छाया का आश्रय लेना है। 'सूरिज ही' पर जोर इसी अर्थ की ध्वनि को

स्पष्ट करने के लिए दिया है। 'सूरिज' पद का दुहराना भी यही आशय रखता है।

अलंकार=परिकर—'हेमदिशि'—आशयगर्भित है।
श्लेष—'व्रिख' में।

दो० १८६—

श्रीखंड=(सं०)=चन्दन।

कुमकुमौ (डिं०)=गुलाबजल, देखो इसी अर्थ में प्रयोग पूर्व दो० १०२ में।

सरि=(सं०) सर में। सप्तमी इकारान्त डिंगल में, में, पर का अर्थ देता है।

दलि=(सं० दल=अवयव, भाग) शरीर पर। देखो प्रयोग दो० २३१ में।

आहरण (डिं०)=(सं० आभरण)=आभूषण।

जुगति (डिं०)=(सं० युक्ति)=प्रकार, ढङ्ग, उपाय से।

एही=(हिं०)=इसी। उदा० "एहि विधि राम सबहिं समुझावा।" (तुलसी)

दलि मुगता आहरण दुति=इस पंक्ति का टीकाकार भिन्न भिन्न अर्थ करते हैं, यथाः—(१) ढूँ० टीका—ग्रहणा सब मोतियाँ का ई धारण किया छइ।

(२) सं० टीका—द्युतेः कान्त्या आहरणे आनयनार्थं पीठिकामध्ये मौक्तिकानि दलयित्वा संचूर्ण्य पिण्डीकृतानि।

(३) पश्चिमी मा० टीका :—शरीर दुतइ शरीर कान्तइ करि बा पीठी उतारिबा भणी मुगता मोती दलि करी दुति कान्ति आहरण आणवा ।

इनमें अर्थवैभिन्य विचारणीय है ।

अलंकार = उदात्त ।

दो० १६०—

माह (डिं०) = (सं० माघ) माघ मास । राजस्थानी बोल-चाल भाषा में अब भी 'माघ' को 'माह' कहते हैं ।

माहुटि (डिं०) = (सं० माघ + घटा) माघ मास के बादलों की घटा को डिंगल मे 'माहुटि' कहते हैं । राजस्थानी बोलचाल में "माहुट-पोहट" अर्थात् माघघटा + पोषघटा प्रचलित है ।

मसि व्रन (डिं०) = (हिं० मसि + वर्ण) = कृष्णवर्ण, काली रंग की । 'वर्ण' को 'व्रन' बनाने में डिंगल के साधारण परिवर्त्तन से रेफ का स्थान-परिवर्त्तन किया गया है ।

उदा० "जनु मुँह लाई गेरु मसि, भये खरनि असवार ।" (तुलसी)

प्रति = संस्कृत अव्यय का प्रयोग = अपेक्षा ।

न्रीजनपणि = (हिं० निर्जनपना) रेफ का परिवर्त्तन, यथा—ऊपर 'व्रन' ।

तपन (सं०) = सूर्य ।

अलंकार = व्यतिरेक ।

दो १६१—

नैरन्ति (डिं०) = (सं० नैऋत्य) = दक्षिण-पश्चिम के बीच की दिशा या कोण—वहाँ से चलनेवाले वायु को नैऋत्य-वायु कहेंगे ।

प्रसरि=(सं० प्र+सृ) चल कर।

झोले (डिं०)=अत्यन्त शीतल अथवा अत्यन्त उष्ण वायु—पाला अथवा लू—के चलने से वृक्ष एकबारगी सूख जाते हैं। अतएव झोले की हवा वृक्षों के लिए एक रोग गिनी जाती है। "झोला मार जाना" हिन्दी का मुहाविरा यही आशय रखता है।

हिं० उदा० (१) याको खेती देखि कै, गरवै कहा किसान।
अजहूँ झोला बहुत है, घर आवै तब जान। (कबीर)
(२) तिन अति बोलि झोलि तनु डार्‌यौ, अनल भँवर की नाँई॥ (सूर)

झंखर (डिं०)=(हिं० झंखाड़) अनुकरण शब्द प्रतीत होता है। पत्र पुष्प से रहित झड़ा हुआ विशीर्ण वृक्ष।

वाइ (डिं०)=(सं० वायु)—हवा।

लू लहर=लू (अत्यन्त गरम हवा) की लहर या झोंका।

उदा० सुनि के राजा गा मुरझाई, जानो लहर सुरज कै आई।
(जायसी)

लवली=(सं०) एक लताविशेष। यहाँ साधारणतः सभी लताओं के अर्थ में प्रयुक्त है।

देखो उत्तरचरित में—"मया लब्धः पाणिर्ललितलवली कंदलनिभः।"

निरधण (डिं०)=निः+धण=स्त्री रहित। (निर्धन नहीं!)

धण (डिं०)=(सं० धनि) पत्नी, स्त्री। उदा० "धनि वे धनि साँवन की रतियाँ" इत्यादि।

धणी (डिं०)='धण' का पुल्लिंग। पति, स्वामी।

उदा० "सो राम रमा-निवास संतत दास वस त्रिभुवन धनी।" (तुलसी)

भजै=(सं० भजति) प्रा० भजइ=सेवन करते हैं।

उदा० (१) विधि वश हठि अविवेकहिं भजहीं। (तुलसी)

(२) "तजौ हठ आनि भजौ किन मोहिं।" (केशव)

नोट—"नैरन्ति............नीझर"—का सं० टीका ने दूसरा अर्थ लिया है। यथा—"तत्र मासि निर्धना गिरिनिर्झर-प्रसरे वहति पानीये नैरन्तीति सुखमनुभवन्ति"। 'नैरन्ति' शब्द का अर्थ ऊहा से "सुखमनुभवन्ति" लिया है। कष्ट-कल्पना है।

दो० १६२—

कसतूरी=एक प्रकार का सुगन्धित द्रव्य जो हिमालय में पाये जाने-वाले एक प्रकार के मृग की नाभि से निकलता है।

गारि=(हिं० गारा, गारना) जिससे मकान में ईंटों की जोड़ाई होती है उसे 'गारा' कहते हैं।

विहाणै (डिं०)=(सं० विधानै)=विधि, भाँति, ढङ्ग, तरकीब से।

परि (डिं०)=विधि, भाँति। 'वरि' का भी इसी के रूपान्तर में प्रयोग होता है।

धवलहरि (डिं०)=महल में। देखो नोट पूर्व दो० ४१ में।

नोट—प्रथम पंक्ति के भाव—सादृश्य को मिलाओ दो० ३६ की प्रथम पंक्ति के भाव से।

अलंकार=उदात्त।

दो० १८३—

ऊपड़ी (डिं०)=(सं० उत्पटन) प्रा० उप्पड़ण, हिं० उपड़ना= उखड़ना, रेत का उड़ना। देखो पूर्व प्रयोग दो० ११५ में।

धुड़ी (डिं०)=(सं० धूलि) रेत, (हिं० धूरि)। उदा० पद्मिनि गवन हँस गए दूरी, हस्ति लाज मेलहिं सिर धूरी। (जायसी)

अम्बरि=(सं०)=आकाश में। उदा० 'अम्बर के तारे डिगैं' जूआ लाड़े बैल।"

खेतिए (डिं०)=(सं० क्षेत्रका:)=खेतिहर, किसान।

ऊजम (डिं०)=(सं० उद्यम) प्रा० उज्जम, ऊजम=उद्यम में लगे।

खाद्र (डिं०)=(सं० खात् या खड्ड) खड्डे, गड्ढे।

वाजि (डिं०)=(हिं० बजना)=बज कर। राजस्थानी में 'हवा का बाजना' मुहाविरे की भाषा में प्रयुक्त होता है=हवा चल कर।

किंकर (डिं०)=(सं० किंकर्त्तव्यविमूढ) का अल्प रूपान्तर= हक्का-बक्का, घबराये हुए।

आर्द्र (डिं०)=गीली, तर, भीगी हुई।

मृगशिर=मृगशिरा नक्षत्र २७ नक्षत्रों में पाँचवाँ नक्षत्र है। इसके पूर्वार्द्ध में वृष राशि और अपरार्ध में मिथुन होती है। इस नक्षत्र के योग में चलनेवाली अत्यन्त उष्ण और तेज़ हवा को इस नक्षत्र ही के नाम से मरुस्थल में 'मिरग' कहते हैं। जब यह चलने लगती है तब सब कोई घबरा कर कहने लगते हैं "मिरग वाजै छइ"। मिरगों के बाजने की अवधि

धणी (डिं०)='धण' का पुल्लिंग। पति, स्वामी।

उदा० "सो राम रमा-निवास संतत दास वस त्रिभुवन धनी।" (तुलसी)

भजै=(सं० भजति) प्रा० भजइ=सेवन करते हैं।

उदा० (१) विधि वश हठि अविवेकहिं भजहीं। (तुलसी)

(२) "तजौ हठ आनि भजौ किन मोहिं।" (केशव)

नोट—"नैरन्ति............नीझर"—का सं० टीका ने दूसरा अर्थ लिया है। यथा—"तत्र मासि निर्धना गिरिनिर्झर-प्रसरे वहति पानीये नैरन्तीति सुखमनुभवन्ति"। 'नैरन्ति' शब्द का अर्थ ऊहा से "सुखमनुभवन्ति" लिया है। कष्ट-कल्पना है।

दो० १६२—

कसतूरी=एक प्रकार का सुगन्धित द्रव्य जो हिमालय में पाये जाने-वाले एक प्रकार के मृग की नाभि से निकलता है।

गारि=(हिं० गारा, गारना) जिससे मकान में ईंटों की जोड़ाई होती है उसे 'गारा' कहते हैं।

विहाणै (डिं०)=(सं० विधानै)=विधि, भाँति, ढङ्ग, तरकीब से।

परि (डिं०)=विधि, भाँति। 'वरि' का भी इसी के रूपान्तर में प्रयोग होता है।

धवलहरि (डिं०)=महल में। देखो नोट पूर्व दो० ४१ में।

नोट—प्रथम पंक्ति के भाव—सादृश्य को मिलाओ दो० ३६ की प्रथम पंक्ति के भाव से।

अलंकार=उदात्त।

दो० १९३—

ऊपड़ी (डिं०)=(सं० उत्पटन) प्रा० उप्पड्अ, हिं० उपड़ना=उखड़ना, रेत का उड़ना। देखो पूर्व प्रयोग दो० ११५ में।

धुड़ी (डिं०)=(सं० धूलि) रेत, (हिं० धूरि)। उदा० पद्मिनि गवन हंस गए दूरी, हस्ति लाज मेलहिं सिर धूरी। (जायसी)

अम्बरि=(सं०)=आकाश में। उदा० 'अम्बर के तारे डिगैं' जूआ लाड़ै बैल।"

खेतिए (डिं०)=(सं० क्षेत्रका:)=खेतिहर, किसान।

ऊजम (डिं०)=(सं० उद्यम) प्रा० उज्जम, ऊजम=उद्यम में लगे।

खाद्र (डिं०)=(सं० खात या खड्ड) खड्डे, गड्ढे।

वाजि (डिं०)=(हिं० बजना)=बज कर। राजस्थानी में 'हवा का बाजना' मुहाविरे की भाषा में प्रयुक्त होता है=हवा चल कर।

किंकर (डिं०)=(सं० किंकर्त्तव्यविमूढ) का अल्प रूपान्तर=हक्का-बक्का, घबराये हुए।

आर्द्र (डिं०)=गीली, तर, भीगी हुई।

मृगशिर=मृगशिरा नक्षत्र २७ नक्षत्रों में पाँचवाँ नक्षत्र है। इसके पूर्वार्द्ध में वृष राशि और अपरार्ध में मिथुन होती है। इस नक्षत्र के योग में चलनेवाली अत्यन्त उष्ण और तेज हवा को इस नक्षत्र ही के नाम से मरुस्थल में 'मिरग' कहते हैं। जब यह चलने लगती है तब सब कोई घबरा कर कहने लगते हैं "मिरग वाजै छइ"। मिरगों के वाजने की अवधि

सात दिन समझी जाती है और उस बीच में वे जितने ही प्रचण्ड रूप में चलेंगे उतने ही भावी वर्षा के शकुन प्रबल समझे जायेंगे। यह लोकविश्वास है।

आद्रा = आर्द्रा—२७ नक्षत्रों में छठा है। प्राय. आषाढ़ के प्रारम्भ में लगता है। इस नक्षत्र से वर्षायोग प्रारम्भ होता है। किसान इसी नक्षत्र में धान्य बोते हैं। उनका विश्वास होता है कि इस नक्षत्र का बोया हुआ धान्य श्रेष्ठ होता है।

उदा० "अद्रा धान पुनरवसु पैया, गा किसान जब बोवा चिरैया"।

नोट—'भरिया खाद्र'—का एक और अर्थ हो सकता है—"किसानों ने खेती के लिए उद्यमशील होकर खेतों में खाद भरी"।

अलंकार = यमक = मृगशिर—मृग, आद्रा-आर्द्र।

दो० १९४—

बग······बैठा = बगुले ग्रीष्म में पिपासित इधर-उधर पानी की खोज में डोलते थे। अब पावस आई जानकर तालावों पर स्थिर हो गये। ऋषि-मुनियों ने चातुर्मास्य के कारण भ्रमण स्थगित कर दिया। राजा लोग युद्धादि कार्यों से निवृत्त हो गये क्योंकि वर्षा-काल आने पर पानी से राज-मार्ग रुक जाने से सेना का संचालन होना कठिन हो जाता है।

सूता (डि०) = सो गये। हिन्दी में भी 'सूतना' क्रिया इस अर्थ में प्रयुक्त होती है। उदा० (१) "सूते सपने ही सहै, ससृत सताप रे"। (तुलसी)

(२) मोर तोर मह नयै बिगृता, जननी गर्भ उदर महँ सृता।
(कबीर)

थिउ (डिं०)=हुआ। थियउ, थियौ रूपान्तर भी प्रयुक्त हुए हैं।

सर (डिं०)=(सं० स्वर)=शब्द।

हरि=(सं०)=इन्द्र, आकाश का अधिष्ठातृ देवता, बादलों का राजा।

बलाहकि=(सं०) बादल। उदा० "गुणगाहक थार बलाहक जू, लगे नाहक पवन की बातन में।"

अम्बहर=अम्बर। 'ह' का आगम बिना प्रयोजन किया गया है। मिलाओ दो० १४ के प्रयोग से "उडियण बीरज अम्बहरि" जहाँ डा० टैसीटरी इसी प्रकार 'अम्बरि' शब्द में निष्प्रयोजन 'ह' का आगम बताते हैं। परन्तु वहाँ हमने अम्ब + हरि पृथक् पृथक् शब्दार्थ किया है।

सिणगारै (डिं०)=(सं० शृङ्गारयति) प्रा० सिंगारइ।=सजाते हैं, सुसज्जित करते हैं।

सूर सुता……=ज्योतिष के अनुसार विष्णु भगवान चातुर्मास्य में शयन करते हैं। कार्तिक शुक्ल एकादशी, जिस दिन भगवान् जागते हैं, देवोत्थान एकादशी कहलाती है।

दो० १९५—

काँठलि (डिं०)=(सं० कंठ+अवलि=कंठमाला)=गले का एक वर्त्तुलाकार गहना, पक्षियों के गले का रेखाकार गंडा। राजस्थानी में वर्षा-सम्बन्धी यह विशिष्ट शब्द है जिससे आशय होता है, "वर्त्तुलाकार वर्षा-कालीन मेघों का समूह"।

ऊजल् (डिं०)=(सं० उज्ज्वल)।

कोरण (डिं०)=(हिं० कोर, कोरण)=किनारा, हाशिया, सिरा। यह शब्द भी राजस्थानी का वर्षा-सम्बन्धी विशिष्ट शब्द है। कोर अथवा कोरण (गोटन) के आकार के सफ़ेद बादलों के समूह को कहते हैं। यह शब्द अब भी प्रचलित है।

धरहरिया (डिं०)=(अनुकरण शब्द)='धरहर' शब्द किया। धर धर करके गाजने लगे।

धारे=(सं० धार) एकारान्त डिं० बहुवचन का चिह्न है।=वृष्टिधार।

गलि् चालिया (डिं० मुहा०)=गल चले, गलकर गिरने लगे।

जल्ग्रभ=(सं० जलगर्भ) वह बादल जिसके गर्भ में जल है।

थंभि न=(सं०) रुकते नहीं, ठहरते नहीं।

नोट—काँठलि्, कोरण, जल्ग्रभ,—ये राजस्थान के देशीय, वर्षा-सम्बन्धी आशय-गर्भित शब्द हैं।

अलंकार=रूपक—उत्तरार्द्ध में—"विरहिण-नयण थिया"।

दो० १९६—

दड़ड़ (डिं०)=(अनुकरण शब्द) दड़ड़ शब्द करते हुए, बड़े ज़ोर शोर से।

नड़ (डिं०)=(सं० नड=नरसल—नडिनी=नदी)=नाले, स्रोत।

अनड़ (डिं०)=पर्वत।

वाजिया (डिं०)=बाजे=शब्दायमान हो गये। देखो पूर्व प्रयोग दो० ११५ में 'वाजन्ति'।

गुहिर (डिं०) = (सं० गंभीर)। उदा० "मन कुंजर मयमंत था, फिरता गहर गँभीर"। (कबीर)

(हिं० गुहराना, गुहार) = पुकारना, पुकार। उदा० "नीको दई अनाकनी फीकी परी गुहारि।" (बिहारी)

सामाइ (डिं०) = (हिं० समाना = आजाना) हिं० उदा० "हरख न हिये समाय"।

जलवाला = (सं० जलवालिका) = बिजली, विद्युत्।

सदि (डिं०) = (सं० शब्द) प्रा० सद = शब्द।

अलंकार = अधिक।

दो० १९७—

निहसे (डिं०) = (सं० निर्घुष्) निर्घोष, शब्द करके। देखो पूर्व प्रयोग दो० ३८ "नीसाणे पड़तो निहस"।

वूठौ (डिं०) = बरसा, वर्षा की। देखो पूर्व प्रयोग "वूठै वाहवियै आ वेला" दो० १२३ में।

घण (डिं०) = (सं० घन) = बादल—"घण" अधिक के अर्थ में क्रिया-विशेषण प्रयोग में भी आता है।

बिणु नीलाणी = (सं० विना + नीलायमान) बिना हरियाली। हरियाली रहित। डिंगल और राजस्थानी भाषाओं में 'नीला' हरे रङ्ग के लिए प्रयुक्त होता है। इससे हिन्दी में 'आसमानी' रङ्ग का आशय लिया जाता है। वास्तव में दोनों रंगों में बहुत थोड़ा अन्तर है। घना हरा वानसत्य रङ्ग 'श्याम' होकर आसमानी से मिलने लगता है।

वसइ (डिं०) = (सं० वसति) प्रा० वसइ = है, स्थित है, पड़ा है।

प्रथम समागम = (सं०) = प्रथम-मिलन, संयोग, भेंट।

वसत्र (डिं०) / ग्रहणा (डिं०) = (सं० वस्त्र) / (हिं० गहना) — डिंगल में रेफ का स्थानविपर्य्यय होता है।

पदमणी = (सं० पद्मिनी) सौंदर्य्य और गुणों की दृष्टि से सर्वोत्कृष्ट श्रेणी की स्त्री 'पद्मिनी' कहलाती है। स्त्रियाँ चार जाति की होती हैं, पद्मिनी, चित्रिनी, शङ्खिनी, और हस्तिनी।
"अल्प रोष रति सुन्दरी, पद्मिनि तन सुकुमार"। (भानु)

लसइ = (सं० लस्) शोभा देती है। उदा० "लसत चारु कपोल दुहुँ बिच सजल लोचन चारु"। (सूर)

अलंकार = उत्प्रेक्षा।

दो० १९८—

तृणे (डिं०) = (सं० तृण) घास के तिनके। एकारान्त बहुवचन द्योतक है। दो० १ में "त्रिण्हैं" संख्यासूचक 'त्रि' से बना है अतएव सादृश्य होते हुए भी वह भिन्न शब्द है।

नीलम्बर न्याइ = नील वस्त्र के न्याय से अर्थात् नीली (हरी) साड़ी की भाँति। जिस प्रकार हिन्दी-संस्कृत में घुणाक्षरन्याय, अरण्यरोदनन्याय, काकतालीयन्याय आदि दृष्टान्त—पदों का रूढ़ अर्थ में प्रयोग होता है उसी प्रकार यहाँ जानो।

अलंकार = रूपक। पृथ्वी नायिका को कवि ने कैसे सुन्दर सुन्दर प्राकृतिक आभूषणों से सजाया है। शोभा देखते ही बनती है।

दो० १९९—

काजल गिरि=(सं० कज्जलगिरि) एक काल्पनिक काला पर्वत।

काजल करि रेख=(सं० कज्जल+कृत+रेखा) स्त्रियाँ नेत्रों का सौन्दर्य बढ़ाने के लिए काजल का अंजन आँखों में लगाती हैं।

कवियों ने नायिकाओं की काजल-रेख का बड़े चाव से साहित्य में वर्णन किया है।

डिं० उदा० "काली काली काजलियै री रेख, भूरोड़ै बुरजाँ में चमकी बीजली"। (ग्रामगीत)

सं० उदा० "अद्यापि तां विभ्रतकज्जललोलनेत्राम्"।
(चौरपंचाशिका)

हिं० उदा० भृकुटि कामकोदण्ड नैन सर, कज्जलरेख अनी।
(हितहरि)

करि=यह डिंगल में षष्ठी के विभक्तिचिह्न की तरह कभी कभी प्रयुक्त होता है। सं० 'कृत'—प्रत्यय से बना है—जिसका अर्थ होता है 'की—का—के'। हिन्दी में भी 'करि' का प्रयोग इस प्रकार मिलता है। यथा— "राम ते अधिक राम कर दासा"।

(तुलसी)

कटि=(सं०) (१) कमर, लंक।

(२) कटिप्रदेश अथवा पार्श्वस्थ देश, सीमाप्रान्त।

मामोलौ (डिं०)=(देशीय शब्द) हिन्दी में बीरबधूटी, इन्द्रवधू कहते हैं। यह एक छोटा रेंगनेवाला लाल चमकीला

मखमली रङ्ग का कीड़ा होता है जो वर्षा होने पर ज़मीन पर इधर-उधर रेंगता दीख पड़ता है। बिन्दुली को 'मामोला' की उपमा देना अनूठी और निराली है। कवि की सूझ की प्रशंसा करनी चाहिए।

बिन्दुली=(सं० बिन्दु) स्त्रियों के माथे में लगाने का गोल कुंकुम अथवा हिङ्गुल की बिन्दी के आकार का टीका। उदा० "बदन बिंदुली भाल की भुज आप बनाए"। (सूर)

निलाट पटि=(सं० ललाट पट्ट) ललाट का चौड़ा स्थान।
उदा० "तिलक ललाट पटल दुति कारी"। (तुलसी)

अलंकार=रूपक।

दो० २००—

ऊपटि=(सं० उत्पटन) उमड़ कर, उपड़ कर। देखो पूर्व प्रयोग दो० ११५, १९३ में।

विथुरी=(सं० वितरण) हिं० बिथुरना, बिथुराना=छितराना बिखरना। उदा० "हार तोरि बिथराय दयो, मैया पै तुम कहत चली कत दधि माखन सब छीनि लयौ"। (सूर)

धण, धणी=पति-पत्नी। देखो नोट दो० १९१।

धाराधर=(सं० धराधर)=पर्वत।

जमण (डिं०)=(सं० यमुना) हिं० जमुना।

करंबित=(सं०) मिश्रित, गुथी हुई।

उदा० "स्फुटतरफेनकदम्बकरम्बितमिव यमुनाजलपूरं"।
(गीतगोविन्द)

वेणी=(सं०) (१) त्रिवेणी, गंगा-यमुना-सरस्वती के सङ्गम को 'त्रिवेणी' कहते हैं।

(२) स्त्रियों की चोटी।

उदा० "मूँदि न राखत प्राति अली यह गूँदि गोपाल के हाथ की वेनी" (मतिराम)

वणी (हिं०)=शोभित है (सं० वर्णन, प्रा० वण्णन, हिं० बनना), सजना, चित्रित होना।

उदा० (१) आजु नीको बनी राधिका नागरी।

(२) व्रज नव तरुनि कदम्ब मुकुटमनि, श्यामा आजु बनी। (हितहरि)

अलंकार = रूपक (उत्प्रेक्षा गर्भित)

दो० २०१—

स्याम तर = श्याम की भाँति। 'तर' अरबी 'तरह' शब्द से बना प्रतीत होता है।

घेगूँचे (डिं०)=(देशीय शब्द) मिल गये, आलिङ्गित हो गये। सं० टीकाकार "घेघुञ्चितौ एकीभूतौ", अर्थ करता है।

गलिबाहाँ = (सं० गल + बाहु) हिं० गलबाँही = गले में हाथ डालकर आलिंगन करना।

उदा: "सुमनकुंज विहरत सदा दै गलबाँही लाल।"

घाति (डिं०) = डालकर। राजस्थानी में इस अर्थ में अब भी प्रचलित है। मिलाओ मराठी—'घेत-घेतलें'।

भ्रमि = भ्रम में, भ्रम से।

रिखिय = (सं० ऋषय:) ऋषिलोग।

अलंकार = पूर्वार्द्ध—उपमा।

उत्तरार्द्ध—भ्रान्तिमान।

नोट—ऋषियों का इस प्रकार भ्रान्ति में पड़कर भूल जाना कविवर कालिदास ने अपने काव्यों में वर्णन किया है; "अकाल-सन्ध्यामिव धातुमत्तां।"

दो० २०२—

रूठा = (सं० रुष्ट) अप्रसन्न होना। उदा० (१) अजहुँ सो देव मोहिं पर रूठा। (तुलसी)

(२) हरि के रूठे ठौर है, गुरु रूठे नहि ठौर। (कबीर)

पै (डि०) = (सं० पद) प्रा० पय, पत्र।

मनावि करै = हि० मनाना, मनौआ करना, मनावा करना।

उदा० कै तो मनावै पांव परि, कै तौ मनावै रोइ।
हिन्दू पूजै देवता, तुरक न काहुक होइ॥ (कबीर)

रस करै = (स० रस = प्रेम) प्रेम करते हैं। उदा० "और को जानै रस की रीति"। (सूर)

रस—प्रेमक्रीड़ा, विहार, कामकेलि, को भी कहते हैं।

आभ (डिं०) = (सं० अभ्र) = आकाश।

अलंकार—हेतु।

दो० २०३—

काजल = (सं०) = कज्जल की तरह काले, श्याम। उदा० "यह मथुरा काजर की कोठरि जे आवहिं ते कारे"। (सूर)

जल जाल (डिं०) = बादल, जल का समूह है जिनमें।

श्रवति = (स०) गिरता है। उदा० "रात दिवस रस स्रवत सुधामय कामधेनु दरसाई"। (सूर)

राता (डिं०) = (सं० रक्त) लाल। उदा० "भ्रकुटि कुटिल नैन रिस राते"। देखो पूर्व प्रयोग "राता तत चिन्ता रत" दे।० १८० ।

पहल (डिं०) = (स० पटल या फ़ारसी० पहलू) = पार्श्व, तरफ़, एक तरफ़, एक बाजू में। आपेक्षिक अर्थ में यहाँ "दूसरी तरफ़" अर्थ लक्ष्य है।

आघोफरै (डिं०) = (देशीय शब्द) छज्जों पर।

ऊधसता (डिं०) = (सं० उत् + घृषत:, उद्घर्षण) रगड़ खाकर ऊपर चलते हुए।

राजै = (स० राजते, प्रा० राजइ) शोभा देते हैं। हिन्दी में प्रयोग होता है। उदा० (१) "मन्दिर मँह सब राजहिं रानी" (तुलसी) (२) प्रकट ब्रह्म राजत द्वारावति वेद पुरान उचारेउ। (सूर)

नोट—"पहल" शब्द का अर्थ हमें स्पष्ट नहीं है। अनुमान से उसका लाक्षणिक अर्थ किया गया है। टीकाकारों से इस शब्द के समझने में विशेष सहायता नहीं मिलती।

दे।० २०४—

पाँचि = (सं० पंचरत्न) = धार्मिक अनुष्ठानों में पूजार्थ माने हुए पाँच रत्न यथा—सोना, हीरा, नीलम, लाल और मोती।

पट = (सं० पट्ट) हिं० पाट, पटड़े, पाटिये। छत में लगाने के लकड़ी के तख्ते, जो पंचरत्नों से जटित हैं।

गौख = (सं० गवाक्ष) हिं० गौख, गोख, अटारी पर की खिड़की।

पदमराग = (सं० पद्मराग) = माणिक्य, अथवा लाल। माणिक्य कई रंग के होते हैं। तीन जाति के माणिक्य प्रसिद्ध होते हैं:—(१) पद्मराग—जो लाल कमल के रङ्ग का होता है।

(२) सौगंधिक = गहरा लाल, नीलापन लिये रंग का।

(३) कुरुबिन्द—जो टेसू के फूल के समान रंग का होता है।

नीलमणि = (सं०) = नीलम।

कादो (डिं०) = (सं० कर्दम) प्रा० कद्दम, कद्दव-कादउ-कादौ = कीच, कीचड़, गारा।

कुन्दण = निखालिस सुवर्ण, सोना।

सिखि = (सं० शिखिन्) मोर। उदा० "सिखी सिखिर तनु धातु विराजति।" (सूर)

रमै (डिं०) = (सं० रम्) क्रीड़ा करते हैं, रमते है।

उदा० फल फूल सों संयुक्त, अलि यों रमैं जनु मुक्त। (केशव)

शिखरि = शिखर पर। मन्दिर के ऊपर गुंबज के सिर पर जो कलश होता है उसे भी 'शिखर' कहते हैं।

लाल = (फारसी० लाल) एक प्रकार की लाल वर्ण की मणि, जो माणिक्य का एक भेद मानी जाती है।

"यह ललित लाल कैंधों लसत दिग्भामिनि के भाल को।"
(केशव)

नोट—ढूँढाड़ी टीका अन्तिम पंक्ति का यों अर्थ करती हैं :—
"घराँ ऊपर मोर नृत्य करै छइ"। हमने अंतिम पंक्ति का पाठान्तर इसी टीका के आधार पर लिया है। डा० टैसीटरी को इस अर्थ में आपत्ति है। न जाने क्यों? हमारी समझ में अर्थ इतना स्पष्ट है कि संशय को कोई अवकाश नहीं है।

अलंकार = उदात्त।

दो० २०५—

धरिया (डिं०) = (सं० धृ) धारण किये हुए। देखो पूर्व प्रयोग दो० ६५ में "धरिया सु उतारे नवतनु धारे।"

सौंधा = (हिं०) = सुगन्धित द्रव्य, इतर, फुलेल आदि। देखो पूर्व प्रयोग दो० १६६ में।

प्रखोलित (डिं०) = (सं० प्रचालित)—छिड़के हुए, बसाये हुए। सुवासित।

भर श्रावणि भाद्रवि = श्रावण भाद्रपद भर। भर = पर्यन्त, समस्त में। हिं० में 'भर' का ऐसा प्रयोग मुहाविरे में होता है। उदा० अति करुणा रघुनाथ गुसाँई, युग भर जात घड़ी। (सूर)

भोगविजै (डिं०) = (सं० भुज्यते) 'भोगणो' किया का कर्मवाच्य प्रयोग में यह रूप बनता है। 'भोगा जाता है' यह अर्थ होगा।

रुख = (फारसी) = प्रकार से, इस दृष्टि से, इस ढङ्ग से।

दो० २०६—

वयणा वयणि (डिं०) = (सं० वचन, प्रा० वयण) = वचनों वचनों द्वारा अर्थात् अनेक प्रकार के वचनों द्वारा। डिंगल में यह मुहाविरे की तरह प्रयुक्त होता है। जिस प्रकार "दण्डादण्डि" संस्कृत में।

वलती (डिं०) = (सं० वलयन) आते ही, लौटते ही, लौट कर आते ही।

वाखाणि (डिं०) = (सं० व्याख्यान) प्रा० वक्खाण, डिं० बखाण = बखान किया गया है। उदा० "ताते मैं अति अल्प बखाने।" (तुलसी)

नीखर (डिं०) = (सं० नि + क्षरण) मैल छँट कर साफ़, स्वच्छ, निर्मल हो जाना। यथा—"निखरी हुई चाँदनी।"

निवाणों (डिं०) = (सं० निम्न) = नीची ज़मीन, जहाँ पानी ढल कर एकत्रित हो जाता है। राजस्थानी में प्रचलित शब्द है। ज़मीन के ढालूपने को "निवाण" कहते हैं।

निधुवनि=(सं०)=रति में, संभोगकाल में।

अलंकार=दीपक। 'रहिउ' का दोनों उत्तरार्द्ध पंक्तियों में प्रयोग है।

दो० २०७—

पीळाणी (डिं०) पीली होगई, ज़र्द होगई। रक्ताभाव से निस्तेज हो जाने को भी "पीला पड़ जाना" कहते हैं।

जिस प्रकार 'नीला' से 'नीळाणी' उसी प्रकार 'पीळा' से 'पीळाणी' बना है।

ऊखधी (डिं०)=(सं० ओपधि)=वनस्पति, वनौषधियाँ।

निसुर (डिं०)=(सं० नि+स्वर) शब्दरहित, मौन।

सुत्री (डिं०)=(सं० सु+स्त्री) सुन्दर स्त्री।

अलंकार—उपमा।

दो० २०८—

वितए (डिं०)=(सं० व्यतीते) व्यतीत होने पर।

गुडळपण (डिं०)=हिं० गुदलापन, गँदलापन। पानी का मैलापन, विलोड़ित होने पर मिट्टी से मिले हुए पानी का भूरा और मटमैला रङ्ग हो जाता है, उसे 'गुदलापना' कहते हैं।

मिळ (डिं०)=हिं० मिल जाना। मिल कर अदृश्य हो जाना, विलीन हो जाना।

ग्यान-दहण=(सं० ज्ञान+दहन)=ज्ञानाग्नि, ज्ञानरूपी आग।

कलुख (डिं०)=(सं० कलुष)=पाप।

दीपति (डिं०)=(सं० दीप्ति)=प्रकाश, आलोक।

नोट—इस दोहले में कवि ने प्रकृतिवर्णन करते हुए उपमा के रूप में नीतिशास्त्र के सिद्धान्तों का उपयोग किया है।

तुलसीदासजी ने भी किष्किन्धाकाण्ड में वर्षावर्णन में नीति के उपदेशों को उपमान रूप में प्रकट किया है। एक श्रेणी के काव्यालोचकों को कविता में इस प्रकार का नीति का प्रयोग खटकता है। परन्तु तभी तक, जब तक वे भावों की गहराई में नहीं पैठते।

अलंकार = उपमा।

दो० २०६—

वळी (डिं०) = (सं० वलयन) आई, लौटी।

रस श्रवति = (सं०) देखो, पूर्व प्रयोग दो० २०३ में, 'श्रवति'। उदा० "रातिदिवस रस स्रवत सुधामय कामधेनु दरसाई। (सूर)

उदगिरति = (सं०) उगलती है, देती है, निकालती है।
उदा० अरध उरध लै भाठी रोपी, ब्रह्म अगिन उदगारी। (कबीर)

पोइणिए (डिं०) = (सं० पद्मिनि) प्रा० पोइणी। एकारान्त बहुवचन है। उदा० 'पोइणि फूल प्रवाप सी।" (पृथ्वीराज के दोहे)

अगलोग वासिए (डिं०) = स्वर्ग-लोकवासी (एकारान्त बहुवचन)। डिंगल के नियमानुसार रेफ का स्थान-विपर्यय हुआ है।

पितरे (डिं०) = (सं० पितृ) बहुवचन। मरे हुए पूर्वज जिनका प्रेतत्व छूट गया हो, जिनको श्राद्ध-तर्पणादि दिया जाता है, उन्हें 'पितृ' कहते हैं।

मृत लोक (डिं०) = (सं० मर्त्यलोक) मनुष्यलोक, पृथ्वीलोक।

ही (डिं०) = हि० भी।

अलंकार=समासोक्ति—पूर्वार्द्ध में ।

दो० २१०—

तिसी (डिं०)=(सं० तादृशी) प्रा० ताइसी = ऐसी, तैसी ।

बे (डिं०)=(सं० द्वि)=दोनों । गुजराती में भी प्रयोग होता है ।

गमै (डिं०) = (१) हिं० गुमना, गुमाना, गँवाना = खोना, भूल जाना ।
(२) अरबी ग़म = शोक, दुःख रंज ।

हिन्दी में 'गम' का खोने के अर्थ में प्रयोग होता है । उदा० "कौनी प्रीत प्रगट मिलिबे की अँखियन शर्म गमाए" (सूर)

राजस्थानी में खोने के अर्थ में 'गमना' क्रिया का इतना बहुतायत से प्रयोग होता है कि हमें यही अर्थ लेना उचित प्रतीत होता है, यद्यपि अन्यान्य टीकाकारों ने शब्द के अर्थ के विषय में आश्चर्यजनक कष्ट-कल्पनायें की हैं ।

गमै = आत्मविस्मृति किये हुए, अपने आपको भूले हुए ।

मुहुरमुह =(सं० मुहुर्मुहुः) = बारम्बार ।

पासै =(सं० पार्श्वे) = नज़दीक, पास में ।

अलंकार = मीलित ।

दो० २११—

उजुयाळी (डिं०) = हिं० उजियारी, चाँदनी ।

उदा० (१) कबहुक रतन महल चित्रसारी, सरद निसा उजियारी । (सूर)
(२) आय सरद रितु अधिक पियारी, नव कुआर कातिक उजियारी । (जायसी)

तरणि = (सं०) सूर्य ।

तुलिया = बराबर हुए ।

कणय (डिं०) (सं० कनक) प्रा० कणअ, कणय = सोना । हिं० उदा० "कनक कनक ते सौगुनी मादकता अधिकाय" । (बिहारी)

भाति = (सं०) = शोभा देते हैं । हिन्दी काव्य मे प्रयोग होता है ।

उदा० हय गय सहन भँडार दिये, सब फेरि भेंट से भाति । (सूर)

प्रामै (डिं०) = पाते हैं, प्राप्त करते हैं ।

गौरव = (सं०) = वृद्धि ।

नोट—कवि के अनुभव-सिद्ध ज्योतिष ज्ञान की ओर ध्यान देना चाहिए । तभी ते उन्होंने दे० २९९ में "ज्योतिषी वैद पैराणिक जोगी" कहा है ।

अलंकार = श्लेष—'तुलि' में ।

हेतु और व्याघात—उत्तरार्द्ध में ।

दो० २१३—

दीधा (डिं०) दिये गये अर्थात् जलाये गये । "दीवा देना" अर्थात् दीवा जलाना—मुहाविरा भी है ।

थका (डिं०) = होते हुए, रहते हुए । 'थका' का इस अर्थ में प्रयोग राजस्थानी भाषाओं में अब तक बहुत प्रचलित है ।

भासै = (हिं०) = प्रकाशित होते हैं । (सं० भासते, प्रा० भासइ)

समाणियाँ (डिं०) = (सं० समान स्त्री० बहुवचन) क्रियावि० 'समान' का विशेष्य की तरह प्रयोग हुआ है । जैसे हिन्दी

में—"समानों (पुँल्लिंग) में वह श्रेष्ठ है।" अर्थात् समान पुरुषों में वह श्रेष्ठ है। =समवयस्का सखियों में।

लाजतीं (डिं०)=हिं० लजाती। उदा० "जेहि तुरंग पर राम बिराजे, गति बिलोकि खग नायक लाजे"। (तुलसी)

अलंकार—उपमा।

दो० २१४—

मंडियै (डिं०)=(सं० मंडन) बनाये जाते हैं, सजाये जाते हैं, मनाये जाते हैं।

कुमारी =(सं०) १२ वर्ष तक की उमरवाली कन्या को शास्त्र में 'कुमारी' कहा है।

थिर चीत्रन्ति=स्थिर चित्त होकर चित्रित कर रही है।

चित्राम थई= स्वयं चित्र बनी हुई अर्थात् चित्रलेखन में इतनी तल्लीन कि निश्चल चित्र की तरह स्वयं दिखाई देने लगीं। उदा० राम बदन बिलोकि मुनि ठाढ़ा, मानहुँ चित्र माँझ लिखि काढ़ा। (तुलसी)

अलंकार=विरोधाभास।

दो० २१५—

रासि= सं० रास। गोप-गोपियों को श्रीकृष्ण के साथ एक प्रकार की क्रीड़ा हुआ करती थी जिसमें वे घेरा बाँध कर नाचते थे। कहते हैं, इस क्रीड़ा का आरम्भ श्रीकृष्ण भगवान ने कार्त्तिकी पूर्णिमा की अर्धरात्रि से किया था। पीछे से अन्यान्य पूजायें भी 'रास' में मिल गईं।

भुगति (डिं०)=(सं० भुक्ति) विषयोपभोग करना, लौकिक सुख भोगना।

नवै प्रति नवा=नये से नये, नये नये, नित नये।

जग चौं मिसि वासी जगति=सांसारिक सुखों के मिस से संसार-स्वरूप द्वारिका के निवासी सेवन करते हैं।

इस पंक्ति में कवि ने 'जगति' शब्द की सार्थकता सिद्ध की है। इस प्रकार "जग चौं मिसि" यह पद 'जगति' शब्द का अर्थ स्पष्ट करता हुआ उसका व्यंग्य अर्थ 'द्वारिका' स्थापित करता है। कवि ने कोरी कल्पना के बल से ही 'जगति' को द्वारिका का पर्याय-शब्द नहीं लिया है, बल्कि उसको सार्थक भी प्रमाणित किया है।

दो० २१६—

भीरि (डिं०)=(हिं० भीर, भीड़) भीर पड़ना; मुसीबत, कष्ट पड़ना। भीर आना=विपत्ति में सहायतार्थ आना, दुःख में काम आना, मदद देना।

भीड़, भीर=(१) कष्ट, दुख, विपत्ति।

(२) पक्ष, मदद, सहायता।

उदा० (१) अपर नरेश करै कोउ भीरा, वेगि जनाउब धर्मज तीरा। (सबल)

(२) भीर बाँह पीर की निपट राखी महावीर। (तुलसी)

कजि (डिं०)=(सं० कार्य) प्रा० कज्ज=कार्य से, कारण से, हेतु से, के लिए, वास्ते। यहाँ विभक्ति-चिह्न की तरह यह

शब्द प्रयुक्त हुआ है। हिन्दी में भी ऐसा प्रयोग मिलता है—

(१) रोए कंत न बहुरै, तो रोए का काज। (जायसी)

(२) परस्वारथ के काज सीम आगे धरि दीजै। (गिरधर)

धनञ्जय = (सं० धनंजय)—अर्जुन।

जनारजन (डिं०) = (सं० जनार्दन)—विष्णु, कृष्ण।

मींट (डिं०) = (देशीय शब्द)—नींद की झपकी। 'मींट लागणी,' राजस्थानी में मुहाविरा है।

मोर कजि आयाँ धनञ्जय अनै सुयोधन = महाभारत के आरम्भ में पाण्डवों की ओर से अर्जुन और कौरवों की ओर से दुर्योधन भगवान् कृष्ण के पास युद्ध में पक्ष-याचनार्थ *आये थे। उस समय उन्हें श्रीकृष्ण सोते हुए मिले।* दुर्योधन तो अपने राज्यमद और प्रभुत्व के गर्व में आकर भगवान् के सिरहाने बैठ गया और अर्जुन पैरों के पास। जब भगवान जागे तो पहले-पहल उनकी दृष्टि अर्जुन पर पड़ी और तब दुर्योधन की ओर देखा। प्राकृतिक न्याय के अनुसार अर्जुन सहायता का भागी समझा गया और दुर्योधन को केवल भगवान् के सैन्य की सहायता मिली। अतएव अर्जुन की विजय हुई। इसी प्रकार देवप्रबोधिनी एकादशी के दिन भगवान् के चतुर्मास के अनन्तर जाग कर उठने पर मार्गशीर्ष मास सामने आया। इसी लिए वह "मासे मगसिर मलउ"—"मासानां मार्गशीर्षोऽहं" मासोत्तममास कहा गया।

दे० २१७—

फिरियौ (डिं०)=(सं० स्फुरित) प्रा० फुरिय; हिं० फिरा=बदला, दिशा परिवर्तन की। उदा०—जो यह मारग फिरिय बहोरी, दरसन देब जान निज दासी"। (तुलसी)

पछिवाउ (डिं०)=(सं० पश्चिम वायु) पश्चिम से बहनेवाली हवा।

फरहरियौ (डिं०)=(अनुकरण शब्द) फरफराकर चला, वेग से चला।

उदा० (१) भीमसेन फरके भुजदण्डा, अधर फरहरत रोम प्रचंडा।

(२) सिर केतु सुहावन फरहरै, जेहि लखि परदल थरहरै। (सबल)

सहुए (डिं०)=सभी। एकारान्त बहुवचन चिह्न है।

सूहव (डिं०)=(हिं० सधव)—सधवा स्त्री।

सं० टीका० "सर्वेषां नराणां सधवस्त्रियामुरांसि"।

सरग (डिं०)=(सं० स्वर्ग)।

पुड़ (डिं०)=हिं० परत, पड़त=पृथ्वी की सतह, तह। देखो प्रयोग दे० २८२ में। "जग पुड़ि वाधै वेलि जिम"

विवरे=(सं० विवर) (१) बिल, गर्द, छिद्र, गुफा, गड्ढा।

(२) लाक्षणिक अर्थ में तहखाने, तलघर।

वरग (डिं०)=(सं० वर्ग) एक जाति की वस्तु, जाति।

भुयँग धनां......वरग=इन पंक्तियों में कवि ने धनियों और सर्पों को एक कोटि में रख कर, 'प्रथमी पुड़ भेदे', "विवरे

पैठा", "वे वरग" इत्यादि पदों का प्रयोग दोनों के लिए किया है, जो साभिप्राय है। इनसे हास्य की ध्वनि निकलती है। कवियों ने धनियों की हँसी उड़ाई है; यह स्पष्ट है। रसवैभिन्य की दृष्टि से यह दोहला तथा दो० ११३-११४ अत्यन्त चमत्कार-पूर्ण हैं।

अलंकार = परिकराङ्कुर।

दो० २१८—

हेम, हेमाल (डिं०) = (सं० हिम, हिमालय) 'हेम' के वर्फ़ के अर्थ में प्रयोग के लिए देखो दो० १८७ "गाढ धरा द्रव हेमगिरि"।

वधरा (डिं०) = (सं० वर्द्धन) प्रा० वड्ढण, डिं० वधणो = बढ़ने। देखो प्रयोग पूर्व दो० १३, २३ में।

थायै (डिं०) = हुई, हुए (बहुवचन)। गुजराती में भी प्रयोग होता है।

थूल (डिं०) = (सं० स्थूल) मोटा।

थण (डिं०) = (सं०स्तन) प्रा० थण = उरोज, कुच, वक्ष।
हिन्दी में गाय, भैंस, चौपायों के स्तनों को थण, थन कहते हैं—स्त्रियों के नहीं।

अलङ्कार = उपमा।
व्याघात—पूर्वार्द्ध में।

दो० २१९—

भजन्ति = (सं०) सेवन करते हैं, रहते हैं,। देखो 'भजै' दो० १९१ में।

निसि मिलि = रात्रि के मिलने पर, अर्थात् रात पड़ने पर।

वहै (डिं०) = (सं० वह) चलते हैं। पूर्व दो० में कई जगह इस अर्थ में प्रयोग हुआ है । राजस्थानी बोलचाल की भाषाओं में "वहणो" चलने को कहते हैं ।

कम्बलि = हिं० कम्बल—सरदी में ओढ़ने का एक ऊनी वस्त्र ।

भारियौ रहन्ति = भार से भारी रहते हैं, लदे रहते हैं ।

डा० टैसीटरी ने द्वितीय पंक्ति का पाठान्तर, "मलिन सुतनु केइ वहै मगि" लिया है, जिसका अर्थ इतना उपयुक्त एवं रोचक नहीं है। हमने ढूं० प्रति का पाठान्तर अच्छा समझ कर लिया है।

दो० २२०—

रिणाई (डिं०) = (सं० ऋण + दायिन्) = ऋणदाता ।

रिणी = (सं०) क़र्ज़वाला । उदा० "पूरब तप बहु कियौ, कष्ट करि, इनको बहुत ऋणी हौं" । (सूर)

क्रमि क्रमि = (सं०) क्रम क्रम से, क्रमशः, धीरे धीरे ।

"क्रम क्रम करि डग डग पग धरै" (सूर)

दो० १६६ में "क्रमि" का चलने के अर्थ में भी पूर्व प्रयोग हुआ है ।

संकुड़न (डिं०) = हिं० सिकुड़ना । देखो प्रयोग पूर्व दो० १६२ में । "संकुडित सम समा सन्ध्या समयै" ।

नीठि (डिं०) = मुसकिल से, देखो नोट पूर्व दो० १६३ में ।

करषणि (डिं०) = (सं० कर्षण) = खींचना, तानना ।

प्रौढ़ा = अधिक उमरवाली स्त्री । साहित्य में वह नायिका जो काम-कलाओं में दक्ष हो । इसकी अवस्था का परिमाण ३० से ५० तक है। इस नायिका के (१) रतिप्रीता और (२)

संमोहिता, दो भेद हैं। अन्य प्रकार से (१) धीरा, (२) अधीरा, (३) धीरा-धीरा तीन भेद और भी हैं।

स्वभावानुसार (१) अन्यसुरतदुःखिता, (२) वक्रोक्ति-गर्विता और (३) मानवती—तीन भेद होते हैं।

(१) स्वकीया, (२) परकीया, (३) सामान्या। तीन और भी भेद हैं।

प्रौढ़ालक्षण = प्रौढ़ा लज्जा ललित कछु, सकल केलि की खानि।
तिय इकन्त में कन्त कहँ, अंक भरति मनमानि॥ (भानु)

पड़ुरिणि (डिं०) = देशीय शब्द = वस्त्र।

अलंकार—उपमा।

दो० २२१—

उलझाया = क्रि० सक० प्रेरणार्थक रूप। (सं० अवरुन्धन) प्रा० ओरुञ्झण = गुँथा देना, अटका देना, एक दूसरे में लिप्त कर देना। उदा० जीव जँजाले मांहि रहा, उलझानो मन सूत। (कबीर)

विहत = (सं० वि + हन्) दूर करने के लिए।

मा० टीका० "विहव शीत गमायउ तन मन एकठा करी नइ"
सं० टीका० "यथा शीतं विहितं दूरीकृतम्"।

वरि = (सं० वर) पति, श्रीकृष्ण ने। इकारान्त 'परि' के साथ तुक मिलाने को 'वर' को भी इकारान्त किया है। अन्यथा 'वरि' का पूर्व प्रयोग स्त्रीलिंग में पत्नी के अर्थ में हुआ है। देखो पूर्व दो० १८२ में।

परि (डिं०) = भाँति, रीति से।

'वाणि अरथ जिमि' से मिलाओ "वागर्थाविव संपृक्तौ।" (रघुवंश)

अलंकार—मालोपमा।

दो० २२२—

मकरध्वज = मकरकेतु, मकरांक, मकरपति—कामदेव के नाम हैं। कामदेव की रथ की ध्वजा पर मकर के चिह्नवाली पताका मानी जाती है—न कि कामदेव का वाहन मकर माना जाता है। मकर, गंगाजी और वरुण का वाहन माना जाता है।

वाहणि (डिं०) = (सं० वाहन) = सवारी।

अहिमकर = सूर्य।

वाउ (डि०) = (स० वायु) हवा।

वाए (डिं०) = वाजै (डि०) का रूपान्तर = चलकर।

वालि (डिं०) = हि० बारना, बालना = जलाना, प्रज्वलित करना। यथा:—दीपक बारना। यहाँ पूर्वकालिक रूप है।

अम्ब (डिं०) = (सं० आम्र)—आम का पेड़।

मकरध्वज वाहणि = मकर राशि। यह १२ राशियों में से १० वीं राशि है, जिसमें उत्तराषाढ़ा नक्षत्र के अन्तिम तीन पाद, पूरा श्रवण नक्षत्र और धनिष्ठा के आरंभ के दो पाद आ जाते हैं।

अलंकार—रूपक।

व्याघात।

दो० २२३—

पारथिया (डिं०) = (सं० प्रार्थित:) याचित, माँगने पर, माँगा हुआ।

अम्बह विण (डिं०) = (सं० आम्रस्य + विना) आम्रवृक्ष के बिना, या 'अम्ब' को छोड़ कर। ठीक अपभ्रंश भाषा की तरह यह "अम्बह" षष्ठी का रूप है। यथा उदा० "तुम्र पुण अन्नह रेसि।" यहाँ 'अन्नह' का षष्ठी प्रयोग 'अम्बह' की भाँति ही हुआ है।

जलण (डिं०) = (सं० ज्वलन) = अग्नि।

प्रति = (सं०) अव्यय। यहाँ कर्म विभक्ति के चिह्न की तरह प्रयुक्त हुआ है। "लोग प्रति"—लोगों को। हिं० उदा० "दूती का वचन नायिका प्रति।"

वण (डिं०) = (सं० वन)।

पारथिया कृपण वयण दिसि = प्रार्थित कृपण के वचन की दिशा की ओर अर्थात् 'उत्तर' दिशा की ओर। प्रार्थना अथवा याचना करने पर कृपण क्या वचन कहता है? वह खाली उत्तर देता है। राजस्थानी में 'उत्तर' अथवा 'ऊतर' का रूढ़ अर्थ "नाहीं" का होता है। यथा'—उदा० "उणाँ तो उत्तर देय दीन्हों"—का मतलब होता है, "उन्होंने तो नाँही दे दी।"

कवि ने सीधे आशय को एक शब्द में न कह कर घुमा फिरा कर एक जटिल वाक्य में कहा है। सूरदास के कूट पदों का स्मरण होता है।

अलंकार—'चित्र' अलंकार—प्रथम पंक्ति।
विरोधाभास—अन्तिम पंक्ति।

दो० २२४—

निय (डिं०)=(सं० निज) अपना।

नीला (डि०)=(सं० नील) हरे । देखो नोट पूर्व दो० में "नीलाणी।"

थकी (डि०)=स्थित। देखो पूर्व प्रयोग दो० २१३ में।

पातिग (डिं०)=(सं० पातक) पापकर्म, वह कर्म जो नरक में गिराने का कारण हो।

पैसै (डिं०)=(सं० प्रविशति) प्रा० पइसइ=पैठता है, प्रवेश करता है, घुसता है।

मँजियै (डिं०)=(सं० मज्जन) धोना। हिं० उदा० मंजण फल पेखिय ततकाला। (तुलसी)

मलि (डिं०)=(सं० मल) कल्मष, दोष। उदा० "कलिमलहरणि तुलसी कथा रघुनाथ की।" (तुलसी)

नोट—'सीत' को पातकी कैसे ठहराया? उसका नाम 'शीत' है, उसे तो पदार्थों को शीतल करना चाहिये। परन्तु वह अपनी प्रकृति के विरुद्ध जलाने का कार्य करता है। इसी लिए ऐसे पातकी को द्वारिका जैसे पुण्य स्थान में प्रवेश कर देना मना है। बात भी वास्तव में सत्य है, द्वारिका में समुद्र के समीप होने के कारण सरदी और गरमी कम पड़ती है। यह एक भौगोलिक तथ्य है। परन्तु कवि ने कल्पना के बल पर विचित्र ही कारण बताया है!

अलंकार—विभावना—पूर्वार्द्ध में।
हेतूत्प्रेक्षा—उत्तरार्द्ध में।

दो० २२५—

प्रतिहार करै = प्रतिहारपने का कार्य करता है; पहरेदारी करता है।

प्रताप = (सं०) (१) (प्र + ताप) = सूर्य की तेज़ धूप।

(२) पराक्रम, पौरुष।

उदा० "बल प्रताप विक्रम बड़ाई, नाक पिनाकहिं संग सिधाई। (तुलसी)

सी (डिं०) = सं० शीत, प्रा० सीअ = सरदी। प्रचलित राजस्थानी में प्रयोग होता है।

उदा० (१) कीन्हेसि धूप सीउ औ छाँहा। (जायसी)

(२) जहाँ भानु तहँ रहा न सीऊ। (जायसी)

पाले (डिं०) = बरजता है। राजस्थानी भाषाओं में इसी अर्थ में अब तक बोल चाल में प्रचलित है।

वारै (हिं०) निछावर करता है, उत्सर्ग करता है।

उदा० "चितै रहीं मुख इन्दु मनोहर, या छवि पर वारत तन को।" (सूर)

अहोनिशि = (सं० अहर्निश) रात-दिन।

उदा० "मुयो मुयो अहनिशि चिल्लाई।" (जायसी)

धूप = (हिं० धूप)—(१) सूर्यातप, सूरज की धूप।

(२) धूप, "धूपदीपनैवेद्य"—पूजा के समय जलाने का सुगन्धित द्रव्य और उसका धुआँ।

अलंकार = कैतवापन्हुति—उत्तरार्ध में।

रूपक—पूर्वार्ध में।

दो० २२६—

कलसि = (सं० कलश-'कुंभ' का पर्य्याय शब्द) = कुंभ राशि पर। यह ११ वीं राशि है, धनिष्ठा नक्षत्र के उत्तरार्द्ध में और

शतभिष और पूर्वभाद्र के तृतीय चरण तक रहती है। प्रति बारहवें वर्ष जब सूर्य कुंभराशि पर होता है तब हरिद्वार में पर्व पर कुंभ का मेला लगता है।

पालट (डिं०) = (सं० पर्य्यस्त, प्रा० पलट्ट) परिवर्त्तन।
उदा० (१) बिनही प्रिय आगमन के पलटन लगी दुकूल। (बिहारी)
(२) नर तनु पाय विषय मन देही,
पलटि सुधा ते सठ बिष लेही। (तुलसी)

ठरे (डिं०) = (देशीय शब्द) अत्यन्त शीत से ठिठुरना।

ठंठ (डि०) = हिं० ठंठ, ठूँठ = सरदी से डाली और पत्तियाँ सूखा हुआ वृक्ष, ठूँठ। उदा० "तस सिंगार सब लीन्हेसि कीन्हेसि मोहिं ठंठार। (जायसी)

डहकियौ (डिं०) = (अनुकरण शब्द) पुनर्जीवित हो जाना, पुनः फूलना-फलना, फैलना। हिन्दी में भी 'डहकना' इसी अर्थ में प्रयुक्त होता है। देखो, उदा०—
(१) चंदन कपूर जलधौत कलधौत धाम,
उज्वल जुन्हाई डहडही डहकत है। (देव)
(२) फिरत सबन में डहडही वहै मरगजी बाल। (बिहारी)

नोट—डा० टैसीटरी ने "डहकियौ" की जगह "द्रहकियौ" पाठान्तर लिया है, जिसका अर्थ संस्कृत और मारवाड़ी टीका के आधार पर यों किया है—सं० टीका—(१) "द्रहा ह्रदा ठण्ठीकृता अकम्पनकरा कृता यतः कुम्भे शीतं च जर्जरम्।"
(२) मा० टीका० "पाणी का द्रह निवाण ठण्ठ कहताँ जामी नइ पालउ थयउ।"

पाठक दोनों अर्थों को विचार कर देख सकते हैं कि कौन से पाठान्तर का अर्थ ज़्यादा स्वाभाविक और ऋतुपरिवर्त्तन के अनुकूल पड़ता है।

ऊडण (डिं०)=(सं० उड्डयन) उड़ने के लिए।

कलकंठ=(सं०) मधुर कंठ अथवा बोलीवाली। रूढ़ार्थ में कोकिल। हिं० उदा० "काक कहहिं कलकंठ कठोरा।" (तुलसी)

समारि (हिं०)=(सं० संवर्णन)=ठीक करना, अलंकृत करना, सजाना।

इस दोहा में ऋतुपरिवर्तन के प्राकृतिक लक्षणों का बड़ा स्वाभाविक चित्र अंकित किया गया है।

अलंकार—स्वभावोक्ति।

दो० २२७—

बीणा डफ महुयरि बंम=वाद्यों के नाम। बीणा, डफ, महुअर नाम का बाजा और बंशी या बाँसुरी।

महुवरि—हिं० उदा० "सूरश्याम जानि चतुराई, जेहि अभ्यास महुवरि को।" (सूर)

करि रोरी=हाथ में रोली। रोली—हल्दी और चूने से बने लाल रंग के गुलाल को कहते हैं।

उदा० मुख मंडित रोरी रंग सेंदुर माँग छुही। (सूर)

डा० टैसीटरी ने "री री" पाठान्तर लेकर संस्कृत और मारवाड़ी टीका के आधार पर "री री इति वाद्स्वरेण" अर्थ लिया है। 'री री' करके गवैये राग को अलापते हैं यह अर्थ भी लिया जा सकता है।

(३) छः रागों के नामों के सम्बन्ध में संगीताचार्यों में बड़ा मतभेद है। कइयों ने "पंचम" को छः रागों में गिनाया है, कइयों ने नहीं। हनुमत के मत से—भैरव, कौशिक (मालकोश), हिंडोल, दीपक, श्री और मेघ—ये छः राग हैं। ब्रह्मा के मत से—श्री, वसंत, पंचम, भैरव, मेघ और नट-नारायण। नारद-संहिता के मत से-मालव, मल्लार, श्री, वसंत, हिंडोल और कर्णाट।

स्वरभेद से राग तीन प्रकार के होते हैं :—(१) सम्पूर्ण—सात स्वरों का राग, (२) षाड़व (छः स्वरों का), (३) ओडव (५ स्वरों का)।

मतंग के अनुसार (१) शुद्ध, (२) छायालग या सालक (जिसमें दूसरे किसी राग की छाया मिली हो), (३) संकीर्ण (कई रागों के योग से बना हुआ राग)—ये रागों के तीन विभाग हैं।

प्रत्येक राग के छः रागिनियाँ होती हैं—यह सोमेश्वर का मत है और यही आज तक प्रचलित है।

दो० २२८—

अजहुँ = (सं० अद्यापि) हिं० अजहुँ, अज्यों, अजौं।
उदा० अजहुँ सो देव मोहिं पर रूठा। (तुलसी)

थोड़ (डिं०) = (सं० स्तोकम्) प्रा० थोअ (डिं०), हिं० थोड़ा।

गादरित (डिं०) = (अनुकरण शब्द) गदगदाना, स्थूल हो जाना। (हिं० गदराना) युवावस्था के आरम्भ में शरीर का पुष्ट और सुडौल होना।

अकीधे (डिं०) = (सं० अ + कृत) प्रा० अकद, अकिद, अकिध। = नहीं किये हुए।

दुतरणि (डिं०) = (सं० दुस्तरण, दुस्तर) बड़ा कठिन, दुःखदायी।

फाग (डिं०) = (सं० फाल्गुन) हिं० "फाग"—फाल्गुन मास का वह उत्सव जिसमें गुलाल डाल डाल कर प्रेमी परस्पर क्रीड़ा करते हैं और साथ साथ वासन्तिक गीत गाते हैं।
उदा० "आछंद सदा सुगंध, वह जनु वसंत औ फाग"।
(जायसी)

पंचमराग = संगीतशास्त्र के सात स्वरों में से पाँचवें स्वर 'प' को पंचम कहते हैं। इसका उच्चारण नाभि, उरु, कंठ, हृदय और मूर्द्धा पाँच स्थानों की वायु को संचारित करने से होता है और संगीताचार्य दामोदर के मतानुसार प्राण, अपान, समान, उदान और व्यान ये पाँचों वायु इसमें लगते हैं। अतएव 'पंचम' नाम पड़ा। पंचम स्वर जिसमें प्रधान हो वे सब रागिनियाँ साधारणतया पंचम राग कहला सकती हैं।

(२) कई आचार्यों के मत से 'पंचम राग' वह राग है जो छः रागों में तीसरा राग है। इसके विषय में मतभेद है। कई इसे हिंडोल राग का पुत्र मानते हैं और कई भैरव राग का। कुछ लोग इसे ललित और वसंत के योग से बना हुआ और कुछ हिंडोल, गांधार और मनहर के योग से बना हुआ मानते हैं। सोमेश्वर और ब्रह्मा के मतानुसार इसके गाने की ऋतु शरद् और प्रातःकाल समय है। इसकी छः रागिनियाँ ये हैं:—विभास, भूपाली, कर्णाटी, बड़हंस, मालश्री और पटमंजरी। कुछ लोग इसे औड़व जाति का (अर्थात् पाँच स्वरों का) राग मानते हैं और इसमें ऋषभ, कोमलपंचम और गांधार वर्जित मानते हैं।

(३) छ: रागों के नामों के सम्बन्ध में संगीताचार्यों में बड़ा मतभेद है। कइयों ने "पंचम" को छ: रागों में गिनाया है, कइयों ने नहीं। हनुमत के मत से—भैरव, कौशिक (मालकोश), हिंडोल, दीपक, श्री और मेघ—ये छ: राग हैं। ब्रह्मा के मत से—श्री, वसंत, पंचम, भैरव, मेघ और नट-नारायण। नारद-संहिता के मत से–मालव, मल्लार, श्री, वसंत, हिंडोल और कर्णाट।

स्वरभेद से राग तीन प्रकार के होते हैं :—(१) सम्पूर्ण—सात स्वरों का राग, (२) षाड़व (छ: स्वरों का), (३) ओडव (५ स्वरों का)।

मतंग के अनुसार (१) शुद्ध, (२) छायालग या सालक (जिसमें दूसरे किसी राग की छाया मिली हो), (३) संकीर्ण (कई रागों के योग से बना हुआ राग)—ये रागों के तीन विभाग हैं।

प्रत्येक राग के छ: रागिनियाँ होती हैं—यह सोमेश्वर का मत है और यही आज तक प्रचलित है।

दो० २२८—

अजहूँ = (सं० अद्यापि) हिं० अजहूँ, अज्यों, अजौं।
उदा० अजहुँ सो देव मोहिं पर रूठा। (तुलसी)

थोड़ (डिं०) = (सं० स्तोकम्) प्रा० थोअ (डिं०), हिं० थोड़ा।

गादरित (डिं०) = (अनुकरण शब्द) गदगदाना, स्थूल हो जाना। (हिं० गदराना) युवावस्था के आरम्भ में शरीर का पुष्ट और सुडौल होना।

अकीधे (डिं०) = (सं० अ + कृत) प्रा० अकद, अकिद, अकिध। = नहीं किये हुए।

सोहति (हि०) = (स० शोभते) उदा० "सोहत ओढे स्याम पट श्याम सलोने गात" । (विहारी)

अलंकार—उपमा, विभावना—उत्तरार्द्ध में ।

दो० २२६—

समापित (डि०) = (स० समाप्ते) = समाप्त होने पर ।

गुणणन्ति (डि०) = (अनुकरण शब्द)—गुजार करते हुए । भ्रमरों के गुन गुन शब्द करते हुए ।

कूजति = (स०) मधुर बोलना, गूँजना, कूजना, ध्वनि करना ।

उदा० (१) जल खग कूजत गुजत भृ गा । (तुलसी)

(२) कलरव कूजत बाल मराल । (सूर)

(३) कोकिल कूजति कुज कुटीर । (हरिश्चन्द्र)

कठिण वेयणि = (स०) = कठोर (वेदनापूर्ण) वचन ।

उदा० "महाकष्ट दस मास गर्भ बसि अधोमुख सोस रहाई ।
इतनो कठिन सही तब निकस्यौ, अजहुँ न तू समुझाई ॥"
(सूर)

प्रसवती = (स०) बच्चा जनती है, पैदा करती है ।

डा० टैसीटरी ने 'रति' पाठान्तर लिया है । हमने ढूँढाडी टीका के अर्थानुसार "रित" पाठान्तर ज्यादा उपयुक्त समझा है ।

इस दोहे में कवि ने वनस्पति देवी की प्रसववेदना का अत्यन्त स्वाभाविक चित्र अकित किया है । "मन व्याकुल" "गुणणन्ति", "कठिण वेयणि" शब्दों की आयोजना उस वेदना के भाव को व्यग्य करने के लिए अत्यन्त उपयुक्त है ।

अलंकार—समासोक्ति।

दो० २३०—

कसटि भँगि = (सं० कष्ट + भंग) राजस्थानी में "कसट" विशेषरूप से "प्रसव वेदना" को व्यक्त करने के उपयोग में आता है।

= प्रसव वेदना के दूर होने पर।

प्रसूतिका = (सं०) जच्चा, प्रसव करनेवाली स्त्री।

होलिका प्रव = सं० होलिका पर्व।

कवि ने अपने कल्पनानुसार कथाप्रसंग से "होली" के त्यौहार की उत्पत्ति मनगढ़न्त कर ली है। परन्तु कल्पना इतनी वास्तविक प्रतीत होती है कि सत्य मालूम पड़ती है। मानो वनस्पति देवी की प्रसव-वेदना-शान्ति के उपलक्ष ही में होलिका पर्व को हम इस प्रकार मनाते हैं। पुरातन प्रथा के अनुसार प्राचीन काल में मदनोत्सव अथवा वसन्तोत्सव होता था। उसी की परम्परा आज तक मानी जाती है। साथ ही होलिका राक्षसी की शान्ति का वृत्तान्त भी मिला दिया गया है।

प्रव (डिं०) = सं० पर्व। डिंगल के नियमानुसार 'रेफ' को स्थानान्तरित किया गया है।

धर्म-पुण्य कार्य अथवा उत्सव आदि मनाने के पुण्य अवसर को पर्व कहते हैं। पुराणों के अनुसार चतुर्दशी, अष्टमी, अमावस्या, पूर्णिमा और संक्रान्ति ये सब पर्व हैं, जिनमें उपवास, नदीस्नान, दान, जपादि किया जाता है।

वनसपती = वनस्पति को यहाँ प्रकृति देवी का स्वरूप देकर उसके गर्भ से वसन्तकुमार की उत्पत्ति कराई है।

दो० २३१—

दलि (डिं०) = (सं० दल = शरीर के अवयव, भाग) = शरीर पर। देखो पूर्व प्रयोग दो० १८६ में "दलि मुगता आहरण दुति"। 'दल' का अर्थ पत्ता, किशलय भी होता है।

ढूँ० टीका—"दल कहताँ शरीर थी"।

त्रिगुण = (सं०) सत्व, रज, तम, प्रकृति के तीन गुण (सांख्यमतानुसार) हैं। वायु के सम्बन्ध में त्रिगुण वायु—शीतल, मन्द, सुगंध वायु को साहित्य में त्रिगुण वायु कहते हैं।

त्रिस = (डि०) = (स० तृषा) प्यास। उदा० देखि कै विभूति सुख उपज्यौ अभूत कोऊ, चल्यौ मुख माधुरी के लोचन तिसाये हैं। (प्रियादास)

रुँख राइ (डि०) = (स० वृक्षराजि) प्रा० रुक्ख राइ—वृक्षों की पंक्ति, श्रेणी।

नोट—"लागै" और "परसतै" दोनों का एक ही अर्थ है। अतएव प्रस्तुत अर्थ में एक का उपयोग अनावश्यक सा प्रतीत होता है। परन्तु कवि ने, संभव है, रूपक के दोनों अंगों को स्पष्ट करने के लिए ये दो समानार्थवाची शब्द पृथक् पृथक् प्रयुक्त किये हों।

अलंकार = कैतवापन्हुति।

रूपक।

दो० २३२—

घराघरि (डिं०) = घर घर में।

रमै (डिं०) = (स० रम्) = रमण करता है, विहार करता है। उदा० गोपिन सँग निशि सरद की, रमत रसिक रस रासि। (बिहारी)

=हिं० वास, सुवास=सुगन्धि, सौरभ।

–और किसी राजकुमार के जन्म की बधाई तो कान से सुनी जाती है परन्तु सुगंधिरूपी बधाईदार ऋतुराज के जन्म की बधाई की सूचना लोगों को नासिका के मार्ग से देते हैं। यह भी विचित्रता है।

ार——रूपक।

अनुप्रास की छटा पूर्वार्द्ध में देखते ही बनती है।

२३३—

=(सं० मुकुल) प्रा० मउल्। हिं० मौर=मंजरी। उदा०—"मनो अबदल मौर देखि कै कुहकि कोकिला बानी है"। (सूर)

=(स०) गृहद्वार की एक प्रकार की विशेष सजावट जो मंगल-अवसरों पर की जाती है।

राजस्थान में वैवाहिक घरों के द्वार पर एक विशेष प्रकार की सजावट की जाती है। लकड़ी का बना हुआ एक "तोरण" जिसमें मोर चित्रित होते हैं, गृहद्वार के ऊपर लटकाया जाता है।

साधारण अर्थ में 'तोरण'——बन्दनवार को भी कह सकते हैं।

(डिं०)=और जो।

करि कलस='मंगल' अर्थात् धवल-मंगल प्रथा करने का जलपूर्ण कलश, जिसमें हरी डालियाँ रहती हैं। इसे "मंगल-कलश" भी कहते हैं।

वन्नरवाल् (डिं०) = (सं० वंदनमाला) फूल, पत्तों, दूब आदि की वह माला जो मंगल कार्यों के समय द्वार पर लट जाती है।

वल्ली = (सं०) लता।

बियै = (सं० द्वितीय) दूसरे। देखो नोट दो० ५ में।

अलंकार—रूपक।

दो० २३४—

वानरेण = (सं०) शुद्ध संस्कृत विभक्तिप्रयोग।

फुट (डिं०) = (सं० स्फुटनं, स्फोटनं) फोड़ा हुआ।

कच (डिं०) = हिं० 'कचा'—का अल्प रूप।

नालिकेर फल = (सं० नारिकेल)—नारियल का फल पवित्र उ जाकर पूजा में काम में आता है। राजस्थान में मांग पूजाओं में इसका सर्वत्र प्रयोग होता है। उदा०—
"नालिकेर फल परठि दुज, चौक पूरि मनि मुत्ति।
दई जु कन्या वचन वर, अति अनंद कर जुत्ति"। (चन्द

मज्जा = (सं०) भीतर का भाग, गूदा। साधारणत: हड्डियों के अ के गूदे को मज्जा कहते हैं। फल के आन्तरिक भाग के यह बहुत कम प्रयुक्त होता है।

तिकरि (डिं०) = (सं० तत्कृते) तिणि करि (डिं०), हिं० "तिन क = उनकी, के लिए। यहाँ सम्बन्धकारक षष्ठी विभक्ति चिह्न की तरह प्रयुक्त हुआ है। देखो पूर्व प्रयोग १४३, २७६।

अखित (डिं०) = (सं० अक्षत) = चंदन वा केसर में रँगे हुए चा पूजा के लिए काम में लाये जाते हैं।
उदा०—"सेवा सुमिरन पूजिबो पात अखित थोरे।" (तुलस

अलंकार—रूपक।

दो० २३५—

इलि (डिं०) = (सं० इला) = पृथ्वी पर ।

पोइणि (डिं०) = (सं० पद्मिनी) = प्रा० पोयणि । उदा० "पोयण फूल प्रतापसी" । (पृथ्वीराज)

भामिणि (डिं०) = (सं० भामिनि) सुसज्जिता स्त्रियाँ ।

मोतिए थाल भरि... = राजस्थान में राजकुलों में बधाई देने की यह प्रथा है कि थाल में मोती भर कर बधाई दी जाती है । राजस्थानी साहित्य में "मोतिए थाल" का प्रसंग अक्सर उपलब्ध होगा ।

काचमै वणे = काँच के बने हुए ।

अलंकार = उत्प्रेक्षा ।

दो० २३६—

करणि (डिं०) = (सं० कर्णिकार) = कनक चम्पा, एक प्रकार का पुष्प, जो पीले रङ्ग का होता है ।

केसू (डिं०) = (सं० किंशुक) = ढाक, अथवा टेसू के पुष्प ।

करि = षष्ठी का विभक्तिचिह्न—'के' । हिन्दी में भी प्रयोग होता है । "राम ते अधिक राम कर दासा ।" (तुलसी)

कामदुधा = (सं०) पुराणों के अनुसार समुद्र मंथन के उपरान्त १४ रत्नों में निकली हुई एक गाय, जो मनोवांछित पदार्थ माँगने पर देती है ।

कामा = (सं०) कामनाएँ, मनोरथ ।

वरखन्ती (डिं०) = (सं० वर्षन्ति) = बरसाती हुई, बौछाड़ करती हुई, बहुतायत से देती हुई ।

पीला वसन = पीत वस्त्र, पीले रंग के वस्त्र। पीला रंग मांगलिक समझा जाता है। राजस्थान में प्रथा है कि प्रसव-अवधि की समाप्ति हो जाने पर माता को पीले मांगलिक वस्त्र पहनाये जाते हैं। उसी का उल्लेख कवि ने उपमा के रूप में यहाँ किया है।

कामा......कामदुधा वसंत ऋतु में वनस्पतियों में अनेक प्रकार के फल-फूल लगते हैं। जिसकी जैसी रुचि होती है उसको वैसे ही फूल-फलों की प्राप्ति इस ऋतु में होती है। अतएव वनस्पति देवी का 'कामदुधा' होना असंदिग्ध है।

अलंकार—उपमा।

वनस्पति देवी की प्रसूति का ऊपर के कई दो० में वर्णित रूपक प्रकृतिसिद्ध एवं स्वाभाविक है। कवि की सूझ अनूठी है। साहित्य में यह एक नवीनता है।

दो० २३७—

कणियर (डिं०) = (सं० कर्णिकार—प्रा० कणियार) हिं० कनियार या कनेर = कनक चम्पा। यह कर्णिकार की जाति का एक पुष्पवृक्ष होता है।

सेवंती (डिं०) = (सं०) एक प्रकार का पुष्प, गुलाब का एक भेद, सफ़ेद गुलाब, चैती गुलाब, शतपत्री।

कूजा (डिं०) = (सं० कुब्जक) = मोतिया या बेले का पुष्प। उदा० कोइ कूजा सतवर्ग चमेली, कोई कदम सुरस रस वेली। (सूर)

जाती = (सं०) मालती, चमेली। देखो पूर्व प्रयोग दो० ८६ में :—
"कीर सु तसु जाती क्रीड़न्ति।" (वेलि)

सोवन = हिं० सोहना । एक प्रकार का पुष्पवृक्ष विशेष । भारत के दक्षिण के जंगलों में पाया जाता है ।

गुलाल = (फारसी गुल + लाल) एक प्रकार का लाल पुष्प ।
उदा० जेहि चम्पकवरनी करैं, गुल्लाला रग नैन । (बिहारी)

ईए (डिं०)=इसने (अर्थात् वनस्पति देवी ने) । मारवाड़ी भाषा में अब तक इस सर्वनाम का इसी अर्थ में बोलचाल में प्रयोग होता है ।

नोट—तृतीय पंक्ति में वयणसगाई का यथावत् साधारण प्रयोग न करके कवि ने आन्तरिक वयणसगाई का प्रयोग किया है । इसके स्पष्टीकरण के लिए देखो भूमिका । कवि ने वनस्पति-वर्णन में अपने वानस्पत्य वस्तु-ज्ञान के अनुभव का पर्याप्त परिचय दिया है । हिन्दी कवियों में जायसी की दक्षता इस ओर ख़ूब बढ़ी-चढ़ी है । प्रत्येक प्रकार की वस्तुओं का सविस्तर वर्णन पद्मावत में ख़ूब मिलेगा । पाठकों को यह वर्णन जायसी के पुष्पवर्णन से मिलाना उपयोगी सिद्ध होगा ।

अलंकार = उत्प्रेक्षा ।

दो० २३८—

बधावे (डिं०) = हिं० बधावा, बधाई । बधाई देने की विविध प्रकार की रस्में, प्रथाएँ । देखो पूर्व प्रयोग "विधि सहित बधावे बाजित्र बावै ।" दोहा १४८ ।

हुलरावणो, हुलरायो (डिं०) = अनुकरण शब्द । हिं० हुलराना = प्यार से झुलाना, गीतवाद्यादि के साथ बालक को प्रसन्न करना । 'हुलरावणो' (संज्ञा) झूले के अर्थ में भी प्रयुक्त होता है ।

राजस्थानी में 'हुलल हुलल' शब्द के साथ माता के बालक को लोरी देने को भी "हुलराना" कहते हैं।

उदा० (१) मदन महीप जु को बालक बसंत,
ताहि प्रात हुलरावै गुलाब चत्कारी दै। (देव)

(२) लै उछंग कबहुक हुलरावै,
कबहु पालने घालि झुलावै। (तुलसी)

(३) जसुदा हरि पालने झुलावै,
हलरावै, मल्हरावै जोइ सोइ कछु गावै। (सूर)

भालिम (डिं०) = भलापन, अच्छापन। सौन्दर्य, कान्ति आदि सभी गुणों में भलापन होने को 'भालिम' कहते हैं।
सं० टीका—"भालिम इति भाषायां भव्यतया।"

भरण (डिं०) = हिं० भर जाना। लाक्षणिक अर्थ में—शरीर का भरा पूरा होना—मांसल और शक्ति-सम्पन्न होना। हिन्दी में प्रयोग होता है। यथा "पहले तो वे अत्यन्त कृश थे परन्तु अब तो शरीर में कुछ कुछ भर गये हैं।"

गहवरिया (डिं०) = (सं० गह्वर) हिं० गहराना, गहरा होना = सघन हो जाना। पत्तों से लदा हुआ सघन वृक्ष जिसकी छाया सघन हो। किसी प्रकार की गहराई अथवा सघनता के लिए उपयुक्त हो सकता है।
सं० टीका "गहवरिया इति गर्वितैः पुष्पादि समृद्धिमद्भिस्तरुभिस्तरुणैरिव।

अलंकार—परिकर—"तरुण" अभिप्राय गर्भित है।

दो० २३६—

मयण (डिं०) = (सं० मदन) प्रा० मयण = कामदेव।
धर सधर (डिं०) = सं० धराधर = पर्वत।

माथै (डिं०) = (सं० मस्तके) सिर पर, ऊपर।
उदा० "सो जनु हमरे माथे काढ़ा,
दिन चलि गयहु ब्याज बहु बाढ़ा।" (तुलसी)

मंडाणा (डिं०) = (सं० मंडित) = मँडे हैं, सजे हैं, लगे हुए हैं, तने हुए हैं।

चमर = (सं० चामर) हिं० चमर, चाँवर, चामर। सुरा गाय की पूँछ के बालों का गुच्छा चाँदी सोने की डाँड़ी में लगा कर राजाओं या देवताओं के सिर पर पीछे से अथवा बगल से डुलाया जाता है।
उदा० "चँवरदार दुइ चँवर डोलावहिं।" (जायसी)

ढलि (डिं०) = हिं० ढुलाना = इधर उधर हिलाना, डुलाना।
उदा० (१) "धुजा फहराइ छत्र चौर सौ ढुराइ, वागे वीरन बनाइ, यों चलाइ दाम चाम के।" (हनुमान)
(२) सूर श्याम श्यामावश कीन्हो,
ज्यों संग छाँह ढुलावै हौ। (सूर)

अलंकार—रूपक।

नोट—इस दोहे से कवि मदन महीपति के वासन्तिक दरबार का रूपक स्थापित करता है।

दो० २४०—

दाड़िमी (सं०) अनार।

दीसै (डिं०) = (सं० दृश्यते, प्रा० दीसइ, डिं० दीसै) = दीखते हैं।
उदा० "बिदुसन प्रभु बिराट सम दीसा।" (तुलसी)

निउँछावरि (डिं०) = (सं० न्यास + आवर्त्त; न्यासावर्त्त), (अरबी० निसार), हिं० न्यौछावर। किसी प्रेमी अथवा श्रद्धा-भाजन के ऊपर किसी बहुमूल्य द्रव्य का उत्सर्ग करना। प्रथा यह है कि आनन्द के अवसरों पर प्रेमी अपने प्रेम-पात्र के ऊपर से द्रव्य, रुपया, पैसा, अशर्फी अथवा अन्य प्रकार का कोई मूल्यवान् द्रव्य घुमा कर डाल देता है अथवा भाट, बन्दीजन को दान कर देता है। राजस्थान में वैवाहिक अवसरों पर यह प्रथा अच्छे कुलों में अब तक बरती जाती है।

नाँखिया (डिं०) = (सं० नाश) = (१) नष्ट किया। (२) फेंका। राजस्थान में बोलचाल की भाषा में अब तक फेंकने के अर्थ में यह शब्द प्रयुक्त होता है।

हिं० उदा० जो उर झारन हो झरसी मृदु मालती माल वहै मग नाखै।

नग (डिं०) = (फारसी० नगीना), (सं० नग) बढ़िया शीशा अथवा कीमती पत्थर जो जड़ने के काम का हो। नग = रत्न।

लुम्बित, चुम्बित, मुञ्चन्ति, सिञ्चन्ति — शुद्ध संस्कृत प्रयोग। कवि ने अपनी भाषा को पाण्डित्य-पूर्ण और परिमार्जित करने के लिए संस्कृत-प्रयोगों का बहुत कुछ सहारा लिया है। कई अंशों में डिंगलकाव्य में यह आपत्तिजनक है।

अलंकार—रूपक।

दो० २४१—

एण = (सं०) एक काले रङ्ग का हरिण जिसकी आँखें बड़ी और पैर छोटे होते हैं।

पदाति = (सं०) = पैदल सिपाही।

हय लास=(सं० हय+लास्य—लासक) लास्य=एक प्रकार का नाच, अतएव हयलास्य=घोड़ों को नचानेवाला, घुड़सवार या सईस। लास (डिं०)=घोड़ों को लासने अर्थात् बाँधने की घुड़साल, पायगह।

डा० टैसीटरी प्राचीन मा० टीका के आधार पर— "घोड़ानो ल्हासि घोटकशाला पायगह" अर्थ करते हैं।

• सं० टीका—लासिरिति मन्दुरा। (अँगरेज़ी में "लेसिङ्ग" जहाज़ बाँधने अथवा जानवर बाँधने के मोटे रस्से को कहते हैं)।

पूठि (डिं०)=(सं० पृष्ठ) प्रा० पुट्ठ या पिट्ठ, डिं० पूठ, हिं० पीठ; पृष्ठ।

उदा० देखादेखी पकरिया, गई छिनक के छूटि।
कोई विरला जन ठहरे जाकी ठकोरी पूठि ॥ (कबीर)

ढलकावै (डिं०)=(हिं० ढरकावै)=किसी आधार से गिराना, लुढ़काना।

गय (डिं०)=(सं० गज) प्रा० गय, हिं० गज=हाथी।

उदा० "हय गय बसह हंस मृग जावत।" (सूर)

ग्वजूरि=(सं० खर्जूर) हिं० खजूर। एक प्रकार का ताड़ की जाति का वृक्ष जो गरम देशों में समुद्र के किनारे मैदानों में होता है।

सिणगारिया (डिं०)=(सं० शृंगारिता)=शृंगारे हुए, सजाये हुए।

अलंकार=उपमा।

नोट—यहाँ से आगे ऋतुराज वसंत की सेना का रूपक बाँधा गया है। राजा के सेना भी होनी चाहिए।

दो० २४२—

पसरन्ता (डिं०) = (सं० प्रसरतः) हिं० पसरे हुए; फैलते हुए, पसरते हुए।

सरला = (सं० सरल) = सीधे, एकदम सीधा ऊँचा गया हुआ (वृक्ष)

तरला = (सं० तरल) = हिलता डोलता, चंचल, अस्थिर, चलायमान।

उदा०—लसत सेत साड़ी ढक्यौ, तरल तर्यौना कान।
(बिहारी)

तड़ि (डिं०) = (सं० तट) डिंगल में "तड़ी"—लम्बी छड़ी को कहते हैं। जिसके मारने से 'तड़तड़' शब्द हो, ऐसी लम्बी लकड़ी को 'तड़ी' कहते हैं।

डि० उदा० तड़ी तड़ी कर तड़ी ध्रोबियौ, बड़ी बड़ो वालियौ वपु। (पृथ्वीराज)

सरगि (डिं०) = (सं० स्वर्ग) स्वर्ग में; आसमान तक।

उदा० "मूल पताल सरगि वहि साखा"। (जायसी)

पाटि (डिं०) = (सं० पट्ट) सिंहासन, राज्यासन, राज्यपाट, गद्दी।

जगहथ पत्र (डिं०) = जगत को हस्तगत करने के लिए घोषणा-पत्र। संसार का दिग्विजय करने के लिए चुनौती देते हुए घोषणा-पत्र।

प्राचीन काल में भारतीय चक्रवर्ती राजा दिग्विजय करने के लिए घोषणा करते थे। यह घोषणा कई प्रकार से हुआ करती थी। या तो राजसूय अथवा अश्वमेध जैसा महायज्ञ किया जाता था जिसमें आधिपत्य स्वीकार करनेवाले

तमाम राजाओं को निमंत्रित किया जाता था, अथवा और किसी रीति से अथवा पत्र-द्वारा घोषणा की जाती थी।

ऋतुराज वसंत ने भी इसी प्रकार दिग्विजय की घोषणा की है।

सं० टीका० "जगद्धस्ता: पत्रावलम्बनानीव बद्धा इव अस्माकं यो जयतु तेनागन्तव्यमिति।"

अलंकार = उत्प्रेक्षा।

सम्बन्धातिशयोक्ति—पूर्वार्द्ध।

दो० २४३—

आगलि (डिं०) = आगे। देखो नोट पूर्व दो० १८ में—"आगलि पित मात रमन्ती" उदा० "आगल से पाछल भयो, हरि सों कियो न हेत"। (कबीर)

मंडियौ (डिं०) = (सं० मण्डित:) सुसज्जित हुआ। देखो पूर्व प्रयोग दो० ६० में।

अवसर (डिं०) = (सं०) = समय, विशेष अवसर। प्रसंग से यहाँ लाक्षणिक अर्थ में—'महफिल', 'उत्सव' का अर्थ है।

मडप = (सं०) किसी उत्सव या समारोह के लिए ऊपर से छाकर बनाया हुआ चारों ओर से खुला स्थान, शामियाना।

रङ्ग वसुह (डिं०) = (सं०रङ्ग + वसुधा = रङ्गभूमि) अभिनय, समारोह अथवा उत्सव होने का स्थानविशेष।

मेलगर (डिं०) = (सं० मेलक = समूह) = मेला, जमावट, मिलनेवाले अर्थात् दर्शक गण—जाणगर = जानेवाले
मेलगर = मिलनेवाले }

नायक = महफिल, उत्सव अथवा अभिनय का प्रधान पुरुष अथवा पात्र ।

नीझरण (डिं०) = (सं० निर्झरण) = झरना, निर्झर ।

पंचवाण = (सं०) कामदेव । कामदेव के पाँच बाण पूर्व दो० १०६ के प्रसंग में नोट में दिये गये हैं ।

अलंकार = रूपक ।

दो० २४४—

कलहंस = (सं०) = राजहंस । उदा० "सजि सी सिंगार कलहंस गती सी, चलि आइ राम छबि मंडप दीसी" ।

जाणगर (डिं०) = हिं० जानकार = कलाविज्ञ, ज्ञाता, चतुर, कला-कुशल । मिलाओ "मेलगर" दो० २४३ ।

सं० टीका—"कलहंसा ज्ञातारो भव्यभव्येति भापका" । अर्थात्, 'वाह वाह', 'क्या ख़ूब', 'वल्ला', "बहुत अच्छा" कह कह कर सराहना करनेवाले चतुर द्रष्टा या श्रोता ।

आरि (डिं०) = (देशीय शब्द) = झिल्ली, झींगुर ।

सं० टीका—"आरिशब्देन काचिच्चटिका जातिविशेषः" इस प्रकार अनुमान से "कोई पक्षीविशेष" अर्थ लिया है ।

तन्तिसर (डिं०) = (सं० तंत्रीस्वर) तार के वाद्यों का स्वर, सितार, सारङ्गी, बीणा, वेला, दिलरुबा इत्यादि का शब्द ।

उदा० "तंत्री नाद कवित्त रस सरस राग रति रङ्ग" ।

(बिहारी)

ताल = (सं०) = (१) संगीत में "ताल"—समय-विराम को कहते हैं । अतएव "तालधर" = ताल का समय देनेवाले ।

(२) करताल, मजीरा इत्यादि ताल देने के वाद्यविशेष ।

नोट—नाचने या गाने के समय काल और क्रिया का परिमाण बताने के लिए बीच बीच मे हाथ पर हाथ मार कर करतल-ध्वनि द्वारा सूचना देते है। भरताचार्य के अनुसार (१) मार्ग और (२) देशीय, दो प्रकार के ताल हैं। पहले के ६० और दूमरे के १२० भेद हैं। इनमें से बहुत थोडे ताल प्रचलित हैं।

उदा० कूजहिं कौंल बजावहिं ताला। (सबल)

उपंगी = (सं० उपाङ्ग) = नसतरङ्ग को बजानेवाला। नसतरङ्ग एक वाद्य-विशेष का नाम है।

उदा० (१) उघटत श्याम नृत्यत नारि। धरे अधर उपंग उपजैं लेत हैं गिरधारि। (सूर)

(२) चंग उपंग नाद सुर तूरा, मुहर बस बाजै भल तूरा। (जायसी)

उघट = (सं० उत्कथन या उद्घाटन) = हिं० उघटना। संगीत में ताल की जाँच के लिए, मात्राओं की गणना करके शब्द संकेतों द्वारा नियमानुसार "बोल" बोले जाते हैं और उनके अनुसार ताल दी जाती है। इसे 'उघटना' कहते हैं।

उदा० " कोउ गावत कोउ नृत्य करत, कोउ उघटत कोउ ताल बजावत। (सूर)

तीवट (डि०) = (स० त्रिवट) (१) सम्पूर्ण जाति का एक राग-विशेष, हिंडोल राग का पुत्र, दोपहर के समय गाया जाता है।

(२) 'तिरवट' नामक एक राग 'तिल्लाने' का भेद भी है।
(३) एक जाति का ताल जिसे तेवर, तेवरा भी कहते हैं।

यह १४ मात्राओं का माना जाता है। इसके तबले के बोल

+ ३ ०

ये हैं:—धिन्, धिन्, धाकेटे, धिन्, धिन् धा। तिन्, तिन्

१

ताकेटे, धिन धिन् धा॥

चकोर = चकोर एक पक्षीविशेष का नाम है। इसकी बोली तीन भागों में विभक्त होती है और 'त्रिवट' ताल के बोलों से मिलती है। अतएव साम्य स्पष्ट है। कवि की कल्पना सराहनीय है।

नोट—इस दो० में सङ्गीतशास्त्र का आन्तरिक अनुभव भरा पड़ा है। कवि के सङ्गीतशास्त्र के अनुभव के सम्बन्ध में कोई सन्देह नहीं हो सकता। दोहा २८८ वाली—"सङ्गीती तारकिक" वाली गर्वोक्ति ? अत्यन्त सत्य है।

अलंकार = रूपक।

दो० २४५—

विधि पाठक = (सं०) शास्त्र की रीति, नियम, प्रणाली का पाठ करके बतानेवाला।

कोविद = (सं०) = पंडित, विद्वान्, कृतविद्य, चतुर, कलाकुशल।

खंजरीट = (सं०) (१) खंजन पक्षी। यह पक्षी बहुत चंचल होता है। आँखों के उपमान की तरह साहित्य में प्रयुक्त होता है। (२) सङ्गीत में एक प्रकार के ताल का नाम भी है।

गतिकार = (सं०) = तालस्वर के अनुसार अंगों के संचालन को 'गति' (हिं० गत) कहते हैं; गतिकार = गतें बतानेवाला। नृत्य की कई गतें होती हैं। यथा, मेंढक की गति, थाली की गति इत्यादि।

उदा० (१) सब अँग करि राखी सुघर नायक नेह सिखाय।
रस जुत लेत अनंत गति पुतरी पातुर राय ॥ (बिहारी)

(२) अनुहारि ताल गतिहि नट नाचा। (तुलसी)

पारेवा (डिं०) (सं० पारावत) हिं० परेवा = कबूतर।

उदा० हारिल भई पंथ मैं सेवा, अब तोहिं पठवौं कौन पारेवा।
(जायसी)

प्रगलभ = (सं० प्रगल्भ) = चतुर, विज्ञ, ज्ञाता।

विदुर = कौरवों के सुप्रसिद्ध मंत्री, विदुरजी राजनीति, धर्मनीति और अर्थनीति में परम निपुण थे। ये धर्म के अवतार माने गये हैं। महाभारत के अनुसार जब सत्यवती ने अपनी पुत्र-वधू अम्बिका को दूसरी बार कृष्णद्वैपायन के साथ नियोग करके पुत्रोत्पत्ति करने की आज्ञा दी, तो वह उनकी भद्दी शकल देख कर घबरा गई और अपने बदले अपनी दासी को उनके पास भेज दिया। इस दासी से विदुर का जन्म हुआ। अतएव विदुर शब्द–दासीपुत्र–विदूषक, राजाओं के चाकरों को भी कहते हैं। 'विदुर' के पर्याय में "विदुष" का भी प्रयोग होता है। वेश भूषा और नकल करने में चातुरी द्वारा लोगों को हँसानेवाले, राजा लोगों के "प्रिय वयस्य" को भी, विदूषक, विदुष, विदुर कह सकते हैं।

लाग दाट (डिं०) = नृत्य की दो प्रकार की भाव बताने की क्रियाएँ।
उदा० अरु लाग धाड़ रायउ रँगाल। (केशव)

सं० टीका–"दाटिर्गुटकथनं प्रगल्भलागिभ्र मरीस्फुरणवृत्त्या मूर्छना विष्करणं।"

हूँ० टीका:—"लागदाट पारेवा ल्यै छै भाँति भाँति की जैसे नटवा संगीत की लागदाट ल्यै विहिं तिहि भाँति की मानों पारेवा ल्यै छै।

कोविद......गतिकार = खंजन पक्षी की चाल अत्यन्त मनोहर होती है अतएव उसका गतिकार होना उपयुक्त है।

अलंकार = रूपक।

दो० २४६—

तिरप = नृत्य में एक प्रकार का ताल जिसे त्रिसम या तिहाई भी कहते हैं।

उदा० "तिरप लेति चपला सी चमकति झमकति अंग"। (सूर)

उरप = (देशीय शब्द) = उड़प, उडुप उरप। एक प्रकार का नृत्य-विशेष। उदा० बहु उडुप तिरगयति अति अड़ाल, अरु लाग धाड़ रायउ रँगाल। (केशव)

मरुत चक्र = (सं०) = वातचक्र, वगूला, ववंडर।

मरू (डिं०) = (सं० मूर्च्छना) संगीत में एक ग्राम से दूसरे ग्राम तक जाने में सातों स्वरों का आरोह अवरोह करना, "मूर्च्छना" कहलाता है। ग्राम के सातवें भाग का नाम मूर्च्छना है। भरत के मत से गाते समय गले को कँपाने से ही मूर्च्छना होती है और किसी किसी का मत है कि स्वर के सूक्ष्म विराम को भी मूर्च्छना कहते हैं। तीन ग्राम षड़ज, मध्यम और गांधार के अनुसार २१ मूर्च्छनाएँ होती हैं।

उदा० सुर मूर्च्छना ग्राम ले ताला,
गावत कृष्ण चरित सब काला। (रघुराज)

लियत (डिं०)=ली जाती है।

रामसरी=(१) एक राग जो हिंडोल का पुत्र गिनाया जाता है।
(२) एक प्रकार की चिड़िया।

खुमरी (डिं०)=(अरबी) पंडुख की जाति की एक चिड़िया जो सफ़ेद कबूतर और पंडुख से उत्पन्न होती है। इसके गले में कंठी अथवा हँसुली होती है। इसकी बोली बड़ी गंभीर और मधुर होती है। यह "केशव तू २" रटन लगाया करती है।

माठा धूया (डिं०)=(सं० मधुर ध्रुपद)। यह ध्रुपद राग का एक भेद है।

चन्द धरु (डिं०)=(सं० चन्द्रक ध्रुपद) यह भी ध्रुपद राग का एक भेद है।

नोट—ध्रुपद संगीत-शास्त्र में एक राग है जिसे ध्रुवक अथवा ध्रुवपद भी कहते हैं। ध्रुपद एक पृथक् ताल भी होता है। इस गीत के चार भेद हैं—अस्थायी, अंतरा, संचारी और आभोग। द्रुत और विलम्बित दोनों लय में गाया जाता है। ध्रुपद सब चौताल ताल पर गाये जाते हैं। इसके भेद, ध्रुपद कान्हड़ा, ध्रुपद केदारा, ध्रुपद एमन इत्यादि अनेक हैं जिनमें से दो वेलि में वर्णित मधुर (माठा) और चन्द्रक (चन्द्र) ध्रुपद भी हैं। संगीताचार्य दामोदर के अनुसार ध्रुपद के १६ भेद हैं यथा :—जयन्त, शेखर, उत्साह, मधुर (माठा), निर्मल, कुंतल, कमल, सानन्द, चन्द्रक, सुखद, कुमुद, जयी, कंदर्प, जयमंगल, ललित, तिलक।

माठा (डिं०)=ठस बोलनेवाला, मन्द या मधुर बोलनेवाला। जैसे—"तबला माठा बोलता है।"

रट=(सं० रटन)=वोलना। उदा० केशव वे तुहिं तोहिं रटैं, रट तोहिं इतै उनही को लगी है। (केशव)

नोट—कवि ने "तिरप, उरप, मरू, धुआमाठा, चन्दधरू" संगीत-शास्त्र की विशिष्ट शब्दावली का प्रयोग करके अपने संगीत-कला के आन्तरिक ज्ञान का परिचय दिया है। देखो दो० २६६ की गर्वोक्ति (?)

अलकार=रूपक।

दो० २४७—

निगरभर (डि०)=(सं० नि+गह्वर) खूब सघनता से भरे पूरे हुए। देखो प्रयोग पूर्व दो० १८१।

"लिखमोवर हरख निगर भर लागी।" (वेलि)

सघण छाँह=घनी छाया। उदा० "सघन कुंज छाया सुखद शीतल, मंद समीर।" (बिहारी)

दीपगर (डि०)=(सं० दीपगृह)—दीवट, दीपकों का समूह।

मौरिक=(स० मुकुलित)—मजरीयुक्त।

उदा० विलोके तहाँ अम्ब के साखि मौरे, चहूँधा भ्रमैं हुंकरैं भौंर बैारे। (गुमान)

रीझ=(स० रजित) हिं० रीझना=मोहित होना, मुग्ध होना। उदा० (१) रीझहिं राजकुँवर छबि देखी। (तुलसी)

(२) जा तन हेरीं निमिष कै रीझहु रीझो जात।

(रसनिधि)

अलकार=रूपक।

दो० २४८—

कोक = संगीतशास्त्र का छठा भेद जिसमें नायिकाभेद, रस, रसाभास, अलंकार, विभाव, अनुभाव, समय समाजादि का शास्त्रविवेचन किया गया है। देखो पूर्व प्रयोग दो० १८३ में।

जवनिका = (सं० यवनिका)—नाटक का परदा। प्राचीन काल में नाटक के परदे सभवत. यवन देश के ढङ्ग पर अथवा यवन-देश से आये हुए कपड़े पर बनते थे। इसी लिए यवनिका नाम पड़ा।

पात्र = (स०) अभिनेता, नाटक के पात्र, कार्य-कर्त्ता। नट, नर्त्तक आदि।

नाँखी (डिं०) = डाली, गिराई। देखो पूर्व प्रयोग दो० २४० में।

पहुपंजलि (डिं०) = सं० पुष्पाञ्जलि; पुष्पों से भरी भेंट, पूजार्थ अंजलि।

निज......परि = प्राचीन काल में राजाओं के दरबार में जब अभिनय होते थे तो राजा स्वयं देखने आते थे। अभिनय के प्रारम्भ में सूत्रधार प्रधान पात्रों सहित आकर राजा का उचित अभिवादन कर उसको पुष्पांजलि भेंट करता था। तदनन्तर नाटक होता है। उसी प्रथा के अनुसार ऋतुराज के आगे महफिल में अभिनय हो रहा है।

अलंकार = रूपक।

दो० २४९—

उदभिज = (सं० उद्भिज) = वृक्षलता गुल्मादि पृथ्वी फोड़कर उस पर उगनेवाले सृष्टि के पदार्थों को उद्भिज कहते हैं;

वनस्पति। सृष्टि के चार प्रकार के प्राणियों में से यह अन्तःसत्व श्रेणी की सृष्टि कही गई है। इनमें ऐसी संवेदना या चेतनाशक्ति है जिसे यह प्रकट नहीं कर सकते। अब तक आधुनिक पाश्चात्य वैज्ञानिकों का भी यही मत था। परन्तु श्री जगदीशचन्द्र बोस की इस ओर खोजों के बाद में अब इस श्रेणी के पदार्थों में भी अन्य जीवधारी प्राणियों की तरह संवेदना और चेतनाशक्ति मानी जाने लगी है।

प्रज (डिं०) = (सं० प्रजा) प्राणीसमूह; ऋतुराज वसंत के सम्बन्ध में सृष्टि के सभी प्रकार के जीव और पदार्थ "प्रजा" ही हैं।

दुरीस = (सं० दुः + ईश) = दुष्ट शासक, दुष्ट राजा।

ऊथापिया (डिं०) = (सं० उत्थापितः) उखाड़ दिया; स्थान, पद अथवा अधिकार से च्युत कर दिया।

उदा० "उथपै तेहि को जेहि राम थपै, थपिहै पुनि को जेहिं वे टरिहैं।" (तुलसी)

असन्त = (सं०) = दुष्ट, अनिष्टकारी।

ऊत्र (डिं०) = (सं० उत्तर) = लाक्षणिक अर्थ में—उत्तर दिशा का पवन अर्थात् शिशिर का शीत वायु जो उत्तर दिशा से चलता है।

प्रसन (डिं०) = (सं० प्रसन्न) प्रसन्नता-उत्पादक, सुखद, प्रसन्न करनेवाली।

प्रवर्त्ती = (सं०) प्रवर्त्तित किया, प्रचार किया, चलाया।

अलंकार—रूपक।

अपह्नुति (कैतवा)।

नोट—डा० टैसीटरी ने "ऊतर" शब्द का संस्कृत और मारवाड़ी टीकाओं के आधार पर (१) उत्तर दिशा का पवन और (२) "उत्तर" अर्थात् "नाँही"—अस्वीकृति—दोनों अर्थ लिये हैं, जो सम्भव हैं। पिछले अर्थ का प्रयोग पूर्व दो० २२३ में हुआ है। "पारथियां कृपण वयण दिसि"—

दो० २५०—

खाडिया (डिं०) = (सं० खात) खड्ड, खड्डा, गड़हा, गर्त (संज्ञा)। क्रियाप्रयोग में, खड्ड में गड़ा हुआ। हिं० 'उखाड़ना' शब्द इसी का उलटा है। खाड़ना—उखाड़ना।

द्रब (डिं०) = (सं० द्रव्य) धन, सम्पत्ति, दौलत।

मांडिया (डिं०) = (सं० मण्डिताः) किये, बनाये, सजाये, प्रकट किये।

उदा० (१) मनोज मख मांड्यौ नाभि कुंड में। (देव)
(२) हौं तुमसों फिर युद्धहिं मांडौं। (केशव)

ऊखेलि (डिं०) = (सं० उत् + चालनम्] हि० उखाड़ना, उखेलना। हि० उदा० "कियो उपाय गिरवर धरिबे को, महि ते पकरि उखेरो।" (सूर)

दीपक दीधा (डिं० मुहाविरा) = दीपक दिया, दीवा जलाया, दीपक लगाया।

कोड़ि (डिं०) = (सं० कोटि) = करोड़ों।

नोट—प्राचीन काल में लक्षपति धनिक लोग अपने ख़ज़ाने पर अखण्ड दीपक जलाया करते थे और करोड़पति ध्वजा गाड़ते थे। उसी प्रथा के अनुसार ऋतुराज की धनिक प्रजा के लखपतियों और करोड़पतियों ने किया। चम्पक के पुष्प प्रज्वलित दीपक के समान होते हैं और कदली के पत्ते ध्वजा से समानता रखते हैं अतएव उपमा अत्यन्त युक्तिसंगत है।

अलंकार = रूपकातिशयोक्ति—उत्तरार्द्ध में।

अपह्नुति (कैतवा)। पूर्वार्ध में।

दो० २५१—

मलयानिल = (सं०) मलय पर्वत से बहनेवाला सुगन्धित वायु। साहित्य में यह त्रिविध—शीतल, मंद, सुगंध प्रसिद्ध है। इसे वसंत वायु, दक्षिण वायु भी कहते हैं।

वाजि (डिं०) = (सं० वाद्य) हवा के जोर से शब्द करके चलने को डिंगल में "बाजना" कहते हैं। राजस्थानी में, "हवा बाजै छइ" प्रयोग प्रचलित है।

सुराज = (सं०) = अच्छा, उत्तम राज्य, जिस राज्य में प्रजा सन्तुष्ट हो।

विलागी (डिं०) = (सं० विलग्न) = लगी।

अङ्क भरि (हिं० मुहा०) अङ्क भर लेना = आलिङ्गन करना।

नोट—ऋतुराज के सुराज्य में प्रजाजीवन के आनन्द, चैन और सन्तोष का कैसा अच्छा चित्र दिया है। जिसमें प्रजाजन पारस्परिक प्रेमबन्धनों से बँधे हो और उनके हृदय में आनन्द उत्साह हो, वास्तव में वही सुखी राज्य है। वृक्ष पति है और वेलें पत्नियाँ।

ंकार = रूपक ।

समासोक्ति ।

› २५२—

ळी = (हिं०) पहले का, विगत, व्यतीत, गुजरा हुआ। हिन्दी में भी यह शब्द बहुधा इस अर्थ में प्रयुक्त होता है।

रिव (डिं०) = देख कर।

ळौ = (देशीय शब्द) टाल दिया, दूर कर दिया, हिं० 'टारा' 'टाला'।

उदा० "करम गति टारी नाहिं टरै।" (हरिश्चन्द्र)

ाए (डिं०) = (सं० विवाह) हिं० ब्याहना, ब्याहे।

(१) विवाह करना (२) सन्तान उत्पन्न करना। विशेषत: पशुजाति के लिए इस (२) अर्थ में प्रयुक्त होता है यथा—"गाय ब्याई छै।"

राजस्थानी में यह शब्द दूसरे अर्थ में ही बोलचाल में प्रयुक्त होता है। हिन्दी में भी प्रयोग मिलता है। यथा उदा०—न तरु बाँझ भलि छाँडि बियानी, राम विमुख सुत ते हितहानी॥ (तुलसी)।

ाखि = (सं०) (१) बैसाख का महीना, (२) शाखाओं से जिसकी उत्पत्ति है।

ट—हेमन्त और शिशिर के अन्याययुक्त शासन के नीचे वृत्त-लतादि वानस्पत्य प्रजा अत्यन्त दुखी थी। ऋतुराज के राज्याभिषेक से वह दुख दूर हुआ। प्रजा सुखी हुई; लताएँ निर्भय होकर अपने पतियों—वृत्तों के संयोग में दाम्पत्य-सुख-लाभ करने लगीं। इस सम्मिलन के फल-

स्वरूप वैसाखरूपी सन्तान का जन्म हुआ। चैत मास के बाद वैसाख का जन्म होता ही है। वही मानो चैत में लताओं के वृक्ष की शाखाओं का सहवास करने से शाखा-जात 'वैसाख' मास के जन्म का कारण है। इसी कारण इस मास का नाम "वैसाख" पड़ा। यह कवि की कल्पना है।

अलंकार = परिकराङ्कुर-'वैसाख' अभिप्राय गर्भित है।

दो० २५३—

डंक (डिं०) = (सं० दंश) हिं० डंक = विषैले जन्तुओं का काटना और काटकर शरीर में ज़हर का प्रवेश कर देना।

ग्रहणि = (सं० ग्रहण) ग्रहण करने में (डिं० सप्तम्यन्त इकारान्त)

मवरि (डिं०) = हिं० मौर (सं० मुकुल—प्रा० मउर, मउल—डिं० मवर, मौर)

गानगर (डिं०) = (सं० गानकरा:)—गायक, गानेवाले, यथा—पूर्व दो० में 'जाणगर' निरतगर इत्यादि।

परवरिया (डिं०) = (सं० प्रवर्त्तिता)—डोलने लगे, फिरने लगे।

करग्राही = (सं०) कर, राज्य का लगान लेनेवाले, लगान उगाहनेवाले। डा० टैसीटरी ने 'डङ्कन' को एक शब्द मान लिया है और संस्कृतटीका के आधार पर "डङ्कनं स्तोकं स्वादुमात्रं दीयते दण्ड: सर्वथा लुण्टनरूप न दीयते"—यह अर्थ लिया है। हम नहीं समझते कि 'डङ्कनं' का अर्थ "थोड़ा स्वाद देना" कैसे हो सकता है। हमने "डङ्कनं" को पृथक् पृथक् करके "डङ्क नहीं दिया जाता" अर्थ किया है जो अत्यन्त सरल शब्दार्थ है। ढूँढ़ाड़ी टीका ने यही अर्थ लिया है यथा:—"वनसपती मैं

कोइ डंक न देयै छ: जैसें प्रजा नें सुराज्य मांहें डण्ड नहीं छै।"

अलंकार = रूपक।

दो० २५४—

पसाइ (डिं०) = (सं० प्रसाद) -प्रसाद से, कृपा से, अनुग्रह से।
उदा०—भरा मंजु मंगल सगुन गुर सुर शंभु पसाउ।
(तुलसी)

भरिया = (सं० भरिता) भर गये हैं, लद गये हैं, समायुक्त होगये हैं।
देखो पूर्व प्रयोग दो० २३८ "भालिम......भरण।"

वहे (डिं०) = (सं० वह) = चलने से, हिलने से। देखो पूर्व प्रयोग दो० ४६ में "रह रह कोइ वह रहे वह।"

वेसन्नर (डिं०) = (सं० वैश्वानर) = अग्नि।

भुरड़ीतौ (डिं०) = (हिं० भुरता, भुड़ता) किसी वस्तु के दब कर, कष्ट पाकर अथवा अग्नि में तप कर अथवा कुचली जाकर विकृताकार प्राप्त कर लेने को "भुड़ता हो जाना" कहते हैं। हिं० मुहावरा भी है। "बैंगन का भुरता"। यहाँ पर अर्थ है—अग्नि तापते हुए।

रहे = श्लिष्टार्थ में प्रयोग है (१) भुरडीता रहे = ताप रहे हैं।
(२) " " = तापने से रह गये हैं।
= तापना बंद कर दिया है।

"रहे" के इस प्रयोग के लिए देखो पूर्व दो० ४६ में "रह रह कोइ वह रहे रह।"

वलि......जगि = "रहे" का श्लिष्टार्थ लेने पर दूसरा अर्थ यों हो सकता है = वसंत में ऋतुराज की कृपा से लोगों ने शीतकाल की तरह अग्नि से तापना छोड़ दिया है परन्तु अब वे एक दूसरी

प्रकार की अग्नि से तापते हैं—वह है कामाग्नि। यहाँ "वैसन्नर" का अर्थ "कामाग्नि" लिया जायगा।

अलंकार = उत्प्रेक्षा।

पर्यायोक्ति—उत्तरार्द्ध में।

दो० २५५—

तिम = (हिं०) त्यों। उदा० "तिमि तुम्हार आगमन सुनि भये नृपति बलहीन।" (तुलसी)

जिमि—तिमि—आपेक्षिक हैं।

कोलाहल = (सं०) = शोरगुल।

सेव (डिं०) = सेवा।

अलंकार = व्यतिरेक—पूर्वार्द्ध में।

उत्प्रेक्षा—उत्तरार्द्ध में।

दो० २५६—

ओटि (डिं०) = (सं० उट = घास फूस) हिं० ओट = आड़, व्यवधान, रुकावट; मिस से, बहाने से। उदा०—"तृण धरि ओटि कहति वैदेही।" (तुलसी)

सं० टीका "कुसुमायुधस्य कामस्येयम्, ओटिर्‌आश्रयस्थानं।"

मा० टीका० "ओटि कहताँ आश्रय विशेष ठाँमइ।"

ढूँढारी टीका ने "ओटि" के स्थान में "उदै, उदौ" पाठान्तर लिया है जिसका अर्थ यों किया है :—"कुसुमायुध कहताँ कामदेव ते कै उदै करि केलि विलास खेल।"

कंत = (सं० कान्त) = पति। उदा० "इँचे खिँचे इत उत फिरत ज्यों दुनारि को कन्त।" (पद्माकर)

कृत = (सं० कृते) = के लिए, वास्ते।

किंसुख=(सं० किंशुक)=टेसू। पलाश के फूल सुग्गे की चोंच की तरह टेढ़े और लाल होते हैं, इसलिए उनको देखकर सुग्गे का भ्रम होता है। इसी लिए किं शुक ? यह नाम पड़ा। यहाँ पर कवि ने अपने कल्पनानुसार इस शब्द की "किंसुख" ? व्युत्पत्ति की है।"

पलास=(सं०) टेसू। "पलं मासं अश्नाति इति पलाश:"=मांसाहारी।

नोट—कवि ने संयोगिनी और वियोगिनी नायिकाओं की भावनाओं की अच्छी कल्पना की है। एक ही टेसू का वृक्ष उन्हें अपनी अपनी भावनाओं के अनुसार सुखमय और दुखमय दिखाई दिया। "पलाश" की दो प्रकार से व्युत्पत्ति बड़ी युक्तिपूर्ण है।

अलंकार=उल्लेख।

श्लेष-'पलास'-'किंसुख' श्लिष्ट शब्द हैं।

दो० २५७—

मालिणि (डिं०)=हिं० मालिन। साहित्य में एक विशेष प्रकार का दूती जिसका वर्णन कहीं कहीं बड़ा सुन्दर किया गया है। उदा० "मद सों भरी चलि जात मालिनियाँ।"

वीणति (डिं०)=(सं० विनयन=चुनना) हिं० बीनना, चुन चुन कर एकत्रित करती है। उदा० "सुन्दर नवीन निज करन सों बीनि बीनि येला की कली ये आजु कौन छीन लीन्हीं है।" (प्रताप)

करपल्लव=(सं०) हाथ के वाचक शब्दों के साथ 'पल्लव' का समास होने से, "उँगलियाँ" का अर्थ होता है। यथा:—पाणि-

पल्लव। रूपक की सार्थकता स्पष्ट है; खुले हाथ की उँगलियाँ और 'पल्लव' के आकार में बहुत सादृश्य है।

वणि वणि = सज सजकर। देखो, पूर्व प्रयोग दो० २०० में।

तसु (डिं०) = (सं० तस्य) उसके। हिन्दी में "तासु", "तसु" का प्रयोग काव्य में इस अर्थ में होता है।

केसरि = (सं०) = (१) फूल के बीच में बाल की तरह पतले पतले पीले रङ्ग के सींके होते हैं— उन्हें केशर कहते हैं।

(२) एक प्रकार के फूल का केशर जिसका पौधा बहुत छोटा होता है और पत्तियाँ घास की तरह लम्बी और पतली होती हैं। यह फारस, स्पेन, चीन और कश्मीर में होता है। कश्मीर का केशर सर्वोत्तम माना जाता है। इसका फूल बैंगनी रंग की झाँई लिये हुए कई रंग का होता है। पौधे में फूल लगने के बाद पत्तियाँ आती हैं। प्रत्येक फूल में केवल तीन केशर होते हैं। इसलिए आधी छटाँक केशर के लिए प्राय ४००० फूल की आवश्यकता होती है। केशर ले लेने के बाद फूलों को सुखा कर कूटते और पानी में डाल देते हैं। जो अंश नीचे बैठ जाता है उससे मध्यम श्रेणी की केशर, "मोंगला" निकलती है। ऊपर का अंश पुनः सुखा कर और कूट कर पानी में डाला जाता है। उससे जो केशर बनती है उसे "नीवल" कहते हैं।

म० पृथ्वीराज ने स्वयं अपनी आँखों से कश्मीर में केशर की खेती होती हुई देखी होगी। इसी कारण इतना स्वभाव-सत्य चित्र अंकित किया है। कोई चित्रकार यदि रंगों में इस चित्र को बनाता तो कितना रोचक चित्र बनता, अनुमान करना चाहिए। म० पृथ्वीराज के जीवन-चरित से मालूम

होता है कि बादशाह की प्रेरणा से उन्हें काबुल जाना पड़ा था। अतएव राह में कश्मीर-यात्रा करना सम्भाव्य है।

अलंकार = उपमा,—पूर्वार्द्ध में।

भ्रान्तिमान्—उत्तरार्द्ध में।

दो० २५८—

सबल = (सं०) बलयुक्त, मन में विश्वास और सन्तोष का बल लिये हुए।

जल सभिन्न (डिं०) = जल से भीगा हुआ। हिं० भीना, भीगा हुआ। उदा० "कौन ठगौरी भरी हरि आजु बजाई है बाँसुरिया रसभीनी।" (रसखान)

डिगमिगि (डिं०) = हिं० डिगना, डिगमिगाना, डोलना, लड़खड़ाना। उदा० "डिगमिग हाले मेरी नैया रे कन्हैया बिनु।"

हूँत (डिं०) = प्राकृत विभक्ति = चिन्ह "हिन्तो" का डिंगल में रूपान्तर अवशिष्ट है = से। पुरानी हिन्दी में यह पंचमी और तृतीया के विभक्ति-चिह्न की तरह प्रयुक्त होता था।

उदा० "जब हुँत कहिगा पंखि विदेशी, तब हुँत तुम बिन रहै न जीऊ।" (जायसी)

कामदूत = कामदेव का संदेशवाहक।

हालियौ (डिं०) = (सं० हल्लान) हिलना डोलना, झूमते चलना।

उदा० (१) "हालति न चंपलता डोलत समीरन के, बानी कल कोकिल कलित कंठ परिगौ।"

(२) "भूतल भूधर हाले अचानक, आप भरत्थ के दुंदुभि बाजे।" (केशव)

नोट—साहित्य में मलयानिल अपने त्रिविध–शीतल, मंद, सुगंधगुणों के लिए प्रसिद्ध है। इस दो० में कवि ने उसे (१) "जल-मित्र', (शीतल) (२) "सुगंध भेंट सजि" अतएव सुगंधित और (३) "डिगमिग पाउ वाउ क्रोध डर"–अतएव मंद–वर्णित किया है। इसके अतिरिक्त कवि ने इस मलयानिल से दूति-कार्य कराया है। इसे शिव भगवान को प्रसन्न करना है। पहले कामदेव ने उनकी समाधि भंग करके शिवजी को क्रुद्ध कर दिया था। फलतः भस्मसात् किया गया था। उसी अपराध के प्रक्षालन करने का उपाय किया जा रहा है।

अलंकार = समुच्चय।

परिकर—'कामदूत'-साभिप्राय है।

स्वभावोक्ति।

दो० २५६—

तरती = तैरता हुआ।

ऊतरती = (सं० उत्तरण क्रि० सक०) नदी पार करके उतरता हुआ। उदा० "लखन दीस पय उतरि करारा।" (तुलसी)

विलग्ग (डिं०) = (सं० विलग्न) प्रा० विलग्ग = लगते हुए।

पग्ग (डिं०) = (सं० पदक) प्रा० पअग = पाँव, पैर।

तणाँ, तिणि (डिं०) = देखो० प्रयोग दो० ३०३ में।

आवती (डिं०) = हिं० आवत = आता हुआ।

वहै (डिं०) = (सं० वह्) चलते हैं।

उदा० अस कहि चढ़्यौ ब्रह्म रथ माँहीं, श्वेत तुरंग वहै रथ काहीं। (रघुराज)

नोट—इस दो० में भी शीतल, मंद, सुगंध त्रिविध-पवन का वर्णन है। कवि ने पवन को शठ नायक बनाया है, जो अन्यत्र विहार करने के कारण अपनी प्रेयसा से मिलने में संकुचित और लज्जित होता है।

शठ नायक का लक्षण :—

शठ साधत निज काज, मुख मीठो हिय कपटमय।
प्यारी गारी आज, मिसरी तें मीठी लगैं॥

(भानु)

अलंकार=समासोक्ति।

दो० २६०—

कुंद, केवड़ा, केतकी=ये सभी फूल सफ़ेद रंग के और एक ही मौसम के हैं।

(१) कुंद—जुही की तरह का एक पौधा जिसमें सफ़ेद पुष्प लगते हैं। इनकी सुगंध बड़ी मीठी होती है। यह कार्त्तिक से फाल्गुन तक फूलता है।

उदा० "कुंद इन्दु सम देह, उमारमण करुणायतन"॥

(तुलसी)

(२) केतकी का झाड़ या पौधा छोटा होता है जिसकी पत्तियाँ लम्बी, नुकीली, चिपटी, कोमल, चिकनी, और किनारे और पीठ पर काँटेदार होती हैं। केतकी दो प्रकार की होती है। (१) सफ़ेद (२) पीली। सफ़ेद को हिन्दी में केवड़ा (सं० कैविका) कहते हैं और पीली या सुवर्ण रंगवाली को केतकी कहते हैं। इसके बरसात में फूल लगते हैं।

श्रम-सीकर=(सं०) पसीने के बिन्दु या कण। उदा० "श्रम स्वेद सीकर गंड मण्डित रूप अम्बुजं।" (सूर)

गन्धवाह = (सं०) = गन्ध को ले जानेवाला अर्थात् पवन।

गन्धवाह—नाक, नासिका को भी कहते हैं।

नोट—इस दो० में भी पवन के त्रिविध गुणों का पृथक् पृथक् कथन किया है।

अलंकार = हेतु—उत्तरार्द्ध में।

दो० २६१—

रेवा = (सं०) रेवा नदी; नर्मदा। उदा० "रेवारोधसि वेतसीतरुतले चेतः समुत्कण्ठते।" (काव्यप्रकाश)

रसलोभी = रस का लोभी।

सरति = (सं०) चलता है। शुद्ध संस्कृत क्रियारूप का प्रयोग।

सापराध पति = अन्यत्र रतिक्रीड़ा करके अपनी नायिका के पास आये हुए अपराधी पति को "सापराध" कहते हैं। नायकों में यह एक प्रकार का नायक माना जाता है और 'धृष्ट' नायक के भेद के अन्तर्गत आता है। यथा :—

"धृष्ट कलंकी निलज पुनि, करै दोप निरशंक।
ज्यौं ज्यौं बरजत ताहि तिय, त्यौं त्यौं लागत अंक॥"

(भानु)

अलंकार = उपमा।

दो० २६२—

पुहपवती (डिं०) = (सं० पुष्पवती) (१) फूलोंवाली (२) रजस्वला, ऋतुमती।

सं० उदा० पुष्पवत्यपि पवित्रा। (कादम्बरी)

पमूँके (डिं०) = (सं० प्रमुक्त) प्रा० पमुक्क, डिं० पमूक = छोड़ता है।

मधुपान=(सं०) पुष्पों की मदिरा का पीना, पुष्पासव का पान। मिलाओ :—"मधु द्विरेफः कुसुमैकपात्रे पपौ प्रियायामनुवर्त्तमानः ।" कुमारसम्भवः

पय (डिं०)=(सं० पद) प्रा० पअ=पैर, पग, पद।

ठाइ (डिं०)=(सं० स्थान) प्रा० ठाण। उदा०—"नाहिन मेरे और कोउ बलि चरन कमल बिनु ठाँह।" (सूर)

मंडै (डिं०)=(सं० मंडन)=माँडता, स्थापित करता, धरता, रखता है।

वमन करतौ=गिराता हुआ, उद्गिरण करता हुआ।

मतवालौ=मदमत्त, नशे में चूर, मदिरा में धत्त।

नोट—इस दो० में भी शीतल, मन्द, सुगन्ध त्रिविध पवन का उल्लेख है।

अलंकार—समासोक्ति।

श्लेष—"पुहपवती" में।

दो० २६३—

तोय=(सं०)=जल।

छंटि (डिं०)=(हिं० छाँटना) छाँटता हुआ, फैलाता हुआ, छींटों छींटों में विस्तरण करता हुआ।

ऊघसत (डिं०)=(सं० उत्+घर्षतः) घिसता हुआ, रगड़ खाता हुआ। देखो नोट पूर्व दो० २०३ में "आघोफरै मेघ ऊघसता।"

मलय तरि=(सं०) मलयाचल पर बहुतायत से उगनेवाला चन्दन-वृक्ष। कहते हैं इसकी शाखाओं पर साँप लिपटे रहते हैं।

रजधूसर = (सं०) धूल से भर कर धूल के मटमैले रङ्ग का हो जाना।

उदा० धूसर धूरिभरे तनु आये, भूपति बिहँसि गोद बैठाये। (तुलसी)

मातंग = (सं०) बड़ा हाथी। उदा० "मदमत्त यदपि मातंग संग"। (केशव)

मल्हपति (डिं०) = (सं० आलपति) आनन्द की मौज में कुछ कुछ शब्द करते चलना। हिं० मल्हाना, मल्हराना, मल्हारना—प्राय: इसी प्रकार के अर्थ में प्रयुक्त होते हैं :—

उदा० हलरावै दुलराइ मल्हावै, जोइ सोइ कछु गावै। (सूर)

नोट—इस दो० में भी शीतल, मंद, सुगंध पवन का वर्णन है।

अलंकार = रूपक। उत्तरार्द्ध में अनुप्रास की छटा देखने योग्य है।

दो० २६४—

उभयपख = (सं० उभयपक्ष) = दोनों पक्षों मे अर्थात् संयोगिनी और वियोगिनी दोनों के सम्बन्ध में पृथक् पृथक्।

हिं० उदा० उभै बीच अन्तर कछु बरना। (तुलसी)

भख = (सं० भक्ष्य) हिं० भख = खाद्य पदार्थ। उदा० (१) "पट पाखै भख काँकरै, सफर परेई संग।" (बिहारी)

(२) अब भख जनम जनम कहँ पावा। (जायसी)

गिलि (डिं०) = (सं० गिलन) = निगलकर, खाकर।

ऊगलित (डिं०) = (सं० उद्गिरन) प्रा० उगिलण, हिं० उगलना। वापिस निकालना; वमन करना; निकालना।

गरल = (सं०) = विष।

वाद=(स० वाद) हिं० वाद=बहस, हठ, तर्क।

उदा० प्रभु सों विवाद कै के वाद ना बढ़ायहीं। (तुलसी)

ए (डिं०)=(सं० एप)=यह। हिन्दी में भी प्रयोग होता है।

उदा० (१) दुरै न निघट घटै दिये, ए रावरी कुचाल। (विहारी)

(२) "ए हलधर के बीर"। (बिहारी)

भुयंग=(स० भुजङ्ग) हिं० भुयंग=सर्प, साँप।

नोट—इस दो० का उत्तरार्द्ध ठीक दो० २५६ के उत्तरार्द्ध के ढङ्ग का है। "कंत सँजोगणि किंसुख कहिया, विरहणि कहे पलास वन।"

अलंकार=उल्लेख।

वृत्त्यनुप्रास की छटा समस्त दो० में देखने योग्य है।

दो० २६५—

किहि (डि०)=(स० कस्मिन) प्रा० कहिं, हिं० किहि=किसी।

सरस=(स०)=रसयुक्त, आनन्दयुक्त।

बे-बिहूँ=(स० द्वि) हिन्दी में "बे-बिहुँ" का 'दो—दोनों' के अर्थ मे बहुतायत से प्रयोग होता है। देखो नोट पूर्व दो० ८२ में।

ताइ (डिं०)=[(सं० सर्वनाम ता+हि (प्रत्यय)] हिं० ताहिं, ताइ। देखो नोट पूर्व दो० ४ में। उदा० "ताइ प्रात हुलरावै गुलाब चतकारी दे"। (देव)

सृधति (डि०)=(स० शोधु)=शुद्ध कर देता है। हिन्दी में इस अर्थ में प्रयोग होता है। उदा० "सिय लौं सोधति तिय तनहिं लगनि अगनि की ज्वाल।" (बिहारी)

सारिखौ (डिं०) = (सं० सदृशक:) प्रा० सरिसउ, हिं० सरीखौ।
= समान।

नोट—डा० टैसीटरी "सूधति" क्रिया पद को पृथक् पृथक् करके "सूध ति" पाठान्तर लेते हैं। इससे उनका क्या आशय है, हमें समझ में नहीं आता। इस पाठान्तर के अन्यथा स्पष्ट अर्थ के सम्बन्ध में अनावश्यक संशय उत्पन्न हो जाता है।

अलंकार = व्यतिरेक।

दो० २६६—

निमिख पल = (सं०) = दोनों समय के सूक्ष्म परिमाणसूचक शब्द हैं।

दाखै (डिं०) = दिखाते हैं, बताते हैं। देखो नोट पूर्व दो० २५२ में।

थायै (डिं०) = थिउ, थियउ क्रियाओं का सम्मानसूचक प्रयोग है।
= हो गये, हो रहे। गुजराती में भी प्रयोग होता है।

अलंकार = अन्योन्य।

दो० २६७—

ओढण (डिं०) = (सं० उपवेष्टन) प्रा० ओवेड्ढण, हिं० ओढ़ना। ओढ़ने का वस्त्र। उदा० "सोवत ओढ़े पीत पट स्याम सलोने गात।" (बिहारी)

पाथरण (डिं०) = (सं० प्रस्तरण) प्रा० पत्थरण, हिं० पाथरण = बिछौना। तुलसीकृत रामायण में इस शब्द का कई स्थानों पर प्रयोग हुआ है।

हिण्डति (डिं०) = (सं० हिण्डनम्) = झूलते है। देखो पूर्व दो० ८२ में "मणिमैं हीँडि हींडलै मणिधर"।

हिँडोलि (डिं०) = (सं० हिन्दोल) = झूले में।

पुहपाँ सरणि (डिं०) = (सं० पुष्पशरण) = पुष्पों की शरण; पुष्पों पर आश्रित हैं। अर्थात् सखियों को पुष्प लाने ले जाने का ही कार्य रहता है। अतएव उनकी जीविका पुष्पों पर निर्भर है, वे पुष्पों की शरण में हैं।

अलंकार = उदात्त।

नोट—इस दो० के "सरणि" शब्द के विषय में डा० टैसीटरी को सन्देह है। शब्द का अर्थ और दो० में प्रासंगिक प्रयोग इतना स्पष्ट है कि किसी प्रकार के संशय को अवकाश नहीं हो सकता।

दो० २६८—

पौढाड़ै (डिं०) = (हिं० पौढ़ना) प्रेरणार्थक—पौढ़ाना = लेटाना, सुलाना। डिङ्गल में क्रिया का प्रेरणार्थ रूप बनाने मे 'अड़, आड' प्रत्ययों का प्रयोग होता है। हिन्दी में इनके स्थान में 'अल' 'आल' का प्रयोग होता है। दोनों में भेद थोड़ा ही है। भाषा में 'ड' और 'ल' का अभेद माना गया है। यथा—हि० बैठना—बिठलाना या बैठालना। डिं० पौढणौ—पौढाड़णौ। हिं० उदा० "एक बार जननी अन्हवाये, कर सिंगार पालन पौढाये"। (तुलसी)

परबोधै (डिं०) = (सं० प्रबोधनम्) (१) जगाना (२) समझाना, चेताना।

बाग = (१) (सं० वाक्) = वाणी, सरस्वती (२) बाग, बगीचा। ढूँढाड़ी टीका 'बाग' का द्वितीय अर्थ लेकर यह अर्थ करती है:—"नित्य बागाँ कै बिषै बिहार कहताँ निवास करै छै"।

परन्तु "नाद" और "वेद" के ओजस्वी प्रसंग के देखते हुए हमने प्रथम अर्थ का प्रयोग किया है—अर्थात् जहाँ भगवान् को "नाद पौढाड़ै" और "वेद परबोधै" वहाँ 'वाग' सरस्वती देवी का नित्य विलास होता है। सरस्वती देवी भी भगवान् के गुणानुवाद करने को रात दिन मौजूद रहती हैं।

माणे—माणग (डिं०) = रसिक; 'माणने' वाला अर्थात् सुख-समृद्धि का भोग करनेवाला। राजस्थानी में "माणै" क्रिया शृंगार-रस-सम्बन्धी सुखों का उपभोग करने के अर्थ में अब तक प्रचलित है। 'माणग' का रूपान्तर "माणीगर" भी डिंगल-काव्य में प्रयुक्त होता है।

मयण (डिं०) = (सं० मदन) प्रा० मयण० हिं० मैन = कामदेव।

अलंकार = उदात्त।

दो० २६६—

अवसरि = (सं०) = (१) काल, समय, (२) अवकाश में, भीतर, अन्दर। पृथक् पृथक् यहाँ दोनों अर्थों में प्रयोग हुआ है।

पसरि (डिं०) = (सं० प्रसर) = पसर कर, बढ़कर, विस्तृत होकर।

गया = (सं० गता) गये हुए, नष्ट हुए, खोये हुए।

उदा० "गई बहोरि गरीबनिवाजू।" (तुलसी)

जुड़िया (डिं०) = (सं० युक्ता) प्रा० जुत्ता०। हिं० जुटना, जुड़ना। = सयुक्त, जुड़े हुए। उदा० "दृग उरझत टूटत कुटुम, जुरत चतुर चित प्रीत"। (बिहारी)

जठरि = (सं०) पेट में।

अनंग = (सं०) कामदेव। हरकोपानल से कामदेव भस्म होकर अंगविहीन हो गये थे। अनंग के वे विशृंखलित अंग अब रुक्मिणी के गर्भ में पुनः संयुक्त हुए।

मोहिया (डिं०) = (सं० मोहिता) = मोहित कर लिया।

उदा० "मोहे श्याम धनी"। (हितहरि)

हाइ भाइ = (सं० हाव-भाव) 'हाव' की परिभाषा साहित्यकारों ने इस प्रकार की है—

"ग्रीवा रेचकसंयुक्तो भ्रूनेत्रादिविकासकृत्
भावादीपत्प्रकाशो यः स हावः इति कथ्यते ॥"

(उज्ज्वलमणि)

भाव की परिभाषा :—"निर्विकारात्मके चित्ते भावः प्रथमविक्रिया।"
(सा० दर्पण)

और भी—प्रकट सुभाव वियान के, निज सिंगार के काज।
हाव जानिये ते सबै, यो भाषत कविराय॥

(भानु)

साहित्य में हाव १२ गिनाये गये हैं:—लीला, विलास, विच्छित्ति, विभ्रम, किलकिञ्चित्, ललित, मोट्टायित, बिव्वोक, विहृत, कुट्टमित, हेला और बोधक।

भाव-विधान में हाव "अनुभावों" के अन्तर्गत हैं।

विश्वनाथ हाव की व्याख्या यों करते हैं :—

भ्रूनेत्रादिविकारैस्तु संभोगेच्छाप्रकाशकः।
भाव एवाल्पसंलक्ष्य विकारो हाव उच्यते॥

(सा० दर्पण)

(२) भाव के साहित्यकारों ने तीन भेद माने हैं :—(१) स्थायीभाव (२) व्यभिचारीभाव (३) सात्विकभाव। क्रमशः इनकी संख्या ६, ३३, और ८ है।

स्थायीभाव :—रति, हास, शोक, क्रोध, उत्साह, भय, जुगुप्सा, विस्मय और निर्वेद।

व्यभिचारीभाव :—निर्वेद, ग्लानि, शङ्का, असूया, श्रम, मद, धृति, आलस्य, विषाद, मति, चिन्ता, मोह, स्वप्न, विबोध, स्मृति, अमर्ष, गर्व, औत्सुक्य, अवहित्था, दीनता, हर्ष, व्रीड़ा, उग्रता, निद्रा, व्याधि, मरण, अपस्मार, आवेग, त्रास, उन्माद, जड़ता, चपलता, वितर्क।

सात्विकभाव :—स्वेद, स्तंभ, रोमांच, स्वरभंग, वेपथु, वैवर्ण्य, अश्रु और प्रलय।

दो० २७०—

वसुदेव = यदुवंशियों के कुल के एक राजा। ये श्रीकृष्ण के पिता थे। इनके पिता का नाम देवमीढ़ और माता का नाम मारिषा था। अपने पिता के ये ज्येष्ठ पुत्र थे। इनके १२ स्त्रियाँ थीं। जिसमें से रोहिणी के गर्भ से बलराम और देवकी के गर्भ से कृष्ण का जन्म हुआ था। वसुदेव की बहन कुन्ती थी, जिसके पाँच पाण्डव पुत्र थे।

प्रदुमन = प्रद्युम्न; श्रीकृष्ण के बड़े पुत्र का नाम। ये कामदेव, कंदर्प, अनंग के अवतार माने गये हैं।

देवकी = वसुदेव की स्त्री और श्रीकृष्ण की माता। जब वसुदेव के साथ इनका विवाह हुआ था तब नारद ने आकर मथुरा के राजा कंस को कहा था कि तुम्हारी चचेरी बहिन

देवकी के आठवें गर्भ से तुम्हारा मारनेवाला उत्पन्न होगा। कंस ने एक एक करके देवकी के छः बच्चों को मरवा डाला। सातवें गर्भ को योगमाया ने देवकी से आकर्षित करके रोहिणी के गर्भ में स्थित कर दिया, जिससे बलराम उत्पन्न हुए। आठवें गर्भ से भादों कृ० ८ को कृष्ण जन्मे। उसी रात नन्द की स्त्री यशोदा के कन्या जन्मी। वसुदेव ने रातों रात पहुँच कर पुत्र कन्या का अदला बदला कर लिया। इस कन्या को कंस ने पछाड़ मारा। कृष्ण बच गये।

रामा = लक्ष्मी का अवतार रुक्मिणी। पुराणों के अनुसार सीता, रुक्मिणी, राधा—ये लक्ष्मी के अवतार में विष्णुपत्नियाँ मानी गई हैं।

रति = कामदेव की स्त्री और दक्षप्रजापति की कन्या थी। दक्ष ने अपने शरीर के पसीने से उत्पन्न कर इसे कामदेव को अर्पित किया था। यह संसार की सबसे अधिक रूपवती स्त्री मानी गई है। इसे देखकर सब देवताओं को अनुराग उत्पन्न हुआ। अतएव इसका नाम "रति" पड़ा। शिवजी के तृतीय नेत्र की अग्नि से भस्म होने पर अपने पति कामदेव के लिए अत्यन्त विलाप कर इसने शिवजी को प्रसन्न किया। शिवजी ने वरदान दिया कि अब से वह सदा के लिए अनग काम-देव के साथ रहेगी।

सासू (डिं०) = (सं० श्वश्रु) हि० सास।

सु वहू = (सं० सु + वधू) यहाँ वहू का अर्थ पुत्रवधू से है। दूसरे "वहू" का अर्थ 'वधू' अर्थात् पत्नी है।

नोट—इस दो० में कवि ने भगवान् के प्रशस्त कुटुम्ब को वंशावली वर्णन की है। भगवान् की वंशावली वर्णन करने के लिए

भक्त कवि को यदि 'वहीभाट' भी बनना पड़े तो उसे सहर्ष स्वीकृत होता है।

दो० २७१—

लीलाधण (डिं०)=(हिं० लीला + धनी)=लीला के स्वामी, सांसारिक लीला करनेवाले, मायापति। श्रीकृष्ण का विशेषण है।

वेदान्तिक मायावाद के अन्तर्गत भगवान् के अवतार को संसार में आत्मविलासहेतुक और लीलामय माना है। राम को मर्यादा-पुरुषोत्तम और कृष्ण को लीला-पुरुषोत्तम कहा है।

मानुखी-लीला = संसार का मनुष्योचित उपभोग करना। मनुष्य के समान संसार का सेवन करना।

जगवासग वसिया जगति = "जगति" शब्द को द्वारिका के अर्थ में पुष्ट करने का यह दूसरा प्रमाण है। जो संसार तथा समस्त ब्रह्माण्ड को अपने शरीर में बसाते हैं वे "जगति" संसार-स्वरूप द्वारिका में बसे। अर्थात् आश्रयदाता आश्रित होकर रहे अथवा आधारस्वरूप भगवान आधेय बन कर रहे। यही आश्चर्य है। यही भगवान की मानुषी-लीला का उदाहरण है।

अनिरुद्ध = ये श्रीकृष्ण के पोते और प्रद्युम्न के पुत्र थे।

ऊपापति = बाणासुर की कन्या उषा, कृष्ण के पौत्र अनिरुद्ध के साथ ब्याही थी। देखो कथा—"अनिरुद्ध-उषा-आख्यान" प्रेम-सागर में।

वासग (डिं०) = (सं० वासक) वास करनेवाला, बसानेवाले।

अलंकार = विरोधाभास। पूर्वार्द्ध में।

दो० २७२—

कहिसु (डिं०) = (सं० कथयिष्यामि) = कह सकूँगा, कहूँगा, कहूँ ।

नारायण = मनुस्मृति में इस शब्द की व्याख्या यों की है :—
आपो नारा इति प्रोक्ता आपो वै नरसूनवः ।
ता यदस्यायन पूर्व तेन नारायणः स्मृतः । मनु० १ । १० ।

अर्थात् 'नर' परमात्मा का नाम है। परमात्मा से सबसे प्रथम जल की उत्पत्ति हुई । अतएव उसका 'नारा' नाम पड़ा । जल जिसका प्रथम अधिष्ठान या अयन है वही 'नारायण' हुए । और कई प्रकार से भी इस शब्द की व्याख्या की गई है ।

निरगुण = सत्त्व, रज, तम, प्रकृति के इन तीन गुणों से परे ।

निरलेप = रागद्वेषादि सांसारिक गुणों से निर्मुक्त, अनासक्त ।

अलंकार—अतिशयोक्ति (सबन्धा) पूर्वार्द्ध में ।

दो० २७३—

लोकमाता = विष्णुपत्नी होने के कारण लक्ष्मी जगज्जननी हुई, क्योंकि विष्णु संसार के पालनकर्त्ता हैं ।

सिंधुसुता = समुद्रमंथन से उत्पन्न हुई लक्ष्मी ।
उदा० चौंर ढारत सिंधुजा जय शब्द बोलत सिद्ध ।"
(केशव)

लक्ष्मी = सौन्दर्ययुक्त, शोभायुक्त (शब्दार्थ) ।
उदा० "मलिनमपि हिमांशोर्लक्ष्मलक्ष्मीं तनोति ।"
(शकुन्तला, मालती-माधव)

अवरगृहे अस्थिरा = (सं० अपरगृहे अस्थिरा) = विष्णु के सिवाय दूसरे किसी के घर में स्थिर न रहनेवाली अतएव "चंचला।"

इन्दिरा = प्रभुत्वशालिनी (सं० इन्द = प्रभुत्व, जैसे 'इन्द्र' में)

रमा = (सं०) भगवान जिसमें रमण करते हैं।

श्री = शोभा, सौन्दर्य्य, ऐश्वर्य इन गुणों का स्थान—लक्ष्मी।

प्रमा = (सं०) न्याय और तर्कशास्त्र के अनुसार—'प्रमा' यथार्थ ज्ञान को कहते हैं।

अलग अलग श्रेणी के दार्शनिकों ने 'प्रमा' के पृथक् पृथक् साधन अथवा कारण जिन्हें 'प्रमाण' कहते हैं, माने हैं। यथा :—

नैयायिकों ने 'प्रमा' के साधन :—(१) प्रत्यक्ष, (२) अनुमान, (३) उपमान, (४) शब्द। ये चार प्रमाण माने हैं।

सांख्यकों ने (१) प्रत्यक्ष, (२) अनुमान, (३) शब्द। तीन प्रमाण माने हैं। इसी प्रकार दूसरों दूसरों ने।

अमरकोश में लक्ष्मी के पर्य्यायवाची नाम इस प्रकार गिनाये हैं।

लक्ष्मी पद्मालया पद्मा कमला श्रीर्हरिप्रिया।
इन्दिरा लोकमाता मा क्षीरोदतनया रमा॥

कवि की नामावली उपरोक्त नामावली से बहुत कुछ मिलती है।

दो० २७४—

कंदर्प = इसकी व्याख्या और व्युत्पत्ति यों की गई है :—

कंदर्पयामीति मदाज्जातमात्रो जगाद च।
तेन कंदर्पनामानं तं चकार चतुर्मुखः॥

हिं० उदा० "कंदर्प अगणित अमित छबि नव नील नीरज सुदर।" (तुलसी)

संवरारि=कामदेव ने शम्वरासुर को मारा था। रामायण और महाभारत में इसे कामदेव का शत्रु माना है।

उदा० "शम्बर ज्यों शम्बरारि दुःख देह को दहै।"

(केशव)

समर=स्मृतिजन्य अर्थात् प्रेमस्वरूप कामदेव; स्मर।

मदन=(सं० मादयति अनेन—(मद् करणे ल्युट्) मदमत्त करनेवाला।

मार=(सं० मृ-घञ्) मारक, मारनेवाला।

देखो प्रयोग:—"श्यामात्मा कुटिल: करोतु कबरी भारोऽपि मारोद्यमं।" (गीतगोविन्द)

पंचसर=कामदेव के पाँच बाण पूर्व दो० में प्रसंगवश गिनाये गये हैं। देखो दो० १०९ का नोट।

तनुसार=(१) (सं० तनु+सृ (धातु)) (१) शरीर में व्याप्त होकर रहनेवाला (२) बलवान् शरीरवाला।

मिलाओ अमरकोष की नामावली :—

मदनो मन्मथो मार: प्रद्युम्नो मीनकेतन:।
कंदर्पो दर्पकोऽनंग: काम: पञ्चशर: स्मर:।
शम्बरारि: मनसिज:कुसुमेषु रनन्यज:।
पुष्पधन्वा रतिपतिर्मकरध्वज आत्मभू:॥

दो० २७५—

चतुर्मुख...इत्यादि=अनिरुद्ध की पर्यायवाचिनी इस नामावली से प्रतीत होता है कि कवि ने अनिरुद्ध को ब्रह्मा अथवा ब्रह्मात्मा का अवतार माना है। इसकी पुष्टि के लिए हमको कोई प्रमाण नहीं मिलता। ऐसा प्रतीत होता है कि कवि ने अपनी

कल्पना के बल से अनिरुद्ध को ब्रह्मा का अवतार मान लिया है। जितने पर्य्यायों का उल्लेख है वे सभी ब्रह्मा पर घटते हैं।

दो० २७६—

सुन्दरता......इत्यादि = लक्ष्मी की अवतार रुक्मिणी में सर्वदा स्थायी इन विशिष्ट गुणों को कवि ने अपने कल्पना-बल से सहचरी का रूप दे दिया है। पुराणों में इन सखियों का कहीं नामोल्लेख नहीं मिलता।

दो० २७७—

सुपहु (डिं०) = (सं० सुप्रभु) = श्रेष्ठ प्रभु।

गृह-संग्रह = (सं०) गृहस्थ के श्रेष्ठ गुणों का संग्रह करना; लोक संग्रह देखो, "लोकसंग्रहमेवापि" इत्यादि (गीता)

गिणि = (सं० गणना) हिं० गनि = गिनकर, समझकर।

मूँकिया (डिं०) = (सं० मुच्) हिं० मूकना = छोड़ना, त्याग देना। उदा० "पाल्यौ तेरे टूक को परेहू चूक मूकिये न।" (तुलसी) देखो पूर्व दो० २६२ में "पमूँकै" का प्रयोग।

चंडालि = (सं० चाण्डाल) पतित, दुष्ट, दुष्टात्मा, दुरात्मा। 'चाण्डाल' एक नीच शूद्र जाति का नाम विशेष भी है।

अलंकार = रूपक-उत्तरार्द्ध में।

दो० २७८—

रस = (सं०) = प्रेम; शृङ्गाररस (रतिमूलक)।

खेत्र = (सं० क्षेत्र) = (१) रणक्षेत्र (२) खेत।

उदा० "हतिहौं खेत खिलाइ खिलाइ"—(जायसी)

वैसे (डिं०) = (सं० वेशन) = वैठना, वैठकर। देखो अन्यत्र पूर्व दो० ११२, १३५ में प्रयोग।

उदा० देखा कपिन जाइ सो वैसा, आहुति देत रुधिर औ भैंसा। (तुलसी)

पारकी (डिं०) = (सं० परकीय) दूसरों की।

खगि (डिं०) = (सं० खड्ग) प्रा० खग्ग। तलवार।

डिं० उदा० "दुइ सेन उदग्गन खग्ग सुमग्गन बग्ग तुरग्गन आग लई।"

चात्रण (डिं०) = सं० चात्र (संज्ञा) = अग्निमंथन यंत्र; 'आरणि' का एक अवयव। यहाँ 'चात्र' (संज्ञा) का अकर्मक क्रिया प्रयोग है। अतएव यह अर्थ हुआ :—जिस प्रकार चात्र यंत्र से अग्नि मथी जाती है उसी प्रकार शत्रुदल का मंथन करना।

नोट—इस दो० से वेलि-पाठ का माहात्म्य प्रारम्भ होता है। मिलाओ भर्तृहरि का श्लोक—"यदि हरिस्मरणे रतिः स्यात्"...... इत्यादि। कवि का यह दावा कि वेलि-पाठ से मनुष्य रसज्ञ, योद्धा और वक्ता बन सकता है—कहाँ तक सत्य है, हम नहीं कह सकते। पाठक स्वयं प्रमाण ढूंढ़ें।

दो० २७६—

भावी = (हिं०) भविष्यत्काल, आनेवाला समय। भवितव्यता। उदा० "भावी काहू सों न टरै।"

भुगति (डिं०) = (सं० भुक्ति) भोक्तव्य; संसार में भोगने योग्य सुख, विषय इत्यादि; लौकिक साधनों का उपभोग और सुख-लाभ।

ज्वरि (डिं०) (सं० उदर (सप्तम्यन्त)) उदर में, हृदय में, अन्त-करण में। सं० टीका—उवरि अभ्यन्तरे । मा० टीका—हीयइ ।

तिकरि (डिं०) (सं० तत्कृते, त्वत्कृते) = के लिए, के वास्ते, देखो पूर्व प्रयोग दो० १४३,२३४ में।

त्याँ (डिं०) = उनको, उनके ।

दो० २८०—

सुइ (डिं०) = हिं० 'सोइ' = सोकर, लेटकर ।

अपरस (डिं०) = (सं० अस्पृश्य) = अछूत, शुद्ध ।

पढन्ताँ (डिं०) = पढ़नेवालों को, के लिए ।

वंछित (डिं०) = (सं० वांछित) = इच्छित, ईप्सित ।

नोट—पूर्वार्द्ध में कवि ने उपासना—मार्ग के कर्मकाण्ड का जिस प्रकार उल्लेख किया है उससे उनके वैष्णव भक्त होने में किसी प्रकार का संदेह नहीं रह जाता ।

दो० २८१—

ऊपजै (डिं०) = (सं० उत्पद्यते) = उत्पन्न होती है ।

उदा० उपजै बिनसै ज्ञान जिमि पाइ कुसंग सुसंग । (तुलसी)

आप आप में (डिं० मुहा०) = परस्पर। हिन्दी में भी यह मुहावरा प्रयुक्त होता है। यथा :—"यह वस्तु आप आपमें बाँट कर खा लो ।"

रति = (सं०) प्रेम, प्रीति ।

लहै = (सं० लभ्) हिं० लहना = प्राप्त करना ।

उदा० "नाचत हौ निसि दिवस मर्यो, पै नहिं सुख कबहूँ लह्यौ ।" (सूर)

परणी (डिं०)=(सं० परिणीता)=ब्याही हुई स्त्री।

कुमारी=(सं०) अविवाहिता कन्या।

नोट—वेलि-पाठ के माहात्म्य के इस अंश को अक्षरशः सत्य माना जाय अथवा नहीं यह पाठकों की रुचि पर निर्भर है। परन्तु इतना अवश्य सत्य है कि कवि ने भगवान् श्रीकृष्ण और रुक्मिणी के प्रेम के रूप में संसार के सामने आदर्श दाम्पत्य प्रेम का जो विशुद्ध एवं उच्च आदर्श स्थापित किया है वह मानव-समाज एवं वेलि-पाठकों के लिए अत्यन्त हितकर है।

अलंकार=अन्योन्य-पूर्वार्द्ध में।
दीपक—उत्तरार्द्ध में।

दो० २८२—

पड़पोत्रे (डिं०)=(सं० प्रपौत्र) पौत्र का पुत्र।

साहण (डिं०)=(सं० साधन=सिद्धि के सहायक हेतु)
सं० उदा०—"शरीरमाद्यं खलु धर्मसाधनम्"। (कुमार)
हिं० उदा० "आये निशाचर साहनि साजे।" (रघुराज)
'साहण' के कई अर्थ हैं :—(१) साथी, संगी। (२) सेना, फौज। (३) परिषद, (४) हाथी-घोड़े इत्यादि विजय या सफलता-प्राप्ति के साधन।
यहाँ अन्तिम अर्थ मे प्रयोग हुआ प्रतीत होता है। सं० टीकाकार भी "साहणैर्गजाश्वरथरूपै" अर्थ करके इसी आशय का समर्थन करता है।

जग पुड़ि (डिं०)=संसार के पुड़त, पृथ्वीतल, जगतीतल पर। 'पुड़ि' के इस अर्थ में प्रयोग के लिए देखो पूर्व प्रयोग दो० २१७ में।

बाधै (डिं०)=(सं० वर्द्धते) बढ़ते हैं। पूर्व दो० में कई जगह प्रयोग हुआ है।

अलंकार=उपमा।

विशेष (दूसरा)।

दो० २८३—

पेखे (डिं०)=(सं० प्रेक्ष्य) देखकर।

हिं० उदा० "मज्जन फल पेखिय तत्काला।" (तुलसी)

वगि (डिं०)=(सं० वर्ग) प्रा० वग्ग=वर्गीकृत, एकत्रित, इकट्ठा।

कवण (डिं०)=हिं० कवन=कौन, कौन से। उदा० "कारण कवन नाथ मोहिं मारा।" (तुलसी)

क्रम (डिं०)=(सं० कर्म) डिंगल के प्रथानुसार रेफ को स्थानान्तरित किया गया है।

जाणियै (डिं०)=(सं० जाने) प्रा० जाणे=ऐसा प्रतीत होता है, जानो।

अलंकार=अनुमान प्रमाण।

दो० २८४—

चतुरविध वेद प्रणीत चिकित्सा=वास्तव में आयुर्वेद में अष्टांग चिकित्सा गिनाई गई है। परन्तु कवि ने उनमें से मुख्य चार लेकर यहाँ पर अपने ही ढङ्ग से गिनाई है।

शास्त्रोक्त अष्टांग चिकित्साओं के नाम ये हैं।

(१) शल्य, (२) शालाक्य, (३) कायचिकित्सा (४) भूतविद्या, (५) कौमारभृत्य, (६) अंगदतंत्र, (७) रसायनतंत्र, (८) वाजीकरणतंत्र।

चिकित्सा :—आयुर्वेद के दो विभाग हैं, (१) निदान, जिसमें रोगों की पहिचान और उनका वर्णन है। (२) चिकित्सा, जिसमें भिन्न

भिन्न रोगों पर भिन्न भिन्न ओषधियों की व्यवस्था बताई गई है। चिकित्सा के ३ उपभेद हैं। (१) देवी जिसमें पारदादि रसायनों का प्रयोग हो, (२) छः रसों द्वारा की हुई मानवी चिकित्सा, (३) आसुरी—अस्त्रप्रयोगद्वारा चीर-फाड़ कर की हुई चिकित्सा। परन्तु कवि ने इन चिकित्सा के विभागों को न मानकर स्वयं अपना काल्पनिक विभाग किया है। यथा :—(१) शस्त्र (२) ओषधि (३) मन्त्र (४) तन्त्र।

उपचार=(सं०)=उपाय, दवा, इलाज।

उदा० "ग्रह ग्रहीत पुनि वातवश, तेहि पुनि बीछी मार।
ताहि पियाइय वारुनी, कहहु कौन उपचार॥"
(तुलसी)

सुवि (डिं०)=हिं० सभी।

हुवि (डिं०)=होता है।

तन्त्र=यह हिन्दुओं का उपासना-सम्बन्धी एक प्राचीन शास्त्र है। इसे शिवप्रणीत माना है। तंत्रशास्त्र तीन भागों में विभक्त है। (१) आगम, (२) यामल, (३) मुख्यतंत्र।

जिसमें, सृष्टि, लय, मन्त्रनिर्णय, देवताओं का संस्थान, यन्त्रनिर्णय, तीर्थ, आश्रमधर्म, कल्प, ज्योतिषसंस्थान, व्रत, कथा, शौच, अशौच, स्त्री-पुरुष-लक्षण, राजधर्म, दानधर्म, युगधर्म, तथा इतर आध्यात्मिक विषयों का वर्णन है, वह तंत्रशास्त्र कहलाता है। इस शास्त्र का सिद्धान्त है कि कलियुग में वैदिक मंत्रों और यज्ञादिकों का कोई फल नहीं होता। इस युग में सब प्रकार के कार्यों की सिद्धि तंत्रशास्त्र में वर्णित मंत्रों और उपायों से हो सकती है। इसके सिद्धान्त बड़े गुप्त रखे जाते हैं। इसके लिए मनुष्य

को पहले दीक्षित होना पड़ता है। प्रायः आजकल लोग मारण, उच्चाटन, वशीकरणादि तथा इतर हीन सिद्धियों के साधन के लिए ही तंत्रोक्त क्रियाओं का प्रयोग करते हैं। यह शास्त्र प्रधानतः शाक्तों का है और इसके मंत्र प्राय अर्थहीन और एकाक्षरी होते हैं। यथाः ऊँ ह्रीं, क्लीं, श्रीं, शूं इत्यादि। तान्त्रिकों का पंचमकार मद्य, मांस, मदिरा, मुद्रा और मैथुन है। प्रसिद्ध चक्रपूजा में उपरोक्त पदार्थों का प्रयोग होता है। यद्यपि अथर्वसंहिता में मारण, मोहन—उच्चाटन, वशीकरणादि का वर्णन है परन्तु आधुनिक तंत्र से उनका बहुत थोड़ा सम्बन्ध है। भारत में चौथी पाँचवीं शताब्दी में इस मत का प्रचार हुआ था।

अलकार = विशेष (दूसरा)

दो० २८५—

आधिभूतक आधिदेव अध्यातम त्रिविधताप = शास्त्र में तीन प्रकार के सांसारिक दुख अथवा ताप गिनाये गये हैं।

उदा० दैहिक, दैविक, भौतिक, तापा, रामराज काहुहि नहि व्यापा। (तुलसी)

(१) आधिभौतिक = व्याघ्र सर्पादि जीवधारियों द्वारा प्राप्त दुख। सुश्रुत में रक्त तथा शुक्रदोष अथवा आहार-विहार से उत्पन्न व्याधियों को भी आधिभौतिक ही कहा है।

(२) आधिदैविक = देवता, यक्ष भूत प्रेतादि-द्वारा प्राप्त दुख। सुश्रुत मे सात प्रकार के दुःख गिनाये गये हैं। उनमे से तीन इसी वर्ग के अन्तर्गत हैं यथा :—(१) कालबलकृत—बर्फ, ओले, वर्षादि से उत्पन्न, (२) देवबलकृत यथा :—बिजली पड़ना, पिशाचादि लगना, (३) स्वभावबल कृत यथा :—भूख प्यासादि लगना।

(३) आत्मा, मन एवं देह-सम्बन्धी दुःख, यथा:—शोक, मोह, ज्वर इत्यादि हो जाने को आध्यात्मिक ताप कहते हैं।

पिंड=(स०) शरीर। देखो पूर्व दो० ११३ में।

प्रभवति=(सं०)=होनेवाले।

कफ वात पित रोग त्रिविधमैं=वैद्यक में ये तीन प्रकार के रोग माने गये हैं।

(१) कफ=वैद्यक के अनुसार शरीर में एक धातु जिसके रहने का स्थान आमाशय, हृदय, कंठ, शिर और सन्धियाँ हैं। इनका क्रमशः नाम क्लेदन, अवलम्बन, रसन, स्नेहन और श्लेष्मा हैं। आधुनिक पाश्चात्यमत से इसका स्थान साँस लेने की नालिकाएँ या आमाशय हैं। कुपित अथवा अनवस्थित होने पर 'कफ' दोष गिना जाता है और रोग का कारण बन जाता है।

(२) वात=वैद्यक के अनुसार यह शरीरस्थ एक वायु है। इसके कुपित होने से अनेक रोग होते हैं। शरीर में इसका स्थान पक्वाशय माना है। शरीर की सब धातुओं और मलादि का पाचन इसी से होता है। श्वास, प्रश्वास, वेग, चेष्टा और कार्य भी यही करती है।

(३) पित्त=वैद्यक के अनुसार पित्त शरीर के स्वास्थ्य और रोग के कारणभूत तीन प्रधान तत्वों और दोषों में से एक है। जिस प्रकार रस का मल कफ होता है, उसी प्रकार रक्त का मल पित्त होता है, जो यकृत अथवा जिगर में उससे पृथक् किया जाता है। यह उष्ण, द्रव, लघु, सत्त्वगुणयुक्त, स्निग्ध और कटु होता है। यह अम्ल, अग्निस्वभाववाला, तरल पदार्थ है जो शरीर के अन्दर यकृत में बनता है। अग्निस्वभाव होने के

कारण इसे अग्नि, उष्ण, तेजस् भी कहते हैं। इसकी बनावट में कई प्रकार के लवण और दो प्रकार के रंग पाये जाते हैं। यकृत के कोष्ठों से रस लेकर दो विशेष नालियों-द्वारा पकाशय में आकर यह आहाररस से मिलता है और वसा और चिकनाई को पचाने में सहायक होता है। इस क्रिया के लिए उसमें पित्त का यथेष्ट मात्रा में मिलना अत्यन्त आवश्यक होता है। इसके कई कार्य हैं। आमाशय से पकाशय में आये हुए आहाररस की खटाई को दूर करना, आँतों में भोजन को सड़ने न देना; शरीर का तापमान (Temperature) स्थिर रखना। पित्त की कमी से पाचन-क्रिया बिगड़ जाती है और मन्दाग्नि, कब्ज और अतीसारादि रोग हो जाते हैं। इस प्रकार के विकार में ज्वर, दाह, वमन, प्यास, मूर्च्छा और चर्मरोग होते हैं। जिसका पित्त बिगड़ जाता है उसका रंग पीला पड़ जाता है।

शरीर में पित्त के पाँच स्थान हैं—आमाशय, यकृत-प्लीहा, हृदय, दोनों नेत्र, और त्वचा। इनमें रहनेवाले पित्त के क्रमश नाम ये हैं :—पाचक, रेचक, साधक, आलोचक और भ्राजक। शरीर में इनकी पृथक् पृथक् क्रियाएँ एवं कर्तव्य हैं। अँगरेज़ी में पित्त को Bile कहते हैं, जो क्रोधप्रधान प्रकृति माना गया है। अरबी में सफ़रा और फ़ारसी में तलख़ा कहते हैं।

नाट—दो० २६६ "जोतिखी वैद पौराणिक जोगी" में कवि ने वैद्यक के ज्ञान की चर्चा की है। इस दोहले में वैद्यक शास्त्र की कुछ सूक्ष्मताओं का उल्लेख है। आंशिक रूप में गर्वोक्ति सत्य है।

दो० २८६—

रुपमिणी-मंगल=जिस ग्रंथ में श्रीरुक्मिणी का मंगल अर्थात् श्रीकृष्ण के साथ विवाह वर्णित है; अर्थात् "वेलि"। 'रुक्मिणी-मंगल' कवि के समसामयिक एक चारण कवि के काव्य का नाम भी था। कहते हैं यह ग्रंथ 'वेलि' की तुलना में बादशाह के सामने रखा गया था। कथा के लिए देखो भूमिका।

थाइ (डिं०)=होता है। गुजराती में भी प्रयोग होता है।

दुरदिन=(सं०) बुरा समय, आपत्तिकाल।

दुरग्रह=(सं०) ज्योतिष के अनुसार दुष्ट ग्रहों का कोप।

दुरदसा=(सं०) बुरी दशा।

दुसुपन=(सं० दुःस्वप्न)=निमित्तसूचक बुरे बुरे स्वप्न।

दुरनिमित=(सं०) भविष्य में होनेवाले अनिष्ट को सूचित करनेवाला अशकुन; बुरे शकुन।

नोट—हमें ज्ञात है कि राजस्थान के कई धार्मिक प्रकृति के पुरुष "वेलि" का नियमपूर्वक पाठ करते हैं और उनका विश्वास है और कथन है कि वेलि-पाठ से उनको बहुत से आध्यात्मिक एवं भौतिक लाभ हुए हैं। यह असम्भाव्य नहीं है। कलियुग में विश्वास और जप का बड़ा माहात्म्य है। इसमें *किसी को सन्देह नहीं है।*

दो० २८७—

छलन्ति, भखन्ति, नर्मसि=(सं०) शुद्ध संस्कृतप्रयोग।

अलंकार=अत्युक्ति।

दो० २८८—

सन्यासिए, जोगिए, तापसिए=एकारान्त डिंगल में बहुवचन-द्योतक होता है। संन्यासियों, योगियों, तपस्वियों को।

(१) संन्यासी=गीता में इसकी व्याख्या यों की गई है:—
काम्यानां कर्मणां न्यासं (त्यागं) संन्यासं कवयो विदुः। (गीता)

ज्ञेयः स नित्यसंन्यासी यो न द्वेष्टि न कांक्षति। (गीता)

सांसारिक प्रपंचों के त्याग की वृत्ति को 'संन्यास' कहते हैं, वैराग्य। प्राचीन भारतीय आर्यों के जीवन की चार अवस्थाओं में से अन्तिम अवस्था। पुत्रादि के सयाने हो जाने पर मनुष्य गृहस्थाश्रम को छोड़ कर एकान्तवास और ब्रह्मचिंतन के निमित्त परलोकसाधनार्थ जगल में निवास करता था। किसी आचार्य-द्वारा दीक्षा लेकर सिर मुँड़ा कर, दंड ग्रहण कर भिक्षावृत्ति से आत्मनिर्वाह करता था। संन्यास दो प्रकार के माने गये हैं:—(१) संक्रम—अर्थात् क्रमागत काल में ब्रह्मचर्य, गृहस्थ और वानप्रस्थ जीवन के उपरान्त संन्यास ग्रहण करना। (२) अक्रम—बीच ही में जब वैराग्य हुआ तभी संन्यास ले लेना।

(२) योगी .—आत्मौपम्येन सर्वत्र समं पश्यति योऽर्जुन।
सुखं वा यदि वा दुःखं स योगी परमो मत.॥
(गीता)

जो भले, बुरे, सुखदुखादि द्वन्द्वों को समान समझे, उनमें आसक्त न हो। वह आत्मज्ञानी जिसने योगाभ्यास-द्वारा सिद्धि प्राप्त की है। योगदर्शन मे अवस्था भेद से चार प्रकार के योगी माने हैं। यथा :—(१) काल्पिक—जिसने

योगारम्भ किया है, (२) मधुभूमिक जो भूतों और इन्द्रियों पर विजय चाहते हैं; (३) प्रज्ञाज्योति—जिन्होंने भली भाँति इन्द्रिय-निग्रह कर लिया है; (४) अतिक्रान्त भावनीय—जिन्होंने सब सिद्धियाँ प्राप्त कर ली हों। परन्तु अब तक चित्तलय बाकी है।

(३) तापसी = तपस्वी, तप करके शरीर को कष्ट देनेवाला; कठोर व्रत नियमादि का पालन करके चित्त को शुद्ध और इन्द्रियों को विषयों से निवृत्त करनेवाला।

प्राचीन काल में हिन्दुओं, बौद्धों, जैनों, यहूदियों और ईसाइयों में बहुत से लोग ऐसे होते थे जो इन्द्रियों को वश में करने और सांसारिक विषय-वासनाओं से मन को हटाकर चित्त-शुद्धि करने के लिए, धार्मिक विश्वास के अनुसार नगरों से दूर जंगलों, पहाड़ों में जाकर रहते थे। वहाँ घास-फूस का आवास बना कर कंद-मूल फल खाते और तरह तरह के कठोर व्रत उपवासादि किया करते थे। पुराणों में इस प्रकार के तपस्वियों की कथाएँ भरी पड़ी हैं। कभी कभी किसी अभीष्टप्राप्ति के लिए अथवा किसी देवता को प्रसन्न करके वरप्राप्ति करने के लिए भी तप किया जाता था। यथा—गंगा को लाने के लिए भगीरथ का तप, शिव को ब्याहने के लिए पार्वती का तप। पतंजलि के अनुसार ऐसे तप को क्रिया-योग कहा है। गीता में तीन प्रकार के तप गिनाये हैं, (१) कायिक, (२) वाचिक, और (३) मानसिक।

हठ-निग्रह = हठयोग; वह योग जिसमें चित्तवृत्ति हठात् बाह्य विषयों से हटा कर अन्तर्मुख की जाती हैं और जिसमें शरीर को साधने

के लिए कठिन कठिन आसनों और मुद्राओं को साधना पड़ता है। नेती, धौती आदि क्रियाएँ हठयोग के अन्तर्गत हैं। इनके लिये देखो हठ-प्रदीपिका—स्वात्मारामविरचित, जो इस योग का प्रधान ग्रंथ है। मत्स्येन्द्रनाथ, गोरखनाथादि योगीश्वर इसके आचार्य हैं। पतञ्जलि के योगसूत्र के दार्शनिक अंश को छोड़कर 'साधना', अंग पर हठ-योग आश्रित है।

काँइ (डिं०)=डिंगल में प्रश्नवाचक सर्वनाम है=क्या। राजस्थानी बोलचाल की भाषा में अब तक प्रयुक्त होता है।

इवड़ा (डिं०)=ऐसा, इतना। "ऐहड़ा" का भी प्रयोग होता है।

पार थिया पार थिया=इन शब्दों की पुनरावृत्ति निश्चयार्थद्योतक है। अर्थात् निश्चय ही पार होगये। जैसे हिन्दी में "पार हो गये और फिर होगये।" अर्थात् इसमें सन्देह नहीं है।

डा० टैसीटरी ने अन्तिम पंक्ति "तरि पार" के स्थान में 'ऊतरे' पाठान्तर लिया है। पुनरावृत्ति को बचाने के लिए उन्होंने इस बहुसम्मत पाठान्तर को छोड़ दिया है। हमारी समझ में काव्य में उपयुक्त स्थान पर पुनरावृत्ति करने से चमत्कार की वृद्धि ही होती है—जैसी कि इस दो० में।

अलंकार=प्रतीप।

दो० २८९—

जोग=पतंजलि का योगदर्शन समाधि, साधन, विभूति और कैवल्य इन चार विभागों में विभक्त है। समाधि-भाग में योग के उद्देश्य और लक्षण और उसका साधन बताया गया है, साधन-भाग में क्लेश, कर्म-विपाक और कर्म-फलादि का विवेचन किया गया है, विभूति-भाग में योग के अङ्ग, उनका

परिणाम क्या है और उनके द्वारा अणिमा महिमादि सिद्धियों की प्राप्ति कैसे होती है इत्यादि का विवेचन है। कैवल्य-भाग में मोक्ष का विवेचन किया गया है।
योगदर्शन का संक्षेप में यह मत है कि मनुष्य को अविद्या, अहंकार, राग, द्वेष और अभिनिवेष—ये पाँच क्लेश होते हैं। उनसे बचने के उपाय पतंजलि ने योगसाधनोंद्वारा बताये हैं। योग के अंगों को सिद्ध कर मनुष्य अन्त में मोक्ष पा लेता है। योग दो प्रकार का माना गया है। (१) संप्रज्ञात और (२) असंप्रज्ञात। जिस अवस्था में ध्येय का रूप प्रत्यक्ष रहता है उसे प्रथम और जिसमें किसी प्रकार की चित्तवृत्ति का उदय नहीं होता अर्थात् जिसमें ज्ञाता और ज्ञेय का भेद नहीं रहता, केवल संस्कार-मात्र बने रहते हैं, उसे असंप्रज्ञात कहते हैं। योगसाधनों का सिद्धान्त यह है कि प्रथम स्थूल विषयों का आधार लेकर क्रमशः सूक्ष्म विषयों पर चित्तवृत्ति को स्थिर करना और अन्त में विषयों का इन्द्रियों से परित्याग करना, जिससे आत्मा में चित्तवृत्ति का निवेश किया जा सके। आठ प्रकार के योग-साधन हैं, जिन्हें अष्टांगयोग कहा है, यथा—

यमो नियमश्चासनं प्राणायामस्ततः परम्।
प्रत्याहारो धारणा च ध्यानं सार्धं समाधिना।
अष्टांगान्याहुरेतानि योगिनां योगसिद्धये॥

जाग=[यज्ञ (सं०)] प्राचीन आर्यों का एक प्रसिद्ध वैदिक कृत्य जिसमें प्रायः हवन-पूजन होता था। देवताओं को प्रसन्न करने, पुत्रजन्म, विवाह, अन्य समारोह, अन्त्येष्टि-क्रिया, पितरों का श्राद्ध आदि के समय पर यज्ञ करने की

प्रथा थी। यज्ञ कई प्रकार के होते थे, यथा—सोमयज्ञ, अश्वमेध, राजसूय, अग्निष्टोम इत्यादि। ब्राह्मणों की नित्य-क्रिया में पंचमहायज्ञ का निर्देश था। वैदिककाल में यज्ञ में पशु-बलि की प्रथा भी पड़ गई, जो पीछे बहुत बढ़ गई और जिसका विरोध करने के लिए बौद्धमत का प्रचार हुआ। ब्राह्मणों और श्रौतसूत्रों में यज्ञविधि और कर्म-काण्ड की विवेचना की गई है।

जप = किसी मन्त्र का बार बार धीरे धीरे पाठ करना। यह भी उपासना का एक साधन है। पुराणों में जप तीन प्रकार के माने गये हैं—(१) मानस, (२) उपांसु, (३) वाचिक। प्रथम में, मन ही मन मन्त्र का अर्थ मनन करना और धीरे धीरे ऐसा उच्चारण करना कि होठ और जिह्वा न हिलें, द्वितीय में जिह्वा और होठों को कुछ कुछ हिलाते उच्चारण करना, जो थोड़ा सुनाई दे। तृतीय में वर्णों का स्पष्ट उच्चारण करना होता है। जप करते समय जप की सख्या पर ध्यान रखना होता है। अतएव "जपमाला" की आवश्यकता पड़ती है।

तीरथ = वह पवित्र या पुण्यस्थल जहाँ धर्मभाव से लोग यात्रा, पूजा और स्नानादि के लिए जाते हैं। यथा—काशी, प्रयाग, गया, जगन्नाथ, द्वारिका इत्यादि।

हिन्दू शास्त्रानुसार तीर्थ तीन प्रकार के हैं—(१) जंगम—ब्राह्मण साधु आदि, (२) मानस—जैसे, सत्य, क्षमा, दया, दान, ब्रह्मचर्य, ज्ञान, धैर्य, मधुरभाषणादि गुण, (३) स्थावर जैसे, काशी, गया, प्रयागादि पुण्यस्थान।

व्रत = किसी पुण्य तिथि को अथवा पुण्यप्राप्ति के निमित्त नियमपूर्वक उपवास करना। हिन्दू व्रत के दिन प्राय कुछ

नहीं खाते या कोई विशिष्ट पदार्थ खाते हैं। साधारणत. प्रत्येक एकादशी को व्रत रखते हैं। किसी व्रत में केवल फलाहार होता है; प्रदोष के व्रत में अन्न भी खाया जाता है। निर्जला एकादशी को जल भी नहीं पाते। कुछ व्रत ऐसे हैं जो महीनों चलते हैं, यथा—चांद्रायण, चातुर्मास्य आदि। स्त्री और पुरुषों के लिए पृथक् पृथक् व्रत निर्दिष्ट हैं। व्रत के दिन आचार-व्यवहार विचारादि की पवित्रता पर ज्यादा ध्यान दिया जाता है।

दान=वह धर्मार्थ कृत्य जिसमें श्रद्धा या दयापूर्वक धर्मभाव से अप्रत्युपकारी को धनादि पदार्थ दिया जाय। स्मृतियों में इस पर बड़ा विचार किया गया है। दान देते समय दान-ग्रहीता की पात्रता पर बड़ा ध्यान रहना चाहिए। दानों का विशेष विधान यज्ञ, श्राद्धादि धर्मकृत्यों के बाद होता है। दान देते समय दाता में श्रद्धा होनी चाहिए। गीता में सात्त्विक, राजस और तामसी—तीन प्रकार के दान कहे गये हैं।

आश्रम—स्मृतियों में हिन्दू-धर्म के चार आश्रम बताये हैं,—ब्रह्मचर्य, गार्हस्थ्य, वानप्रस्थ और संन्यास।

वरण = प्राचीन आर्यों ने हिन्दू समाज के चार विभाग किये—ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र। ऋग्वेदीय काल मे भारतीय आर्य-जनता के दो वर्ग थे—(१) आर्य (२) दस्यु।

आगे चल कर यही वर्गीकरण व्यवसाय के आधार पर हुआ है। पुरुष-सूक्त में आलंकारिक ढङ्ग से पहले पहल चार वर्णों का सूत्र-पात हुआ है। ब्राह्मण ईश्वर के मुख से, क्षत्रिय बाहु से, वैश्य जंघा से और शूद्र पैरों से उत्पन्न हुए। अलग अलग वर्णों का धर्म और कर्त्तव्य, व्यवसायादि भी पृथक् पृथक्

निर्दिष्ट हो गये। वर्णाश्रम की व्यवस्था हिन्दू-धर्म की खास व्यवस्था है। अतएव हिन्दू अपने धर्म को "वर्णाश्रमधर्म" नाम से कहते हैं।

कलपसि = (सं० कल्पन = (दुख की) उद्भावना करना) बिलखना, विषाद करना। उदा० "नेकु तिहारे निहारे बिना कलपै जिय क्यों पल धीरज लेखैं।" (पद्माकर)

सं० टीका = "किं कलपसि किं याचसे इत्यर्थः।"

अलंकार = प्रतीप।

दो० २६०—

भजै = (सं० भजति) = सेवन करती है, सेवा करती है, आश्रय लेती है। उदा० "तजो हठ आनि, भजो किन मोहिं।" (केशव)

अतारू (डिं०) = अ + तारू = नहीं तैरनेवाला। देखो "तारू" का प्रयोग पूर्व दो० ६ मे "तारू कवण जु समुद्र तरै।"

बोलै (डिं०) = हिं० बोरना = डुबोना, जलमग्न करना।

उदा० (१) कपट बोरि बानी मृदुल, बोलेउ कपट समेत।
(तुलसी)

(२) लागी जबै ललिता पहिरावन, कान्ह को कंचुकी केसर बोरी।

ग्रब (डिं०) = (सं० गर्व) देखो डिंगलप्रथानुसार रेफ का स्थानांतरित होना।

म (डिं०) = सं० मा (निषेधात्मक) का अल्परूपान्तर।

वाहणी (डिं०) = (सं० वाहिनी) = (१) वहनेवाली, (२) सेना।

आणाँ (डिं०) = (सं० अन्यत्, प्रा० अण्ण, हिं० आन) = दूसरा, अन्यत्र।

सूँ = गुजराती प्रयोग। गुजराती के बहुत से प्रयोग राजस्थानी और डिंगल में पाये जाते हैं। वास्तव में इन पड़ोस की भाषाओं

का बड़ा निकट सम्बन्ध है। गुजराती में "सूँ" प्रश्नवाचक सर्वनाम है—कैसे, क्यों, किस प्रकार—अर्थ में प्रयुक्त होता है। यहाँ वही अर्थ है।

भागीरथी=सूर्यवंश के राजा भगीरथ गंगा को स्वर्ग से पृथ्वी पर लाये थे, अतएव उसका यह नाम पड़ा। राजा सगर के साठ हज़ार पुत्रों को कपिल के शाप ने भस्म कर दिया था। अपने इन पूर्वजों के उद्धार के लिए अयोध्या के सूर्यवंशी राजा और सगर के प्रपौत्र भगीरथ ने बड़ा तप किया और गंगाजी को पृथ्वी पर लाये। पृथ्वी पर आने पर शिवजी ने गंगा को जटा में धारण कर लिया। वहाँ से गंगासागर की ओर जाते हुए जह्नु ऋषि ने इसे पी लिया। प्रार्थना से निर्मुक्त होने पर गंगा ने सगर के पुत्रों को पुनर्जीवित किया। स्वर्ग, पृथ्वी और पाताल में गंगा की तीन धाराएँ मानी गई हैं। जिनको क्रमशः (मंदाकिनी) आकाशगंगा, भागीरथी और भोगवती कहते हैं।

वे हरि हर भजै=गंगा ने विष्णु और शिव दोनों की सेवा किस प्रकार की यह प्रसङ्ग हरिश्चन्द्र की 'गंगा की शोभा' कविता में यों वर्णित है :—

"श्रीहरिपदनख चन्द्रकान्तिमणि द्रवित सुधारस।
ब्रह्मकमण्डलुमण्डन भवखण्डन सुख सरबस॥
शिवसिरमालति माल, भगीरथ नृपति पुण्यफल॥"

ढूँढाड़ी टीकाकार ने इस दो० में गंगाजी की निन्दा होना समझ कर अर्थ देना उचित नहीं समझा है :—"गंगाजी की निन्दा करी छै। ताके लियां या दुवाला को अरथ में नहीं लिख्यौ छै।" हमें तो इस दो० में किसी प्रकार से गंगा की

निन्दा नहीं दिखाई देती। इतना तो निश्चय है कि कवि कृष्ण की भक्ति को गंगा की भक्ति से ज्यादा व्यापक एवं श्रेष्ठतर समझता है, जो युक्त ही है। इसी लिए तुलना में भगवत्स्तुतिरूप "वेलि" को गंगा से ज्यादा व्यापक एवं श्रेष्ठ माना है। इससे यह प्रमाणित नहीं होता कि कवि को गंगाजी की भक्ति न थी। उनके स्फुट काव्य में "भागीरथी" और "जाह्नवी" के दोहे अत्यन्त भक्तिपूर्ण हैं। गंगाजी के माहात्म्य की स्तुति करने में भी कवि ने कोई कसर नहीं रखी है। देखो भूमिका में "गंगा के दोहे।"

अलंकार = प्रतीप।

दो० २९१

वायौ (डि०) = (डि० बाहना (क्रिया)) = खेत जोता, खेत बोया, जोता। देखो पूर्व दो० १२३,१२४ में प्रयोग "वूठै वाहवियै आ वेलि" । और "हलधर कों बाहतौं हलांह"।

थाणौ (डिं०) = (सं० स्थान) प्रा० थाण-ठाण, हिं० थाला, थाँवला = आलवाल, वृक्ष के चारों ओर का पानी रहने का नीचा स्थान।

दास प्रिथु = भगवान् का दास कवि पृथ्वीराज राठौड़, भक्त पृथ्वीराज। पृथ्वीराज अपने आपको भक्त कवियों की श्रेणी में मानते हैं। इसी प्रकार तुलसी, सूर, कबीरादि ने अपने आपको 'दास' कहा है। भक्तमाल में नाभादासजी ने इनको इसी श्रेणी में माना है। भक्त के हृदय की नम्रता इसी से प्रकट होती है कि "पृथ्वीराज" न कहकर "प्रिथु-दास" कहा।

ागवत = श्रीमद्भागवतपुराण, जो वेलि के कथानक का मूलाधार है। देखो दो० ६८—"भजति कि सुक मुखि भागवत।"

ाल = संगीत का काल-परिमाण। "ताल" इसलिए कहा क्योंकि "वेलि" का पाठ "वेलियो गीत" में गाया जाता है। इतर काव्य की तरह केवल पढ़ा जाने के लिए ही यह काव्य नहीं है। ताल स्वर से गाने के लिए "वेलियो गीत" का प्रयोग है।

डहे (डिं०) = मंडप पर। उदा० मंडये तर की गाँठ में, गाँठ गाँठ रस होय। (रहीम)

ट—इस दो० में कवि ने "वेलि" के नाम के अन्तर्गत रूपक का अपनी कल्पना से स्पष्टीकरण किया है। यह भी स्वीकार किया है कि इस ग्रन्थ की मूलकथा श्रीमद्भागवत, दशमस्कंध से ली गई है। इस रूपक के विषय में विशेष ज्ञातव्य देखो भूमिका में।

लंकार = रूपक।

ो० २९२—

क्खर (डिं०) = (सं० अक्षर) प्रा० अक्खर। शुद्ध प्राकृत और अपभ्रंश प्रयोग डिंगल में बहुतायत से मिलते हैं। इन प्रयोगों से यह स्पष्टत: प्रमाणित होता है कि इस भाषा ने उस समय स्वरूप ग्रहण किया जिस समय प्राकृत और अपभ्रंश काल को छोड़कर भारतीय देशभाषाएँ अथवा प्रान्तीय बोलचाल की प्राकृतें नवीन स्वरूप ग्रहण कर रही थीं। यह वही समय है जब पूर्व में अवधी, पूर्वी और पश्चिम में व्रज-भाषा, राजस्थानी भाषाएँ बनीं।

द्वाला (डिं०) = दुआला, दोहला। डिंगल में यह एक छन्दविशेष है। वेलि का प्रत्येक छन्द दोहला है, जो वेलियों गीत के अन्तर्गत पड़ता है। हिन्दी के 'दोहे' से यह भिन्न है। परन्तु दोहा और दोहला नाम मे इतना कम अन्तर है कि दोनों का एक होना अनुमानित होता है।

उदा० "सतसैया के दोहरा ज्यों नावक के तीर।"

रसिक = जिस पुरुष को रस-सम्बन्धी बातों में रुचि हो; सहृदय, रसज्ञ, काव्यमर्मज्ञ।

उदा० सूरदास रास रसिक बिनु, रास रसिकिनी विरह विकल करि भई है मगन। (सूर)

व्रिधि (डिं०) = (सं० वृद्धि) = बढ़ना। स्थानान्तरित रेफ़ का प्रयोग।

तन्तु = (सं०) = बेल के ताँते, डोरे।

नवरस = साहित्य में आत्मा को आनन्द देनेवाली वह चित्त-वृत्ति या अनुभव जो विभाव, अनुभाव और संचारी भाव से युक्त स्थायीभाव को व्यजित करने में समर्थ हो—'रस' कहलाती हैं। रस नव हैं :—

रस—	शृंगार,	हास्य,	करुण,	रौद्र,	वीर,	भयानक,	वीभत्स,	अद्भुत,	शांत।
	|	|	|	|	|	|	|	|	|
स्थायीभाव—	रति	हास	शोक	क्रोध	उत्साह	भय	जुगुप्सा	आश्चर्य	निर्वेद

नोट—वेलि में इन नव-रसों का न्यूनाधिक रूप मे जहाँ तहाँ उद्भास हुआ है। विशेष स्थलों को रसज्ञ पाठक ढूँढ़ निकालेंगे। हमने जहाँ तहाँ नोट में इनके सम्बन्ध में निर्देश कर दिया है।

अलंकार = रूपक—दो० २९१ में प्रारम्भ किया हुआ "वेलि" का रूपक इस दो० में भी चालू है।

दो० २६३—

कलपवेलि=पुराणानुसार देवलोक का एक वृक्ष। समुद्रमंथन के समय १४ रत्नों में यह निकला था और इन्द्र को यह दिया गया। यह विश्वास है कि इससे जो वस्तु माँगी जाय, मिलती है। यह कल्पान्त में भी नाश नहीं होता। इसे कहीं कहीं लता और कहीं कहीं वृक्ष भी कहा है।

कामधेनुका =यह भी देवलोक की एक गौ है, जो समुद्र मंथन से निकली थी और अभीप्सित फल देती है।

चिन्तामणि=यह एक कल्पित रत्न है। पुराणों में यह विश्वास प्रख्यात है कि इससे जो कुछ माँगा जाय, मिलता है।

उदा०—"रामचरित चिन्तामणि चारू"—तुलसी

सोमवल्लि=(सं०) प्राचीन काल की एक लता का नाम जिसका रस सुवर्ण रंग का और मादक होता है। इसका रस यज्ञ में देवताओं को चढ़ाया जाता था और अग्नि में हवन किया जाता था। ऋग्वेद में सोमरस का बड़ा गुण गान है। यह यज्ञ की आत्मा और अमृत कहा गया है। वैद्यक में सोमलता को दिव्यौषधि कहा है।

चत्र (डिं०)=(सं० चत्वार)=चारों, चार।

पृथुसुरा पंकज=इस प्रकार की कल्पनाओं को देखकर पाठकों को शायद कवि के आत्माभिमान और आत्मश्लाघा का अनुमान हो। वस्तुत: ऐसी बात नहीं है, 'दास प्रिथु' से यह आशा नहीं की जा सकती। कवि ने "वेलि" को इतना पवित्र स्वरूप दे दिया है कि उसके सम्बन्ध में सभी वस्तुओं को अलकृत रूप देना पड़ता है। यह 'पृथु' की प्रशंसा नहीं,

बल्कि भगवद्भक्ति की प्रशंसा है, जिसके लिए कोई भी प्रशंसा अत्युक्ति नहीं है।

अलंकार = अपह्नुति।

दो० २९४—

मुगति तणी नीसरणी मंडी = मुक्तिप्राप्ति के लिए मानो निसैनी बनी या सुशोभित है। निसैनी से, ऊँची रखी हुई वस्तु की प्राप्ति सरलता से हो सकती है।

उदा० "सुभग स्वर्ग सोपान सरिस सब के मन भावति"।
(गंगा-शोभा "हरिश्चन्द्र")

आगम = (सं०) = शास्त्रग्रन्थ।
नीगम = (सं०) = वेद।

नीसरणी (डिं०) = (सं० निःश्रेणी) हिं० निसैनी—सोपान, सीढ़ी।
सोपान = (सं०) = सीढ़ी, निसैनी।
कजि (डिं०) = (सं० कार्ये = कार्य-सिद्धये) विशिष्ट अर्थ में यहाँ 'कार्य'–कार्यसिद्धि के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है।

इल़ (डिं०) = पृथ्वी, देखो पूर्व दो० २३५ में नोट "आयो इलि बसन्त।"

नोट—इस दो० में कवि ने अपने काव्य की स्वयं आलोचना की है। हमारा तो खयाल है कि जब कवि को अपने प्रयास की पूर्ण सफलता का विश्वास हो गया है, तो आलोचना करना उसका अधिकार है। तुलसीदासादि ने भी ऐसा किया है। इसमें मिथ्या आत्मश्लाघा का दोष नहीं लग सकता है।

अलंकार = रूपक।

दो० २६५—

विसाहण (डिं०) = (सं० व्यवसाय (संज्ञा) से क्रिया बनी है)—हिं० विसाहना = दाम देकर खरीद करना।
उदा० (१) जिन एहि हाट न लीन विसाहा, ताकँह आन हाट किन लाहा। (जायसी)
(२) मेरे जान जब ते हौं जीव है जनम्यौ, तब ते विसाहो दास लोभ कोह काम को। (तुलसी)

कुण, मूँकै (डिं०) = कौन, छोड़े। देखो नोट पूर्व दो० २७७ में।

अनूप = (सं०) अनुपम। उदा० "अरघ अनूप सुभाव सुवासा।" (तुलसी)

चालणी (डिं०) = (सं० चरण, चरणी) हिं० छलनी, चलनी।
= छानने का वर्त्तन-विशेष।

सूप = (सं० सूर्प) = छाज, हिं० सूप।
उदा० भरिगे रतन पदारथ सूप हजारहीं। (तुलसी)

सोभण (डिं०) = (सं० शोधन) = शुद्ध करना, संशोधन। भिन्नार्थ में पूर्व प्रयोग "सोभै" देखो दो० ४ में।
उदा० सोधि अवनि जग्य लगि, जो जन चार प्रमान।

कण = (सं०) = मोती का कण; हिं० 'मोती का दाना' प्रसिद्ध ही है।

मूझ (डिं०) = (सं० मह्यम्) प्रा० मज्झम हिं० मुज्झ, मूझ। = मेरा, मेरे। पूर्व दो० में कई बार प्रयोग हुआ है। देखो नोट दो० ५६ सूप और चालनीवाली यह सूझ अनूठी है। कवि ने साधारण जीवन के वृत्तों को उपमाओं में प्रयुक्त कर अपनी सहृदयता एवं व्यापक प्रतिभा का प्रमाण दिया है। साधारण

जीवन से ली हुई ऐसा बहुत सी उपमाएँ "वेलि" में प्रयुक्त हैं—जैसे लोहार के व्यवसाय की उपमा दो० १३२ में।

सुकवि··· सूप = इसी प्रकार तुलसी ने भी अपने रामचरितमानस को सज्जन और दुर्जन दोनों प्रकार के आलोचकों के सामने रक्खा है।

अलकार = दृष्टान्त।
यथासख्य।

दो० २९६—

मूँ (डि०) = मेरी। देखो प्रयोग पूर्व दो० १०२ में "मति तै बाखाणण न मूँ।" यहाँ पर सम्बन्धकारक में प्रयोग हुआ है। परन्तु दो० ६२ "महण मथे मूँ लीध महमहण" में "मूँ" का कर्म कारक में प्रयोग हुआ है। प्राकृत और अपभ्र श व्याकरण में शब्दों का षष्ठी रूप साधारणतया प्राय सभी विभक्तियों में प्रयुक्त होता था। देश भाषाओं में उसका कुछ आभास रह गया है।

वाणी (डि०) = (स०) = कविता, काव्य-रचना। यथा 'कबीर की बानी'।

असै—सई (डि०) = (स० अ + सती, सती) = असाध्वी, साध्वी स्त्री।

दूषण = (स०) = दोष, कलक, अपमानारोपण।

अलकार = उपमा।

दो० २९७—

भाषा = (स०) = प्रचलित देश भाषा, देश की बोलचाल की भाषा, उदा० "भाषाबद्ध करब मैं सोई।"

प्राकृत = (सं०) भाषा-विज्ञान में प्राकृत से दो आशय लिये गये हैं :—
(१) वोलचाल की भाषा जिसका किसी प्रान्त में प्रचार हो, या रहा हो; प्रकृति से उत्पन्न या प्रकृतिसम्बन्धिनी; स्वाभाविक, नैसर्गिक भाषा।
(२) एक प्राचीन साहित्य भाषा जिसका प्रचार पुरातनकाल में भारत में था। यह प्राचीन संस्कृत-नाटकों में कई भिन्न भिन्न रूपों में पाई जाती है और स्त्रियों और साधारण श्रेणी के पात्रों द्वारा बोली जाती है। भारत की आधुनिक प्रान्तीय भाषाएँ पहले की बोल-चाल को प्राकृतों से बनी हैं। प्राकृत के वैयाकरणों ने प्राकृतों के कई भेद माने हैं, जिनमें छ: प्रधान हैं :—महाराष्ट्री, सौरसेनी, मागधी, अर्धमागधी, पाली और अपभ्रंश। इनके उपरान्त शकारी, चांडाली, आभीरी, ढक्की, द्राविड़ी, और पैशाची, चूलिका पैशाची इत्यादि अनेक विभाषाएँ प्राकृतों के भेद प्रचलित थे। महाराष्ट्री प्रकृष्ट प्राकृत समझी जाकर साहित्य में अधिक प्रयुक्त हुई। हेमचन्द्र प्राकृतों का प्रधान वैयाकरण है।

संस्कृत = परिमार्जित और संस्कार की हुई आर्यों की प्राचीन साहित्य-प्रयुक्त भाषा, जो कभी बोली जाती थी, परन्तु अन्त में साहित्य-स्थिर होगई। यह भाषा वेदों की भाषा से भिन्न है। वेदों की संस्कृत सबसे प्राचीन बोल-चाल की संस्कृत का रूप है जो पीछे से संस्कृत होकर पाणिनि और यास्क के हाथों व्याकरण-नियम-बद्ध होगई। यह व्याकरणबद्ध तब हुई थी जब भारतीय-इतर अनार्य द्राविड़ादि भाषाओं का इस पर दूषित प्रभाव पड़ने लगा था। उन्हीं के दूषित मिश्रण से बचाने के लिए यह प्रयास था। अतएव संस्कृत नाम पड़ा।

भारती = (सं०) = सरस्वती, वाणी।

रसदायिनी = (सं०) = आनन्ददायिनी।

रसदायिनो......भूमि सम = इसी प्रकार का भाव जगन्नाथ पंडित-राज ने 'भामिनि-विलास' में 'यवनी' के वर्णन में लिखा है:—
उदा० "यवनी नवनीतकोमलांगी शयनीये यदि नीयते कदाचित् अवनीतलमपि साधुमन्ये........."

नोट—इस दो० में कवि ने, "भाव अनूठे चाहिएँ भाषा कोऊ होय" वाले सिद्धान्त का प्रकाश किया है। भाषा कैसी ही क्यों न हो, परन्तु उसमें रसपूर्ण काव्यमयी भावनाओं का समावेश होना चाहिए, तभी उस कृति को काव्य कह सकते हैं।

अलंकार—उदाहरण।

दो० २९८—

करणि = (सं० करणीय) = करतूत, काम।
उदा० (१) अपने सुख तुम आपनि करनी, बार अनेक भाँति बहु बरनी। (तुलसी)
(२) देखो करनी कमल की जल सों कीन्हों हेत। (सूर)

प्रामिस्यौ (डिं०) = (सं० प्राप्स्यसि,) पाओगे, पा सकोगे। गुजराती में शब्द के मध्यवर्ती 'व' का 'म' उच्चारण होता है, जैसे:—डिं० पावणौ, गुज० पामणुँ।

ओछे (डिं०) = न्यून, कम, कमती। उदा० "ओछे बड़े न ह्वै सकैं, लगि सतरौहैं बैन।" (बिहारी)

इम्रे (डिं०) = (सं० इतः) = इससे, इतने से।

दो० २६६—

ज्योतिषी=(सं०) ग्रहों, नक्षत्रों, शकुनों आदि का मनुष्य पर प्रभाव जाननेवाला; दैवज्ञ।

वैद=आयुर्वेदान्तर्गत वैद्यक-शास्त्र का ज्ञाता और अनुभवी वैद्य।

पौराणिक=पुराणवेत्ता; पौराणिक गाथाओं का जाननेवाला।

जोगी, संगीतो तारकिक=योगशास्त्र, संगीतशास्त्र और तर्कशास्त्र—इन सब का ज्ञान रखनेवाला।

भाखाचित्र=भाषा का चमत्कार उत्पादन करनेवाला, चतुर कवि; शब्दालंकार, अर्थालङ्कार और चित्रालंकार के प्रयोग में निष्णात कवि।

भाट=एक जाति का नाम जो राजाओं का यश-वर्णन और कविता करती हैं। इसकी अनेक जातियाँ हैं।

चारण=राजपूताने की एक काव्य-प्रिय जाति-विशेष। चारण लोग अपने आपको राजपूत कहते हैं। इनका व्यवसाय राजाओं की ख्यात लिखना और गुणगान करना है। हिन्दी में चारण-काव्य का बड़ा महत्व है। चदबरदाई श्रेष्ठ चारण कवि होगये हैं। प्राय: प्रत्येक राजपूत राज्य में राज्याश्रित चारण कवि नियुक्त रहते हैं।

एकठा (डिं०)=(सं० एक+स्था) हिं० इकट्ठा=एकत्रित।

नोट—"वेलि" का अर्थ समझने के लिए वास्तव में पाठक को अनेक शास्त्रों का ज्ञान और अनुभव होना अत्यावश्यक है। यह केवल कवि की आत्मश्लाघापूर्ण उक्ति नहीं है; बल्कि सत्य है। हमने नोटों के पूर्वांश में जहाँ तहाँ जिन जिन शास्त्रों का उल्लेख और प्रसंग आया है, व्याख्या करने की चेष्टा की है। कवि ने इस दोहे में जितने शास्त्रों के ज्ञान का होना

वेलि-पाठक के लिए आवश्यक बताया है, प्राय. उन सबका आन्तरिक प्रसग कहीं न कहीं वेलि में आ चुका है। विशेष स्थल के लिए पाठक नोट देखें।

दो० ३००—

ऊग्रहिया (डिं०) = (सं० उत् + ग्रहीत या उदगिलित) = उगल दिया, वापिस निकाल कर बाहर कर दिया।

मोटाँ = (हिं० मोटा) = मोटे पुरुषों का, प्रतिष्ठित पुरुषों का। उदा० "मोटो दसकंधर सो न दूबर विभीषण सो।" (तुलसी)

ऐठी (डिं०) = झूठा, उच्छिष्ट, स्पर्श किया हुआ, एक बार उपभोग किया हुआ।

आतम सम = (सं० आत्मसम) = अपने समान।

गिणि = (हिं० गनि) = सोचकर, समझकर।

प्रसाद = (स०) = वह वस्तु या पदार्थ जो देवता या बड़े आदमी को भेंट की जाय या चढ़ाई जाय और वह प्रसन्न होकर उसे पुन: अपने भक्तों या सेवकों में बाँट दे।

उदा० यह मैं तो ही में लखी भक्ति अपूरब लाल।
लहि प्रसाद माला जु भो, तन कदम्ब की डाल। (बिहारी)

नोट—जिन लोगों को वेलि के उत्तरांश में कवि की आत्मश्लाघा और मिथ्याभिमान पर आपत्ति होती हो, वे इस दो० को कवि की विनयोक्ति पर मनन करें। नम्रता और विनयशीलता की पराकाष्ठा है। इस 'वेलि' की सफलता अथवा रचना का गौरव कवि अपना न समझ कर, "ग्रहिया......ऊग्रहिया" और "मोटाँ तणौ प्रसाद" समझते हैं। आलोचकों की शंकाओं का पूर्णत: परिहार हो जाता है।

अलंकार = उल्लेख।

दो० ३०१—

हालिया (डिं०) = चले। देखो पूर्व प्रयोग दो० ३७ में।

अम्हीणा (डिं०) = (सं० आत्मानकं = प्रा० अम्हाणअं या अस्माकं = प्रा० अम्हाअं) = हमारा। देखो दो० ६९ में नोट।

तम्हीणै (डिं०) = "अम्हीणा" के साथ मिथ्या-सादृश्य false analogy के प्राकृतिक भाषाशास्त्र-नियम के अनुसार—"तम्हीणा" बना = तुम्हारे।

मो (डिं०) = (सं० मम, मे) मेरा, मेरी। उदा० "मो संपति यदुपति सदा, विपति विदारनहार।" (बिहारी)

वीनती (डिं०) = (सं० विनय) हिं० विनती = विनयपूर्वक निवेदन। उदा० "विनवी करत मरत हौं लाज।"

सदोस = (सं० सदोष)—दोषयुक्त, अपूर्ण।

नोट—कवि ने विनय की पराकाष्ठा कर दी है।

अलंकार = समासोक्ति
रूपक—"श्रवणतीरथे" में।

दो० ३०२—

रहसि-रस = (सं०) रहस्य—एकान्त में की हुई केलि का आनन्द। रहस्य—एकान्त के अर्थ में हिन्दी संस्कृत में बहुधा प्रयुक्त होता है।

उदा० *"मिले रहस चाहिय भा दूना" (जायसी)।*

तासु = (हिं०) = उसके [सं० ता (सर्व० स्त्री) + सु, विभक्तिचिह्न षष्ठी] हिन्दीकाव्य में "तासु" का बहुतायत से प्रयोग होता है।

महे (डिं०) = (सं० मध्ये) प्रा० मज्झे, महे, हिं० मँह = में, अन्दर।

तेम (डिं०) = हिं० तिमि । गुज० तेम। उदा० तिमि तुम्हार आगमन सुनि, भये नृपति बलहीन । (तुलसी)

रस = (सं०) कामकेलि, कामक्रीड़ा । इस अर्थ में हिन्दी में प्रयोग देखो, उदा० "दलित कपोल रद ललित अधर रुचि रसना रसनि रस रस में रिसाति है।" (केशव)

सरसै (डिं०) = (सं० सरस्वती) प्रा० सरस्सई ।

नोट—कवि ने पाठकों के मन में सम्भाव्य इस सन्देह को दूर करने की चेष्टा की है कि जगन्माता और जगत्पिता श्रीरुक्मिणी कृष्ण का अनुचित शृंगार वर्णन करके उसने अपराध किया है। अतएव कवि ने सरस्वती की शरण ली है। कवि का कुछ अपराध हुआ या न हुआ, यह तो रसज्ञ जानें। परन्तु यदि कल्पना से किसी दोष का परिहार हो सकता है, तब तो यह अच्छी दलील है।

दो० ३०३—

कुण (डिं०) = "कवण" का भी पूर्व-प्रयोग कई बार हुआ है। राजस्थानी बोल-चाल में 'कुण' का ख़ूब प्रयोग होता है।

क्रम (डिं०) = (सं० कर्म) उदा० "भूंडा क्रम भागीरथी" (पृथ्वीराज)।

भलौ = (सं० भद्र । प्रा० भल्ल) = हिं० भला = हितकर, अच्छा ।
उदा० "एकहि भाँति भलेहि भल मोरा" । (तुलसी)

भूँडौ (डिं०) = राजस्थानी देशीय शब्द = ख़राब, अनिष्टकर ।
उदा० "भूँडौ जको हमीणौ भाग ।" (पृथ्वीराज)

माहरो (डिं०) = मेरे, हमारे। उदा० "माहरे सदा ताहरो माहव। रजा सजा सिर ऊपर राम" ॥ (पृथ्वीराज)

अलंकार = काकु वक्रोक्ति । पूर्वार्द्ध में ।

दो० ३०२ में वेलि-निर्माण में सरस्वती ने कवि को जो सहायता दी है, उसी के प्रति धन्यवाद के भाव कवि ने इस दो० के उत्तरार्द्ध में व्यक्त किये हैं।

दो० ३०४—

कहिवा (डि०)=इस शब्द का स्वरूप अवधी रूप से मिलता है। तुलसी में ऐसे बहुत प्रयोग हैं।=कहने के वास्ते।

सामरथोक (डिं०)=(स० समर्थ+अक (प्रत्यय)=सामर्थ्यवान्।

जाइ (डिं०)=(स० यानि) प्रा० जाणि=जितने (गुणों) को। देखो प्रयोग दो० १०४ में।

तिसा (डि०)=(स० तादृशा) प्रा० ताइसा। हिं० तैसा वैसे ही अर्थात् उतने ही। यह शब्द 'जाइ' के आपेक्षिक 'ताइ' अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। डिं० जाइ-ताइ; जिसा-तिसा।

जम्पिया (डिं०)=(सं० जल्पिता) प्रा० जम्पिया,जम्पिदा, जम्पिआ= बके हैं, कहे हैं, भद्दे ढङ्ग से कहे हैं। विनयोक्ति है।
उदा० "जनि जल्पसि जड़ जंतु कपि, सठ विलोकु मम बाहु" (तुलसी)

राणी=(स० राज्ञी) (हिं० रानी) प्रा० रण्णी।

गोविंदराणी=भगवान् गोविन्द-कृष्ण की रानी=रुक्मणी।

दो० ३०५—

अचल्=पर्वत। पुराणानुसार पर्वत असख्य हैं। परन्तु प्रधान पर्वतों की सख्या सात मानी जाती है। वे सात प्रसिद्ध पर्वत ये हैं—महेन्द्र, मलय, सह्य, शुक्ति, रिक्ष, विन्ध्य और पारिपात्र। अतएव ७ की सख्या हुई।

गुण = गुण तीन हैं। सत्त्व, रज, तम। अतएव ३ संख्या।

अंग = वेदाङ्ग से आशय है। वेदाङ्ग छः हैं—शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छंद, ज्योतिष। अतएव ६ की संख्या।

ससी = चन्द्रमा एक संख्याद्योतक है।

नोट—काव्य में सवत् की संख्याएँ उलटी लगाई जाती हैं। यह काव्य-प्रथा है। अतएव ७३६१ का उलटा १६३७ संवत् हुआ।

तवियौ = (डिं०) = (सं० स्तवन) प्रा० तवण = स्तुति की।

कंठ करि (डिं० मुहा०) = कंठ करना, कंठस्थ करना। हिन्दी में भी मुहाविरा है।

पामै (डिं०) = हिं० पावै गुज० पामै = पावै, पाता है। "पामै" का पूर्व प्रयोग हुआ है।

———

डिंगल शब्दकोष

शब्द कोष ।

अ

अक भरि	आलिंगन करके २५१
अंकमाल्	आलिंगन, अँकवार १४३, १६६
अंकुर	कोंपल २२८
अंग	वेदांग २८, शरीर के अंग ९६, २६१, २६३, २६९, छः संख्यासूचक ३०५
अंगण	आँगन १५९
अंगणि	*आँगन में* १८, २३५, भूमि १२२,
अंगणि	अंगनायें, स्त्रियाँ १५५
अंगि	अंगों में, शरीर में १८, १०१,
अंगुली	अंगुली से ८४
अंचला	आँचल, गँठजोड़ा १५८
अँतर	विभेद ९४
अंतरजामी	अन्तर्यामी, घट घट का बात जाननेवाला ५४, ६४
अंतरि	में १५९, १७१
अन्तरिख	आकाश १०६, ऊँचा स्थान हिंडोला इत्यादि २९७, अभ्यन्तर ९१
अन्तरै	बाद १६९, बीच में १११

अँतहकरण	अन्तःकरण, हृदय के भाव १७२
अंतहपुरि	अन्तःपुर में ५२
अंति	अन्त में १७४, २०७
अंधारी	कुंभस्थल का आवरण ९०
अंब	आम के पेड़ ५०, २२२, २३९, २४१
अंब	माता ७९
अंबर	आकाश ८५
अंबरि	आकाश में १९३
अंबह	आम्र वृक्ष २२३
अंबहर	आकाश वृत्त १९४
अंबहरि	आकाश में १४
अंबि	आम्र में ५०
अंबिका	अंबिका देवी ७९, १०८
अंबिकालय	अंबिका देवी का मंदिर ६६
अँबु	पानी ३४
अंबुज	कमल २३३
अउर	और २२२
अकरण	असंभाव्य, अघटनीय १३७
अकास	आकाश १४४
अकींधे	बिना किये, नहीं किये हुए २२८
अक्खर	अक्षर २९२
अक्खरावलि	अक्षरसमूह, अनश्वर वस्तु-समूह, २९
अखित	अक्षत, चावल, लाजा १४२
अगिपात	स्तुत्य, आश्चर्यजनक १३३
अगनि	अग्नि में ६०, अग्नि १५३, २२५
अगर	एक सुगंधित द्रव्य १५३

अग्रज	बड़ा भाई १३५, १३६
अग्रि	आगे ८८
अचंभ	आश्चर्यजनक ३९
अचिरज	आश्चर्य ७३, ७८, १८८
अचल	पर्वत, सात संख्यासूचक ३०५
अछेह	निरन्तर, अधिक १५३
अजहुँ	अभी तक २२८
अजु	जो, और जो २३३
अजे	अभी (तक) १२३
अटत	घूमता है १६५
अणमारिवा	नहीं मारना १३३
अणियाला	अनीदार, तीक्ष्ण ८६
अणी	नोक १३१
अतारू	तैरना नहीं जाननेवाला २९०
अति	बहुत, १०, १९, २२ इत्यादि
अत्रिपत	अतृप्त १७०
अदरसणि	अदर्शन (हो रहा है) २११
अदिठ	अदृष्ट, जो कभी देखा नहीं १७३
अधम	नीच ३००
अधिकार	योग्यता, गति, आधिपत्य २८
अधोअधि	आधो आध, बीचोंबीच, ठीक मध्य में ८५
अध्यातम	आध्यात्मिक, आत्म-संबंधी ताप २८५
अनंग	कामदेव २६९, प्रद्युम्न का नाम २७४
अनँत	अनन्त, बहुत २८
अनँत	विष्णु, कृष्ण १२१, २८

अनड	पर्वत १८६
अनाहत	अनहद नाद १८४
अनि	और, दूसरे १३, ४२, ७७, १६४, भिन्न १६०
अनिरुध	अनिरुद्ध, कृष्ण के पौत्र का नाम २७१
अनै	और ११, ६५, १२१, १६६, २१६, ३०३
अन्नथा	अन्यथा, और तरह १३७,
अवल्	अवली, पंक्ति १०१
अवीरमई	अबीरमय १४५
अभिन	अभिन्न, एक ही १४८
अमरावती	इन्द्रपुरी ५१
अमिलो	नहीं मिले हुए १७१
अमाप	असीम, मापरहित १६८
अरक	सूर्य ११५, २२५
अरगजौ	अरगजा १०२
अरजुन	बाँस, सोना चाँदी १५३
अरणी	अग्नि उत्पन्न करनेवाले दो काष्ठ-खंड १५३
अरथ	मतलब, अर्थ ६७, २२१, २९१, २९८, २९९
अरथ	मनोरथ ७३
अरध	आधा ९३
अरपण	अर्पण, देना १३९
अरपण कीधे	दिये हुए, लगाए हुए, १३९
अरि	शत्रु १११

अरु	और २८२
अरुण	लाल १६
अरुणोद	अरुणोदय १६
अलंक्रित	सुसज्जित १९२
अलक	केश, अलकें ८९
अलगी	दूर ११६
अलल	बहुत से आला दर्जे के ११३
अवर	और, दूसरे ६०, ७६, २७३
अवलंबि	सहारा लेकर, पकड़कर १६७
अवसरि	समय २६९, भीतर २६९
अवसर	महफ़िल २४३
अवलंब	सहारा १७७
असंत	दुष्ट २४९
असंधे	जुदा हुए १६४
अस	अश्व, घोड़े १११, ११४
असरण	जिसकी कोई शरण न हो ५८
असुभकारियौ	जनता का अहित चाहनेवाले १२०
असै-असइ	असती, कुलटा १८६, २९६
अश्रुत	अश्रुतपूर्व १७३
अहि	शेषना. १०, २७२
अहिमकर	सूर्य २२२
अहीर	ग्वाल, गुवाल १३०
अहीरां	अहीर जाति के लोग, गुवालों के ३२
अहोनिसि	दिन रात १६४, २२५, २६६, २९२
अह्म	हमारे ६०
अह्मां	हमारे ३१

ग्रीणा	हमारे २०१
ह्योणे	हमारा ६६

आ

ांगणि	आंगन में २४६
ांसू	अश्रु, आँसू ४३
ा	यह (स्त्री०) ५१, ६६, १२३
ाइयौ	आया, आगया ६५
प्राइस	आज्ञा ३६
प्राइस्यै	आज्ञा १०४
आउध	आयुध १३१, १३२
आउधि	युद्ध में १३२
आदेस	आज्ञा १३६
आकरषण	आकर्षण, काम का एक बाण १०६
आकृति	आकृतिवाले, शकल के १२२
आखर	अक्षर ३००
आखाढसिध	युद्धभूमि में सिद्धहस्त ७४
आखै	कहता है ७६, १३५
आगम	आगमन १४१
	धर्म शास्त्र २६४
आगमन	आना १६६
आगमि	आगमन पर ३८
आगलि	आगे, सामने १८, ८३

आगल्	आगे १५६
आगै	आगे, पहले, सामने ७८, १६६
आचरतौं	आचरण करते हुए, आचरण करने से, २८३
आजाति	आते हुए १७१
आडँग	वर्षा का आसार ११७
आडा	बीच में ६६
आडो अड़ि	तिरछा होकर १३०
आणँद	आनन्द ५७,१६८,२३५
आणँदमई	आनन्दमई २१४
आणाँ	अन्यत्र २९०
आणी	लाई १६७
आणे	लाये, एकत्र किये ६२
आणै	लावे ६०
आतपत्र	छत्र १५४
आतम	आत्मा ३००
आतमा	आत्मा २७९
आतिथ	आतिथ्य ५४
आतुर	उत्कंठायुक्त १६३,१६६
आतुरी	व्याकुल ६५
आदरस	आदर्श, शीशा ८३
आदरी	अंगीकार की ३
आद्र—आर्द्र	आर्द्र, गीला १५३, १९२
आद्रा	आर्द्रा नक्षत्र १९३
आधिदेव	आधिदैविक २८५
आधिभूतक	आधिभौतिक २८५

आधोफरै	छज्जों से २०२
आप	अपना ८७, स्वयं २११
आप आप में	परस्पर २२१
आपड़ं	आ करके १३०
आपणे	अपने २११
आप पर	परस्पर ७७
आपाणा	अपना २६९
आपिवा	देने के लिए १४३
आपे	देकर १६९
आपो आप सूं	स्वयमेव, मन ही मन ५३
आभ	आकाश २०२
आभरण	गहने १०१
आमहो सामुहै	आमने सामने ११७
आयाँ थई	आने पर २१६
आयै	आये, आने पर आने से ८८
आयौ	आया ८८
आरँभ	शुरू ३, शुरूआत १७३
आरँभि	शुरू में १५६
आरँभिया	शुरू किये ८०
आरणि	लोहार के ऐरण पर १३२
आरात	पास ६६
आरि	झिल्ली २४४
आरोपित	धारण किया हुआ ९४, लगी हुई १५५
आलाप	मधुर शब्द ५०
आलि	सखी १५९

आली	सखी ८३
आलूदा	बने ठने, सजे हुए ११३
आलोचै	विचार करता है ५३
आलोज	मन के भाव ६४
आलोजि	विचार से, विचार में १३३
आवतौ	आता हुआ ५४, आता है १७
आवरित	आवृत, बंद ९२. ढका हुआ १०३
आवासि	भवन में ७८
आविसि	आऊँगी ६६
आवूं	आऊँ ७९
आवै	आती है १८
आसन्नो	निकट ७१
आसाढ	आषाढ़ महीना १९०
आसोज	आश्विन महीना २०८
आहरण	आभरण, गहने १८९
आहुटि	आहट पर १६५
इंद्र	इन्द्र, प्रभु ४५
इँद्री	इंद्रिय २८०
इंधण	ईंधन १५३
इ	ही ३६
इ	पादपूर्त्यर्थ ३२,१८३
इओ	इससे २९८
इक	एक ९९
इणि-इण	इस ५६,१०३,१५६
इतरै	इतने में ८३
इता	इतने ३२

ई

उ

उजाथर	उजागर, धीर वीर ७४
उजुयाळी	उजियाली २११
उठी	उत्पन्न हुई १४०, १८४
उडीयण	उडुगण, तारे १४
उतमंग	सिर पर ८५
उतर	उत्तर दिशा २६१
उतामळा	उतावले, शीघ्रतायुक्त १४०
उतारि	उतार कर, करके १४७
उतारे	उतार दिये, रख दिये ६५
उदगिरति	उगलती है २०९
उदभिज	वनस्पति सृष्टि, वृक्ष लतादि २४९
उदरि	उदर में ९
उदित	प्रकाशित १०१
उदौ	प्रकट हुआ २२
उनमादक	उन्मत्त बनानेवाला, काम का एक बाण १०९
उपंगी	नसतरंग बाजा बजानेवाला २४४
उपचार	इलाज २८४
उभै-उभय	दो, दोनों २६४
उरप	नृत्य का एक भेद २४६
उरस्थळ	हृदयस्थल ९४
उरि	हृदय में १४०
उलझाया	गुम्फित किया २२१
उवरि	हृदय में, (उदर में) २७९
उपध-उखध	ओषधि २८४
उहास	उजास, प्रकाश २२

ऊ

ऊँच	ऊँचा १२५
ऊँचा	ऊँचे, लंबे २४२
ऊंधा	उलटे, उलटे हुए १२२
ऊकसै	उठते हैं १२१
ऊखधी	ओषधियाँ २०७
ऊखापति	उषा के पति, अनिरुद्ध का नाम २७१
ऊखवतै	उखेलते हुए, तेज़ी से दौड़ाते हुए ११६
ऊखेलि	उखाड़ कर २५०
ऊगि	उदय होकर १८५
ऊगलित	उगला हुआ २६४
ऊग्रहिया	उगल दिया ३००
ऊघसत	घसता हुआ २६३
ऊछजतै	उठाई जाती हुई १२९ तैयार किये जाते हुए
ऊछलै	उछलता है १२५
ऊछव	उत्सव ३८, १४२
ऊजम	उद्यम, कामकाज १९३
ऊजल	उजली १९५
ऊजलियाँ	उजली १२०
ऊजलै	उजली वस्तुएँ २११
ऊजास	प्रकाश २११
ऊठिया	उठे ५४
ऊडण	उड़ने के लिए २२६

ऊतर-उत्तर	उत्तर दिशा २१७, २२२, २४६
ऊतरतौ	उतरता हुआ / फाँदता हुआ } २५६
ऊतरि	उतर कर ८३
ऊथापिया	दूर किया, पदच्युत किया २४६
ऊधरी	उद्धार की गई ६१, ६३
ऊधसता	रगड़ कर चलते हुए २०३
ऊपजै	उत्पन्न होता है २८१
ऊपड़ी	उठी ११५, १६३
ऊपनो	उत्पन्न हुई २६
ऊपनौ	उत्पन्न हुआ १६८
ऊपरि	ऊपर २७,११८
ऊफणियो	उफना, क्रुद्ध हुआ ३४
ऊभा	खड़े हुए ७८,
ऊभी	खड़ी हुई १६५, खड़ी १६७
ऊरध	ऊपर को उठनेवाला २१
ऊवड़ियौ	उमड़ा १२०

ए

ए	ये १
	यह १३,५१,७२,१३३,१३५
	२६४,२७६,२६७
एकन्त	एकान्त में १७३
एक	एक ही, अकेले ७४

एकठा	एकत्र २९९
एकण	एक को २६६
एकणि	एक (से) ८४
एकत्र	इकट्ठे २९३
एकसंथ	एकमत, एक रीति का अनुसरण करने-वाले ८
एका	एक (से) २३२
एकाएक	एकाएक, सहसा १३०
एण	हरिण २४१, इस २६८
एणि	इस २३५, २३८, इसने २८३
एतला	इतनों को १८५, १८६
एम	इस प्रकार ५६, १३०, १४४, १४५, १५२
एरिसा	ऐसे ३०
एहवा	ऐसे ७४
एह	यह, इस १८, १९
एहवी	ऐसी १५, २०५, २०७
एहवो	ऐसा ११५
एहिज	यही, इसी २१६
एही	यही १८९
एहु	इस (में) १८०

ऐ

ऐठिव	उच्छिष्ट वस्तु ६०
ऐठौ	जूठा, उच्छिष्ट ३००

ओ

ओछे	कम होने पर २९८
ओछौ	कम, अधूरा २९८
ओटे	अटा पर, ऊँचा स्थान १३९, १५५
ओढण	ओढ़ने का वस्त्र २६७
ओपति	शोभा देता है २७
ओलांडे	छोड़ कर, छोड़ दिया ३२

औ

औ	यह ६९, ७१, ७७
औछायो	छाया हुआ १४४
औभड़े	शस्त्रप्रहार का शब्द करते हुए १२१

क

कंचुकी	काँचली नाम का छाती पर पहनने का एक वस्त्र ९०
कँठ, कंठ	कंठ, गला २०, ५७, ८४, ९१, १७६, ३०५
कंठसरी	कंठी ९१
कंठि	कंठ में २७९
कंत	पति २५६, २६६, २६८
कंता	कान्ता, पत्नी २६६

कंदरप	कन्दर्प, काम या अनिरुद्ध का एक नाम २७४
कंध	कन्धा १२४
कंपित	काँपता हुआ १५०
कंवलि	कम्मल में २१९
कइ	कब १४९
कई	कभी ७०
क	अथवा, मानों ९०
कच	कचा २३४
कजि	लिये ६०, ९७, २१६
कजि	कार्य २९४
कटकि	कटक, सेना १३८
कटि	कमर में २५, ९६
कठ	काठ २
कठचीत्र	काष्ठ में अंकित २
कठठो	आगे बढ़ी ११७
कठिण-कठिन	कठोर २४, २२९
कण	धान्य के कण १२८, मोती के दाने २९५
कणियर	कनेर का फूल २३७
कणय	कनक से २१२
कथ	कथा, यश, ११, ७३, २९८
कनक	सुवर्ण १२
कनकवेलि	सुवर्ण की लता १२
कन्है	पास १७८
कपाट	दरवाज़ा ३९
कपिल	कपिला गाय ५९

कफ	कफ २८५
कबरी	वेणी ८५
कमलिणी	कमलिनी १७४
कमोदणि	कुमुदिनी २२
करंती	करती हुई को १८
करंबित	फूलों के गुच्छों से गुँथा ८५, २००
कर	करने को २५८
कर	लगान, टैक्स २५३
करपणि	कर्षण, खेंचा जाता हुआ २२०
करग	हाथ, पंजा, कराग्र २३
करगि	हाथ में १०२, २५४
करण	करनेवाले १३७, करने ८२
करणि	कर्णिकार २३६, २३७, करनेवाली २९१
करणि	करणी, कार्य २९८
करभ	कलभ, हाथी का बचा २६
करल	मुष्टि (से) ९६
करि	से ३०
करि	हाथ से २, ८७
करि	हाथ में ६, ५९, १४०
करि	करती हुई १२, करके ४९, १९५, समझकर २७७
करी	हाथी २४
करुणाकरण	करुणा करनेवाले ६३
करुणामै	करुणामय ६१
करे	करके ३

करेउ	किया, करके १४३
करेण	हाथ से १५६
करै	करता है ६,७
करौ	करो २६८
कल्	सुन्दर ६१
कलुकंठ	कोयल २२६
कलुकलिया	चमके ११६
कलपवेलि	कल्पलता २६३
कलुपसि	दुःख भोगता है २८६
कलुस	कलस, कुंभ ३८,४६
कलुसि	कुंभराशि में २२६
कलुह	युद्ध ६०
कलुहि	युद्ध में ७४
कलि	युद्ध में ११६, कलियुग २०८,२३१,२६३
कली	कली १४,२१
कलुख	कलुष, पाप २०८
कवच	जिरहबख्तर ६०
कवण	कौन २८३
कसटि	कष्ट के, प्रसव-वेदना के २३०
कहंति	कहते हैं ७२,२६५
कह	कोलाहल ४८
कहकहाहट	जोर से हँसने का शब्द १७६
कहण	कथन, कहना ७, कहने १५०
कहणो आवै	कहने में आय १७३
कहि	कहा जाता था, प्रसिद्ध था ११
कहि	कह ३०३, कहकर २७२

कहिजै—कहीजै	कहा जाय ६६
कहिया	कहे ३०२
कहिवा	कहने को ३०४
कहिँसु	कहूँगा २७२
कहुँ	कहीं ४८
कहे	कहकर ५८, कहा १६६
कहेवा	कहने को, कहना ३
कहै	पठन करे २८१
कां	के १२४
कांइ	क्या २८८
कांठलि	वर्तुलाकार घटा १९५
कांती	कांति २७६
कांपिया	कांपे १२०
का	के २७२
कायरां	कायरों के १२०
कागल	चिट्ठी ४३,५६,६७
काच	शीशा २३५
काचमै	शीशे का बना २३५
काज	लिये १८
काजल	काजल, ४३,१९९
काजलगिरि	काजलगिरि, एक काला पहाड़ १९९
काज	लिये ८०
काट	दोप ८७
काढे	निकाल दिये, निकाले ८७
कातिग	कार्त्तिक मास २१३,२१४
कादो	कीच, गार २०४

कामग्रँकुर	काम के अंकुर, चिह्न २१
कामणि	कामिनी, स्त्री २३
कामधेनुका	कामधेनु नामक गौ २९३
कामा	कामनायें २३६
कामागनि	कामाग्नि १६४
कामि	कामी, कामुक, भोगी १६४
कामिए	कामी लोगों के १८०
काया	शरीर २८४
कारणै	वास्ते ८२
कारियाँ	करनेवालों के १२०
कारीगर	नग जड़नेवाला कारीगर १७५
कालाहणि	काली घटा, प्रलयकारी सैन्यदल ११७
कालिंद्री	कालिंदी, यमुना ८४
कालि	समय में २०७
काली	काली १९५
किं	क्या २७२, २८९
किंकर	किंकर्त्तव्यविमूढ १९३
किंजलक	पराग ९९, २३४
किंसुख	पलास का एक नाम, थोड़ा सुख २५६
कि	या ४, २७, ८४, ९०, १९१,४१
किउ	किया १३२,१३५
किण	किसने ६१
किणै	किसने ६२
किना, किनौ	या ५१,४१
किम	कैसे ४,१५०,

किमत्र (किं + अत्र)	*कैसे यहाँ ६५*
कियौ-किय	किया २,१८७
किरण	किरण, प्रकाश ४६,११९
किरि	मानो २,१२,१६
किरीटी	कुक्कुट १८१
किसी	कौन सी ३१
किसूं	कैसे, क्या ६४, ६६, २११
किसौ	कौन सा ५
किहि	किसी के २६५, १०२
की	संबन्धबोधक विभक्तिचिह्न ९२
कीजै	किया जाता है, करना चाहिए ८, ५०
कीध	की, किया ३६, ७०, १९३
कीधाँ	किये ७
कीर	शुक पक्षी ९९
कीरतन	यश का कीर्तन ७
कीरति	कीर्ति, यश ३, ९१, २७६
कुंत	भाले ११९
कुंद	एक फूल २६०
कुंदण	सोना ३८
कुंदणपुर	कुन्दनपुर १०,३८
कुंभ	कुंभस्थल (हाथी का) ९०
कुँअरि	कुमारी १३,१४
कुँअर	कुमार ११
कुकवि	बुरा कवि २९५
कुण	कौन ६, २९५

कुत्र	कहाँ ५५
कुमकुमै	गुलाब-जल से ८१, २०५
कुंआरमग	आकाश गंगा, शिशुमार चक्र ८५
कुलटा	कुलटा, असती १६३
कुलपांति	कुल श्रेणी ३१
कुल्	कुल में १४
कुसल्	कुशल में २८६
कुसस्थलो	द्वारिका में ७२,१४०
कुसुमायुध	कामदेव २७४
कुहकबाण	तोप ११८
कूंकूं	कुंकुम ८७
कूजति	कूजन २२९
कूजा	एक फूल २३७
केकाणां	घोड़े १२७
केतकी	एक फूल २६०
केतला	कितने, कितने ही ३७
केन	किससे ५५
केम	कैसे ७
केलि	कदली, केला, खेल, क्रीड़ा २५०
केवड़ा	एक फूल २६०
केवो	दुरात्मा, दूसरे, कई ७६
केसरि	केशर, पीत पराग २५७
केसरिया	केशर के-से रंग की पोशाक ११३
केसव	केशव, विष्णु ३०३
केसू	टेसू २३६
केहवो	कौनसा १८८

कोक	चकवा चकवी, रतिशास्त्र के आचार्य का नाम १८३
कोड़ि	करोड़ों २५०
कोपि	क्रुद्ध होकर ३४
कोरण	काले बादलों के किनारों पर के सफ़ेद बादलों की घटा ४१, १६५
कति	क्रीड़ा १२
क्रम	पैर १५८, कर्म २८३, लीलायें ३०२
क्रमि	चल कर १६६
क्रमि २	क्रम क्रम से, धीरे धीरे २२०
क्रमिया	चले १४३
क्रमियौ	पास गया ५२
क्रिगल	कवच ११३
क्रित-कृत	कृत, किया हुआ १३७। २४७ की गई, लिये १६५
कृतारथ	कृतार्थ, कृतकृत्य ५३
क्रितारथी	कृतार्थ, के लिए (कृत के अर्थ में) १६५ मनोरथ किये।
कृपण	क्षुद्र, दीन २८९
क्रिपा	कृपा २७६
कृस	कृश २१८
क्रिसन-कृसन	कृष्ण ७, ३०, ७२
क्रिसा	कृशा ९६
क्रीडंति	क्रीड़ा करता है ९९
क्रीड़ता	क्रीड़ा करते हुए १७४

ख

खंचे	खींचे १२८
खंजरीट	खंजन पक्षी २४५
खँति	उत्सुकता ६८
खंभ	स्तंभ २६
खगि	तलवार से २७८
खजूरि	एक पेड़ २४१
खट	छः २८
खट अंग	वेद के छः अंग २८
खल़	शत्रु २७८
खल़ाँ	शत्रुओं को १२७, १२८
खल़ाँह	दुष्टों को, शत्रुओं को १२४
खल़ैं	खलिहान में १२८
खाडिया	गड़ा हुआ २५०
खाग्र	खड्ग १९३
खारो	कड़वा १२४
खिणंतरि	क्षणान्तर में १६१
खीण	क्षीण, कृश २५, २५६
खीर	दूध २०९
खुधा-पुधा	क्षुधा, भूख २३१
खुमरी	एक चिड़िया २४६
खुरसाण	सान देने का चक्का ८६
खेड़ि	चलाकर १११
खेड़ै	हाँकते हैं ६८

खेतिए — किसान १६३
खेत्र — क्षेत्र, रणक्षेत्र १२५,२७८

ग

गंग — गंगा २००
गधवाह — हवा २६०
गई — अस्त हो गयी ४६
गजरा — गजरे (हाथ का एक गहना) ६३
गड़डै — गडगड़ाहट, गड़गडाता है १२०
गढ — क़िला, दुर्ग ६३
गण — गण, समूह १८०
गति — चाल १६, १०५, १३६
गति — प्रकार ३७
गति — गम्यस्थान १११
गतिकार — गत लेनेवाला (सगीत में) २४५
गदगद — गद्गद ५७
गमै — भूले हुए, भम २१०
गय — हाथी २४१
गयण — गगन, आकाश ६
गया — गये हुए, नष्ट हुए हुए २६६
गरकाव — समाये हुए १०४
गरभ — गृदा २६, गर्भ २२६
गरभ — गर्भ में १५५
गरल़ — विप २६४

ख

खंचे — खींचे १२८
खंजरीट — खंजन पत्ती २४५
खँति — उत्सुकता ६८
खंभ — स्तंभ २६
खगि — तलवार से २७८
खजूरि — एक पेड़ २४१
खट — छः २८
खट अंग — वेद के छः अंग २८
खल — शत्रु २७८
खलाँ — शत्रुओं को १२७, १२८
खलाँह — दुष्टों को, शत्रुओं को १२४
खलै — खलिहान में १२८
खाडिया — गड़ा हुआ २५०
खाढ़ — खड्डे १६३
खारो — कड़वा १२४
खिणंतरि — त्तणान्तर में १६१
खीण — चीण, कृश २५, २५६
खीर — दूध २०६
खुधा-धुधा — त्तुधा, भूख २३१
खुमरी — एक चिड़िया २४६
खुरसाण — सान देने का चक्का ८६
खेड़ि — चलाकर १११
खेड़ै — हाँकते हैं ६८

खेतिए	किसान १६३
खेत्र	क्षेत्र, रणक्षेत्र १२५,२७८

ग

गंग	गंगा २००
गंधवाह	हवा २६०
गई	अस्त हो गयी ४६
गजरा	गजरे (हाथ का एक गहना) ६३
गड़ड़ै	गड़गड़ाहट, गड़गड़ाता है १२०
गढ़	किला, दुर्ग ६३
गण	गण, समूह १८०
गति	चाल १६, १०५, १३६
गति	प्रकार ३७
गति	गम्यस्थान १११
गतिकार	गत लेनेवाला (संगीत में) २४५
गदगद	गद्गद ५७
गमै	भूले हुए, भग्न २१०
गय	हाथी २४१
गयण	गगन, आकाश ६
गया	गये हुए, नष्ट हुए हुए २६६
गरकाब	समाये हुए १०४
गरभ	गूदा २६, गर्भ २२६
गरभ	गर्भ में १५५
गरल़	विष २६४

गलन्ती — गलती हुई, चीण होती हुई १८२
गलि — गल कर १६५
गलि — गला ८८, गले में २५१
गलिगलैं — गलेगले में २५६
गलित — बहाते हुए १०५
गलित्रागो — यज्ञोपवीतधारी, ब्राह्मण ४४
गलिबाहीं — गलबाहीं २०१
गवरि — गौरी, पार्वती २६
गहमह — दीपकों की जगमगाहट ४६
गहवरिया — पत्र पुष्पों से भर गये २३८
गाइजै — गाइये, गाना चाहिए १
गाजंते — गर्जना से १२०
गाढ — गाढ़ापन, घनत्व १८७
गात्र — गात, शरीर १०५
गादरित — हरित २२८
गादी — गद्दी, आसन ८३
गानगर — गायक, गुंजार करनेवाले २५३
गारि — गार ३६,१६२
गालि — गाली २७७
गावण — गाने को २
गाहटतै — मथते हुए, अनाज मींड़ते हुए १२७
गिणि — जानकर, समझ कर १६,२०२
गिरोवर — गिरिवर, पर्वत १०५ (पर्वतों के समान)
गिलि — निगलकर २६४
गिलित — निगला हुआ ३००

गुंथित	गूँथा हुआ ८५
गुडन्ता	झूमते हुए, गिरते हुए १०५
गुण	डोरा, गुण मोती (मोतो की एक जाति) ८१
गुण	गुण ६, १९, २२१, ३०४
गुणनिधि	गुण के ख़ज़ाने २
गुणमै	गुणमय, 'गुण मोती' ९८
गुणि	गुण के २६६
गुणी	गुणवान्, २२१
गुणे	गुणों के २६६
गुरु	गुरु १, ३५, माता पिता ३५, भारी २६०, ३५
गुहिर	गंभीर १९६
गूँथियै	गूँथा जाय, रचा जाय ८
गेहि	घर ३५
गै-गाय	हाथी १६७
गैगमणि-गयमणि	हाथी की सी चालवाली १६७
गैगहण	गहगहाने का (आकाश को गुंजाने का) गंभीर शब्द ११८
गो	गाय १८५, १८६
गोख-गौख	गौंखा, झरोखा २०४
गोखे-गौखे	झरोखे में ४२
गोघोप-गोघोख	गायों का बाड़ा १८५
गोर	गोरा ९२
ग्याति	ज्ञाति, जाति ३१
ग्यान	ज्ञान १५, २०८, २७९

ग्यौ	गया ५२
ग्रंथे	ग्रंथ में ३७
ग्रब	गर्व कर २६०
ग्रभ	गर्भ, भीतरी हिस्सा १६५
ग्रहगण	ग्रहावली ६६
ग्रहगति-गृहगति	ग्रहफल १३६
ग्रहणा	गहने १६७, २५१
ग्रहणे	गहने ने १८३, गहने २६६
ग्रहणौ	गहना २६७
ग्रहि-गृहि	घर मे ५०, ६०
ग्रहित	लिया हुआ २६४
ग्रहि	ग्रहण करे २६५
ग्रहिया	पकड़ा, लिया २५४, ३००
ग्रहियौ	पकड़ा, लिया ८४, २६०
ग्रही	पकड़ी, ग्रहण की १८३
ग्रहीत-गृहीत	ग्रस्त, घिरा हुआ १५५
ग्रहे-गृहे	घरों में ४६
ग्राही	लेनेवाले २५३
गृह-	गृह ३६, १५६, २६७, २८३
गृहि	घर में, घर को १४७, २७६
गृहे	घर में २७३
ग्रीधणी	गिद्धनी १२८
ग्वालाँ	ग्वालों की ३१

घ

घंटिका	करधनी १७८

घटा	मेघघटा ११७
घटि	शरीर में १२५
घटै	कम होता है १८७
घड़ियाल	घंटे का शब्द १८१
घड़ी	घड़ी, वेला १६९
घण	मेघ १९७
घण-घणा	. बहुत १६९, १७७
घणघोर	घनघोर ४०
घणसार	कपूर १५३
घणों	बहुत १०८,
घणूँ	अधिक ६६, २११
घणै	अधिक ३७, १०८, २११
घणौ	अधिक ९४
घराघरि	घर घर में २३२
घरि	घर में १६५, १६९
घाइ	घाव १२५
घाउ	घाव १२५
घात	षड्यंत्र ६६
घाति	डालकर १७७ । २०१
घुरै	बजते हैं ४०
घूंघट	घूँघट १७१
घूघरा	घूँघरू ९७
घेघूंचे	एक होगये २०१
घोख	शाला, बाड़ा १८५
घ्रित-घृत	घी १५३

च

चंचल़	चलायमान, चपल, गतिशील, १६४
चांडाल़	चांडाल ५६
चँडालि़	चांडाल २७१
चंद	ध्रुपद का एक भेद २४६
चंदण	चंदन ३६
चंद्रवा	चँदोवा १६०
चंदाणणि	चन्द्रवदनी ६७, १०६
चंपक	चम्पा ४६, २५०
चंपियौ	पकड़ा १५६
चमर	चमर २३६
चकडोल़	डोली, जनानी पालकी १०३
चकव	चकवा १८६
चक्र	विष्णु का एक आयुध ६४
चक्र	पहिया ८६, बगूला ११५, २४६
चक्रवाक	चकवा २४५
चख	नेत्र १७६
चड़ियै	चढ़ कर १२७
चड़ी	चढ़ी हुई १३६
चढतौ	चढ़ता हुआ १५
चढि	चढ़ कर १५५, २३८, २७८

चढिया	चढ़े, चढ़ाई की ७४
चढ्यौ	चढ़ा २२२
चतुर	चार २७५
चतुर जुग विधायक	चारों युगों के करनेवाले २७५
चतुरदस	चौदह (विद्या) २८
चतुरमुख	चारमुख वाले, ब्रह्मा २७५
चतुर वरण	चार वर्ण २७५
चतुरविध	चार प्रकार का २८४
चतुरातमक	कुशल बुद्धिवाला २७५
चत्र	चार २९३
चत्रभुज	चतुर्भुज ६४
चरणे	चरणों में ९७, चरणों से २४०
चलि	चलती हुई २३९
चलपत्र	पीपल ७१
चा-चाँ	का ३७, के २१५
चाचरि	युद्धभूमि में १२१
चात्रण	मारने के लिये २७८
चामाकर	सोना ९७
चारण	एक (कवि) जाति २९९
चारौ	भोजन, चारा १२८
चालणो	चलनी २९५
चालियौ	चला ४६
चालै	चलता है १२२
चाहि	उत्कंठापूर्वक, ओर १०६
चाहै	देखती है १३९,१५५
चिंतवती	सोचती ७०

चिड़	चिड़िया १२८
चितवणि	चितवन, देखना १०६
चित्र	चित्र कविता २९९
चित्र	चित्र १६०
चित्रण	चित्रित या अंकित करने २
चित्रसाली	चित्रशाला १७९
चित्राम	चित्र की तरह, चित्रवत् ११४,२१४
चित्रारे-चीत्रारें	चित्रकार को २
चिहुरे	केशों से ८१
चीत्रंति	चित्र बनाती हैं २१४
चुंबित	खाये हुए २४०
चुणी	चुनी गई ३९
चुवण	चूना ८१
चै	के ८२
चोटियाली	खुले केशोंवाली (योगिनियाँ) १२१
चै।-ची	का—की १२,६७,८७,१३३, १४८,१७३,
चैाकि	चैाक १७९
चैाथी	चैाथी ६४
चैाथे	चैाथी दफा १५६
चैांरी	चँवरी, विवाहमण्डप १५८
चैासठि	चौंसठ कलाएँ २८, चैासठ योगिनियाँ १२१
च्यारि	चार २८
च्यारे	चारों २७७

छ

छंडि	छोड़कर ६०, छोड़ो ६६
छंडियौ	छोड़ा १३४
छंडी	छोड़ी १८३
छछोहा	शीघ्रता से फव्वारे की तरह (छूटना) ८१
छत्रे	मंडपों से १४४
छवि	शोभा २१४
छलंति	छलता है २८७
छांह	छाया १८७
छाइजै	छाये जाते हैं ३८
छिंछ	फव्वारे १२५
छिणियै	क्षण भर ही १३४
छिपाड़ण	छिपाने के लिये १८
छींक	छींक ७०
छोणे	टूटने से ८१
छुटै	छूटता है २२०
छुद्रघंटिका	मेखला, करधनी १७८
छूटा	छूटे, गिरने लगे ८१
छूटी	छूटी, खुल गई १७८
छूटै	छूटने पर १५८
छेदण	छिन्न करने के लिए १३१
छेदै	काट देते हैं १३३

ज

जंगम	चलते फिरते, संन्यासी ४६
जंघ	जंघा २६
जंत्र	यंत्र, जंतर-मंतर २८७
जंप	शान्ति १७
जंपिया	कहे, वर्णन किये ३०४
जंपियौ	कहा ५१
जई	जब ६२, १५१
जग	जगत् २१५
	जगत् में २८२
जगतपति	जगत् के स्वामी ५४,२७०
जगति	द्वारिका में ४७, २१५
जगदीस	जगत्पति २७१
जगदीसर	जगदीश्वर ३०२
जगन	यज्ञ ५०
जगनि	यज्ञ में ५०
जगवासग	जगत् के निवास, जगत को वसानेवाले २७१
जगहथ	दिग्विजय २४२
जगि	जगत् में ७,२४२
जठरि	पेट में २६६

जड़	मूल १२४
जग	जानकर १७,सज्जन ७४, जन ७८
जण	लोग २५४
जणा जणो	जना जना ७८
जत्र	जहाँ ४५, २३७
जथाविधि-यथाविधि	विधिपूर्वक १५७
जद्यपि	यद्यपि १७०
जनम	जन्म ७
जनमियौ	जन्मा २३२
जनारजन	जनार्दन, विष्णु, कृष्ण २१६
जनेन	व्यक्ति द्वारा ५५
जपंत	जपते हुए २८५
जपंवि	जपते हैं २८३, जपनें से २८४
जमण	यमुना २००
जमुण	यमुना ८५
जरासिंधु	जरासंध १४७
जल़	पानी २३, १२२, १३२, १९६, २२३, २५८
जल़ग्रभ	बादल, जलगर्भ १९५
जल़जाल़	जलधारा २०३
जल़जोर	ज्वार २३
जल़ण	अग्नि २२३
जल़द	बादल ४०
जल़दि	बादल में १९६
जल़धर	बादल २०१
जल़निधि	समुद्र १९६

जलबाला	बिजली १९६
जलहरी	चंद्रमा की चौतर्फ कुंडली १०७
जलि	पानी में २०८, २२४, २८७
जवनिका	यवनिका २४८
जस	यश, ५, १२४
जसु	जिसका ३३
जाँ	जहाँ ५०
जाइ	जा ४५, जाने को १०४
जाइ	जिसको, ९८ जितने, जिनको ३०४
जाइ	जाता है ११२
जाग	यज्ञ २८९
जागरण	रात को जगना १८०
जागवै	प्रज्वलित की जाती है ५०
जागिया	जगे १६, २१६
जाग्रति	प्रकट होता, जगता १५
जाणगर	जाननेवाला, ज्ञाता, समझनेवाला २४४
जाणणहार	जाननेवाला ६७,१७३
जाणि	जानकर २८
जाणि	मानो २४,८१, १०७
जाणियै	जान पड़ता है २८३
जाणियै	जाना ७०
जाणे	मानो ३, जानकर, १७
जाति	जाति, ज्ञाति ३१, जाते हुए, जाता है १७१
जाती	मालती फूल ९९, २३७
जात्र	यात्रा ७९

जादवाँ	यादवों के ४५
जान	बरात ४१
जामिए	योगी, योगाभ्यासी १८०
जाळी	जाली, झरोखा ४३
जाळै	जलाता है २२४
जावणहार	जानेवाला १७
जि	ही १५,१३३,१७३
जिका	जो २९
जिणि	जिसने / जिससे } ५, ७, २६९
जित	जीते हुए २८०
जितइँद्री	जितेन्द्रिय २८०
जिम	जैसे ६९,७१
जिवड़ी	जीव को ९
जीपण	जीतने को ३
जीपि	जीत कर १३८
जीपिस्यै	जीतेंगे १२३
जीपे	जीत कर १४७
जीव	जीव १७, जीवित १३४
जीवि	जीवी, जीनेवाला १३४
जीवित	जीवन १८१
जीवितप्रिय	जीवनप्रिय १८१
जीह, जीहा	जिह्वा ५,७
जु	जो ३,६, १३३ इत्यादि
जुअलि	दोनों, युगल २६
जुग	युग २७५

जुगति	युक्ति १८६,२७६
जुड़िया	जुड़े २६६
जूं	बैलों पर का जूआ ८६
जूंसहरी	जूवे के सदृश ८६
जूजुआ	जुदा जुदा ७५
जूता	जुते हुए हैं ८६
जेठ	जेष्ठ मास १८६
जेणि	जिसने, जिससे २,३६
जेम	जैसे १३१
जेहड़ि	जैसी १६८
जेही	जैसा, जैसे १६६,१७०,२२०
जैदेव	जयदेव ८
जो	जो ६, यदि ५६
जोइ	जो ही, (स्त्री) ४०
जोग	योग ७६,१८४,२८६
जोगिणि	योगिनी ११७,१२२ वर्षा सूचक योग अथवा युद्ध की योगिनियाँ,
जोगिए	योगी २८८
जोगी	योगी २६६
जोगेसवर	योगीश्वर ७६
जोड़ि	जोड़कर ७८
ज्योतिख	ज्योतिष १४६
जोतिसी-ज्योतिषी	ज्योतिषी २६६
जोध	योद्धा १०४
जोवण	यौवन २३, १७
जोवनागमि	यौवनागमसमय २१८

जोर — शक्ति, बल २३
जोवणि — यौवन ने २४
जोवै — देखती है ४३,५०

झ

झंखर — झंखाड़, पुष्प-पत्रविहीन १९१
झड़ — झड़ी १२१
झड़ण — झड़ने, टूट कर गिरने १४४
झरणि — झरना, निर्झर २६३
झल — ज्वाला १४०
झाँखाणा — कुम्हला गये १४०
झालरिए — झालर से १४४
झोलै — तरी को शुष्क करनेवाली वायु १९१

ट

टाल्यौ — टाला, दूर किया २५२

ठ

ठंठ — झंखाड़ वृक्ष, ठूँठ २२६
ठरे — ठंढे, ठंढे होगये, ठंढे हुए २२६
ठाइ — ठौर, स्थान पर, २६२
ठाकुर — सरदार ११३
ठाहे — स्थान पर, बदले ११३

ड

डंक	डंक २५३
डफ	डफ, एक बाजा २२७
डर	भय २५८, २८७
डहकियौ	अंकुरित हुआ, डहडहा हुआ २२६
डाकिणि	डाकिनी २८७
डाल	डाली २२८
डिगमिगि	डगमगाते हुए २५८
डेडराँ	मेंढकों के ५
डोर	रस्सी, डोरी, पाश २३

ढ

ढलकावै	लटकाते हैं २४१
ढलि	ढलता है २३९
ढलियै	गिरते हैं १२१
ढालि	ढाल २४१
ढील	देरी ४५
ढूलड़ी	गुड़िया १३
ढेरवियाँ	रोक लीं ११६

त

तंडव	तांडवनृत्य ४०
तंवि	तार के बाजे २४४

तंतिसर	तार के बाजों का स्वर २४४
तंतु	लतासूत्र २६२
तंत्र	मन्त्र तन्त्र २८७
तंबोल	तांबूल, पान ६६
तई	तब ६१, ६२
तट	नदी तट २००
तड़ि	पेड़ी २४२
तण	शरीर २५७
तणा	के, की २०८, २३, ६७, १२२, २१५, २५६, २६०, ३०३, ३०४
तणी	की ३, ३०३ इत्यादि
तणु	का १३२, १६१
तणु	देह १३२, २२५
तणै	के ५७, ५६
तणो, तणौ	का ७, २३, ५२ इत्यादि
तत	तत्त्व १, १८०
ततकाल	फ़ौरन ६७, १५१
ततसार	सार तत्त्व १
तत्त	तत्त्व ७६
तथापि	तो भी ६५
तदि	तब १२३, १८३
तनि	शरीर में १५, २०५
तनुसार	काम या प्रद्युम्न का एक नाम २७४
तपत	जलते हुए, क्रुद्ध १३२
तपन	सूर्य १६०

तपि	तपकर १६०
तम	अंधकार २१२
तरणि	सूर्य २१२
तरतौ	पार करता हुआ २५६
तरला	चंचल २४२
तरि	पेड़ पर २३२, २३३, पेड़ से २६३
तरि	तैर करके १२२
तरितरि	पेड़ पेड़ में २३२, पेड़ पेड़ पर २५६
तरुवरां	पेड़ों के २५१, २५२
तरुवर	पेड़ २४७
तरै	पार करे ६
तवति	स्तवति, गान करता है ६
तवियौ	गाया (स्तु) ३०५
तसु	उसका २६, ४३, १५६, २५७
तह	चेतना, होश ११०
त्याँ	वहाँ, उनके २७६
ताइ	उसको, ४; उसके, उनके ११; उसका १२
ताइ	वह, वही १३, ३०३
ताकि	देख कर १०४
तार्टक	कर्णफूल ८६
ताप	कष्ट, दुःख २८५
तार	नक्षत्र, प्रकाश २७
तारकिक	तार्किक, नैयायिक २६६

तपन	सूर्य १९०
तारू	तैराक ६
ताल	ताल (संगीत) २४४, २९१
ताल्	एक पेड़ २४२
ताल्	ताला १८५
तालधर	ताल देनेवाला २४४
तालि	समय १७७
तासु	उसका ५२
ताहरै	तेरे ४५
तिकरि (सं० तत्कृते)	के लिए १४३,२७९
तितरै	इतने ही में ४४
तिणि	उसने, उसको ५,५१,१६८ वह, उससे ८
तिणि	उस ७, ५७, १७७, १९२, २०१,२६७, २६९, इत्यादि
तिणि	जिससे, इसलिए ९४,१२ इ०
तिमि	वैसे ७०,१०४ इ०
तिरप	नृत्य की एक ताल (त्रिसम) २४६
तिलक	टीका एक आभूषणविशेष ८७, ८८
तिसा	वैसे ३०४
तिहाँ	वहाँ २५३
तिहि	उसको २५६
तीरथ	तीर्थ, घाट ४९, १८६, २८९
तीरथे	तीर्थ में ३०१
तीवट	त्रिवट नामक ताल २४४
तुम्ह	तुमको ६०

तुम्हां	तुमको ६२
तुम्हांसं	तुमसे, तुमको ६१
तुलता	तुलते हुए २१२
तुलसी	तुलसी ५६
तुलि	तुला राशि पर २१२
तुलिया	बराबर हुए २१२
तूं	तू ४, २६०, ३०३
तूंवणी	तेरी रुक्मिणी ३०३
तूझ	तेरी ६, ५८
त्रूटो	टूटी १७८
ते	इसलिये २६०, अपने २१०
ते	वे ८, वह १७३
तेड़ि	बुलाकर १४६
तेणि	उससे ५४, जिससे १२२, उस १६०
तेही	तैसी, उस प्रकार १७७
तै	उसको ९५, १०३
तो-तौ	तो ७८, ७९, ९५, २९८
तोईज	तभी तो १२६
तोय	पानी २६३
तोरण	तोरण ४०, २३३
त्रिकाल	तीन काल १५१
त्रिकुट गढ़	लंका ६३
त्रिगुण	सत्व, रजस्, तमस् २१, २३१
त्रिगुण मै	तीन गुणयुक्त (शीतल, मंद, सुगंध वायु) २१

त्रिणि	तीन ६६
त्रिणे-तृणे	तृण, तिनके, घास १९८
त्रिह्नि	तीन १५६
त्रिहूं	तीनों १
त्रिपत	तृप्त, संतुष्ट १७०
त्रिभुवन	स्वर्ग, भूमि, पाताल १११
त्रिया	स्त्री ६५, १५७, १६३
त्रिबलि	पेट के तीन बल २५
त्रिविध	तीन प्रकार की २८५
त्रिस	प्यास २३१
त्री	स्त्री ८, १५४,१६९, ३०३
त्री वरणण	स्त्री का वर्णन ८
त्रूटंति	टूटती हुई; व्यतीत होती हुई १८१
त्रूटै	टूटता है १२४

थ

थंभ	थंभा, खंभा २०४
थंभि	बन्द होते हैं, ठहरते हैं १९५, रोको ६९
थई	हुई ४६,७०,१७७, पर २१६
थका	होते हुए भी २१३
थको	स्थित २२४
थण	स्तन २१८
थयौ-थयो	हुआ १९,२९

थलि	स्थल में, जगह में १८७
थाइ	होता है २८६
थाकौ	थक गया २७२
थाणौ	आलबाल, थाला २८१
थापे	रखकर, रखे १३७
थायै	होता है, होते हैं २१८, २६६
थाल	थाली, थाल २३५
थिउ	हुआ, हुई २५६
थिय	हुआ २३८
थिया	हुए १३६, २५१, २७०, २८८
थियौ	हुआ ५२, १८२, १८४, २२६
थिर	स्थिर १२७, २१४
थी	हुई २३६
थूल	मोटा २१८
थोके	बातों में १३७
थोड़	थोड़े २२८
थ्या	हुए १६६, १८८
थ्यौ	हुआ १६

द

दँड	दंड, सजा २५३, दंडे १४४
दई	दी १३५

दक्खिण, दखिण	दक्षिण १०,२१, २५६
दखिण	दक्षिण की पवन, मलयानिल २६१
दखिणानिल	दक्षिण की हवा २६१
दड़ड़	मेघगर्जन का शब्द १६६
दधि	समुद्र ६८ दही २३४
दरब	द्रव्य, वस्तु २३०
दरसणि-दरसण	दर्शन होने पर १४१, २२०
दरसे	दर्शन किये १०८
दल़	पत्ता २७,४६,२६२
दल	शरीर के अवयव समूह २०,२७,४६
दलां	फ़ौजों का ११६
दलिद्र	दरिद्रता १४२
दस	दश ६
दहण	अग्नि २०८
दहन	जलाना १६१
दायिनी	देनेवाली २६७
दाखि	देखकर २५२
दाखै	देता है, दिखाता है २६६
दाट	संगीत का भाव-विशेष २४५
दाड़िमी	अनार का फल २४०
दाण	मद, दान, मदजल २४
दादुर	मेंढक १६८
दाहक	जलानेवाला २२३
दिखालिया	दिखलाया २४
दिणयर	दिनकर ने, सूर्य ने १८५

दिन	दिया, दी ५६, दिन को १४१
दियौ	दो १४६
दीठ	दिखाई दिया १११,१६३
दीठा	देखे १४०
दीठी	देखी १६८
दीठौ	देखा ६८
दीध	दिया, दी ७,६१,६०
दीध	देकर ४१
दीधा	दिये (जलाये) २५०
दीन्हा	दिये १५८
दीपगर	दीवट, फानूस २४७
दीपति	चमकता है, शोभित है १०
दीपमाला	दीपकों की माला १०१
दीपति	दीप्ति, प्रकाश २०८
दीपै	प्रकाश करता है १८२
दीसै	दिखाई देता है ४१, २४०
दीह	दिन ६६
दीह	दिन १८७
दीहां	दिनों में १६६
दुआरामती	द्वारामती, द्वारिका ५१
दुख	दुःख २५२
दुज	द्विज ४६, ७१
दुजि	द्विज ने १७३
दुतराणि	दुस्तर २२७
दुति	द्युति, कांति ६६, १४४
दुरग्रह	दुष्ट ग्रह २८६

दुर दिन	खराब दिन २८६
दुरनिमित्त	अशुभ शकुन २८६
दुरी	अशुभ, दुष्ट, बुरा ६५
दुरीस	दुष्ट राजा।२४९
दुलहणि	दुलहिन १५८
दुवारिका	द्वारिकापुरी ४४
दुसट	दुष्ट को १३५
दुसह	दुःसह २८६
दुँह	दोनों ११६
दूखण	दोष २९६
दूजण	दुर्जन ७५
दूति	दूती १७१
दूरंतरी	दूर से ५४
दूरा	दूर पर ४१
दूरि	दूर ४७, ६५, २४८
दूलह	दुलहा, वर १५८
दृवै	आज्ञा के ५८
दृवौ	आज्ञा ८०
दे	देकर ७
देइ	दे ४५
देखतां	देखते हुए १४०
देखि	देखकर ५४
देखे	देखकर ७१
देठालौ	देखादेखी ११६
देण	देने को २३२
देतौ	देता हुआ २६२

देव	देवता, महाराज ५१
देवाधिदेव	देवताओं के प्रभु ५८
देवाल़ै	देवालय १०८
देवि	देवी १००
देव	देवता ने १७३
देसपति	राजा ३७
देह नायक	देह का स्वामी २७५
देहरा	मंदिर १००, १०९
देहल़ी	देहली १६८
देहि	दे ४४
दैवग्य	ज्योतिषी १४९
दोख	दोष १५१
दोर	भुजा २३
द्रव	पिघलना १८७
द्रव	द्रव्य २५०
द्रवड़ित	फैली हुई १६३
द्रविण	द्रवित करनेवाला १०९
द्रिठ	दृष्टि १६३
द्रिठि	दृष्टि १६२, १३१
द्रोब	दूब १४२
द्वारि	दरवाज़े में १०९
द्वाल़ा	दोहले, दोहे (वेलि का छंद) २९२

ध

धजा	ध्वजा २५०

धड़	शिरहीन शरीर, कबंध १२१
धड़ि धड़ि	शरीर शरीर पर ११६
धण	स्त्री, पत्नी १४६, १६१, २००
धणी	पति, मालिक १६१, २००
धनंजय	धनंजय, अर्जुन २१६
धनी	धनवान् २१७
धवकि	चमकने लगीं ११६
धर	पृथ्वी ६८, १६३, २००, २०६
धर	धारण करनेवाला २००
धरम	धर्म १५०
धर सधर	पर्वत २३६
धरहरिया	जल प्लावित करने लगा १६५
धरा	पृथ्वी १८७, २०७
धरि	धारण करके ६, ८१, १७६
धरिया	धारण किये हुए ६५, धारण किये २०५
धरी	धारण की १०७
धरू	ध्रुपद २४६
धवल़	सफ़ेद ४१, १४६
	मांगलिक गीत ११३, १४६
धवल़ागिरि	धवलागिरि पर्वत, श्वेतपर्वत ४१
धवल़हर	धरहरे, महल ४१, १४६
धवल़ित	सफ़ेद किया हुआ, स्वच्छ १४६
धसति	प्रवेश करती हुई १६८
धार	धारा ११६
धारां	धाराओं से १२०
धाराधर	बादल २००

धारूजल	तलवार ११६
धारे	धाराओं से १९५
धारैं	धारण करती है ९५
धावंति	दौड़ते हैं ६८
धावती	दौड़ता हुआ ४
धुड़ी	धूल, रज १९३
धुनि	ध्वनि, शब्द १७६, १८४
धूया	ध्रुवा रागिणी २४६
धूप	धूप, एक सुगंधित वस्तु १०२, सूर्यातप २२५
धूपणै	धूप देने के ८२
धूम	धुँआ ८७
धूसर	भूरे रंग का २६३
धोया	धोये हुए २०५
धौत	धुले हुए, श्वेत ८१
ध्रुगध्रगी	धकधकी (हृदय की) १७६
ध्रम	धर्म ५४
ध्रू	मुंड १०७, १२१
ध्रूमाळा	मुंडमाल १०७

न

न	नहीं ४, १०३

नई	नदी १४५
नखित्र	नक्षत्र, तारे ६३
नग	हीरे १०१, २४०
नड़	पर्वतीय नाले १६६
नद	आवाज़, शोर ४८
नदि	नदी १०६, १८७
नदिमै	नदीमय १६८
नभि	आकाश में २०८
नमे	झुककर ७३
नयण	नयन २०, २२
नयर	नगर ६६,४८
नयरे	नगर में २४६
नर	मनुष्य ३३, वीर ३५,
नरवर	नरश्रेष्ठ २७५
नरवरै	नरश्रेष्ठ के ११४
नरि	मनुष्यों में १८२
नरेस	राजा ७५
नलणी	नलिनी २२४
नली	कपड़ा बुनने की नलिका १७१
नव	नया ५
नवग्रही	नवरतनी ६३
नवनवौ	नया नया ५
नवनवा	नये नये २१४
नवी	नई २०, २४, १२६
नवीनवी	नई नई २१४
नवै	नवों १५७

नवै	नये १९२
नह	नहीं ४६,७४,११०
नहि	नाथकर, बनाकर, रखकर ६२
नाँखी	डाली २४८
नाँखै	डालता है ९४
नायक	नायक, आचार्य २४३
नाँखिया	डाले २४०
नाग	नाग, साँप ३३, ६२, हाथी १०५
नागर	चतुर, नागरिकों की १४६
नाद	शब्द (अनहद नाद) २६८
नारि	स्त्री (रुक्मिणी) १७२
नालि	नलिका, बंदूक ११८
नालिकेर	नारियल २३४
नासफरिम	जिसकी आज्ञा भंग हो १८२
नासा	नथुने ११५
नासा	नासिका ९८
नाह	नहीं ३०
नाह	पति, नाथ, वर ३०
निंदा	चुगली, निंदा २७७
निउँछावरि	न्यौछावर में २४०
निकुटी	गढ़ी थीं, बनाई थीं ११०
निगम	वेद १५७
निगरभर	निर्भर, निमग्न, भरे हुए १८१, २४७
निगुण	निर्गुण, गुणहीन २
निग्रह	संयम २८८
निठ	कठिनता से १६३

नितंबणी	नितंबिनी, स्त्री २६
नितु	नित्य २६८
निदरसी	दर्शक १५१
निधुवनि	रतिसमय में २०६
निमिख	निमेष, क्षण २६६
निय	निज, अपना १३२, १७१, २२४, २२५
निरखे	देखकर १५१
निरगुण	निर्गुण २७२
निरणै	निर्णय १५१
निरतकर	नर्तक २४४
निरधण	पत्नीरहित १६१
निरलेप	निर्लेप, अलिप्त २७२
निराउध	आयुधरहित १३४
निरूपम	उपमारहित, सुंदर २६
निलाट	ललाट ८७
निवाणे	नीचे स्थान में २०६
निवारण	वंद १७६
निसामै	रात्रिरूपी १८४
निसुर	निःस्वर, निःशब्द २०७
निहखरता	निकलते हुए, पीछे दौड़ते हुए ११४
निहस	चोट ३८
निहसति	झूलता है ६८
निहसे	गर्जना से, गर्जना के साथ १६७
नीखर	निखर कर, स्वच्छ होकर २०६
नीगम	वेद २६४
नीझर	झरना १६१

नीझरण — झरने २४३
नीठि — कठिनता से २२०
नीपनौ — उत्पन्न हुआ १२५
नीपायौ — बनाया था ११०
नीर — पानी २७, १८७
नीरासइ — तालाब में १७५
नीरोवरि — समुद्र में १४५
नीलबर — नील वस्त्र १०१, १९८
नीलकंठ — महादेव, एक पक्षी ८४
नीलमणि — नीलम २०४
नीला — हरे भरे २२४
नीलाणी — हरित (नीली) हुई १९७,१९८
नीलाणा — हरे हो गये, प्रसन्न हो गये १४०
नीसरणी — निसैनी २९४
नीसरे — निकलकर ४६
नीसरै — निकल रहे हैं १२५
नीसाण — निसान, नगारे ४०, ४८, ११५
नीसाणै — नगारों पर, नगारों की ३८, १२०
नूपुर — एक गहना ९७
नेउर — नूपुर, नेवरी १६६, १७६
नैड़ी — पास ११६
नैड़ो — पास ४७
नेड़उ — पास ६५
नेत्रे — मथने की रस्सी में ६२
नैरन्ति — नैऋत्य दिशा १९१
न्याइ — समान १९८

त्रिमल्	निर्मल २७
त्रीजनपणि	निर्जनता १९०

प

पंख	पाँख २०, १६२, २२६
पंखि	पक्षी १६४
पंखियाँ	पक्षियों १६२
पंखी	पक्षी ६
पंगु	लँगड़ा, गतिहीन ११०
पंगुरिणि	वस्त्र २२०
पंगुलौ-पांगुलउ	लँगड़ा ४
पंच	पाँच ११, १०९
पंचवाण	कामदेव २४३
पंचम	पाँच स्वरोंवाली (ओड़व जाति की) रागिनी, वसन्त आदि २२७
पंचमी	पाँचवीं २७७
पँचविधि	पाँच प्रकार का २९४
पंडिवा	हे पंडितो ! ३०१
पंथी	पथिक ४३
पकवाने	व्यंजनों से २३०

पख	पक्ष २६४, महीने के पक्ष २६५
पगवंदण	चरणवन्दना ४५
पगि	पग पर १६७
पग्ग	पैर २५९
पछि	पश्चिम का २१७
पच्छिम	पश्चिम १५४
पट	वस्त्र ३८, २०४
पटल्	समूह ४९, आवरण, पर्दा १८४
पड़ती	पड़ती है ३८
पड़ी	पड़ी, व्याप्त हुई १३९
पड़पोत्रे	प्रपौत्र २८२
पड़ै	गिरता है १२०
पढ़ँता	पढ़ते हुए २८०
पढि	पढ़, पढ़ो २७८
पढै	पढ़कर २४८
पणिहारि	पनिहारी ४९
पत्र	पत्ता ७१, ९५, ११५, १६२, २४४, २९२; चिट्ठी ४५, ५५, पात्र, खप्पर १२२
पथि	मार्ग में २३२
पदमिणी-पदमिणि-पदमणी	पद्मिनी, सुंदर स्त्री १४, २५, ४२, १९७
पदमराग	पद्मरागमणि २०४
पदमा	लक्ष्मी २७३

पदमालया	लछमी २७३
पदाति	पैदल २४१
पधरावि	स्थापित कर, बिठाकर १५७
पधरावी	बिठाई १६६, पहुँचाई १७८
पधारया	पधारे ७५
पनाँ	पन्ने (मणि) ३६
पमूंकै	छोड़ता है २६२
पयोधर	कुच २५
पयोधि	समुद्र १६६
पयोहर	कुच १६, ६५
परजलताँ	जलता हुआ १८२
परठि	धारण करके १०६
परठित	स्थापित १५४
परठीजै	बाँधे जा रहे हैं ४०
परणी	विवाहिता २८१
परणै	ब्याहे ५६, १४६
परदल	शत्रुसेना १३८
परनाले	मोरों से १२०
परबोधै	जगाते हैं २६८
परभाते	प्रभातसमय ४७
परमेसर	परमेश्वर १
परवरिया	घूमने लगे २५३
परस	स्पर्श २६२
परसण	स्पर्शन, दर्शन ८०
परसपर	आपस में १५७
परि	ऊपर, पर १६६, १७४, २४८

परि	जैसे, तरह, ज्यों, मानो १४, १५, २५, ४२, १२६, १९२, २१६, २२१, २३५
परिग्रह-परिगह	परिचरवर्ग १९
परिपालै	परिपालना करती है ९
परियासि	जाते हो ५५
पल	क्षण १५, २६६, मास १२८
पलव-पल्लव	पत्ता २७, २२८
पलास	पलाश वृक्ष, मांसभक्षी २४७, २५६
पल्लवित	पल्लवयुक्त १९८
पवणै	पवन ने २२३
परसतै	लगते ही २३१
पसरवा	फैले हुए २४२
पसरि	प्रसरित होकर २६९
पसाइ	कृपा से २५४
पसारी	फैल कर १४३
पहरंती	प्रहार करते हुए, प्रहार करते हैं १२६
पहरि	पहर में १३
पहल	दूसरे २०३
पहि	परन्तु ४
पहिराइत	पहरेदार ९७
पहिरायौ	पहनाये २३७

पहिलुं	पहले ३६
पहिलौ	पहले ८, १६, १४९, २५२
पहुचेस्यां	पहुँचेंगे ४७
पांतरि	मूर्खता कर ३३
पांतरिया	सठिया गये ३२
पांति	पंक्ति, श्रेणी ३१
पापणि	पलकें २०
पाइ	पैरों से १२७, पैरों में १९८
पाइक	सिपाही १०५
पाइदल	पैदल सेना के १०५
पाकी	पकी २०७
पाखाणमै	पत्थरमय ११०
पाँचि	पंचरत्न २०४
पाट	शहतीर ३९, रेशमी डोरा या फुँदना ९२
पाटि	सिंहासन पर २४२
पाठक	वाचक, बतानेवाला २४५
पाठके	पाठकों ने १५७
पाणि	हाथ १५०
पातां	पत्तों के २५०
पात्र	भाजन, योग्य पुरुष (कुपात्र) ५९
पाथरणि	बिछौना २६७

पान	पत्ता १२, तांबूल १०२
पान	(मदिरा का) पीना २६२
पाने	पत्रों से २३०
पामै	पाता है ३०५
पायौ	पाया ५
पार	पार, सीमा, अन्त ५
पारकी	पराई, दूसरों की २७८
पारथिया	प्रार्थना करने पर २२३
पाखती	चारों ओर १०७
पारस	पास १०७
पार, पारि	पार २८८
पारेवा	कपोत २४५
पालट	परिवर्त्तित, परिवर्त्तन २२६
पालटै	बदलता है ११३
पालि	पालकर, रक्षाकर २२२
पालै	रोकता है २२५
पावत्र	पावन, पवित्र करनेवाली ८५
पावसि	वर्षा ऋतु में १९४
पास	पाश, समूह ८२
पासै	निकट में १३५, २१०
पिंड	शरीर ११३, २८५
पिंडि	शरीर में २९६
पिड़ि	पेड़ी वृक्ष की १२५, १२६
पिण	यद्यपि, परन्तु ७५, भी १३८
पित	पित्त २८५
पित	पिता १८, २७०

पिवरे	पितर, पितृगण २०९
पितामह	दादा २७१
पीड़ंति	पीड़ा देते हुए २५२
पीवता	पीलापन, वैवर्ण्य १७६
पिअवि	पीते हैं २४६
पीला	पीले कपड़े, लाल रंग के कपड़े ६७, २०३
पीलाणी	पीली हुई २०७
पुंडरीकाख	पुंडरीकाच, श्रीकृष्ण १३६
पुड़	सतह २१७
पुड़ि	सतह पर २८२
पुणच	प्रत्यंचा १३१
पुणि	फिर १
पुणै	कहते हैं ७७
पुनरभव-पुनर्भव	नरा २७
पुनह पुनह	बार बार १५०
पुरखोतम	पुरुषोत्तम ६६
पुरतो	सामने, पास ५५
पुरि	पुर में ७५
पुरुख	पुरुष २३२
पुरोहित	पुरोहित ३५
पुहती	पहुँचा ३६
पुहपंजलि	पुष्पांजलि २४८
पुहपवती	रजस्वला, पुष्पवती २६२
पुहपां	फूलों के २५०
पुहप	पुष्प ६५, १४६, २२१, २२८

पुहपित	कुसुमित २४७
पूछत	पूछता हुआ ५२
पूछि	पूछ ७१
पूछीजै	पूछा जाता है १३६
पृछै	पूछती है ७६
पूजियै	पूजा जाता है २३०
पूजै	पहुँचे ४
पूठ	पीठ १५४
पूठि	पीछे ८८, पीठ पर २४१
पूत	पुत्र ६, ३३
पूतली	पुतली २, मूर्त्ति ११०
पूरब	पूर्व दिशा १५४
पूरबक	पूर्वक ५८
पूरै	पूरे होने पर २६८
पूरौ	पूरा पूरा २६८
पेखण	देखने को १६३
पेखतां	देखते हुए ६
पेखि	देखकर १४, १३२
पेखे	,, १६, २८३
पै	पय, जल १४७
पै-पय	पैर २०२, २६२
पैठा	प्रविष्ट हुए २१७
पैसि	प्रवेश करके १०८
पैसे	प्रवेश करता है २२४
पोइणि	पद्मिनी, कमलिनी २३५
पोइणिए	कमलिनी को २०६

पोकार	पुकार, शब्द १८१
पोखण	पोषण ७
पोत	पवित्री, गले में पहनने का काला रेशमी डोरा ८४
पोती	पौत्र २७१
पोत्रे	पौत्र २८२
पोस	पौष मास २२०
पौढाड़े	सुलाते हैं २६८
पौराणिक	पुराणज्ञ २९९
प्रकटित	प्रकट हुई २९३
प्रखोलित	छिड़के हुए २०५
प्रगटिया	प्रकटे २४८
प्रगटी	प्रकट हुई ९१
प्रगटे	प्रकट होने पर २०८
प्रगलभ	चतुर २४५
प्रज	प्रजा १३९,२४९
प्रणपति	प्रणाम ४४
प्रणवि	प्रणाम करके १
प्रति	की अपेक्षा, से ९, १९०, २१५
प्रति	प्रत्येक ३९
प्रति	प्रति, को २२३, २८३
प्रतिबिंब	परिछाया १०४, २५७
प्रतिहार	पहरेदार २२५
प्रदुमन	प्रद्युम्न; कृष्ण के पुत्र २७०
प्रफूले	प्रफुल्ल, खिले हुए १८३
प्रब	पर्व, त्यौहार २३०

प्रणाली	रीति, मार्ग २९४
प्रभणंति	कहता है, बोलता है ३१
प्रभणावै	कहलाते हैं १५७
प्रभणै	कहते हैं ३३
प्रभवति	होते हैं, होनेवाले २८५
प्रमा	लक्ष्मी का नाम २७३
प्रमुदित	प्रसन्न २३४
प्रवर्त्यौ	प्रचार किया, फैलाया २४९
प्रवाली	मूँगा, एक रत्न ३९, नवीन पत्ते १२५
प्रविसंति	प्रवेश करती है १४५
प्रवेस	प्रवेश ७५
प्रसन	प्रसन्न, निर्मल १३६, २४९, २५८
प्रसरि	चलकर १९१
प्रसवती	प्रसव करती हुई २२९
प्रसिध	प्रसिद्ध २९४
प्रसेद	पसीना १७५, २०७
प्रापति	प्राप्ति, पाना २९
प्राणायामे	प्राणायाम में १८४
प्रामिस्यौ	पाओगे २९८
प्रामै	पाता है, पावे २१२, २८०
प्रारथित	प्रार्थना की हुई १७४
प्रासै	खावे, भक्षण करे ५९
प्रथमी-प्रथिमी	पृथ्वी १११, १९८, २१७
प्रिथो-पृथी	पृथ्वी २०८
प्रिथु-पृथु	पृथ्वीराज, ग्रंथकर्त्ता २९३
प्रिथुदास	" २९१

फ

फुल्ल	फूला हुआ २५५
फूल	पुष्प १५९
फूलि	फूलते हैं २०
फूले	फूलों ने १८३
फूलै	फूलती हैं ४२
फेण	फेन ८५, १५९
फेरता	फेरते हुए १२७
फेरा	भाँवर १५६

व

वँदि	बन्दीजन २५५
वंध	संग्रह ७४
वंध	बन्धन १८५
बन्धण	बन्धन ९०
वँधाणी	बाँधी गई २३३
वंधि	बाँधी १३१
बंधि	बँधी २४१
वंधियाँ	बँधे हुओं को, बन्द हुए को १८५
वंधिया	बाँधे २४२
बंधे	बाँधे, पहने ९२
बँधे	बन्द हुए १६४
वंभण	ब्राह्मण ७३
बकूँ	बकती हूँ, कहती हूँ ६५
बत्रीस	बत्तीस १३
वल्	बल, शक्ति १२६, २८७
बल्देव	बलराम, श्रीकृष्ण के बड़े भ्राता १२६

बल़भद्र	बलभद्र, बलरामजी का नाम १२३, १२८, १२६, १२९
बल़ाहक-बलाहकि	श्रीकृष्ण के एक घोड़े का नाम ६८, बादल १९४
बलि़	बलि, भाग ५९, बलिराजा ५९, ११२, बल से १२६
बलि़बँध	बलि राजा के बांधनेवाले ने, श्रीकृष्ण ने, ११२
बहिनि	बहन, भगिनी १३५
बहिरि	बाहर ९१
बहु	बहुत १७
बहुरूप	अनेक रूपवाले, बहुरूपिये ११३
बाजूबंध	भुजबन्ध, भुजा में पहनने का एक गहना ९२
बाजोटा,	चौकी ८३
बाझै	बाँधे जा रहे हैं ३८
बापूकारे	उत्साहित करते हैं, प्रेरित करते हैं १२३
बारगह	तम्बू, पटकुटी ९०
बाल़	बाल्य १२, १३, १७
बाल़क	बच्चा १२
बाल़कति	बाल्य क्रीड़ा १२
बाल़ पण	बालकपना १७
बाल़ लीला	बाललीला १३
बाल़सँघाती	बाल्य काल का साथी १७
बाल़ा	बाला स्त्री १७ बालिका १९६

वालि	जलाकर २२२
वालिया	जलाये २२३
वाहां	भुजायें २०१, १४३
वाहरि-बाहिर	बाहर १७२, २१३
बिंदुली	बिन्दिका १९९
बिंब	प्रतिबिम्ब ९१
बि	दो ५
बिजड़ां	तलवार १२६
बिन्है	दोनों १८०
बियै	दूसरे २३३
बिहुँ-बिहूँ	दोनों १२, ८२, ९२, २६५
बीजिजै	बोया जाता है, बोइये, बोना चाहिए १२४,
बीजौ	दूसरा ५९, ७३
बीड़ौ	पान का बीड़ा ९९
बीरज	रजरहित, निर्मल १४ (द्वितीया, बीज)
बूँद	बिन्दु ११८
बे	दो, दोनों ८७, ११७, २१०, २१७, २६५
बेउ	दोनों १४३
बेग	तेज चाल से ६८
बेपुड़ी	दोहरी, दोनों तर्फ़ से ११७
बेलखि	शरपुंख १३१
बेली	साथी, सहायक १२३
बैठा	बैठ गये १९४
बैठौ	बैठा, स्थित हुआ २१२, २२६
बैसारो	बिठाई ११२, १३५

बैसे	बैठकर २७८
बोलंत	बोलते हैं २५५
बोलंति	बोलते हैं २१०
बोलण	बोलना, बोलने के लिए २७८
बोलिया	बोले ६९
बोलै	बोलता है ३४
बोलै	डुबा देती है २९०
ब्रह्मसृ	वेदों को उत्पन्न करनेवाला, ब्रह्मा २७५
ब्राह्मण	ब्राह्मण ४४, ४९, ५८
ब्रूहि	(तू) बोल, बोलो ५५

भ

भँगि	भंग पर, मिटने पर २३०
भंजियौ	भागा, भगा दिया १२८
भई	भाई, भई (संबोधन) १३५
भई	हुई २५१
भख	भक्ष्य २६४
भगति	भक्ति १४८, २७९, ३०५
भजंति	सेवन करते हैं २१९
भजति	भजता है, भजन करता है ९८
भजै	भजते हैं, सेवन करते हैं १९१
भणति	पढ़ने से २८७
भणंता	कहते हुए २९७
भणि	कहती है २६४

भति	समान ४७
भमर	भ्रमर ६७, १७७, १८५, २४४
भर	भार १२८, २५४
भर	तमाम २०५
भरण	भरण पोषण, पालन ७
भरतार	पति ३०५
भरि	भर करके, लेकर के २५१
भरिया	भर गये १६३, २५४
भला	वाह १३५
भला भली	अच्छी से भी अच्छी वस्तु पृथ्वी पर हैं (एक कहावत) १२६
भली	अच्छी १३५
भलौ-भलउ	अच्छा १३५, २१६
भवति	होता है (संस्कृत) २८५
भाँति	प्रकार १५६
भाइ	भाव २६६
भाखा-भाषा	भाषा २६७, २६६
भाखि	कही जाती है १४८
भाग	भाग्य ८८
भागि	भाग, हिस्सा ८४
भाजै	भागते हैं २८७
भाट	भाट जाति का पुरुष २६६
भाति	शोभित होते हैं २१२
भाद्रवि	भाद्रपद का महीना २०५
भामिणि	भामिनी, स्त्री २३५
भार	भार, समूह २५१, बोझ २६०

भारती	वाणी २६७, सरस्वती ३०३
भारियौ	भारयुक्त, ओढ़े हुए, लपेटे हुए, २१६
भालियलि	ललाट में ८८
भाव	प्रेमभाव १०८
भावी	होनहार, सौभाग्य ६६, भविष्य (में) २७६
भासै	मालूम होता है २१३
भिड़	भिड़ कर, युद्ध करके १२८
भिन	भिन्न, पृथक् १४८
भिन्न	भीगा हुआ २५८
भिलित	मिला हुआ ४३
भींति	दीवार ३६
भीखमक	भीष्मक, रुक्मिणी के पिता का नाम १०
भीरि	सहायता २१६
भुइँ	पृथ्वी (दूरी) १३०
भुगति	भुक्ति, भोग २१५, २७६
भुयँग-भुयंग	भुजंग, साँप २१७, २६४
भुरड़ीतो	तपता हुआ, सन्तप्यमान २५४
भुवणि	घर में ४३
भूंडो	बुरा ३०२
भूखण	भूषण, गहना ६५
भूत	भूत-प्रेत २८७
भूला	भूल गये २०१
भूली	भ्रांत बन गई, भ्रम में पड़ गई २५७
भेख	भेष, रूप ११३
भेट	भेंट २५८

भेदे	भेदन करके २१७
भेरि	भेरी (एक बाजा) १८४
भेला	एकत्र ६६
भै-भय	डर १७८, २१६
भो	हे ५५
भोगविजै	भोगे जाते हैं २०५
भौ	भय ४७
भ्रमि	भ्रांति में (से) २०१
भ्रमिया	मँडराये २०
भ्रूंहारे	भौंहें २०
भ्रूह	भौं ८६
भ्रूहे	भौंहों में १७२

म

मंगल	शुभ, कल्याणमय १, २३३ उत्सव धवल मंगल, ४२, १५५, मंगलगान २८६
मंगलचार	मंगलाचरण १
मंगलिक	मंगलमय, शुभ २३४
मंजण	मज्जन, स्नान १०६
मंजरि	मंजरी २३६
मंजियै	साफ किये २२४
मंजे	साफ हुए, हटे १८४
मंजै	स्नान करता है २८०

मंडप	मंडप, वितान ३८, ९०, २४३
मंडहे	मंडप पर २९१
मंडाणा	तने हुए हैं २३९
मंडिजै	मनाये जाते हैं ३८
मंडियै	आरम्भ किये जाते हैं २१४
मंडियौ	लगा २४३
मंडी	स्थापित की २९४
मंडे	सजाये ९०
मंडै	चित्रित किये जाते हैं ४०
मंदिर	महल २०४
मंदिरंतरि	अलग अलग मंदिर में, मकान मे १६१
मंदा	मंद, अस्वस्थ १८२
म	मत ४५, ७७, २९०
मई	मयी, युक्त १४५, २१४
मखतूल	काला रेशम ८१
मगसिर	मार्गशीर्ष महीना २१६
मगि	मार्ग में, ४३, २१९
मछे	मछली से १५५
मजा	गरी गूदा, २३४
मझि	मध्य में, में ९६, ११५
मठ	मंदिर ११०
मणिमै	मणियों का बना ९२
मतवालौ	मतवाला २६२
मति	नहीं, मत ३२, बुद्धि ६, १९, १०३, २७६
मथे	मथकर ६२

मद	रस २६३
मद	मद, गर्व, १६७, हाथी का मद, दान १०५, २६३
मदन	काम ८२, २७४
मदोनमत्त	मदमत्त २६३
मधि	मध्य में, में २८, १७५
मधु	चैत्र, वसंत २४८
मध्याहन	मध्याह्न, दुपहर १६०
मनमथ	कामदेव २७४
मनरखिए	मन रखनेवाली, मनोऽनुकूल चलनेवाली १७६
मनसि	मन में ७२
मनावि	मनाकर २०२
मनि	मन में २६, १८३, २१३
मनु	मानो ६०
मनुहार	मनुहार, आतिथ्य, ७८
मनै	मानो ४२
मयण	काम १७५
मरजादा	मर्यादा २७६
मरम	मर्म, रहस्य २६७, ३००
मलय	चंदन २६३
मलयाचल	मलयगिरि २१, २५८
मलि	मैल को २२४
मलयानिल	मलयानिल २३१
मलँ	मलयाचल २१
मल्हपति	मल्हाता हुआ चलता है २६३

मवरि	मौर २५३
मसि	*स्याही, कालिमा ४३, १९०*
मसिब्रन	काला १९०
महंति	माहिती, खबर, संवाद, सूचना ७२
महण	महार्णव ६३, समुद्र ११८
महति	महिमा २७६
महमहण	समुद्रमंथन करनेवाले, विष्णु ६३
महर	अहीर ११४
महानिसि	प्रलय रात्रि, निशीथ काल, १८०
महियारी	ग्वालिन ११४
महुयरि	अलगोजा एक वाद्य विशेष, २२७
महे	में ३०२
महोछव	महोत्सव २१४
माँगी	माँगी हुई वस्तु १५७
मांडि (पग मांडि)	रोक १३०
मांडिरहे	चित्रित हुए १६०
मांडियौ	किया, शुरू किया, ३ लगी १२१
मांडिया	प्रकट किये २५०
मांहि, माहि	में ५६
माँखण	मक्खन ११४
माघि	माघ मास में २२३
माठा	मधुर ध्रुपद, ध्रुपद राग का एक भेद २४६
माणग	रसिक, भोगी २६८
माणिक	एक मणि १७५
माणै	भोगते हैं २६८

मात	माता ६, १८, २३१
मातौ	गहरा १२१
माथै	ऊपर २३६
मानसरोवरि	मानसरोवर में १२
मानुखी	मानुषी २७१
मापित	मापा हुआ ६६
मामोलौ	वीरबहूटी १६६
मारकुए	आक्रमणकारी लोग, हरण कर ले जानेवाले ११६
मारगि	मार्ग में ५०, १४३
मारजण	मार्ज्जन, सफाई १५६
माल	माला १६२, पंक्ति २४१
मालिणि	मालिनी २५७
मावीत्र	माता पिता ३४
मासि	महीने में १३, १८६
मासे	महीनों में २१६
माह	माघ महीना १६०
माहरै	मेरे ४५
माहरौ	मेरा ३०२
माहव	माधव १, ६४, ११४, १३२
माहि	में ५६, २१३
माहुटि	माघ की मेघ घटा १६०
माहे	में ११८
मिथ्या	झूठ ३०२
मिरिगाखी	मृगनयनी १३६
मिलण	मिलन, मिलने को १६५

मिलि	मिलकर १६०
मिलित	मिला हुआ ४३
मिलिया-मिलियाँ	मिले, मिलाया १७५, १८६, २००
मिलिवा	मिलने के लिए १६१
मिलियै	मिलाते हुए २००
मिसि	बहाने ७३, १६०, १६४, २१५, २२६, २४६, २५०, २६२
मींट	निद्रा २१६
मुंचंति	छोड़ते हैं, टपकाते हैं २४०
मुखा	मुख से ३००
मुखि	मुख में ७, १६, २७६ मुख से ३००
मुगता	मुक्ता, मोती १८६
मुगता	छूटे हुए, खुले हुए ८२
मुगतावलि	मुक्तावली १७८
मुगति	मुक्ति २७६
मुणखंति	गुंजार २२६
मुताहल	मुक्ताफल, मुक्तावलि ६८
मुहुरमुह	बार बार २१०
मूँ	मुझे ६२, ३०२
मूँ	मेरी १०३, २६६, ३००
मूंकिया	छोड़ दिये २७७
मूंकै	छोड़े २६५
मूझ	मुझे ५६, मेरा, २६५, २६७, २६८
मूठि	मुष्टि में १३१
मूढ	मूर्ख ४

मूरछित	मूर्च्छित ११०
मूरति	मूर्त्ति, मूर्त्तिमान १५३
मूल़	जड़ १२४, मूलपाठ २६१
मे	मेरे ५५
मेखला	मेखला, करधनी ६६, १६६
मेघ	बादल २०३
मेघपुहप	मेघपुष्प, कृष्ण का एक घोड़ा ६८
मेटि	मिटाकर, दूर कर ३४
मेढ़ि	मेंड़ १२७
मेन	अंधकार, २२
मेरु	मेरु पर्वत ६, १२
मेल़	मिलन १८६
मेल़गर	दर्शकगण २४३
मेल़ण	मिलाने को १७१
मेली	पूर्ण की, पूर्ण हुई १८३
मेल्हियौ	भेजा ५६
मेह	मेह, वर्षा, मेघ ११८
मैं	मैंने २, ३०२, ३०४
मै	मय, २१ इत्यादि
मै	रूप की तरह १७१
मै	में २२१
मो	मेरी ३०१
मोख	मुक्ति के लिए, मुक्त करो ३०१
मोखियाँ	मुक्त १८५
मोटा	बड़े ३००
मोतिए	मोतियों को २६५

र

रटति	शब्द करता है, कूकता है २३१
रणि	रण में ६३
रतनमै	रत्नमय ८८
रत	रति, लगा हुआ, १८०
रत	रक्त ११७, १२५
रति	सुरत १६१, १६२
रति	प्रद्युम्न या काम की स्त्री २७०
रथी	रथ का सवार, सारथी ८६
रद	दाँत २२
रमतां	रमण करते हुए २६७, ३०२
रमंति	खेलती है १३
रमंती	खेलती हुई १८
रमण, रमणि	प्रेमी, पति १८३, २१५, रमणी, प्रेयसी १६२, १६७
रमै	विहार करता है २३२
रयणि	रात्रि १८१, १८२
रलतलिया	बह निकला १२२
रविकिरण	सूर्यप्रकाश ४६
रस	इच्छा ८३, रस २०६, ३०१ नवरस २६२, आनंद २६५, ३०२
रसदायिनि	रस या आनंददायिनी २६७
रसवंछक	रस के इच्छुक २४५
रहंति	रहते हैं २१६
रहती	रहती हुई १६७
रह	राह ४६

रहरह	रह रह कर ४६
रहसि	एकांत ३०२
रहिया	रह गये, आये नहीं ७०
रही	रही ११०
रहे	रहे हैं २२६
रहै, रहै	रह गये २५४
राइ	राजि, श्रेणी २३१
राइहर	राजा, राज्यकुल (राज्यधर) ७७
राखि	रखकर १४८
राखी	रखी ७९
राखे	रखा ४३
राजकुँअरि	राजकुमारी १३, १४, ८३
राजति	शोभित है १०, १४, २२, २४१
राजरमणि	रानी १४८
राजवियां	राजवंशियों में ३१
राजान	राजे ४१, १४८, १९४
राज	आप ५६
राजै	शोभित है २०३
राणी	रानी ७९, ३०४
राता	रत, लगे हुए, लीन १८० लाल २०३
राति	रात २१२
रातिराति	प्रतिरात, रात, रात २१२
राम	बलराम १२७
रामसरी	एक चिड़िया २४६
रामा	लक्ष्मी १२, २७०, २७३

रामा (अवतारि)	राम ६३
रायंगणि	राजा के आँगन में १४
रिखपंति	नक्षत्रपंक्ति २२
रिखि	ऋषि १६४
रिखिय	ऋषिगण २०१
रिण	रण १२२,१२७
रिणाई	ऋणदाता, महाजन २२०
रिणी	ऋणी, क़र्ज़दार २२०
रितु-रित	ऋतु २२६, २४८
रितुराउ	वसंत १६
रितुराय	,, २४३
रीझ	प्रसन्न होकर २४७
रुकम	रुक्मक, रुक्म, रुक्मि, भीष्मक का ज्येष्ठ पुत्र ११
रुकमइयौ	रुक्मक, भीष्मक का बड़ा पुत्र १३२
रुकमकेस	भीष्मक का चौथा पुत्र ११
रुषमणिरमण	कृष्ण १६२
रुकम बाहु	भीष्मक का दूसरा पुत्र ११
रुकम रथ	भीष्मक का पाँचवाँ पुत्र ११
रुकमाळी	भीष्मक का तीसरा पुत्र ११
रुख	सिर २६
रुप	भाँति ४२, २०५
रुहिर	रुधिर, रक्त १२२
रुँख	पेड़ २३१
रुठा	रूठे हुए २०२
रूप	आकृति ६१

रूप	सौंदर्य से १७०
रै	के ७८
रे	अरे ११२
रेख	रेखा १६६
रेवा	नर्मदा नदी २४१
रेसि	लिये १४१
रोमांचित	पुलकित शरीर ५७
रोमांसू	रोमों से १६८
रोरो	रोली, अबीर २२७

ल

लंगरै	सांकल १६७
लखण	शुभ लक्षण ३०४
लखण	लक्षण १३, ५७
लखे	देख २०१
लगन	लग्न, मुहूर्त ३६, ६६, १४६
लगाए	लगाई हुई, बाँधी हुई १६७
लाग	योग्य, लगतो १०४
लगि	तक १०८, १२३, २६६
लगो, लगै	तक ४४, १०३, ५६
ललाटि	भाल में ४१
लवली	लता १६१

	शोभित है १९७
लसइ	शोभा, लास्य, अंगभंगी १०६
लसणि	तरंग, लपेट १९१
लहर	लहरें १४१
लहरिउँ	समुद्र १४१
लहरीरव	पाकर ९४
लहि	पाता है ९४, २८१
लहै	लाखों पर, लाख संख्यक द्रव्य पर २५०
लाखे	लगे १४४, २२०
लागा	लगी २, ४४, २३१, २४६
लागी	लगे, लगने पर २३१
लागे	लजाती हुई २१३
लाजती	लज्जाशील १८
लाजवती	पत्नी ३३
•लाडी	उपलब्ध, पाई, मिली हुई १५७, २०२
लाधी	{मिलता है, मिले मिलने पर, मिले पर ५८, ७३
लाधै	
लाधो	पाया, मिला १५७
लाया	जलाये हुए, लगाये १६४
लास	घुड़साल, पायगह पंक्ति २४१
लारोवरि	पीछे ११४
लिखमी	लक्ष्मी ३३, ७३
लिखि	लिखकर ४३
लिखिया	लिखे हुए, चित्रित ११४
लियत	ली जाती है २४६
लियै	ले रहा है, लिये हुए १४१

लियौ	लिया ३५
लिलाट-निलाट	भाल में, १७५, १९९
लीध	लिया ६२
लीधे	ले लेने, उतार लेने पर १९७
लीधै	वास्ते ८२
लीला	खेल १३, २७१
लीलाधण	लीलापति, विष्णु २७१
लुंचित	नोचे हुए २४०
लू	गर्म हवा १९१
ले	ले कर ८३
लेइ	लेकर १३०
लेखणि	लेखनी ४३

व

वंछिति	इच्छा करती हुई १६२
वंछइ	चाहता है २७८
वंछित	इच्छित, इष्ट २८०
वंदण	वन्दना, प्रणाम १६, ५४
वंदै	वंदना करती है ७३
वंसा	बाँस १५३, बाँसुरी २२७
वखाणि	बखान करती है २४
वगि	एकत्र २८३
वजाए	बजाते हुए २२७
वटाऊ	पथिक ४४

वडगिरि	हिमालय ८४
वडफरि	ढाल १२६
वडौ	बड़ा ३५
वण	वन २२४
वणतौ	बनता हुआ ९८
वणराय-इ	वनराजि २४८
वणि	वन में २५७
वणी	बनी, शोभित हुई २००
वणे	बने २३५
वणै	बनता है ५७
वदनि-वदन	मुख में ६०, १७६
वधंति-वधंती	बढ़ता है १३, बढ़ते हुए २३
वधण	बढ़ने २१८
वधाइहार	बधाईदार १३८
वधाई	बधाई २३२
वधाउआँ	बधाईदारों को १४२
वधाए	बधाई दी २३८
वधावे	बधाई देता है, बधावे, बधाइयाँ २३८, १४८
वधिया	बढे २३
वधू	दुलहिन, स्त्री १६२, १८६
वधे, वधै	बढे १८७, बढ़ता है १३
वनसपती	वनस्पति २२९, २३०
वनि	वन में २३२
वयण	वचन ५, २२३, २९५, ३०१

वयणा वयणि	वचनों से २०६
वयणे	वचन से २६
वर	दुलहा, पति २६, ३५, ६०, ११२, १७२, १८१, १८२, २८१
वर	श्रेष्ठ २६
वरजित	बंद ११६
वरण	वर्ण, रंग ४६, १४४
वरणण	वर्णन ८
वरणा	वर्ण (से) २८६
वरणि वरणि	वर्ण वर्ण के २३७
वरसतै	बरसते हुए, बरसने से १६६
वरसाल	बरसानेवाला ३४
वरसि	वर्ष में १३, ३०५
वरसि	बरस कर १६३
वरसै	बरसता है ११७
वरहासां	घोड़ों के ११५
वरि	भाँति, मानो १५, ३४, पर, के ऊपर ८६
वरि	सुन्दरी, पतिव्रता १८२
वरि	वर ने २२१
वरिखा	वर्षा २०६
वरुण	एक देवता २३
वरै	विवाह करे ३५
वलतो	आने पर २०६
वलि	फिर, और २६३

वल़ित	गूँथी हुई ९३
वली	वलित किया, परिवेष्टित ८४
वल़ी	लौटी २०९
वल़े	फिर ९, ८६
वल़ै	वलय, कंकण ९३
वेलि	वेलि, लता २९३
वल्लो	,, २३३, २९१
वसंति	पीला ११५, बसंत में २६६
वस	वश ५
वसइ	स्थित है, रहता है १९७
वसत	वस्तु ८१
वसत्र	वस्त्र ९५, १९७, २०५, २३७
वसत्रे	वस्त्र से २१९, २३०
वसन	वस्त्र २३६
वसि	वश में ३६, २६६
वसिया	बसे, रहे २६९, २७१
वसी	आई, हुई ३१
वसीकरण	वशीकरण १०९
वसुदेव	कृष्ण के पिता १५२, २७०
वसुधा	पृथ्वी १९७
वसुह	वसुधा, भूमि २४३
वहंति	बहता है २६५
वह रहे	चलते रुक गये ४६

वहती	धारण करती हुई १६७
वहतै	चलते हुए १३८
वहि	वही १६९
वहै	मारा ६३, चलते हुए १६६, चलने या हिलने से २५४
वहै	चलता है, १०६, ११७, २१९, २५९
वांकिया	धनुषाकार लकड़ी (रथ के पहिये में) ८९
वाचत	पढ़ते ५७
वांछता	चाहते थे......
वाइ	वायु १९१
वाउ	वायु ११९, २२२
वाउवा	सन्निपात (वात) वश, ४
वाउलौ	बावला, पागल ४
वाए	चल कर २२२
वाकार्यौ	पुकारा, ललकारा १३१
वाखाण	बखान २११
वाखाणण	बखानना ९५,
वाखाणै	बखानते हैं २६
वाग	वाटिका, सरस्वती, वाणी २६८
वागहीणि	वाक्हीन, गूँगा ३
वागां	घोड़े की रासें ११६
वागुरि	जाल ८२
वागेसरी	वागीश्वरी, सरस्वती ३
वाग्यो	बोला १३०

वाच	वाणी १५७
वाचण	बाँचने ५८
वाजति	बजता है ११५
वाजित्र	बाजा १४८
वाजिया	बजे १९६
वाढ	धार ८६
वाणि	वाणी २४, १४८, २२१
वाणिजाँ	बणिकों को १८६
वात	बात ३६ वायु ११५ वादो २८५
वातचक्र	बगूला ११५
वाद	विवाद ३
वादल	बादल २०८
वादोवदि	बदाबदी से १३८
वाधण	बढने १३८
वाधाऊआ	बधाईदार १६६
वाधै	बढता है २८२
वाम	बायाँ ९९
वामे	बायीं ओर १५७
वायौ	बोया २९१
वार	वार, दफा ६४
वार वार	बार बार १४७, १७०
वारि	वार करके १४७
वारै	वारते हैं, न्यौछावर करते हैं १४७, २२५
वालियौ	दिया, डाला ८६

वाली	बाली, वालियाँ ८९
वाजे	बज रहे हैं १४८
वास	सुगंध १८३
वासग	वसानेवाले २७१
वासना	इच्छा ३१
वासिए	निवासियो को २०६
वासुदे	वासुदेव २७०
वाहणि	वाहन पर २२२
वाहणी	बहनेवाली २९०
वाहवाँ	चलाते हुए १२४
वाहर	सहायतार्थ चढ़ाई ६४, ११२
वाहरुए	सहायतार्थ चढ़नेवालों ने ११६
वाहला	बादल या नाला, तुच्छ नदी ३४
वाहवियै	चलाने से, हल चलानेवाले १२३
वाहिस्यइ	चलावेगा १२३
(हाथ) वाहिस्यइ	शस्त्र प्रहार करेगा १२३
विगलित गति	म्लान दशा को प्राप्त १७४
विचारि	विचारी ३६
विचित्रे	विचित्र १६१
विट	लंपट, कामी १८६
विण	बिना, सिवा २२३
विणु	बिना ७, १९७
वितए	बीतने पर २०८
वितीत	व्यतीत १९
वियुरी	बिखरी २००
विदरभ	विदर्भ देश १०

विदुख	विद्वान् २६
विदुर	स्वाँग बनानेवाला, विदूपक २४५
व्रिधपणै	बुढ़ापे में ३२
विधायक	करनेवाले २७५
विधि	रीति, प्रकार १८ विधान १४८, १५७
विधिपाठक	शास्त्ररीति बतानेवाला २४५
वियाज	व्याज से, बहाने से १५९
विरहिण	विरहिणी १९५
विरहि	विरही २२७
विरहियाँ	बिछुड़े हुओं को १८६
विराजति	शोभित है २४
विराजै	,, ८९
विराजै	विराजते हैं ६५
विराम	निवासस्थान १८
विरुधि	युद्ध में १२९
विलकुलियौ	क्रोध से रक्त हो गया १३१
विलखी	विलखित हुई, व्याकुल हुई १७
विलग्ग	लगकर २५९
विलासा	विलास १७२
विलोकन	देखना १७०
विवरजित	रहित, बंद ११९, १५१
विवरे	बिल में २१७
विसतरण	फैलाने ८२
विसतरियाँ	फैलाये २५२
विश्वकृत	विश्वकृत्, विश्वनिर्माता २७५

विसहर	विषधर, साँप ८६
विसिख	विशिख, बाण ११६
विसेखि	विशेष ५४
विहत	निवारण के लिये २२१
विहाणै	प्रातःकाल १६२
विहित	ठीक है १८८
वीखियै	देखकर ५३
वीछड़तै	बिछुड़ते समय १७
वीजलि	बिजली १४४
वीणति	चूँटती है, एकत्र करती है २५७
वीणि लियां	चुन लिया, निकाल लिया, उठा लिया ६८
वीनती	विनती ३०१
वीनवियौ	विनती की ५८
वीर	भाई ४४, ७५, १३०
वीवाह	विवाह ३०, १६१
वूठै	वर्षा होने पर १२३
वूठौ	बरसने लगा, बरसा १६७
वेयणि	वेदना पूर्ण वचनों से २२६
वेगि	वेग से, १०६
वेड़तै	युद्ध करते हुए, काटते हुए १२६
वेदवँत	वेदवित् ७६
वेदविद	वेदज्ञाता १५०
वेदारथ	वेदार्थ ७६
वेदी	वेदिका १५३
वेदे	वेद में ५४

वेदीगत	वेदोक्त १५०
वेधियौ	वेधा ९३
वेल़	लहर १८६
वेल़ा	समुद्र की वेला ६३, समय १२३
वेल़ाहरण	समुद्र ६३
वेलि	वेलि, लता १२, २५९
वेली	सहायक, साथी १२३, लता २५१, २५२
वेस	अवस्था १५
वेसासौ	विश्वास करो ३२
वेसि	उम्र में १४, २३
वेह	विवाहवेदी के चारों ओर स्थापित कलस १५३
वैद	वैद्य २९९
वैसाखि	वैशाख को २५२
व्याए	जन्म दिया, जना २५२
व्रन	वर्ण १९०
व्रह्मसू	ब्रह्मसू, वेदों को उत्पन्न करनेवाला २७५
व्राहमण	ब्राह्मण ४४
व्रिख	वृक्ष १८८
व्रिख	वृषराशि १८८
व्रिधि	वृद्धि २९२
व्रीड़ित	लज्जित १३६

स

संकरखण	संकर्पण, बलराम ७४
संकर	शंकर ने १०७
संकुचणि	संकोच १०९
संकुड़िणि	संकुचित होने, घटने २२०
संकुड़ित	संकुचित हुए १६२
संखधर	शंख धारण करनेवाले, विष्णु ८४
संखेप	संक्षेप में २७२
सँगि	साथ में १४,३७,४१
संगीती	सांगीतिक, गानविद्या का पंडित २९९
संग्रहि	संग्रह करे, स्थापित करे ६०
संग्रहि	पकड़ या धारण करके १३१
संघट	समूह १७९
संघाती	साथी १७
संच	चली, संचार किया, प्रवेश किया १०९
संजोईं	जलाई १०१
संयोग	मिलन २६४
संजोगि	संयोगिनी २२२
संजोगिणि-संयोगिणि	संयोगिनी १८५,२५६,२६४
संझा	संध्या १६
संझावंदण	संध्यावंदन १६
संथ	रहे हैं, हुए हैं ८
संधि	मेल, मिलना १५ संधान करके १३१
संध्या	साँझ १६२
सन्यासिए	संन्यासियों २८८

संपेखी-संपेखे	देखकर १०४,१०७
संप्रति	प्रत्यक्ष ५१, फिर ८७
संव्ररारि	शंबर का शत्रु, काम, प्रद्युम्न २७४
संभलत	सुनते हुए ११३
संभलि	सुनकर ११३
संभलो	समझ कर ७३, सुना १११
संभु	शंभु ६०
संवति	संवत् में ३०५
संसकार	संस्कार, विधियाँ १५२.१५४
संसक्रित	संस्कार, विधि १६१
संसार	जगत् २७७
सकंति	सकती है ७१
सकति	शक्ति २२१
सकतिवन्त	शक्तिमान २२१
सकुसल	सकुशल १४६
सकूं	सकती हूँ ६५
सकै	सकती है ७१,२०१
सखिए	सखिओं ने १६१
सगपण	संबंध १३३
सगल	तमाम १३७
सगाई	संबंध, वाग्दान ३२
सघण	घना २४७
सजि-सज	सजा कर ८६, ८७
सजै	प्रयोग करता है १३३
सतगुरु	सद्गुरु २०८
सइ-सई	सती १८२

सति	अस्ति, है १२५
सत्र	शत्रु १२३
सद	शब्द ४८, १६६
सदल्	दल (सेना) सहित १४६
सदोख	दोषसहित ३०१
सधण	पत्नीसहित १४६
मधर	कठिन २५, धारण करनेवाला २३६
सनस	संकोच से, लिहाज से १३३
सन्निधि	पास १३३
संपेखतै	देखते हुए ११०
सबल्	बलरामसहित १४६
सबे	सभी २१५
सभिन्न	भीगा हुआ २५८
समझण	समझने को २७८
समये	समय में १६२
समरण	याद करने को, भजन के लिये २७८
समरवै	चमक रही है ११६
सर्मरथ	समर्थ १३७
समरि	युद्ध में १२६
(समसरि)	बराबरी की शोभा २६०
समरपित	दी हुई, पहनाई हुई ६६
समवेग	*कृष्ण के एक घोड़े का नाम ६८*
समसमा	समान १६२
समाइ	समाता है २११
समागम	समागमसमय १६७
समाचार	ख़बर, संदेश ५६

समाणिश्राँ	समवयस्का २१३
समाणी	बराबर उम्र की १४
समापित	पूर्ण होने पर २२६
समारि	गँवारी हुई ८५, सँवार २२६
समावृत	घिरी हुई १६१
समाश्रित	श्राश्रित, स्थित, चले जाते हैं १६५
समी	समान ३३
समुहै	सामने हुए ११७
समै	बराबर ८४
सम्रिति	स्मृति, धर्मशास्त्र २८
सर	स्वर २०, ११३, १६४ बाण १०६, ११८
सरग-सरगि	स्वर्ग २१७ स्वर्ग तक २४२
सरगलोक	स्वर्ग २६४
सरण-सरणि	श्रासरा, शरण ५८, १८८, २६७
सरति	चलता है २६१
सरधा	श्रद्धा, शक्ति, २७६
सर्बजीव	सर्वजीव, ब्रह्मा का एक नाम २७५
सरयु	सरयू नदी १०६
सरला	सीधे, लंबे २४२
सरवरि	रात्रि, सरोवर २३

सरसै	सरस्वती ३०२
सरसवि-त्री	,, १, ४, ६१, २७६
सरि	समान, बराबर ३४, ३०
सरिखाँ	बराबरीवालों १२६
सरिस	समान, से ३२, के साथ १५०
सरिसौ	समान ४
सरि	डोरा, एक गहना ६१
सरीख	सदृश ४८, २८१
सरैं	बने ७
सरोवरि	तालाब में १२
सवारि	सँवार कर २०
ससत	सत्य ही, निस्संदेह ६८
ससत्र	शस्त्रचिकित्सा २८४
ससिहर	शशधर, चंद्र २७
ससी	चंद्र, एक संख्यक ३०५
सहचरिए	सखियों २७२
सहस	सहस्र ५
सहसफणि	शेष १६०
सहसे	सहस्रों से (युक्त) १६०
सह	साथ २७२
सहि	सब २६६, २६७, ५६
सहि	अवश्य १५२
सहित	साथ १७८
सहु	सब, सभी ११०, १६५
सहू	सभी १४१, १५५
सहै	सहन करता है २९६

सांगुष्ट	सांगुष्ठ, अँगूठेसहित १५६
सांझ	संध्या ४७
सांडसी	सँड़सी १३२
सांभलि	सुनकर २९, समझ कर ६७
सांवल	श्यामल ४०
सा	वह १७८
शाकिणि	शाकिनी २८७
साखियात	साक्षात् ९८
साथ	संग १२३
साथि	साथ में ६७,
साध	लालसा, मन की इच्छा १८३
साध्र	साध, लालसा १८३
सापराध	अपराधी २६१
साबतौ	सही सलामत १२३
सामरथीक	सामर्थ्यवान् ३०४
सामल	श्यामल, साँवला, काला १४६
सामुहै	सामने ११७
सायर	सागर ४८
सारँग	शार्ङ्ग धनुष ६७
सार	सार वस्तु १,
सारथी	सारथी ६७, ६९
सारिखा	समान ८
सालिगराम	शालिग्राम ६०
साले	साले के १३७
सावक	बच्चा २७

सास	स्वास २१
सासत्र	शास्त्र २८
सासना	शासन, सजा, शिक्षा १३५
सासू	सास २७०
साहस	हिम्मत ३०१
साहण	गज, अश्वादि साधन २८२
साहियै	साधते हैं, लेते हैं १२९
साहुलि	पुकार ११३
साऊजम	सोद्यम, कार्यव्यस्त १४१
साहे	साधे, पकड़े हुए ११२
साहै	लग्न १५१
सिँगार	श्रृंगार ८
सिंघ	सिंह ५९, एक राशि का नाम ९६
सिंघासण	सिंहासन २३८
सिंधुसुता	लक्ष्मी २७३
सिख	शिखा ८८
सिखरि	शिखर पर २०४
सिखि	मोर २०४
सिणगार	श्रृंगार ८०, १००
सिणगारै	सजाता है १९४
सिणगारिया	श्रृंगारे २४१
सिद्धि	सिद्धि २७६
सिध	सिद्ध, सिद्धहस्त ७४
स्याल	सियार, गीदड़ ५९
सिरहर	शिरोधर, सरताज १०
सिरां	सिरों के, धान के बालों के १२६

सिरा	धान की बाली १२५
सिर	ऊपर ६४, २०४
सिरि	श्री, शोभा २४८
सिरि	पर, सिर पर, चोटी पर ८६, ११४,१८७
श्रीपंड	चंदन ६२
सिलह	कवच १०४
सिल्हाँ	कवचों ११८
सिला	शिलहों २३८
सिलाउ	(विद्युत) शलाका, बिजली ११६
सिलीमुख	बाण ६७
सिली	शलाका ८६
सिली	धार देने का पत्थर ८६
सिसिर	शिशिर ऋतु १६, २४८
सिसुपाल	शिशुपाल ३४, ३५
सिहरि	शिखर पर ११६
सी	शीत २२५
सीकर	बिन्दु, कण २६०
सीख	शिक्षा ६१, ६३
सीखव्या	सिखाया, शिक्षा दी ६२
सीखावि	सिखाकर ७६
सीत	ठंढ २१६, २२१
सीतलताइ	शीतलता १८३
सील	शील १०३
सीलि	शील में १४
सीस	मस्तक पर ४६

सुं	से १०३
सुंदरि-सुंदरी	सुंदरी १०६ ,, २६७
सुँधा-साँधा	साँधा, सुगन्धित वस्तुएँ २०५
सु	अच्छा ६, अपने ११२
सु	सो १५, १६, २२, २३, २६, ३२, ३६, ६४
सुकदेव	शुकदेव ८
सुकल	शुक्ल, श्वेत २१०
सुकवि	श्रेष्ठ कवि ८
सुख	सुख ६६, १७३, १७६, २६१
सुखपत्ति	सुषुप्ति १५
सुगह	अच्छी तरह मथन १२७
सुगृह	अपने अपने गृह २१६
सुग्रीवसेन	कृष्ण का एक घोड़ा ६८
सुजि	वही ७६
सुयोधन	दुर्योधन २१६
सुणति	सुनाई देती है ४८
सुणि	सुनकर ५२
सुणिजै	सुना जाता है ११५
सुणै	सुनते हैं ७७
सुतन सुतनु	सुंदर शरीर २१, ४३
सुतरु	सुंदर पेड़ १८७
सुत्री	सुंदर स्त्री १५०, २०७
सुथिर	दृढ़, सुस्थिर २६१

सुदरसण	सुदर्शन, अच्छा दर्शन ५२
सुइ	सोकर २८०
सुद्धि	शुद्ध २८६
सुध	शुद्ध, श्रेष्ठ ३०
सुनमित	नीचा किया हुआ १३६
सुपहु	सुंदर प्रभु, अच्छा राजा २७७
सुपुत्री	अच्छी बेटी ११
सुपुहपे	सुंदर फूलों से २३०
सुबहू	सुन्दर पतोहू २७०
सुब्रीड़ित	लज्जायुक्त १३६
सुभ	श्रेष्ठ २८३
सुरँग	सुन्दर रंग का १४५
सुरँगे	सुन्दर रंग के २३०
सुरमण	सुन्दर रति करने की १८३
सुराज	सुराज्य २५१
सुवि	सभी २८४
सुसमित	सुस्मित, मुस्कयाते हुए; १३६
सुसरि	सुंदर लड़ी या माला ६१
सुसा	बहन ३५
सुस्री	सुन्दर शोभा २०६
सुहाइ	सुहावना २०
सुहाग	सौभाग्य २१३, २८१
सुहिणा	स्वप्ननामक अवस्था १५
सुहिणौ	स्वप्न ५१
सूं	से ५३, ६४, १०३,
सूं	क्यों, क्योंकर २६०

सूचक	बतानवाले ८६
सूझै	दिखाई देता है ४, ३०
सूणहर	शयनगृह १५८
सूता	सोये १८४
सूतौ	सो गया ४६, ४७
सूत्र	डोरा १७१
सूद्र	शूद्र ६०
सूध-ति	शुद्ध करता हुआ २६५
सूधाँवास	सौंधावास, सुगन्धित गंध १६६
सूप	छाज २९५
सूर	सूर्य ४२, १८७
सूरिज	सूर्य १६२, १८८
सूहव	सधवा नारी २१७
सेन	सेना १०७
सेवंति	सेवा करता है, भोगता है २१५
सेवंती	सेवती का फूल २३७
सेव	सेवा ३३, २५५
सेस	शेष ५ बाकी १५२
सैल	पर्वत २६४
सैसव	बाल्यकाल १५, १९
सोइ	वही ४०
सोखण	शोषण, काम का एक बाण १०९
सौच	शुद्धि २६१
सोझण	संशोधन करने को २९५
सोनानामो	रुक्मकुमार १३४

सोमबल्लि	सोमलता २९३
सोलह	सोलह २११
सोवन	सोन चमेली, एक फूल २३७
सोहंत	सोहता है ९२
सोहति	सोहती है २२८
स्याम	श्याम, कृष्ण १७९
स्यामतर	श्याम जैसे २०१
स्यामता	कालापन २४
स्यामा	श्यामा स्त्री, रुक्मिणी २९, ७२, ८७, २०१
स्रगलोग-श्रगलोग	स्वर्गलोक २०९
स्रब	सर्व, सब २३०
स्रम-श्रम	उद्योग, परिश्रम ७
स्रवणि	कानों से ५२, ७३
स्रवति-श्रवति	बरसाता है २०३, झरती है २३१
स्रिंगार	शृंगार ८३
स्रीपति-श्रीपति	लक्ष्मीपति, भगवान ६
स्रुति	कान १६५
स्रोणि	नितंब २५

ह

हँस, हंस	हंस १२, १००, २१०, प्राण १२५, ब्रह्मा २७५
हँसणी-हंसणी	हंसनी २१०
हंसागति	हंस की सी गतिवाली १६६

हए	मारा ६१
हठ	हठयोग २८८
हत्थ	हाथ १३७
हथनालि	बंदूक ११८
हथलेवौ	पाणिग्रहण १५१
हय	घोड़ा २४१
हर	महादेव २६
हर	अभिलाषा २६, ७७
हरख-हरखि	हर्ष में, हर्षित होकर ३७, २४७
हरण	हरना १५१
हरि	हरकर ११२
हरि	हरी ११२, १४३, ५२
हरि	इन्द्र १६४
हरिणाकस	हिरण्याक्ष ६१
हरिणाखी	मृगनयनी ६१
हरिवल्लभा	लक्ष्मी, विष्णुप्रिया २७३
हरी	हरित १४२
हल	हल १२३
हलधर	बलराम १२४
हलांह	हलों से १२४
हलिद्र	हल्दी १४२
हलिया	चले १०५
हवाई	एक अग्न्यस्त्र ११८
हसणि	हास्य, मुसक्यान १०६
हसति	हँसते हुए १०५
हसि	हँसकर १७२

हसत	हस्त, हस्तनचत्र ६३
हा	थे, था १३७
हाइ	हाव २६६
हाथा	हाथों (में) १०८
हाथालगि	हस्तगत १०८
हाथे	हाथ से १०८
हाल़ाहल़ाँ	हलाहल विष (जैसे) १२४
हा लिया	लिये थे १३७
" "	चले ३०१
हालियौ	चला ३७
हास	हँसी २२,२४७
हिंडंति	झूलती है २६७
हिंसा	जीवहिंसा २७७
हित	उपकार ३५, प्रेम १०८
हिमकरि	चंद्रमा को ६३
हिमाचल	हिमालय २५८
हियौ	हृदय, मनोभाव १३४
हिल़वल़िया	जल्दी जल्दी, हड़बड़ाये १०५
हिव	अब १५, ४५, ५३
हींगल़ू	हिंगुल, सिंदूर ३६
हींडलै	झूलते हैं ६२
हींडि	झूले पर ६२
ही	ही, भी, ५, १३७, २०६
हीर	हीरा २७
हीलोहल	हलचल, लहरों का शब्द ४८
हुँता	से ४५, ५६

हुइ	हुआ १७६
हुआ	हुए ३७
हुइ	होकर ३७
हुइ	होकर १५७, हो १७६
हुइस्यै	होगी ५३
हुए	होकर ४५, ६१
हुए	होने से १५२
हुँता	थे ४१
हुलरायौ	लोरी दी गई २३८
हुलरावणै	गान द्वारा, प्रेम से २३८
हुवइ	होंगे १५२, होती है २१८
हुवि	चलने का शब्द ११८
हुवि	हो, होता है २८४
हुवै	हो ३५
हुऔ, हुवौ, हुऔ	हुआ ५२, ५३, १५२,
हूँ	मैं २, ५१, ५२, मुझे ६१, ६२
हूं	से ६१, १२२
हूंता	से ७२, थे, था १३७
हूती	से ६३, ६१
हूतौ	था ८८,
हेक	एक ३५, ४४,२०३
हेकणि	एक (से) १५०
हेकमन	एक मन ४५
हेका	एक ओर ४८
हेत	प्रेम ६
हेतु	कारण, लिये ७३

हेमंति	हेमंतऋतु में २१९
हेम	हिम, हिम दिशा (उत्तर) १८८, २२६, २१८
हेमगिरि	हिमालय १८७
हेमाल	हिमालय पर २१८
होइसै	होगा १५
होड	स्पर्धा १००
होमै	होमे, होमता है ६०
होलिका	होली २३०

प्रथम- ंक्ति-सूची

प्रथम-पंक्ति-सूची

फ

व

भ

म

र

ल

व

परिशिष्ट (क)

ढूँढाड़ी टीका

परिशिष्ट क

(ढूँढाड़ी टोका सं १६७३ में लिखित)

१—प्रथमही परमेस्वर कौं नमस्कार करै छै। पाछैं सरस्वती कौ नमस्कार करै छै। पाछैं सदगुरु कौं नमस्कार करै छै। ए तोने ततसार छै। मगलरूप माधव छै। तै कौ गुणानुवाद कीजै छै। या उपरांत मगलाचार को नहीं छै।

(सवत् १६७३ की ढूँढाडो (पूर्वीय राजस्थानी) टीका मे प्रथम दोहले की टीका नहीं मिलती। इसलिये यह टीका सवत् १८२६ में खुवास श्री आसाजी द्वारा लिखाई हुई असली ढूढाडी टोका को नकल से ली गई है।—सपादक।)

२—कवि कहै छै। जि मुनै उपायौ। जे परमेस्वर सुगुणां की निधि छै। जाके गुण कौ पार कोई न पावै। में निगुण थको तै कौ गुण कहिवा कौ आरभ कोयो। ता कौ दृष्टात। जैसें काठ की पूतली कों कारीगर करै। फेरि कारीगर कों पूतली चित्रणे चाहै। तेसें परमेस्वर कर्त्तमकर्त्ता मुनें उपायौ। अर हों परमेस्वर कौ गुण कह्यो चाहू। ग्रथकर्त्ता इह आंपणी लघुता करै छै।

३—कमलापति जु ईस्वर। तिहि की कीरति कहिवा कौ जु में आदर कियो छै। सू जीभ विना जाणें सरस्वती सू वाद करै छै।

४—कवि आंपणा मननै कहै छै जा वात कौ सरसती पार न पावै छै। ता वात कों तू साभै छै। आंपणा मनने कहै छै। तु

वाउलौ हुओ छै। जैसे पांगुलो मन की बराबरि दोड्यो चाहै तौ कहां पुहचै।

५—जिणि सेषनाग रै सहस फण छै। फणि फणि दोइ जीभ छै। दोय हजार जीभां करि नित नवौ जस कहै छै। तिण पणि त्रीकम जे परमेस्वर का जस को पार न पायो तौ मो मोडका को किसौ वस छैं। जा मोडका कै ऐक हो जीभ नहीं छै।

६—कवि कहै छै। श्रीपति इसौ कुण की मति छै जु तुहारौ गुण कथै। अर इसौ कुण तारू छै जु समुद्र तरै। अर इसो कवण पंषी छै जु गगन कहतां आकास लग पूहचे। अर इसो कुण गरीब सामर्थ छै जु सुमेर ने उठावै। जो अैसौ असामर्थ छै तौ बेसि रहै जस न कहै। ताको जबाब आगला दुवाला मांहि कहै।

७—कवि कहै छै। जिहां परमेस्वरि पहिले जन्म दीयौ। जिण मुप रै विषे जोभ दीधी। पाछे भरण पोषण करै। तिहां परमेस्वर को गुणानुवाद आपणि मति कै सारै श्रम कीधा विण केम सरै। बुधि कै अनुमान कह्यो चाहिजै।

८—कवि कहै छै। सुषदेव व्यासदेव जइदेव आदिदे अनेक सुकवि हुआ छै। पणि रीति सब ही की येक ही छै। श्री कृष्णदेव तैं पहिलौ ज रुकमणी जी कौ वर्णन कीयउ। सुया वासतैं जु श्रृंगार ग्रंथ कीजै तौ पहिलैं श्री कौ वर्णन कीयौ चाहीजै। श्रृंगार श्री कौ सोभित विसेष छै। वडा वडा कवि यौं कहिआ छै।

९—पहिलैं माता दस मास उदर विषै गर्भ धारण करै। पछै दस बरस लगि पालण पोषण करि वडो करै। इतनो ऐक

परिपालै। तो पुत्र कों हेत विचारतां पिताथी माता वडी। तेहि हित करि माता को वर्णन पहिलउ कीयउ।

१०—दषिण दिसा। तिहां विदर्भ नामा देस अतिहो सौभत। ता देस माहे कुंदणपुर नाम नगर। सु नगर अति इसउ उतम। तिहां राजाजी भीपमक नाम राज करै। सु राज किसउ विराजै छै। नागलोक का राजा थैं सिरहर। नरलोक। देवलोक। असुरलोक। सब हो तइ अधिक अधिक सोभति छै।

११—तिहि राजा रै पांच पुत्र छठी पुत्री। एक कउ नाम रुकम। दूजौ रुकमबाह। तीजै रुकमाली। चौथौ रुकमकेस। पांचमो रुकमरथ। ऐ पांच वेटांका नाम कह्या छै।

१२—रामां कहितां लक्ष्मी जी तिहिकौ अवतार। ताकउ नाम रुकमणी। सु किसी छइ। जिसौ मानसरोवर विषै हंस कउ बालक होय। कै सुमेरु कै विषै जिसी स्वर्ण की वेलि। दुदुं पानां हुइ होय। इसी रुकमणी जी देषीयइ छै। बाल अवस्था माहे इसी सोभित छै।

१३—और बालक जितरौ वरसदिन माहे वधै। तितरै रुकमणीजी एक महीना माहें वधै। और महीना माहे वधै। तितरौ रुकमणीजी ऐक पुहर माहे वधै। लषण बत्रीस संयुक्त। बाललीला माहे राजकुआरि ढूलडिया रमै छइ।

१४—रुकमणीजी कइ साथि जु सषी छै सु सोलै करि कुलै कर नै वै करि एक समान छै। जैसें कमल नी पांपूडी सर्व बराबरि छै। राजकुआंरि राय आगणि कै विषै सषी विचि इसी सोभा पावै छै। जिसी आकास के विषै तारा मध्य द्वितीया को चंद्रमा कों सोभा पावै।

१५—सैसव कहतां बालक अवस्था। तें माहे थकर बालक जाणे सूता बराबरि छै। जौवन आवै तब जाणे जाग्यो। सु इह तीन बालक अवस्था माहे सूत्री छै। नै यौवण आयै जागै छै। इहि विचि की संधि सु वयसधि कहावै। जैसें सुपिनो। न सौवै छै न जागै छै। आगें पल पल चढतैा होसी। यिणि हिवै वैसंधि को इसौ प्रथम ग्यांन ताको इसी परिछै।

१६—*पहिलें मुषकै विषै अरुणता दीसण लागी। जैसैं सूर्य कै उदय* पूर्व दिसा को आकास देषीयै। इसी मुषि विषै आरक्तता दीसइ छैं। पयोहर जु उठ्या छै। योवन अरु बाल अवस्था की संधि माहे कैसे उठ्या छै। जैसें रिपीस्वर राति अर दिन की संधि संध्यावंदण उठ्या होइ। रिपिस्वर को ओपमा कुचां नै दी। सु ए आवास तैं। जु राति अरु दिन की सधि संध्या वंदण उठै। अर ए बाल अवस्था योवन को संधि उठैं। तातें यो भाव लीयो। दूसरो यो भाव जु रिपिस्वरां को नाम सद्वृत कहीजै छै। इति अर्थः।

१७—जोवण आवंतो जाणि जीव नइ जंप नही छै। सु किसै आंटै। योवण आवै छै। पणि जावणहार छै। योवण आसी रहसी नही। तै आंटै तैा जीव नें जंप नही। अरु विलपी देषी जै छै सु कुंण वासतै। बालसंघातो बालपण बीछड़ै छै। बाल-संघातो बीछड़ै छै। तातें घणु विलपी छै। सुए आंटै छै।

१८—माता पिता कै आगै पेलतां। कामरा जु विराम छैं। सु छिपाया चाहिजै। सु कामरा विराम कुण। जु ऐक तउ कुच प्रगट हुया। नेत्रां चंचलता हुई। नितंब भारी दीसै लागा। ए काम का विराम। पहिलें बालकपणें निपंक पेलती थी। अब इया बातरी लाज कीधी चाहीजै। एती क्यौं डील में लाज जु लाज करंता लाज आवे लागी।

१६—सैसव जु बालकपणो सोई तौ ससिर रिति हुई। सीत रिति सुतौ वितीत हो गयो। हिवइ रितिराउ कहतां वसंत रिति सरूपियौ जोवन सु आपणा नाना प्रकार गुणगतिमति महित यौं परिगह ले आयो।

२०—हिवै वसंत आयौ। योवन फूलिजै छै त्यां सरीर फूल्यउ। नेत्र सोई कमल हुआ। मधुर वाणी बोलै छै। सु कोकिला हुई कंठरै विषै। पलक छै नेत्रां को इही तउ पांष हुई। भ्रूंह सू भ्रमर आयो बसंत कौ परगह।

२१—मलयाचल पर्वत सोई तौ रुपमणीजी को सरीर। उठै ज्यौं मलयतरु मौरजै छै। त्यौं अठे मन मौरयौं मौरयां पाछे कली हुवै। कुच येही कली हुई। कांमकी जौ दषिण दिसा हुती त्रिविध पवन सीतमंदसुगंध प्रगटै छै। त्यौं चतुर को नाम दत्तण कहावै छै। तौं रुपमणीजी छै सु चतुर छै। तिन रउ जु ऊर्ध सांसु उहै पवन हुवो।

२२—इहाँ रुपमणीजी कउ मुष पूर्ण चंद्र करि वर्णअै छै। रुपमणीजी का योवन आया अर्गांद प्रकट हुओ। इहाँ तौ चंद्रमा का उदौ। रुपमणीजी को मंद हास्य छै। सोई चंद्रमा को प्रकाश भयो। रुपमणीजी की दंति पंकति सोभित छै। सोई तारा हुया। नेत्र प्रफूलित हुआ सुइ है कमोदनी। राति कै विषै दीप चाहिजै। सु रुपमणीजी को नासिका इहो दीप। राति कउ अंधकार चाहिजै। तौ केसपास छै सौइ राति भई। राका कहतां पूर्णिमा ताको ईस चंद्रमा सौई मुष हुऔ।

२३—अइ तौ सरीर रै विषै वधाया। अर उवै, सरोवर रै विषै वधै। सु आंपणी बधती वैस विषै। अइ जोवन रै जौरि

वधीया। नइ उवे पाणी रै जोरि वधै। सु वधीया सु कांय वधाड्या। हाथ वधीया .....सु कमल करि वर्णया। अर ए बाह सु कमलरी नालि वर्णई। कामरा बाण कह्या छै। सु कमल।

२४—एजु रुपमणीजो कै कठिन स्तन छै सु करि कहतां हस्ती तिण का कपोल करि वर्णया छै। नवी वेसका कवि कहै छै। वाणी करि रूड़ा वषाणी। स्तनां उपरि स्यामता सोभै छै। सु जाणी जोवन का दाण दिषालिया छै।

२५—धरधर कहावै सुमेरु सु ए रुपमणीजी का स्तन छै। हमेरु का शृंग करि वर्णया छै। कटि छै सु घणी पीण छै अरु अति ही सुघट छै। पदमनी रुपमणीजी कौ जु नाभि सु प्रियाग करि वर्णयो। नाभि कै विषै जु त्रिवलि छै सु त्रिवेणि करि वर्णवी छै। श्रोण कहतां नितंब सोई तट हुउ।

२६—जंघस्थल किसौ छै। जिसौ करभ। करभ कांई कहिजै हाथरी चीटी आंगुली थी लै अर पुंहचा तांई इह तौ गूदौ। इह करभ कहीजै। दूसरा दृष्टांत जिसउ कैलि कौ पेड़ होय। विपरीत रुप कहतां उलटउ कीयउ। आगइ पींडी कइसी जैसी कैलि कौ गर्भ। विदुष कहतां पंडित सुवचना करि वषाणै।

२७—पदपल्लव कहतां पगां की आगुली। पुनरभव कहतां नष। आंगुलि उपरि नष छै। सु किसा सोभै छै। जैसइ उजल कमल उपरि जइसी पाणी की बूंद होय। बहुरि दूसरो दृष्टांत। कि इह तेज करि रतन हइ। तीजो दृष्टांत। कि तार कहवां रुपी हइ। किना इह तारा छै। कइ हरिहंस

कहतां सूर्य कै तारू कै ससि कहतां चंद्रमा। सावरू कहतां बचा छै। कै ए होरा छै।

२८—कोई कहसी रुपमणीजी श्रीकृष्णजी सौं अनुराग हुअउ सु विण देष्यां क्यौंकरि हुऔ। तिकौ जबाब देई छै। रुपमणी जी व्याकर्ण पढ़्या। पुराण पढ़्या। ईतनां सबही मांझि ऐक परमेस्वर ही कौ अधिकार पायो। तब कह्यो सु परमेस्वर कौण। तब पंडिता कह्यउ सु श्रीकृष्णजी। वसुदेवजी रा पुत्र। मनुष्य कै विचारि करि तौ इहिं भाँति अनुराग हुअउ। अर उवइ जातिस्मर हूंता ही। उनको पहिलां जनमां की पहिचाणि हुंताही।

२९—सास्त्र माहे सांभलि सांभलि रुपमणीजी रै कृष्णजी में अनुराग बध्यो। वरप्राप्ति हुआ वर को वांछा करै छै तिहि समय परमेसर रा गुण भणि जिकाई इच्छा उपनी छै। तिण पारबती अर महारुद्र की पूजा करण लागा। इच्छा सोई हर कहिजै।

३०—ईपे कहतां देपितां माता इसा चिह्न देष्या। तब वीवाह करण री घणउ विचार हुवौ। तब कह्यो सुंदर सोल कुल करि सुध। इतरां सिगलां थोकां करि ऐक कृष्णजी छै। औरतउ इसो बींद सूझइ नही। रुपमणीजी का माता पिता यो विचारयौ जु कृष्णजी ने दीजै।

३१—रुपमणीजी कउ भाई रुकमइयौ। सो राजा भीषम सौं अर माता सुं कहै छै। जु मुनै तौ इह अकल उपजै छै। जु राजवियां ने ग्वालां किसो ग्याति। कुण जाति कुण पांति। राजवीयां री सगाई तौ राजवीयां सुं बूझै छै।

३२—वले रुपमइयौ कहै छै। इतना राजवंस छांडि नें अहीर सुं सगाई करै। सू बूढा हुआं की वेमास को मत करो। देवौ माता पिता कितरउ चूकै छै।

३३—रुपमणीजी कउ पिता माता वेटा सौं जवाब करै छै। कहै वै तूं पातरि मां भूलि मां। सुरनर नाग तीन्यों लोक जाकी सेवा करै सौई इह वासदेव कृष्णजी। जा रुपमणी छै सु लखिमी। तूं अह सगाई वरजि मां।

३४—तव रुपमइयो अजाद मेटि बोल्यौ। सु ससिपाल वरावरि वींद कोई नहो। अति रोस करि जैसउ उलट्यौ ज्यो वरसाला कउ वाहल्यो उफणइ। ताको अर्थ जो पूर्ण गंभीर नहो। हलूओ छै।

३५—तव रुपमइयो गुर कै घरि गयो। पणि वात समझो नहो। चूक गुर कहतां निगुरुउ थकउ गयो। दमघोष इसो नाम परोहित तको घरि जाय बोलयौ। कह्यउ परोहित। वडौ हित यौ ही छै। सुसा कहतां बहिनि। जउ ससिपाल नै ब्याही जै तौ ए पारिसउ हित बीजो नहीं छै।

३६—ब्राह्मण ढोल न कोधी। हुकम रै सारै थो। क्यों भली वुरी वात विचारी नहीं। लगन ले सिसुपाल कै नगरि प्रोहित चंदेरी पुहतउ।

३७—तव घणो आणंदित होइ ससिपाल विवाहण चाल्यो। ज्यों ग्रंथि विषै गायो छै। जितनो एक परिगह कह्यो छै। तिहिं भांति-होय चाल्यो। अनेक राजा देस देसिका ससिपाल साथे चाल्या। जाण चाल्यां री गणती कोण करि सकै। वडा देसाधिपति साथि होइ नें चाल्या।

३८—ससिपाल आवतौ सुणि । राजा भीषमक के अनेक उछव होण लागा । अनेक बाजा बाजै छै । पटंबर का मंडप छायजै छै । कुंदणपुरि सुवर्ण का कलश चहोडीजै छै ।

३९—घरि घरि कै विषै भींति । हीगुंलुरी गारि सौं लीपै छै । फिटक की ईटां सों भींति चुणै छै । पाट चढीया छै सु चंदण का छै । पृभी सु पंना की छै । थाभा छै सु प्रवाली का छै ।

४०—रंगरंग रा समीयाना उभा कीया छै । सोई मानुं बादल हुआ । दमामां ढोल नीसाण अनेक नाना भाति का वाजा बाजै छै । सोः मानु मेघ गाजै छै । प्रोलि प्रोलि तोरण परठीया छै । सोई मानु मोर नृत्य करै छै ।

४१—ससिपाल के संगि जु राजा हुंता । सु कुंदणपुर के निकट आया । तब निलाड़ि हाथ दे देषण लागा । कहै छै । दूरि तें देषिजे छै । सु ऐ नगर छै । कि बादल छै । कि धवलागिरि पर्वत छै । कि धउलहर छै ।

४२—अस्त्री अनेक गोषां चढ़ी छै । मंगल गावै छै । ससिपाल छै । सु सूर्य आवै छै । यो जाणै छै सकल श्री जिवनी छै । तिवनी कमल पदमनी सूर्य के उदै फूलीं त्यांस मस्त फूलै छै । एक रुपमणीजी कमोदिनी ज्यों सूर्य कइ उदइ सकुचै । त्यों सकुचै छै ।

४३—जालो के पंडे बैठो रुपमणी देषै छै । जाणै छै इसौ कांई लहां जु कागल कृस्नजी ने लेई जाय । रुपमणीजी रो तन मन छै । सु कृस्नजी नै मिल रहीयो छै । कागल लिपि राष्यो छै । नय ही लेषणी । आंसू अरु काजल मिलि त्या ही मसि (हुई) तासुं कागल लिये छै ।

४४—तितरे ऐक पवित्र ब्राहमण जनेऊ सहित देख्यो। नैंने नमस्कार करयो। एक म्हारउ संदेसउ द्वारिका लगि जाय कहि। भाई ब्राहमण जाय कहि।

४५—रुषमणीजी ब्राहमण नै कहै छै। तूं ढील मतां करै। एक मतो हो या कार्य कई तांई। जहां जादवेंद्र श्रीकृष्ण छै। तहां तुं जाजे। माहारे मुपि हुतां तु पगवंदण कहिजे। अनें यो कागल दीजे।

४६—सूर्य अस्तमित हुश्री धरां कै विषै गहमहाट होइ रही छै। मारग मारग यें पंथो श्राय विश्राम कीयउ। पंथ चालता रह्या। ब्राह्मण पुर हुंतां बाहरि चाल्यो। पणि राति पड़ी तवै सूतो। आगें चाल्यो नहीं।

४७—ब्राहमण सूतो थको सोच करण लागो। लगन को दिन नेड़उ श्रायउ अर द्वारिकाजी दूरि। क्यों पुहचीजसी। इसो सोचि ब्राहमण कुंदणपूरि सूतउ। प्रातकाल जाग्यो तो द्वारिकाजी माहे जाग्यो।

४८—ब्राहमण कुंदणपुर सूतो थो। सू द्वारिका माहें जाग्यो। तब वेद धुनि सुणै लागो। संप धुनि झालर बाजती सुणी। दमामा वाजता सुण्यां। हेक तरफ द्वारिकाजी को कह कहतां सोर नगर रा लोकां (रो) सूणै। हेक तरफ समुद्र की लहरि को आघात सूणै। नगर को अर समुद्र को एक सब्द होइ रह्यो छै। ब्राहमण मनि इसो अचरज? होण लागो। जु हौं यह कासु सुणूं छों। उठि करि देषै लागो।

४६—पाणीहार्‌यां का समूह देषै लागो। त्यांह को वरण चंपाके फूल सारिषो सो सबही पणिहार्‌यां कै माथै कलस छै। सु

सुवर्ण का छै। अर सहां का हाथां कमल छै। तीरथ जिहं घाट घाट तिहां जंगम तीरथ कहतां अनेक तपसी देषीयत हइ। विमल कहतां उजल ब्राहमूण। अरु उजल ही जल। तिहां घणा ब्राहमूण स्नान संध्या करै छै। तब नगर कों चाल्यौ।

५०—आगे देष्यउ तौ हि गृहि गृहि विषै जग्य होय छै। जग्य जग्य रै विषै तप जाप होइ छै। नगर का मार्ग विषै अंबा मोर्‌या छै। आंब आंब रै विषै कोकिला बोलै छै। ब्राहमूण कुं बिस्मय होण लागो।

५१—ब्राहमूण कहै छै। ए वात देषां छे सु सही छै। कि सुपनो छै। कि हु अमरावती कहतां वैकुंठ आयो छूं। इसो भ्रम ज उपज्यौ। तब एक कों पूछ्यो। जु हो कोण ठोर छौं। तब उनि कह्यो जु देवता या श्रीद्वारिकाजी छै।

५२—जब इह बात सुणी जु हों द्वारिका आयो तब मन माहि संतोष हुओ। जिण द्वारिका कही तिण ने नमस्कार करि आघो चाल्यो। बहुरि पूछतो (पूछतो) दरबारि गयो। जातां ही श्रीकृष्णजी को दरसण हुओ।

५३—कंवल मरीषो मुष श्रीगोविंद देव रउ देषि। आपणा मन स्युं आलोच ब्राहण आलोचै लागौ। जु रुपमणीजी कृतारथ होस्यें। हों तौ कृतारथ हुओ।

५४—अंतरजामी पूर्ण ब्रह्म उहां पहिले ही जाण्यौ। जु यौ ब्राहमूण यें ही काम आयो जों जाणि नै उठीया। दूरंतरी आवतउ देषि ब्राहमण का पगां वंदनां कीधी। करि नइ जिहि भांति वेदे कह्यो छै। तिहि भांति ब्राहमूण को आगत स्वागत आतीथ ध्रम कीधौ।

५५—श्री कृष्णदेव ब्राहमूण ने संस्कृत भाषा करि पूछै छै। तुम्हारौ आगमन क्यां हुऔ। कह कहतां कहि। किल कहतां निश्चय। कस्मात् कहतां कुण थल थे आयो। किमर्थ कहतां कुण कार्य। केन कहता कुणै मोकल्यो। कितीक दूर थैं आयौ छै। परिजंति कति को यो अर्थ। जु तुहारौ ग्राम कितीक दूरि छै। ब्रूहि कहतां कहि। जनेन कहतां जिहां तुम्हारइ हाथि संदेसो कह्यो है। हे ब्राहमूण पुरतो अम्हे कहतां मेरे आगे जिहां पठयो हइ। अर जु कुछु संदेसउ कह्यो सु कहि। श्री कृष्णजी पूछै छै। कहां थे आयो। कुण कार्य। कुणइ मेल्ह्यो। कुण कन्हा आयो। किसै कामि यै बात तुम्ह कहि।

५६—तब ब्राहमूण बोल्यो। कुंदणपुर हुतां आयो। वसु पणि कुंदणपुरि। यों कहि ठाकुरजी के हाथि कागल् दीयो। यों कह्यो राज लगे रुपमणीजी मेल्हीयो। समाचार इणि कागल् माहि सहु छै।

५७—कागल् हाथि लेतां ही महा आणंद उपज्यो। रोमांचित हौण लागौ। आख्यां आँसू आवण लागा। कंठ के विषै गदगद वाणि हुई ए अति हीं हर्ष का लच्छण छै। तिण कागल् वाच्यो जाय नहीं। तब कागल् कृष्णजी ने ब्राह्मण रै हाथि दीयो।

५८—देवाधिदेव श्रीकृष्णजी की आग्या पाय कागल् वाचण लागौ। विधि पूरवक जक्यो कागल् माहे वडाई लिपजै छै सु वांचो आगे इह वीनती। जु असरणसरण तुम्हारो विरद छै। अर हुँ तुमारै सरणि आई छों।

५९—ए कागल् का समाचार रुपमणीजी वीनती करै छै। जु बलि बंधण इहो जु संघ की बलि छै। सु स्याल पासो। जो मुनैं

बीजो कोई परणस्यै । तो इह महा अजोग्य वात होसें । जैसें कपिला गाइ दान दीजै । अर कसाई कों दीजै । कै जाणे तुलसो का दल चंडाल के हाथ दीजै । इसो अजोग्य होस्यैं जो मुनैं काई ओर परणस्यै ।

६०—रुपमणीजी कहै छै । तुंम विना यो कोई और कोई भरतार म्हारे कारणैं आणसी । ईसो अजोग्य छैं । जिसो अग्नि माहि उचष्टि होम करै छै । कि जिसो मालिग्राम सूद्र का ग्रह कै विषै । कि जिसो मलेछ के मुपि वेदमंत्र ।

६१—रुपमणीजी कागल माहे लिपीयो छै । जु हरिजा तुम्ह वाराह रो रूप धरि । हरिणाकषि मारि । अर पाताल थे म्हारो उधार कीयो । करणामय कहा तो तदि थानैं कुणै सीप दीधी हुती ।

६२—देव दाणव भेला करि सृप को नेत्रो करि । मंदराचल पर्वत को मंथाण करि समुद्र माह थों कादि लीधी । तब थांनै कुंणै सीप दीधी जु यो कार्य कीज्यौ ।

६३—रामा अवतार कै विषै । रावण मार्यो । सु थाने कुंणै सीप दोधी । त्रिकुटगढ जो लंका तिहि माहि थो माहरो उधार कीयो । अरु वेलाहरण कहतां समुद्र बाध्यो ।

६४—रुपमणीजी कहै छै । ज्यों उरे तीनि वेर म्हारो उधार कीयो थो त्यों चौथी या वेलां आवणो छै । च्यारि हुँ भुजा । च्यारि हुँ आहुध लेहु । संप चक्र गदा पद्म ले अर म्हारी वाहर करो । तुम्ह तो अंतरयामी छौ । थांसु मुप करि किसी वात कहीजै । जु आप हो घँ अंतरगति जाणो ।

६५—कोई कहसी जों अंतरजामी छै । तो इनसृं तु काई कहै । रुप-मणीजी कहै छै । तथापि हुँ रहि नहीं सकों छों । अर

बकों छूं कहतां कहीं छों। एक तो हीं स्त्री अर प्रेम करि आतुर हुई। अर द्वारिका दूरि छै। सु राजि तहां विराजौ छो। अर विवाह रउ दिन नेड़ौ आयो। अर दुसमन आय नेड़ौ वइठौ।

६६—जब कागल लिष्यो छै। तब लगन आडा तीन दिन था। या घात छै। घणउ किसो कहुँ। इसी घात ओर नहीं छै। पूजा रै मिसि अंबिका रै देहरै नगर बाहिरि हुँ आवुं छुं। इतनो सहेट बताई। कागल का समाचार इतना सुण्या। समाचार सुणत ही चल्या।

६७—सारंग धनुष हाथि लीयो। सिलीमुष बाण लीयो। सारथी साथि लीयो। ब्राहमण आयो थो सु साथि लीयो। कागल क अरथ सुणी करि ततकाल रथ बैठा। कृपानिधि रथि बैठि चाल्या।

६८—कृष्णजी रै रथि घोड़ा जूता छै। त्यांह रा नाम सुग्रीवसेन। मेघपुहप सम उ वलाहिक (सम) महावेग सुं चालै छै। त्रिभुवन कहतां श्रीकृष्णजी पांति लागा रथ घणी उतावला पेड़ै छै। जाणिजै छैं धरती पर्वत रूंप साम्हा दोड्या आवै छै। जाय पुंहच्या।

६९—सारथी नै कह्या जु रथ ऊभो राषि। ब्राहमण नै कह्यो रथ थी उतरि। कृष्णजी यों कह्यो जु योही कुंदणपुर छै। ब्राहमण स्युं कहो हमारो नाम ले आया कहि। ज्यो रुपमणी जी सुष मानै।

७०—रूपमणीजी जाण्यो जु कृष्णजी रह्या इतनी ढील म्हांहरै सहाइ नै दौड़तां कदेन कीधी थी। चिंतातुर होय महा दुप

करि चिंतवन लागा। तितरैई छींक हुई। छींक होत हीं रुप-मणीजी धीरज बाध्यौ। तितरै ब्राहमूण आवतउ रुपमणीजी री दृष्टि पड़्यौ।

७१—ब्राहमण दृष्टि पड़्यौ तब रुपमणी कौं मन ज्यों पीपलपान बाउ को मार्‍यो डोलै त्यो डोलिवा लागौ। न तौ बूझै न रह्यो जाय। लोक पासै बैठा छै। त्यांह कै संकोचि पूछ्यो न जाय। अर मन माहि डर छै। कदाचित यों कहै जु नाया। ज्यो ज्यो ब्राहमण नजीक आवै छै। त्यो त्यों रुपमणीजी ब्राहमूण का मुष की धारणा ताकै छै। यो ले आयो होसी। तो मुष की धारणा रूड़ी होसी।

७२—ब्राहमण आयो सु विचार करण लागौ॥ रुपमणीजी रैं संगि सखी संत जण बैठा छै। ब्राहमण मन विचार कीयौ। जु इहि भांति कह्यौं जिह भाति ए आदमी यो न जाणै। जु कृष्णजी नै ब्राहमण लेण गयो थौ। तब कह्या ब्राहमण जु द्वारिका तैं कृष्णजी कुंदणपुर पधारीया छै। लोक इसो वात कहै छै। इतना दुराव राष्यो।

७३—तब रुपमणीजी बाभण कुं नमस्कार कोयो। लोकां जाण्यो ब्राहमण निमित वंदणा कही। पणि हेत इहै जु ब्राहमण कृष्णजी नै ले आयो। इह हेत वंदना करी। ब्राहमण री कही कांन सुणी। कोई कहसी ब्राहमण नै क्युं दीयो। जो लक्ष्मी ओरा सू एक कटाक्ष चित्तवै ताको दलिद्र दूरि होय। तौ जाकै पाय लपमा आप लागा। तिण रै अर्थ रो कौण अचिरज।

७४—कृष्णजी ने चढ्या सुणि। बलिभद्रजी चढीया। वतावलि सुं चड़िया। सु साथ बलिभद्रजी पणि। एकठा करि न

सक्यो। अर साथि लिया तिके इसा लिया। जो उण माहे एक ही होय तो इतरा कांम एकेलोई करै। इसा कलह विषै साथी। आषाढसिध लीया।

७५—मारग विषै भेला होय न सक्या नगर मांहि पैठा तव दून्यो भाई एकठा होय पैठा। सजन दुरजन नर नारी नाग रिषोस्वर राजा समस्त देषै लागा।

७६—कृष्णजी का जुदाजुदा रूप देषण लागा। कामिनी कहइ काम आयो। शत्रु कहण लागा काल आयो। श्रौर जिकेइ विरोधी न था त्यांह श्री नारायण को सरूप जाण्यो। वेद कां अरथी थां। त्यांह कह्या मूर्त्तवत वेद आयो। योगोस्वरां जाण्यो जोगतंत योही।

७७—वसुदेव कुमार श्रीकृष्णजी को मुष देषि। लोक आंप माहि परस्पर बात कहण लागा। रुषमणीजी सो यो वर परणीजसी। श्रौर राजा हर मत करौ।

७८—वडै महलि ले जाय उतार्‌या। इकेक ठाकुर आगे दोइ दोइ आँणि आँणि हाथ जोड़ि ऊभा रह्या छै। बलिभद्रजी अर श्रीकृष्णजी राजा रे आया। तौ मनुहारि री कुण अचिरज छै।

७६—रुषमणीजी आंपणी सषी सिपाई रांणी पासि मोकली। जो आज थे मुनै हुकम करो तो अंबिका री जात्र करि आवां।

८०—राणी दुआं दोधी। रुषमणीजी ने। पति पूछि सुत पूछि। समस्त परिवार पूछि। दुआं दीधी। कह्यो अंबिका की जात्र करि आवो। पूजा को मिस छै। कार्य छै। सु श्रीकृष्णजी परसण को छै। रुषमणीजी शृंगार आरंभिया।

८१—कुमकुमो कहतां गुलाब रो पांणी। तिहां सूं स्नान कीयो। धोया वस्त्र अंगोछिवा निमित्त पहिरया। त्यांये पांणी की बूंद पड़ै छै। सु किसी देषिजै छै। जैसे मपतूल की *डोरो तूटो छै अर मुगमोती छछहा कहतां उतावला छिटकि* छिटकि पड़ै छै। इसी सोभा देषिजै छै।

८२—रुषमणीजी स्नान कीयो। ता पाछै सषी धूप देई छै केस पास मुगता करै छै। दुहुं हाथा सें केस पास जु उरला करि धूप देवै छै। ताको द्रष्टांति। मृग स्वरूपी श्रौ मन बांधिवा नै कांमदेव की वागुरि मांडी छै।

८३—बाजोट थी उतरि रुषमणीजी गादी आय बैठा। सिंगार कै रसि इतरै इक सषी आरसी ले मुह आगइ आय उभी हुई।

८४—पइहिली ही पोति आणि गलै बांधी। ताको द्रष्टान्त। जैसे कपोत कहतां कंमेडा का कंठ को स्याह लोक देषीयै। दूसरो द्रष्टांत। जिसौ महारुद्र कै विषै विष को स्यांमता। तीसरो द्रष्टांत। जु सुमेर पाषतो कालिंद्री फिरै छै। चौथो द्रष्टांत। समै भाग करि संप कृष्णजी एकै आंगुली सुं पकड्यौ छै।

८५—कवरी कहतां चोटो फूल दे दे गूंथी छै। सु मांनु यमुनाजी कै उपरि उजल फेण चढ्या छै। उतिमंग कहतां माथो। तिह कै अधोअधि मांग सवारी छै। सु जैसो अंबर कहतां आकास विषै कुमारमग इसी सोभित छै।

८६—अणियाला तीषा नयण। सु ए बाण करि वर्णाया छै। तीर री लोह तब ही तेज होइ जब पुरसाण चढ़ाईयै। सु कुंडल ही पुरसाण हुआ। अर सिलो करि नेत्रांजण करै

छै। सु पाथर की सिलों करि हथियार याढि दीजै। सु इहाँ सिलो करि नेत्रां नूं वाढ दीयो छै। हथियार संवारे छै। तव कहै छै जु पांणी नीको चालो छै। सु काजल दीयो सु येहो जाणे पाणी चालीयो छै।

८७—कमनीय कहतां सुन्दर कुंकुं को तिलक जु कीयो छै। सु प्रतपि महादेव का मुप का आरप कहतां चिहन। आंपणे मुषि आणि वणाया छै। रुषमणीजी को निलाट सु येहो चन्द्रमा हुश्रो। महादेव के तीसरे नैत्र अग्नि वसै छै। तिहि को जु ज्वाला उठै छै। इहै तिलक हुश्रो। महारुद्र के ललाटि चन्द्रमा छै। ता उपरि अग्नि की सिषा नीकलें। भृगुटो थै तिलक कीयो छै। निलाट लगै इह चंद्रमा थै कलंक दूरि कीयो छै। अर अग्नि निर्धूम की छै। उवा चन्द्रमा मांहे कलंक छै। अग्नि माहे धूम छै। सु इहां कलंक अर धूम दून्यों काट थां सुदूरि कीया छै। इसौ तिलक को भाव कह्यो।

८८—निलाट अर मस्तक की संधि कै विषै। जड़ाव की टीको दीयौ छै। मानो इह टीको नहीं छै। ससिपाल के आगमि भाग्य गुदी पाछै जाय रह्यो थो। सु कृष्णजी रे आगमि। मांग कै पैडै होय। सनमुष आई भालीयल विषै भाग्य उदै हुश्रो छै। यौ टीको नहीं छै।

८९—चन्द्रमा प्राय सरीषो मुष छै रुषमणी को। सु रथ करि वर्णयो छै। भूहां छै सु जूड़ो हुश्रो। चन्द्रमा कै रथ हिरण छै। सु नैत्र छै सु ये ही मृग हुवा छै। चन्द्रमा के रथि रासि सर्प को छै। सु इहां कुटिल अलक छै सु इहै रासि हुई। गाडी कै वांकीया हुहि छै। सु वाली कानां की एई वांकीया

हुआ । चन्द्रमा रथ हुओ (?) कुंडल छै सोई रथ का पहीया आछै । तथा चन्द्र छै सोई सारथी हुओ छै ।

९०—रुपमणीजी कंचुकी पहिरो छै सुमांनु इभ कहतां हस्ती ते कै कुंभस्थल उपरि अंधारी रापी छै । दूसरो द्रष्टांत । जाणे महादेव जी कवच पहिर्यो छै । काम सों जुद्ध करिवाकै ताई । तीसरो द्रष्टांत । श्रीकृष्णजी का मन के तांई मंडप छायो छै । जु मन आय वइसिसी । चौथौ भाव यौ । जु मन वांध्यो चाहिजै । त्यँ कै कारणै या वारिगह दीधी छै ।

९१—हिरणापो रुपमणीजी त्यांका कंठ कै विषै । अंतरि जु सरसती थी । सु मानों वाहरि लाल रूप करि प्रगट हुई छै । जु इह कंठसरी गलै बांधी छै । सु कंठसरी कै दूहुँ तरफां कु मोती लागा छै । सु परमेस्वर की कीरति छै । कीरति छै सु उजल छै । मोतीयां सरूपिणी कीरति लीयां । सरसती कंठ थे बाहरि प्रगट हुई छै । या कंठसरी नहीं छै ।

९२—वाजूबंध वांहां जि बाध्यां छै । सु गौर बांहां छै । मषतूल सों पोया छै । सु गौरता उपरि स्यांमता किसी सोभै छै । जैस्यै मणीमै हीडोलै मन धरि हींडै छै । मणि को हीडोलो वाध्यौ छै । मणिधर सर्प हींडै छै । अर श्रीपंड चन्दन को सापा हीडौलौ बाध्यौ छै ।

९३—गजरा नवग्रही पुंचीया ए प्रोंचा कै विषै । आपणो आपणो ठोड़ । विधि विधि सो वणाया छै । ता कौ द्रष्टांति । हस्त नषत्र जाणों चन्द्रमा कै वीचि वेध्यौ छै । दूसरो भाव । जाणे आधा कमल कै विषै । अलि कहतां भ्रमर तांहकी पंकति फिरी छै । हाथ कों आधो कमल करि वर्णयो छै ।

ग्रहणा तेई तो पुहप हुआ। अर रत॰
रुपमणीजी को सरीर याही वेलि हुई।
हुआ। नीलंबर वसत्र पहिर्‌या छै। पहिलै जु
कनक वेलि करि वर्णी थी त्यांह को यो।
कीयो।

९६—रुपमणीजी कटि विषै। कटि मेपला जु पहिरी छै। कटि किसी छै। महा कृस छै। करला ऐक कै मापि छै उपरि र्फाट मेपला छै। सु किसी सोभित छै। जाणे नवे ग्रह। जोग कै प्रमाणि करि। भेला होय सिंघ रासि आया छै। कटि प्रदेश तौ संघ कौ लंक वाकी उपमा दी जै छै। तातै संघ रासि कौ भाव कह्यौ छै।

९७—चरणां विषै चामीकर कहतां सुवर्ण का नूपुर। अर घूंघरा बांध्या छै। चन्द्राणणि कहतां चन्दवदनी रुपमणीजी। ए मानौ घूघरा नहीं छै। ए पीला भ्रमर छै। ए पहिरायति छै। चोकीदार छै। रुपमणीजी का चरणकमल त्यॅं को मकरंद जि रस। त्यॅं का रखवाला छै।

९८—दधि कहतां समुद्र सु समुद्र सोधि। अर जु मोती लीयो थो। जु वरणवाँ देष्यो सप्यात। गुणमै सु सत्यं या बात सहो। नासिका आगे मोती जु झूलै छै। सु किसी सोभा पावै छै। जैसे सुकिदेवजी कै मुषि श्रीभागवत सोभै छै।

९९—रुपमणीजी का मुष विषै। धंबोल को जु रस। कोकनद कहतां कमल्। कमल् सरूपी या मुष माहे। कमल् माहे कंजुलिकं हुआ तैसें ए माहे दंत। दुति कहतां सोभा कांति। वांम करकै विषै एक बीड़ी सु किसो देषिजै छै। जिसौ कीर कहतां सुआ। सु जातां हाथि सोभै छै। केलि का पावकौ पेषरी वासों बीड़ी। सु मानुं सुआ हाथ कै विषै क्रीडा करै छै।

१००—रुपमणीजी समस्त शृंगार संपूरण करि देविका देहरा दिसि मन कीयो। मोतीयां जड़ित पाणही पहिरी छै। सु ए पाण ही नहीं छै। ए मांनुं चालि चालिवा को होड छांडि। हंस आणि पगां लागा छै। इसी चालि हमारै कहै चाली नहीं (?) इसी जाणि हंस आणि पगां लागा छै।

१०१—रुपमणीजी नीलम्बर पहिरीयो छै। विहि माहे जु भ्रहणा पहिरीया छै। सु अंग अंग कै विषै। सु नग रतन उदोत करै छै। सु किसा देषिजै छै। मांनुं सदनि कहता घर घर कै विषै। कामदेव दीवाली कीधी छै। आनंदित होय कै।

१०२—कुमकुमा कहतां गुलाव। एक कै हाथि केसरि एक कै हाथि फूल। एक कै हाथि कपूर। एक कै हाथि पांन। एक कै हाथि अरगजउ। एक कै हाथि धूप। ए सषी सब सांमग्री लीयां छै।

१०३—चौडोल लगें रुपमणीजी जिहिं भांति चाल्या छै। सु कवि कहै छै। इहि भांति वर्णिवा वों मेरी मति समर्थ नहीं। सपोषां

९४—रुपमणीजी मोतीयां कौ हार पहिर्यो छै। इहां घणो फरप पड्यौ छै। हस्ती कै कुंभस्थलि। अर रुपमणीजी कै उरुस्थलि। तिसौ ही मोत्यां कौ हार रुपमणीजी का कंठ कै विषै छै। अर तिस्या ही मोती हस्ती का कुंभस्थल विषै छै। पणि सोभा वैसी नहीं। जैसी रुपमणीजी का उरुस्थल विषै छै। तिसी सोभा न पाई। तवै हीं पुणस का लोर्या। हस्ती माथा ऊपरि रज नांषै लागौ।

९५—जु धोया वसत्र स्नान करि पहिरीया था। सु ऊतारिया नौतन वसत्र पहिरीया त्यांह को वर्णन करिवा कवि कहै छै। हों सामर्थ नहीं। तथापि दृष्टांत कहै छै। भूषण जि ग्रहणा तेई तो पुहप हुआ। अर स्तन ऐई फल हुआ। रुपमणीजी को सरीर याही वेलि हुई। वस्त्र एई पान हुआ। नीलंबर वसत्र पहिर्या छै। पहिलै जु रुपमणीजी कनक वेलि करि वर्णी थो त्यांह को यो निरवाह कीयो।

९६—रुपमणीजी कटि विषै। कटि मेपला जु पहिरी छै। कटि किसी छै। महा कृस छै। करला ऐक कै मापि छै उपरि कटि मेपला छै। सु किसी सोभित छै। जाणे नवे ग्रह। जोग कै प्रमाणि करि। मेला होय सिंघ रासि आया छै। कटि प्रदेश तौ संघ कौ लंक ताकी उपमा दी जै छै। तातै संघ रासि कौ भाव कह्यौ छै।

९७—चरणां विषै चामीकर कहतां सुवर्ण का नूपुर। अर घूंघरा बांध्या छै। चन्द्राणणि कहतां चन्दवदनी रुपमणीजी। ए मानौ घूघरा नहीं छै। ए पीला भ्रमर छै। ए पहिरायति छै। चोकीदार छै। रुपमणीजी का चरणकमल त्यैं को मकरंद जि रस। त्यैं का रखवाला छै।

९८—दधि कहतां समुद्र सु समुद्र सोधि। अर जु मोती लीयो थौ। जु वरणतौ देष्यो सष्यात। गुणमै सु सत्यं या बात सही। *नासिका आगे मोतीं जु भूलै छै। सु किसो सोभा पावै छै।* जैसे सुकिदेवजी कै मुषि श्रीभागवत सोभै छै।

९९—रुपमणीजी का मुष विषै। तंबोल को जु रस। कोकनद कहतां कमल। कमल सरूपी या मुष माहे। कमल माहे कंजुलिकं हुवै तैसें ए माहे दंत। दुति कहतां सोभा कांति। वांम करकै विषै एक बीड़ौ सु किसो देषिजै छै। जिसौ कीर कहतां सुआ। सु जातां हाथि सोभै छै। केलि का पातकी पेषरी वासौं बीड़ी। सु मानुं सुआ हाथ कै विषै क्रीडा करै छै।

१००—रुपमणीजी समस्त शृंगार संपूरण करि देविका देहरा दिसि मन कीयो। मोतीयां जड़ित पाणही पहिरी छै। सु ए पाण हीं नहीं छै। ए मांनुं चालि चालिवा की होड छांडि। हंस आणि पगां लागा छै। इसी चालि हमारै कहै चाली नहीं (?) इसो जाणि हंस आणि पगां लागा छै।

१०१—रुपमणीजी नीलम्बर पहिरीयो छै। तिहि माहे जु ग्रहणा पहिरीया छै। सु अंग अंग कै विषै। सु नग रतन उदोत करै छै। सु किसा देषिजै छै। मांनुं सदनि कहतां घर घर कै विषै। कामदेव दीवाली कीयो छै। आनंदित होय कै।

१०२—कुमकुमा कहतां गुलाब। एक कै हाथि केसरि एक कै हाथि फूल। एक कै हाथि कपूर। एक कै हाथि पांन। एक कै हाथि अरगजउ। एक कै हाथि धूप। ए सषी सब सांमग्री लीयां छै।

१०३—चौडोल लगें रुपमणीजी जिहिं भांति चाल्या छै। सु कवि कहै छै। इहि भांति वर्णिबा तों मेरी मति समर्थ नहीं। सषीयां

का घणा समूह मांहे। रुपमणीजी किसी देपिजै छै। जैसें घणा लाज रै बीचि सोल देपीज्यै।

१०४—जिके रुपमणीजी का साथि नैं चढि चढि आया। ले ले घोडां का तंग। जैसें तारू कहतां ताला सा जडीया छै। इसा दृढ़ तंग लीया छै। जोधा जि बड़ा बड़ा घोड़ा चढ़ी आया। सु सिलह मांहि इसा गरकाव हुया छै। जैसें आरसी मांहि प्रतिबंव लोह बीचि समाइ जाइ छै। त्यों लोह मांहि नप सिष लगै गरकाव छै।

१०५—जु रुकमणीजी का साथ कों रथ्यां को पाइदल पाइक बिदा हुया छै। हलवलीया कहतां घणो उतावला छै। हाथी जु साध नैं मोजूद कीया छै। हालीया छै आगें होइ सु किसा देपिजै छै। ठौड़ ठौड़ चाल्या छै मदि बहता देपिजै छै त्यां का गात्र जिसा पहाड़ गति जिसी सरप (?) की सी छै।

१०६—घोड़ा छै सु महावेगवंत छै। रथ छै सु महा अंतरिप वहे छें। चन्दाणणि कहतां रुपमणीजी कै साथि ए चालीया। सु किसा दीसै छै। जिसा अयोध्या का वासी बैकुंठ तैं। देही चालता दीसै छै। सारा दधि मांहि सनान कीयो। अर विमांण बैसि बैकुंठ ने चालता दीसै छै। इसो सोभा दीसै छै।

१०७—अंबिका कौ पारस पाषाण को जु देहरो छै। त्यैं कों जु सेन्या घेरि रही छै सु किसी देपिजै छै। जैसी चन्द्रमा कै पासि जलहरी सौभै छै। कि सुमेर पाषती नषत्रां की माला सोभै छै। किना महादेव कै कंठि जैसी रुंडमाला सोभै छै।

१०८—रुपमणीजी देवाला मांहि पधारि अंबिकाजी को दरसण कीयो। पूजा को घणों भावसूं। घणीं प्रीति सूं। अंबिकाजी

आपणा हाथ सूं पूजि। जु वस्त आपणा मन नइ प्यारी थी। सु वस्त अपणै हाथि की। पूजा कौ फल हाथि आयो।

१०९—रुपमणीजी जाण्यौ पहिलौ ही लड़ाई पड़सी। ठाकुर को दरसण विणहीं कीयां तब पहिले ही रुपमणीजी सेन्यां चितलाया। देवालाथे बाहरि आइ। समस्त सेनां दिसि दृष्टि करि देष्यौ। पाछें क्यों थोड़ो सो हस्या। पछै क्यों थोड़ो सो आलस कीयौ। अंग विस्फोटवा कीया। जंभाई आई पाछें क्यों थोड़ा थोड़ा (?) चाल्या गति दिषाई। पाछै क्यों एक संकुच्या। ए पाँचो बाण सेना नें लागा। देषतां ही मन आपर पिलोयो। हस्तां वस्य होइ गयो। आलस्य कै मोहि वै मतवाला हुआ। चलिवें जेवी सेना हुंती तेती सहु पथलि गई। सकुचि वै सबही की देह सोयी। निरजीव हुआ देहरा के द्वारि आइ। ए तो उद्यम कीयौ।

११०—रुपमणीजी के देषतां ही सगली सेना जि हुती तितरां मन षंग हुआ। सहु सेना मूरछित हुई। देषतां ही कहुंनें संग्या रही नहीं। सु उवै किसा देव जै छै मांनु जिंहि दिन देवालो करायो थौ। तिन दिन एही पाषाण का घड़ि कै वणाय राष्या छै।

१११—तितरै श्रीकृष्णजी घोड़ा तेज पड़ि कै। सत्रु की सेन्याकों मंडल थौ ते माहि आया। यौं न जाण्यौ जु पृथ्वी कै पेंडै आया कि आकास के पेंडै आया। एसै तेजि आया तीन लोक का नाथ कै रथ की आवाज सुणी कि दृष्टि ही देष्यौ। इसी तेजि आया।

११२—वलि को बंधणहार। सब ही बात सामर्थ। श्रीकृष्णजी रुपमणीजी कौ बांह पकड़ि रथ ऊपरि बैसाणी। तबै बाहर

वाहर हुई। कहण लागा जु कोई होय सु दोड़िज्यौ। हरणांपो कहतां रुपमणीजी हरि कहतां कृष्ण हरि ले गयो।

११३—जहाँ जहाँ बैठा धवल मंगल सर सांभलिता था। तहाँ तहाँ पुकार सांभली। जिके अलवेला ठाकुर जुवांन तिके केसरिया वागां पहिरे बैठा था त्यांह वेगिदे सघलां ही बगतर पहिर्या। ताको दृष्टांत। जैसें बहुरूपिया सांग बदलैं। त्यैंसैं सांग बदलि गया। केसरियां पहर्यां था सु बगतर पहिर्यां दीसै लागा।

११४—चढि दौड्या छै। बडा बडा जे जोधा आगै पाछैं जु दौड्या छै। सु असवार किसा दीसै छै। जिसा चित्रामइ लिपीया। निहपरता कहां तेजि जावै छै। मुहडै बकता आवै छै। जु हिवें जानीजसी।

११५—धूलि जु ऊडी छै। त्यैं पेह माहे। सूरज किसौ देपिजै छै। जैसे वहूलिया (वधूलिया ?) माहे पात दीसै। निवै हजार वाजित्र वाजै छै। सु सूणिजै न छैं। सु कुण वासतैं जु घोडांरी नासा वाजै छै। त्यांहरो आघात सबद होइ छै। जु इतरों कटक भेलौ हु आयौ छै।

११६—जु घणी छैती हुंती बिहु कटकां सु घोड़े तेज चालते नैड़ी कीधा। बिहू फोजां आय देठालौ हुऔ। जब कृष्णजो के साथि घोडां का मुंह फेरि साम्हां किया। तब बाहरू तेज उतावला आवता था। सु वागां पाछा सु साम्हा हुआ।

११७—घिकै चाली। आम्हां साम्ही सुतौ जाणे काली घटा मेघ कै हुई। सु मेघ को आडंग जाणे जोगिणी आवी छै। रत कहतां लोही वरससी वेपुड़ी कहतां वादल को पणि वेपुड़ी वहै छै। सु

दीवड़ा वादल आम्हां साम्हां हुया। तब कहै जु मेघ वरससी तैसे फौज पणि बेपुड़ी वहै छै। सु जाणीजै जु रगति वरससी।

११८—हयनालि हवाई कुहक बाण यांको तीर आघात होण लागो वीरजु वडा वडा जोधा। त्यांकी वीर हाक होण लागो। गय हस्ती त्यांकी गहणि हुई। गहण कहवां भीड़ हुई। सिलह का लोह ऊपरि। जु वीरां का लोह लागौ छै। सु मेघ की बूंद समुद्र माहि पड़ै। ज्यों पाणी माहे पाणी मिलतौ जाय। त्यौं लोह माहैं लोह तीरां को मिलतौ जाय छै।

११६—बरछीयांरा अणी चमचमाट जु करै छै। सु ए जाणौं किरणां तपइ छैं। जबलग तपइ नहीं तबलग वरसै नहीं। किरण तपै छै सु बरछी किरण हुई कलि कहतां लड़ाई उकलिवा लागी। काइरता थी सु दूरि करी। जैसैं वाउ थंभै तो मेह वरसै। त्यों अठे असपपणौ दूरि हुआै? (संवत् १८२६ में की गई इस टीका की नकल से इस पंक्ति का अर्थ इस प्रकार है—"त्यौं अठै विसिप कहतां तीर चलावणौं रहि गयो—" जो शुद्ध और स्पष्ट है)। धड़ां उपरि ऊजलो धारां तरवार्‌यां की चमकण लागी। सु याही मानौं बीजली चमकण लागी छै। अठै काला जीणसालिया का डोलइ है वादला। धड़ां उपरि तरवारि चमकै छै सुइ है वीजुली।

१२०—कायर छै त्यांका हाथ कांपिवा लागा। जु असुभकारी यो वरसण लागौ। ढोल दमामां नीसाण वाजै छै। सु योही मेघ गाजै छै। ऊजल धारां जु वरसै छै। सु जांणे मेघ धारां छै। शसत्र वृष्टि होय छै। परनाला सु एही जोधां का अंग त्यां जु लोही पड़ै छै। सु योही जल। (सं० १८२६

की नक़ल में इस प्रकार दिया है—"अवै संग्राम अरु वर्षा बराबरि करि वर्णवै छै। अठै कायर छै त्यांह का उर कांपण लागा। धड़धड़ाट करण लागा। उठै वर्षा विपै असुभ कारिया कहतां वाणीया जिके दुकाल हुवौ चाहै धांन संचौ करै यौं जाणे दुकाल पड़ै तौ अन्न रो घणो द्रव्य उपजै। त्यांहरा मेह वरसतां उर कांपण लागा। अठै नीसाण कहतां जुद्धरा वाजित्र वाजता। उठै मेघ घड़ड़ाट करतां। उठै ऊजली धार कहतां तरवारां सूं लोही पड़ै छै। उठै ऊजलीधार कहतां जलधारा त्यांसूं परनालां विपै पाणी पड़ै छै।")

१२१—रुधिर पेत माहे एकठो हुओ छै। अर ऊपर जु रुधिर की वृंद पड़ै छै। त्यांह की जु ऊँची वृंद ऊछलै छै। सु चोटीयाली कहावै इहै चोसठि योगणि हुई। हरपत हुइ नाचै छै। माथा छिटकि पड़ै छै। अर धड़ उठि उठि ऊभा हुआ छै। अनंति जु श्रीकृष्णाजी अरु ससिपाल ग्रौझड़ां की झड़ लागी छै।

१२२—रणि का अंगण कै विपै घणो जु रुधिर वहि चाल्यौ छै। सु कुण वासतै। जु घणा हाथां थे घणा जोधा पड्या। इसी लोही की नदी वहि चाली। त्यां ऊपरि जोगण्यां का पत्र ऊंधा पड्या वह्या जाय छै। सु किसा दैपिजै छै। मानौं नदी माहि पाणी का बुदबुदा दीसै छै। त्यंसे जोगण्यां का पत्र वहिया जाय छै।

१२३—आपणा जु बेली कहतां साथी या वांहने बलिभद्रजी पधारया। कहीयो जु देपां अजैलग सत्रां रो साथ सावतौ ऊभौ छै। वृठै वपरि वाह देणरी इहै वेला छै। सेई जीपसी जु हाथ वाहसी।

१२४—बलिभद्रजी फिरि दूसरौ जु लोहोरौ (?) अथलौ दीयौ। सु जाणे वाह उपरि बीज नै अर जसरी बीज बीजजै छै। सु धरतो किसो बीजजै छै। जु दुसमनां नै पारो जहर लागै छै। बलिभद्रजी कां हलां सुं दुसमनां का माथा टूटै छै। जैसें बीजां हलां सों रूपां का मूल जड़ त्रूटतां आघात होय। इणि भांति हलिधरिजी कौ हल वहै छै।

१२५—घणां डोला जोधां कां घणां घाउ लागा। घणां घावां तैं घणौ लोहो नीसरीयो। घणां धड़ां थै ऊंची छौंछ ऊछलै छै। पेत मांहि जु लोहो मेलो हुश्रौ छै। सु लोहो नहीं छै मानों प्रवाली को पेत नींपनौ छै। अर ऊंची छौंछ ऊछलै छै सु जाणे प्रवाली को कांवां छै। जहां पेतो पाकी तहां सिरा नीसरै सु ऐ जोधां का हंस नीसरै छै। सु मानौं सिरा नीसरै छै।

नोट:—दो० १२६-१२७ की टीका छोड़ दी गई।

१२८—पेती नीपजै वहां तौ कण आवै। सु वडा वडा जोधा मारया सु एही मानुं कण लीया। भाजि गया सु जाणे कण कण किया। फोजां का समूह भागा सु एहि नाज का गाडा पांच्या। भर पंच्यौ। जहां पलौ होय तिहां चुणिवानै आय वैठै। बलिभद्र रै पलै। वल कहतां दुरजनां ऊपरि गीध आणि वैठी छै। मांस चुगै छै। गीधणि ही चिड़ी हुई। अर मांस ही नाज हुश्रौ।

१२९—समस्त लोक यो कहै छै। जु जरासंधि ससिपाल सरीषां। बलिभद्र सो लोंहे साहीयै। अनै वडै विरध ऊपजतै भागा छै। तौ थौ औयाणौ साचो छै। जु वडां वडो प्रथमी एक

जु न मारूं इह अदभुव ज वात छै। जोईं बांण रुपमइयौ सांध्यौ। सोई बांण सुं काटि नापै।

१३४—सोना को नाम छै रुपमइयो निराउध कीयो। आवध काटि नांष्या। पकड़्यो पकड़ि केस उतार्‌या। तब विरूप दोसै लागौ। आंपणीं जीव पिज्यां थका जु रुपमइयां कौ जीव छोड्यौ स् रुपमणीजी को अंतकरण जाणि कै। जु ए दुष पावसी। रुपमणीजो का मन रापिवा कै आंटै जीव न मार्‌यौ।

१३५—इहि समै बलिभद्रजी लड़ाई जीति कै आय पुहता। स् अग्रज वडो भाई कहावै। अनुज लहुड़ो कहावै। बलिभद्रजी कृष्णजी नै कहै छै। जु या अयोग्य वात करो। तिहि नै इसी सजा दीनी। दुष्ट सासना कहतां बुरी सजा लीन्ही। तिहि की बहिन पासि वैसारी छै। भलो काम कीयो भलेंजो। यों कहि उलाहणो दीयौ।

१३६—जब बलिभद्रजो आई उलाहणो दीयौ। तब कृष्णजो लजाय कै नीचो दृष्टि करी। पुंडरीकाष पहतां कंवल नयण प्रसंन हुआ। कुण कारण प्रसन्न हुआ। प्रथम तौ बलिभद्रजी की आज्ञा मानी चाहियइ। बीजौ रुपमणीजो कौ मन राष्यो चाहिजै।

१३७—करता अकरता कीयो होय सु मेटे सबही वार्ता सामर्थ। कृष्णजो जु हाथ साला नैं महकम करि लगाया था सेई हाथ माथा ऊपरि दीया। याप्यौ निवाजि चाल्यौ।

१३८—एक तौ वडी लड़ाई जीपजै। तब बडो आणंद होय छै। अर एक रूड़ो विवाह होये छै। तब बडो आणंद हुयै छै। सु दून्यो ही आणंद एक ही दिन भेला हुआ। जरासंधि सस-पाल जोता अर रुपमणीजो सारीपो परणी। इसौ आणंद देषि कै कटक माहे थे वधाऊहार आगें वादोवादि दौड़्या

वडां थें वडा पणि छै। जरासंधि नै ससिपाल भागा छै। तै यै श्रोपाणी सही।

१३०—बलिभद्रजी जुध कीयो। कृष्णजी रथि बैठा रुपमणीजी नै लीयां आगैं अकेला ही लीया जाता था। रुपमइयो रुपमणीजी को भाई। अकेलौ ही फिर आगे कृष्णजी नै पुहतौ। मुंहडा थी यों वाक्य बोल्यौ। अवला अस्त्री नै लियां घणी भोंय अहोर तूं आयौ छै। अब हूं आयौ छूं। पगमांडि नहीं जाण पावै। कृष्णजी सौं कहतो हुओ।

१३१—जब रुपमइयै कृष्णजी वाकारे। तव कृष्णजी को मुहडो तेजि होय आयो। धनुष हाथि लीयौ। बाण पुणच सुं सांध्यो। सु काहे कौं बाण सांध्यों। रुपमइयां का बाण काटिवाकी तांई। सिस्ति बांधी। अणी मूठि द्रिढि एक सिस्ति को।

१३२—जब कृष्णजी रुपमइयै श्रोड देख्ये छैं। तब तौ मन तपि उठै छै। जाणै छै जु मारूं। अरु रुपमणीजी को श्रोड देख्यैं छै। तब मन ताढो (सं० १८२६ 'सीतल') होइ छै। जाणै छै जु ए का भाई नै क्यों मारूं। ताको दृष्टांत। जैसे लोहार लोहा घड़ै छै। जब आगि माहे लोह पकड़िनै संडासी देई तबतो बहुत तप आवै। अरु ढिग पाणीं को [illegible]सण रापै छै। तिहि मांहि दे संडासो ताढी करै। सु लोहार को जु वामो हाथ। सोइ कृष्णजी रो डील हुओ। रुपमइया की तरफ देपै छै तब तपि आवै। रुपमणीजी की तरफ देख्यैं सीतल होय आवै।

१३३—एकतौ सगाई की सनस मन मांहि आवै लागो। और रुपमणीजी गोडि वैठा छै। सु मारिवा कौ तौ मतौ छोड्यो।

जु न मारूं इह अदभुत ज वात छै। जोई बांण रुपमइयौ साध्यौ। सोई बांण सुं काटि नाषै।

१३४—सोना कौ नाम छै रुपमइयो निराउध कीयो। आवध काटि नांष्या। पकड्यो पकड़ि केस उतार्‍या। तब विरुप दीसै लागौ। आंपणों जीव पिज्यां थका जु रुपमइयां कौ जीव छोड्यौ सु, रुपमणीजी को अंतकरण जाणि कै। जु ए दुप पावसी। रुपमणीजी का मन राषिवा कै आंटै जीव न मार्‍यौ।

१३५—इहि समै वलिभद्रजी लड़ाई जीति कै आय पुहता। सु, अग्रज वडो भाई कहावै। अनुज लहुड़ो कहावै। वलिभद्रजी कृष्णजी नै कहै छै। जु या अयोग्य वात करी। विहि नै इसो सजा दीनी। दुष्ट सासना कहतां बुरी सजा दीन्ही। विहि को बहिन पासि वैसारो छै। भलो काम कीयो भलेंजो। यों कहि उलाहणो दीयौ।

१३६—जब वलिभद्रजी आई उलाहणो दीयौ। तब कृष्णजी लजाय कै नीची दृष्टि करी। पुडरीकाष पहतां कंवल् नयण प्रसंन हुआ। कुण कारण प्रसन्न हुआ। प्रथम तौ वलिभद्रजी की आज्ञा मानी चाहियइ। बीजौ रुपमणीजी को मन राष्यो चाहिजै।

१३७—करता अकरता कीयो होय सु मेटे सबही वातां सामर्थ। कृष्णजी जु हाथ साला नैं महकम करि लगाया था सेई हाथ माथा ऊपरि दीया। थाप्यौ निवाजि चाल्यौ।

१३८—एक तो वडो लड़ाई जीपजै। तब वडो आणंद होय छै। अर एक रूड़ो विवाह होयै छै। तब बडो आणंद हुयै छै। सु दून्यो ही आणंद एक ही दिन भेला हुआ। जरासंधि सस-पाल् जीता अर रुपमणीजी सारीषी परणी। इसौ आणंद देषि कै कटक माहे थै वधाऊहार आगैं वादोवादि दौड्या

१३९—द्वारिकाजी मांहि। लोगांनै घरां का कारज भूलिगा घरघर कै विषै महाग्रह सौ पड्यौ छै। जोई आवै छै। त्यांनै पूछि जै छै। महा चिंतावंत हुआ छै। सघलां ही को मन उवै पैंडै लागौ छै। जिहि पैंडै श्रीकृष्ण पधार्‌या छै। समस्त प्रजा उंच्यां अटाल्यां चढि चढि मारग जोवै छै। मनां मांहि जाणै छै। सु थोड़ा साथ स्युं पधार्‌या छै। अर आगे कुसमण घणा छै। तिण द्वारिकाजी माहें लोग चिंतातुर हुआ वाट जोयै छै।

१४०—पैंडौ देषतां कोई जु घणू तेज उतावला आवता देष्या। तब पेट मांहे झल उठी। जु ए उतावला आवै छै। न जांणां कांई कहसी। तब उणांरे हाथां नीली डाल देषी। तब कुसस-थली कहतां द्वारिकाजी का वासी नीलाणा कहतां पुसी हुआ। मन मांहि आनंद हुऔ। सही नीली डाली हाथां छै सु कुसल छै। जब कोई वधाईहार भली वधाई ल्यावै। तब नीली डाल हाथि लै। इह रीति हइ सदाही मुषकरि कितना एक आदम्यां नै जवाब दे। डाल देष्यां सब ही को मन आंणंदति होय।

१४१—कृष्णजी कौ आगम सुणि। नगर मांहिं सहु किंही लोगा नै। उदम हुऔ छै। कृष्णजी रुषमणीजी का वधावण कै कारणै। सहु कोई नगर मांहिं फिरै छै। महा आणंद हुऔ छै। सु *किसौ देषिजै छै। जिसौ पूर्णिमासरी कै विषै दिन चंद्रमा कै* दरसणि। समुद्र लहरें लेतौ देषिजै। तैसौ नगर देषि जै छै।

१४२—जके वधाईहार आया था। तांहारे घरे द्वारिकारा वासीयां दलिद्र कौ दलिद्र दीयौ। बांरे घर विषै दलिद्र न रह्यो।

उछव मंगलाचार हुआ। अपत हरी द्रोव केसरि हलिद्र स्यु लोग पेले छै। घर घर मंगल् हुआ छै।

१४३—एकै मारगि पुरष येकै मारगि स्त्री। उछाह करि कै साम्हा चाल्या छै। श्रीकृष्ण रुपमणीजी साम्हां चाल्या छै। जाण्यौ ए साम्हां नहीं चाल्या छै। ये द्वारिकाजी दून्यो बाहां पसारी छै। कृष्णजी ने मिलिवा नै।

१४४—छत्र जु रंगरंग का ऊभा कीया छै। त्यांह का डांडा जु जड़ाव का। तिणि का नग चमकै छै। सु याही मानुं बीजली चमकै छै। मोती भालरियां थें झड़ि पड़ै छै। सुही मानु मेघ की बूंद पड़ै छै। छत्र रंगरंग का इतना उभा हुआ छै सु आकाश आछादित हुआ छै। सु जाणे अनेक रंगरंग का बादल् हुआ छै। रंगरंग का बादल् छै सु येही मेघ हुआ।

१४५—जहां जहां प्रोलि् छै तहां भारसी ही की प्रोलि्। जितना मारग छै तिवरां सघलां प्रोलि् छै। पैंडा जितना छै। तितना सघलां ही रंगरंग का अबीर बिछाया छै। रज उडै सु अबीर ही उडै। सैन्या सहर मांहे पेसती किसी सोभै छै। ताफौ दृष्टांत। जैसें समुद्र मांहे नदी आय मिलै छै।

१४६—धवलहरां चढी गीत गावै छै। नागर कहतां चतुर स्त्री छै। सु जसि करि कृष्णजो · उजल् हुआ छै। आवता देपि गीत गावै छै। सु धण रुपमणीजी सहित कुसल् सहित। बलि-भद्रजी सहित। सिघली ही सेना सहित। इसा श्रीकृष्णजी आया देपि ऊपरि पुहप वृष्टि होय छै।

१४७—सिसु कहतां बालक बेटौ। तिकोई जुध रे विषै। ससिपाल् नैं जरासंधिनें जीति ने घरे आया छै। तब आरती उतारै

छै। अर वसुदेव देवकी श्रीकृष्णजी को मुप देपि। वार वार पाणी उआरि पीयै छै।

१४८—यथा विधि छै त्यां करि वधावो कीयो। वाजित्र अनेक बजाया। समस्त मनुष्यां कै मुप एक भाँति मंगलाचार बोलै छै। कहै छै इह जोड़ी अविचल होहु आदर करै छै। राजांन छै सु तो श्रीकृष्णजी री भगति करै छै घर कै विषै पधराया छै।

१४९—समस्त जोतिगी बुलाया वसुदेव देवकी मुंहडा आगे बुलाय बूझ्या। जु लगन नीको देखि देउ जोतिष ग्रंथ देपि विचार कहो। जु रुपमणीजी को किसै दिन विवाह होय।

१५०—जु वेदवंत भला ब्राह्मण था। त्यां वेदरो वेदोकित विचार्यौ। वात पणि कही चाहीजै अर मन मांहे भय उपनो छै। मत वसदेवजी बुरौ मानै पणि जरूर हुई। ब्राह्मण जु कछु धर्म्म होय कहै। तब कह्यो एक स्त्री सु वार वार पाणीग्रहण न होय हथलेवो एक हो वार होय।

१५१—ब्राह्मण जके त्रिकालदरसी हुँता। ज्यां नै तीन काल री बात सूझै। भूत भविष्यत् वर्तमान। भूत स पहिलो होय गयो। भविष्यत सो जु पाछै होसी। वर्तमान सु जु हिवै होवै छै। ऐ तीन्यो काल जांनै सूझता था तिए निरणै करि कह्यो। जब रुपमणीजी रो हरण हुओ छै। तब सगला दोषे रहित निरमलो साहो थो।

१५२—वसुदेवजी सौं देवकी सौं ब्राह्मणे आप माहे विचारि कह्यो। हथलेवो तो हरण कै समै होइ नींवड्यो। और जकेई संसकार करणा होइ सु करौ।

१५३—अब विवाह कौ आरंभ भयौ। ब्राह्मण विवाह करण नै किसा आणि बैठा छै जिसा साचात मूर्तिवंत वेद। वेदी छै सु रतन

जड़िव छै। नीला बांस छै। अरजन (अरण ?) कहतां रूपा का कलसां की वेह छै। काष्टमयी ततकाल अगनि काढी छै सु अगनि। लाकड़ी अगर की छै। आहुति देण नै घी अर कपूर घणा होमज्यै छै।

१५४—पछिम दिसा अरु पूरब सनमुष पाट मांड्यौ छै। ऊपरि छत्र ऊभा कीया छै। मधुपरक आदि दे। अर सब सहसकार सासत्र कीया। वर कन्या तहां बैठाड़ि सब विधि कीधो।

१५५—समस्त मनुष्य छै त्यां सिघलां हरी आंपि श्रीकृष्णजी रा मुष सौं दृष्टि लागि रही छै। ताकौ दृष्टांत। जैसें समुद्र कै विषै चंद्रमा का प्रतिबिंब नै मछली सब लागि रहैं छै। आंषि पासि घेरि रहै छै। इह भांति सबही का नैत्र कृष्णजी का मुषार-विंद नै आरोपित कीया छै। अर अटाल्यां चडिचडि यौं मुष देषै छै। अर मुषि करि मंगल गीत गावै छै।

१५६—त्रिण्हि फेरि फैरीया। चौथे फेरे दुलह आगें हुआै। दुलहणि पाछो हुई। हथलेवौ कृष्णजी आंगुंठा सहित पाकड़्यो। जैसें हाथी सुंड सूं कमल पाकड़ै। इह दृष्टांत।

१५७—तब रुपमणीजो डावै पासै बैसाण्यां। ज्यों विधि छै त्यों बोल वाचा लै। ज्यों कही छैं त्यों करि नै विवाह पूरण कीयो। तिहि वेलां वेद का पठणहारां। मुंहमांगी सु नव ही निधि पाई।

१५८—श्रीकृष्णजी आगै। रुपमणी जी पाछै होय रहवा कौ महल थौ तेनें चाल्या। चौंरी छोड़ी हथलेवो छौड्यौ। अंचल गांठि दीधी छै। सु जाणे या मन की गांठि छै। अंचल नहीं बांध्या छै। सु जाणे कि मन बांध्यो छैं।

१५६—सषीयां आगै जाय केलिगृह कहतां रहस्य मंदिर सयन मंदिर तिहिकौ अंगण मारजण कहतां संवारयो। सेज विछाई छै। सु मानो षीर समुद्र छै। ऊपरि फूल विछाया छै सु मानो समुद्र का फेण छै।

१६०—आभा कहतां सोभा सु तौ महल माहें। अनेक अनेक रंग का चितराम छै। त्यांह की कांति सोभै छै। मणि छै। वडा-वडा रतन छै। एही मानो दीपक हुआ। मनि सहि करि कीया छै। चंद्रूआ ऊपरि ऊभा कीया छै। सु एही मानो सेष नाग का फण छै। जलसाई पोढै छै। तब सेष नाग फणकरि छाया करै छै।

१६१—इहा कृष्णजी केलि मंदिर विषै वैठा छै। रुपमणीजी नैं सषीयां बीजै मंदिर पधराया छै। जुदा तौ कीया छै। पणि वेगा मिलवा के अर्थि। चतुर सषी छै त्यां मिलिकै विवाह री सहसकार समस्त पूरण कीयौ। अब रति कौ सहंसकार करिवा कै अरथि सषीयां उद्यम कीयौ छै।

१६२—संध्या कौ समय हुऔ छै। कृष्णजी रति वांछै छै। जिहिं संध्या कै समय इतरी वात संकुड़ी छै। ज्यांका भरतार परदेसी था। त्यांह की दृष्टि पडा दिसै पसरी थी सु संकुड़ी जाण्यो जु आज नाया। बीजी पंषीयां की पांष पसरी थी सु संकुड़ी। कमलां की पांपुड़ी विकसी थी सु संकुड़ी। सूरज की किरण पसरी थी सु संकुड़ी।

१६३—कृष्णजी छै। सु रुपमणीजी का मुष देषण नैं। अति आतुर हुआ छै। रात्रि की मुष चाहि करता नीठ पायौ छै। ज्यों पहिला दुआला (दोहला) माहें कही जु च्यारि वात पसरी थी। सु संकुड़ी कही। त्यों ये दुआला माहे च्यार

वाव संकुड़ी थी सु पसरी। चांद किरण संकुड़ी थी सु पसरी। कुलटा कहतां विभचारिणी की दृष्टि संकुड़ी थी सु पसरी। निसाचर कहतां राति कै विषै जु विचरै छै। त्यांह की दृष्टि पसरी। अभिसारिका कहतां जिह नै महेट वदी थी। त्यांह की दृष्टि पसरी।

१६४—बीजा तौ पंषी छै। तिवरा भेला होय संजोग होय। चकवा छै सु बीछुड़े। नेस कहतां घरां कै विषै। राति अर दिन की संधि। कामनी जु स्त्री तहां जु दीपक जगाया छै। सु ए मानुं दीपक नहीं छै। जके कांमी पुरुष छै। तिण की कामाग्नि करि मन जगायरु छै। त्यांह का मन जगाया छै।

१६५—जठे सुगहर छै। तठा नैं रुपमणीजी नै सपी पधरावै छै। मन माहे भय उपनौ छै। तिहिं कै लीयै उभा हुइ रहीया छै। सपी प्रसंसा करै छै। सु रुपमणी कृतारथ तौ हुई छै। आपणा प्रीय मिलण री कृतारथ रही छै। रुपमणीजी तौ इह भांति छै। अर कृष्णजी छै सु षवास पासवान सब दूरि कीया छै। वाट चाहै छै। एक वार तौ द्वारै आय कान दे आहाट सुणै छै। बहुरि सेज छै। तठै पधारै छै। असें द्वारि अर सेज विचि पधारिबौ करै छै। वार वार फिरै छै। कब जुं सिज्या आय वैसै छै। कब जुं द्वारैं आय कान दे सुणै छै।

१६६—हंसागति जु रुपमणीजी। तिहि नै देषवा कै तांई आतुर हुआ छै। श्रीकृष्णजी जैसें कोई आणि बधाई दे छै। तइसें सोंधा के वासि। अर नूपुर कै सब्दि। आंणि बधाई दीन्ही। आगम कह्यो।

१६७—सपा जु लीयां आवै छै। तांह का हाथ पांचि पांचि उभा रहै छै। ज्यों मदिवहती हाथी श्रोप (पैंड) दोय चलै। अर

वले मुरड नै ऊभो रहै। त्यौं रुपमणीजी ऊभा रहता जाय छै। अर सपी चलावै छै। लाज का लोह लंगरां लगाया। ज्यौं मदवहतो हाथी आणीजै। त्यौं गजगमणी रुपमणीजी नै सपी ले आई।

१६८—जब देहली भीतर रुपमणीजी आया। तब देहली लांघतां पग आधौ दीयौ। तठे जेहड़ि पग की श्रीकृष्णजी को नजरि पड़ी। जे हरि देषतां जु कोई आणंद उपज्यौ। तिहि की मरजादा नहीं। इतरौ आणंद अधिक उपज्यौ। जेहड़ि कै देषत हीं कृष्णजी कै रौमांचि हुऔ। सो ए मानों रोम ऊभा नहीं हुआ छै। ये आदर देण कूं आपही ऊभा हुआ छै। जैसैं कोई ओर भी वल्हम हित आवै छै। त्यौं ते ऊभा हुज्यै छै। त्यौं इहां रुपमणीजी कै आयां तै कृष्णजी रोमांच कै उठिवै आदर दीयो।

१६९—जिंह घड़ी नै घणुं वांछता था घणा दिन लगैं। सु घड़ी आण मिली। आंपण कृष्णजी अंकमाल भरि कै रुपमणीजी सेज ऊपरि पधराया।

१७०—कृष्णजी को आंपि जु रुपमणीजी कै रूपि करि प्रेरी छै। सु आण्यां नै देषिवा को त्रिपति होय नहीं। जदपि मननैं त्रिपति हुई छै। वारंवार मुषकी ओड देष्यै छै। जैसें निरधन कौ धन प्रापति होय। अर वारवार देखिवौ करै।

१७१—जु रुपमणीजी कै पट घूंघट छै। तिं माहि एक बार कटाछि करि देषै छै अर बहुड़ि दृष्टि दुरावै छै। कटाछि एक वार उहां जाय छै एक वेर फिरि इहां आवै। तौ जाणिजै छै इह दुहुं का मन दंपति छै तो ये कटाछि नहीं छै। ए दूवी छै विचि फिरै छै। यांनै मेलि एक करणा। याँ दुहुं का मन सूत छै तौ या नलो छै। सौ पणि वणाई एक करसी।

१७२—ये जु पासि सपी त्यों जब श्रीकृष्णजी अर रुपमणीजी कौं आंपिया थें अर सुप का विलास थें अंतहकरण जाण्यौ। तब ये भुहां ही में थोड़ो थोड़ो हसि। अर एक एक होय गृह थें स जु बाहरि गई।

१७३—एकांति कैं विषै जु विधि छै। तिह करि क्रीड़ा कौ जु आरंभ हुऔ सु न किन ही देवतां दीठी। न किन ही रिषीस्वर दीठी। तौ कवि कहै छै। अणदीठी। अणसुण्यौ क्यों वरण्यौ जाय। उहि सुप नै वे ईस्वर ही जाण्यौ।

१७४—तब श्रीकृष्णजी पवन चाहै छै। धौलहर कै छाजै आय ऊभा हुआ छै। रुपमणीजी सिज्या विषै पउढ्या छै जिसौ कोई निर्जीव मार्‌यो थकौ पड्यो होय। सुरत कै अंति सिज्या विषै पौढ्यां किसा देपिजै छै। जैसें मदोन्मत्त हस्ती समुद्र माहे पेलतौ थकौ कमलनी नै त्रोड़ि जाई। अर कमलनी पाछें पाणी उपरि थरकि रहै। इसी सिज्या विषै रुपमणीजी देपजै छै।

१७५—रुपमणीजी का लिलाट कै विषै। जु कुंकुं की विंदुली छै। अर आसि पासि प्रसेद का कण चढ्या छै। सु किसा देपिजै छै। जैसे मध्य नायक तौ मांणिक छै। अर कुंदण के बीचि जड्यो छै। आसि पासि हीरा लागा छै। इसौ निलाड़ सौभा पावै छै। जु तौ कुंकुं की बिंदली उहै तौ माणिक हुऔ। रुपमणीजी कौ निलाट उहै कुंदण हुऔ। आसि पासि प्रसेद का कण छै। उहै हीरा हुआ। अर उही कों कारीगर जड़णहारो कामदेव हुऔ।

नोट:—टी० १७६ की टीका छोड़ दी गई है।

१७७—तिहि समै सपी कै गलि लागि सिज्या थें रुपमणीजी उठ्या छै। ताकौ दृष्टांति। जैसें भमर आई वैसें। अर भमर

का भार सूं वल्ली की लता धरती पड़ै। केलि का पेड को अवलंब लहि। पेड सों लपटाय वल ऊची चढै। तैसे रुपमणीजी सपी के गलि लागि ऊभी हुई।

१७८—मंदिरांतर विषै सपी श्रम मेटिवा नै ले गई थी। सु प्राणनाथ श्रीकृष्णजी त्यां कन्है वल रुपमणी कों ले आई। कैसी लाज भय प्रीति। तीन्यों वातां सहित ले आई। माथा का केस मुगता हुआ। छूटी छै मुगता निबोल हार थी सु छूटो छै। कंचुकी की कस छूटी छै। अर कटि मेषला बंधण थे छूटी छै।

१७९—केलि कहतां क्रीड़ा त्यें कौ घणौ सुप पायो। स्याम कृष्णजी। स्यामा रुपमणीजी के संगि। सपी जु मन की रापणहार त्यां कौ घेरड जुड़ रह्यो छै। समयै समयै उपरि बात कहि कै जु हासि करै छै चित्रसाली कै विषै येक कहकहाट होय रह्यो छै।

१८०—येक तौ तत चिंता सों राता छै। परमेस्वर स्यूं लीन हुआ। अर दूसरा रति सौं राता छै। जु स्त्री विषै आसक्त हुआ छै। वे तौ गिरि कंदरि विषै। अर ये आंपणा गृहि विषै। ये बिन्है गणा जांहरा। समस्त संसार निद्रा कै वसि हुआ छै। महा निसि कहतां अर्ध राति कै विषै सब कोई सोयै छै। तब कै जोगीस्वर जागै छै। कै कामी जागै छै। वांका मन परमेस्वर सों लागा छै। यांका मन रति सों लागा छै। ये दून्यो जागै छै।

१८१—लपमी जु रुपमणीजी श्रीकृष्णजी का हरप आणंद का समूह माहे मगन होय रहें छै। ज्यों २ राति घटै छै। सु जाणे आउरदा (आयु?) घटै छै। मत प्रभात होय अर घड़ी ही

को विछोड़ो होय। इह बोचि अरणोद होण लागी। मुरगां बोलि उठ्यो। जांह नै विषै रसि करि पेलिवौ प्यारौ लागतौ थो। त्यांह नै मुरगा कौ साद किसो लागौ। जिसौ जांह नै घणा दिन जीव तौ प्यारौ बहुत होय। घणो दिन जोवौ चाहित होय। तिहा नै जिसौ घड़िया वलि को साद लागै। यैसौ बुरौ किरीट कहतां मुरगा को साद बुरौ लागै छै।

१८२—प्रभा कहतां जोति सो चंद्रमा की गई। जब राति वितीत होण लागी। तब चंद्रमा किसौ दीसै छै। जिसौ भरतार असमाध्यां थकां सती कौ मुष देषिज्यै। जब पिउ वै माहे सक्त छै। चंद्रमा माहि ज्योति छै। श्रौ दुष का मारयां अर ये दिन की जोति नजीक आयां। दून्यो बिसोभित सा देषिजै छै। दीपक समीप सांझ जिसौ जलतौ थौ तिसो ही जलै छै। पणि सोभा न पावै किसो देषिजै छै। सफरिम पायें ? (विना) जिसो सूरसन मरद कै डीलि देषियै। दीवा पाछिलो राति इसौ झांयो दीसै छै।

१८३—अरणोदे कै विषै चकवां की साध (कहतां वांछा) मिली संजोग हुश्रौ। अर कोक का रमणहार। तांह की साध रहित हुई। प्रभात हुश्रौ। श्रौर ही उद्यम लागा। फूल जु संकुच्या था। अर वास नै ग्रही रहोया था। त्यांह तौ वास छोडी। विकस्या। अर महण हुवा तेहै सौतलता ग्रहो ठंढा हुश्रा।

१८४—संष धुनि अर भेरि सबद जु हुआ। येही मांनुं अनाहत सबद हुश्रौ। अरणोदे हुश्रौ सु इहि जोगाभ्यास

हुआै। जैसै जोगेस्वरां कै माया का पटल दूरि वै छै। तैसैं ही तौ रात्रि दूरि हुई छै। अर प्राणायाम योगेस्वरां का इहै जोति प्रकाश हुआै।

१८५—जांह का भरतार तौ घरे था। तांह स्त्रीयां का तौ वस्त्र रई कहतां मथाणी जिहि सुं दही मथिजै। चंद्र विकासी कमल। त्यांह को श्री कहतां सोभा। ये तीन्यों वस्तु छूटी थी सु सूर्य कै उदै बांधी। अने घरां हाटां का ताला भमरां की पांप। अनै गऊ ये तीन्यो वस्तु बांधा था। सु सूर्य कै उदै छूटो। अर वे तीन्यो छूटी थीं सु बांधी।

१८६—जके व्यापार करै छै। त्यांह की स्त्री गाय अर बछड़ा। विभचार ही करणहारी स्त्री अर लंपट। ये तीन्यो रात्रि कै समै भेला हुता त्यांह नै वियोग हुआै। चोरां की स्त्री अर चोर चकवा अर चकवी ब्राह्मण अर तीरथां का जल। ये तीन्यों वीछड़्या था सु सूरिजि कै उदै मिल्या। अर वे तीन्यो मिल्या था सु वीछड़्या। सूर्य कै प्रकासि मिल्या था। त्यांह वियोग हुओ। वियोगी था त्यांह नै मेल हुआै।

१८७—नदी अर दिन वधन लागा तलावां रो पाणी अर राति घटण लागी। धरा कहतां प्रिथी गाढ पकड़्यौ कठोर हुई। हेमाचल पर्वत परघल्यौ। जगत कहतां संसार का मुष था सु रूंषां की छाया साथे राषण लागा। सीतकाल माहै सूरिज तिरछै पैंडे चलतौ थौ। सु धूपकाल कै विषै सूरज माथा ऊपरि चालण लागौ। तैं आंटे माथा रूंषां की छांह नीचै राषण लागा। राह कहतां पैंडौ सूधौ आकास पाकड़्यौ।

१८८—मनुष्य जु गरमी करि व्याकुल हुवे छै। अर रूंषां की छाह वांछे छै। सु ये वात री न्याउ छै। इसी गरमी हुई छै। जु सूर्य पणि हेमाचल को सरणौ पकड़े छै। अर सूरज ही वृषि आया छै। और तौ सब मनुष्य तौ रूंषे आवै ही आवै। मानुं सूरज वृष रासि नहीं आयौ छै। व्रिष कहतां रूंष की छांह आयौ छै।

१८९—जलक्रीड़ा को वर्णन हुअै छै। श्रीपंड कहतां चंदण कौ कादो छै। कमकमो गुलाब तै कै पाणी तलाउ भरयौ छै। ग्रहणा सब मोतीयां ही का छै। जेठ मास कै विषै इ भांति जलक्रीड़ा श्रीकृष्णजी करै छै।

१९०—आसाढ का दिनां को तपन कहतां सूरजि। इसो अधिक वाप्यौ छै। दुपहरा की वरीयां यैसौ नीजण होय गयो छै जु कोई मनुष्य फिरै डोलै न छै कैसो भांति जैसी माह की राति होय। मेघ वरसतो होय। अर अंधारो पष्य होय। वैसी आधी रावि जै कोई फिरतौ देषिजै तौ कोई आसाढ को दुपहरो फिरतौ देषिजै छै। इसौ धूप तप्यौ छै। नीजणि कहतां कोई मनुष्य चलै न देषीयौ। वैसी माह की अधराति जैसी नीजणि होय छै। तिण थी अधिक दुपहर आषाढ की नीजणि हुअी छै।

१९१—निरति कूण को वाउ वाजै छै। जु निरधन छै। सु परवतां का झरणा छै। वहां जाय वास कीयौ छै अर *धनवंत छै सुषी छै। सु आंपणे गृह कै विषै। अस्त्रीयां* का पयोधर सेवै छै। सु जिसी अग्नि की लपट होय। तिसो लू वाजै छै।

१९२—मंदिर किसा छै। कसतूरी की गारि। कपूर की ईंट। नित नित नवा महल सवारिजै। फूलां की माला सों

चौगरद आच्छादित कीया छै। इसा महल माहें श्रीकृष्णजी क्रीड़ा करै छै।

१६३—धूलि उठी छै। अंबर कहतां आकाश जाय लागी। पेत्री छै जु किसाण त्यां पेत्री री उद्यम कीयौ छै। पाडा नाडा भरीया देपि। सहु किसाण पेत्री को उद्यम करण लागा छै। मृगसिर नक्षत्र वाउ वाज्यौ सु मृगा कौ वइरी हुऔ छै। त्रिया करि व्याकुल हुऔ छै। इहि बीचि आद्रा बूठौ छै। सु भुंइ सहु आली कीधी छै।

१६४—वग रिपीसर राजा। ये तीन्यो पावसि वैठा। सुर कहतां देवता पौढ्या। मोर बोलण लागा। बाबीहा (पपीहा) बोलण लागा। बुगली फिरण लागी। उद्यम कीयो चाहो जै। अनेक रङ्ग २ का जु सिहर उठै छै। सु ये मेघ मानुं आपणा घर सवारै छै। भांति भाति की विचित्र रचना करै छै।

१६५—काली काली घटा करि। उजला वादल। वाउ सों डोलता उवै आगै। श्रावण का मेह धारां वरसण लागा। दिसा दिसा हुता जु जलग्रभ गलि पडै छै। सु थमै नहीं छै। जिसी विरहणी का नेत्र विरह व्याकुल थका थंभै नहीं। इहि भांति श्रावण की धारा वरसै छै।

१६६—मेघ जु वरसण लागा। तांह का पाणी पर्वतां का कंदरा थें अर नालां थें पाणी चाल्यो छै। सु आघात सबद हुयै छै। गुहिरै सादि मेघ गरजै छै। सु समुद्र माहे पाणी समावै नहीं। इतरां जल हुआ छै। बीजुली सहरां मांहे समावे नहीं छै। सहरां बाहरि झब झबाट करि रही छै।

१९७—मेघ घणो वूठो। धरती अजें नीली नहीं हुइ छै। त्रिणि अंकुर नहीं हुआ छै। जहां कहीं ऊंठै ची भुंइ छै। तठै भुंइ उघाड़ी छै। नीची भुंइ जहां छै तहां पाणी भरि रह्यो छै। कहुँ ठोड़ उघाड़ी छै। तहां भुंइ. गोरी छै। कहां ठै पाणी झलकै छै। जैसें प्रथम समागम कै विषै। नाइका का वस्त्र वतारि लीया हुइं। अर· कहुं। कहुं गहणा रहि गया हुइं। तैसी प्रिथवी देषियै छै जु तौ उघाडी धरती छै सु तौ जाणे गौरा आंग हुआ। अर पांणी छै सु तौ जांणे ग्रहणो पैहिर्यो छै। इसी सोभित छै।

१९८—रूपांवलीयां पल्लव फूटा। विणा अंकुर हुआं धरती नीली दीसै लागी। सु मानों प्रथमी नीला वस्त्र ऊढ्या छै। ठोड़ ठोड़ थें नदी चालै छै। सु ये ही मांनो कंठ विषै हार पहिर्या छै। दादुर कहतां मींडका बोलै छै। सु येही मांनो प्रिथवी पगां नूपुर पहिर्या छै।

१९९—जु तौ काला पर्वतां की धार छै सु प्रथमी का काजल की रेषा हुई। समुद्र एही प्रथमी कटि मेषला हुई। मामोल्या रातो सोई प्रथवी कै कुंकुं की बिंदली हुई।

२००—दूनों तटां जु नदी उपरि वही छै सु जाणे चोटी विथुरी छै। विथुरी काहे तै। पृथी जु स्त्री त्येंने धाराहर मेघ जब भरतार मिलीयौ छै। तब चोटी विथुरी। जमुनांजी रौ स्याम जल। सु तौ जाणे केस हुआ। गंगाजी रो जल ऊजल सु फूल हुआ। जाहा त्रिवेणी हुई तहां जाणे चोटी गुंथी इह पृथ्वी की चोटी हुई।

२०१—धरती जु पृथी तैसो स्यांम जु तर वृत्त। जलधर मेघ गर्ज रव कीया। आपसमैं मिल गया छै लपटाय रह्या छै।

ऐसौ अंधारौ हुय गयो छै। जु रपीस्वर छै सु संध्यावंदण कौ समय चूक चूकि जाय। रिपीसर पणि राति अर दिन की पवर नहीं पावै छै।

२०२—जके नाइक नाइका आपस मांहे रूठा था। तांह तै पगां लागि लागि मनावणो कीयौ। कह्यो देही लाधो को तो लाहो यो ही छै। जु इसी हवा माहे मिलीयै। परसपर आलिंगन देन लागा। जब आकास अर धरती आपण मांझ आलिंगण देन लागा।

२०३—जल रा जु वादल। सु जलां नूं अवै छै येक स्यांम येक सेत। येक पीला। येक लाल। इसा जु रंग रंग का वादल छै। महलां का दुहुं तरफां लागि लागि नै चलै छै छाजा सौं। ताह करि महाराज श्रीकृष्णजी का महल धवलहर छै। सु विराजै छै। महल किसा छै।

२०४—नीलमणि को ईंट। कुंदण को गारि। लाल का थंभ। पांचि का पाट। सु धरीया छै। जु थिर छै। मंदिरां विपै गौंपा छै। सु पदमराग मणि का छै। घरां ऊपरि मोर नृत्य करै छै। आणंदित हुआ बोलै छै। सोभित दोसै छै।

२०५—वसत्र जु पहिरूया छै सु कुमकुमौ कहतां गुलाव। तिंह सौं धोईजै छै। अनेक सुगंध वस्त सुं अरगजा सौं पवलित कीजै छै। महलां कै विपै अनेक सुप भोगविजै छै। श्रावणि अर भाद्रवै कै विपै रुपमणीजी अर कृष्णजी इह विधि विलास करै छै।

२०६—वरिखा रित हुतो सु गई। सरद रित आवी। कवि कहै छै। तै को वर्णन करौं छौं। पृथी समस्त जलमई होय

रही थी। सु पाणी छोड़ि कै तलाव माहे जाय रह्यो। नीपरि कहतां धरती निर्मल हुई। ताकौ द्रष्टांत। जैसे निधवन कहतां सुरत सु भोग के विषै अस्त्री की लाज सर्व सरीर छोड़ि कै नेत्रां माहे जाय रहै छै। तैसें पृथी छांडि तलावां पाणी जाय रह्यो छै॥

२०७—धरती हरी थी सु पीली हुई। त्रिण अन्न समस्त पाका। सरद काल कै विषै पृथी की सोभा किसी देषिजै छै। कोकिला बोलती रही। कोकिला जु बोलती रही। सु मानों नायका रति समै घणी बोलती सु बोलती रही। ओस जु पड़्यो छै सु मानुं नायका नै प्रस्वेद का कण हुआ छै। सुरत के अंत जिसी नायका को मुष देषीयै। तिसी सरद कै समै पृथी देषिजै छै। नायका कौ मुष पीलो हुऔ सुरत के अंति तैसे पृथी की पीलाई की। कोकिला बोलती रही। सोही जाणो निसुर हुई। ओस का कण इहे मानों प्रसेद का कण छै। इह आरिप करि पृथी नै नायका को द्रष्टांत कीयौ।

२०८—आसोज आवतां ही नभ कहतां आकास थै वादल दूरि हुआ। पृथी तै पंक कहतां कादौ दूरि हुऔ जल की गुडलता दूरि हुई। निर्म्मल हुऔ। ताकौ द्रष्टांत जिम सत गुरु मिल्यां थै। जाणीजै छै मनुष्य कौ सत गुरु मिल्यां ग्यान की दीपति हुई। इहां आसोज मिल्या थै आगनि माहे जोति अधिक हुई छै। सु इहै मानों ग्यान की दीपति हुई छै।

२०९—गऊ छै सु अधिक दूध श्रवै छै। धरा कहता प्रथी अनेक भांति का रस दे छै। (पीड़णी विषै भली सोभा हुई छै)। अन्नादिक सुं पितर छै तिणि कौ भरतलोक भ्रो' लागै छै।

२१०—मुहरमुह कहतां बारंबार हंस अर हंसणी बोलैं छै। विरह ऊपजै है सु बोलि बोलि कै विरह टालै छैं। सरदकाल् की इसी उजली राति छै जु एकठां बैठा हंसणी हंस नें न देवै। हंस हंसनी नें न देपै। जब न देपे तब विरह होइ। जाणै कि इहां तो नहीं। जब बोलै हैं तब विरह जाय छै। सबद करि जाणे छै जु इहां छै।

२११—उजली जु वसत छै सु काई निजरि आवै नहीं। इसो उजल् राति और घणे किमौ वपाण कीजै। जो सोलह कला संपूर्ण पूर्णिमा कौ चंद्रमा थौ। सु पणि आपणी उजलता करि आकास सों मिलि गयौ है। एती विगति नहीं लाभै छै। जु इह आकास छै। कि चंद्रमा छै। सरदकाल् की इसी रात्रि उजल् छै।

२१२—सूर्य तुल संक्रांति आयो। तेज कहतां दिन। तम कहतां राति। ए दून्यौं बराबरि तुलोया। अर राजा छै सु सुवर्ण सों तुलै छै। नाना भाँति कै। तातें दिन तीं नित नित संकुचिवा लागौ। अर राति वधिवा लागी। सु काहेतें। दिन कों तो इह संकोच भयो। जु मोकों राति बराबरि तोल्यो। तातें घटिवा लागौ। अर राति कौं इह फूलि भई। जु देपौ हीं दिन की बराबरि जुपी। इहि हरष तैं रात्रि बढिवा लगी। अर उहिं दुप तैं दिन घटिवा लागौ।

२१३—मणि मैं जु मंदिर छै। तां मांहे जु कार्त्तिक कै विषै दीपक जो छै। छैं तौ वे घरां मांहे पणि वांकी जोति बाहर देपीयै छै। जैसे सपियां का समूह बोचि बैठी नाइका लज्या करि आपणी सोहाग दुरावें छै। अर उवें की झलक मुप विषै पाईयै। तैसें घर मांहे थकां दीपकां की जोति बाहिर

देषिजै छै। जैसें नायिका लज्या करि दुरावै छै। अर उवह सोहाग की कांति मुष कै विषै जैसें प्रगट होइ छै। त्यौं घरां मांहे थका दीपक बाहरि दीसै छै। सु दुरावे काहे तें। जु अपणी समाणी सषी। तांह का समूह माहे छै। तांह का लोयां दुरावै छै।

२१४—नवी नवी सोभा सहित पृथ्वी कै विषै नवा नवा महोच्छव। आणंदमई हुई छै। इसौ जु कात्तिक छै। तिंहि कै विषै आपणा आपणा जु मंदिर छै। तांह कौं जु चित्राम करै छै। सु वे कुमारिका। आपणा आपणा घर का द्वारां चित्राम करतो उवे ही चित्र की सी लिषी देषिज्यै छै।

२१५—नाना प्रकार का जु सुष। नित नित नवा नवा। संसार का सुषां कै मिसि वैकुंठ का सुष छै। सु द्वारिकाजी का वासी भोगवै छै। अर रुपमणीरमण श्रीकृष्णजी। सरद रिति की जु राति छैं। सु तौ रास की क्रीड़ा करि समस्त बितीति हुई छै। राति रासां करि दिन भगति करि।

२१६—अरजण अर दुरजोधन सहाव मांगिवा कै काजि। श्रीकृष्णजी कन्है आया। तव पणि इहै विधि हुई। कह्यो यो जु कोई पहिलौ आणि मिलसी तेंह की भीर हौं आविस। श्रीकृष्णजी पौढ्या था। दुरजोधन पहिलौ ही सिरहांणा दिसि आइ बैठो। अरजुन पगां की तरफ आइ बैठो। जागतां ही पहिलें अरजुन दृष्टि पड्यो। तव अरजुन की सहाइ हुआ। अरजुन ही कौ अधिकार हुवौ। तैसैं चौमासे ठाकुर पौढ्या था। अर कार्त्तिक सुदि एकादसी कौं जाग्या। जागतां ही मासां मांहि मागसिर पहिले हीं

आयौ। तौ मागसिर भलो मास। तौ न्याय वडाई पाई
उहां अरजुन वडाई पाई। इहां मागसिर वडाई पाई।

२१७—सरद के विषै पछि वाउ जु वाजतौ सु थंभीयौ तिणि थंभ्या उत्तर वाउ वाजै लागो। तब सूहव जु नायिका तांह का उरस्थल वैकुंठप्राय हुई रह्योया छै। अर उहि रिति कै आवणे भुजङ्ग जु सर्प था। अर धनवंत मनुष्य था त्यां पृथी का पुड़ विवरण करि ऊंडी ठौड़ां सबांरि तहां ए दून्यौं वरग विवर कहतां भुंहिरा निखात ठोड़ तहां जाइ रहवासि कीधा।

२१८—नदी जु पूर वहती थी सु घटि होण लागी। अर हिमांचल पर्वत का शृंग वधण लागा। जैसैं जोवन कै आयें नायिका की कटि पीण होइ। त्यौं नदी पीण हुई। अर नितंब कहतां जंघस्थल अर उरस्थ कुच ए वढे। ज्यौं कटि पीण होइ। त्यौं नदी पीण हुई। ज्यौं जंघस्थल अर उरस्थल वधैं। त्यौं हेमाचल का शृंग वधै लागा।

२१९—मनुष्य छै सु सबै कोई घर सेवै छै। हेमंत जु महा सीत तेंकै डरि कोई निसि कहतां राति कै पैंडै नहीं चालै छै। कोई कोमल नरम वसत्रां करि अर कोई कांबला करि। सब कोई मनुष्य भार लीयां फिरै छै सीत की रिच्या निमित्त।

२२०—दिन तौ यैसैं संकुचिवा लागो जैसैं रिणाई को देपें दाम कौं देणहार संकुचै। क्रमि क्रमि यौं दिन सकुचै छै अर पोस कै विषै रात्रि छै सु आकास कौं निठि छोड़े छै। जैसें प्रऊढा नाइका नाइक कौं। आकर्षे मोड़ा छाडै। (सं० १८२६ की नकल में इस प्रकार—"जैसैं प्रऊढा नायिका को वस्त्र भर्त्तार आकर्षे कहतां पैंचै सु मौड़ो छूटै")' तैसैं रात्रि आकास कौ मौड़ौ छाडै छै।

२२१—सीतकाल के विषै श्रीरुषमणीजी अर कृष्णजी आपणा तन-मन उलझाया कहतां लपटाया छै। सु एक हु रह्या छै। कैसें वाणि कहतां सबद नैं अर्थ। पराक्रम नैं पुरुष। पुहप नैं वास। गुण नैं गुणी। ज्यों औ एक होय रह्या छै। त्यों नाइक नाइका आपणा तनमन एक कीया छै।

२२२—अहिमकर कहतां सूर्य जब मकर सक्रांति आणि चढ्यौ। तब उतर को वाउ प्रबल् वाजण लागौ। तिणि वाउ कमल् था सु बालि इसा कीया जु। जिसौ विरहणी कौ मुष। आंब था सु इसा कीया जिसो संजोगिणी कौ उरस्थल्।

२२३—कृपण नैं जब प्रारथव्यौ मांगजै छै। तब उहिका मुह माहैं थे वचन कुण नीकलै। उतर। तिहि दिसा कौ पवनि आंबा बिना जितना वृष्यथा तितना सब जलाया। माघ के लागतां हीं। लोगा नैं पाणी घी सु इसौ लागै छै। जिसौ अगनि छै। अर अगनि यैसी लागै छै जिसौ सीतल् पाणी।

२२४—नांम कहावै सीत अर जलावै नीला रूंष। अर पाणि मांहि थकी मलिनो आलै. औसौ कपटी नाम सीत कहावै। तें दोष कां लीयां द्वारिका जी तांई पुहचि न सकै। (हि)रिदा कौ मल् दूरि करि न सकै। कपट दूरि न करै तैं वासतें द्वारिका लगि सीत जाण न पावै।

२२५—ठाकुर को प्रताप ज हुऔ तिणिही तैं सीत पाल्यौं आघौ आवण न दीयौ। रुषमणी अर श्रीकृष्ण ऊपरि दसौ दिसा आपणौ सरीर उवांरैं छै। और अगनि अर सूरज ए आपणो सरीर उवांरे छै। अगनि धूप कै मिसि सरीर उवांरे छै। सूर्य दीपक कै मिसि सरीर उवांरे छै॥ रात्रि दिन उवांरै छै।

२२६—सूरज फलसि वैठौ सु कुंभि आयो। रिति पालटि होण लागी। समस्त सीत बालीया था सु टंढा होण लागा।

भमर छै सु उडण नै पांप संवारी छै। कोकिला बोलिवा नै कंठ संवारि रही छै।

२२७—वीणा। डफ। महूअरि वंस बजावै छै। पंचम राग सुध करि सुर नीकै करि गावै छै। तरुणी स्त्री अर तरुण पुरष। जु फागुण विरही जण नै दुस्तर छै। तें फागण कै विषै घरि घरि फाग षेलें छै।

२२८—वृष्यां कै विषै अजहुँ फूल नहीं हुआ छै। पल्लव नहीं नीकल्या छै। थुड़ कहतां पेड़ डाल् ए गादरित कहतां हस्या हुआ छै। सोभित दीसै लागा छै। जैसें भरतार कै आगमि। विना सिणगार कीयां स्त्री सोभा पावै। तैसें पानां फूलां विना हीं वसंत कै आगमि सकल वृच्छ सुंदर देषिज्यै छै।

२२९—वनसपती गर्भवती जु हुई थी सु दसमास पूरा हुआ। जु वनसपती गर्भ धार्‌यो थो। जांरा गर्भ पूरण हुई छै। तब गर्भवती को मन व्याकुल हुयै छै। ए जु भमर बोलिवा नै मणणाट करै छै। सु मानुं गर्भवती व्याकुलता जणावै छै। जब वेयण लागै छै प्रसूत हुइवा की तब गर्भवती कूजै छै। विलाप करै छै। सु ए कोकिला बोलै। सोई मानूं वनसपती ने वेयण लागी छै। अर कूजै छै। इहिं समै वनसपती वसंत जायो।

२३०—वसंत कौ जनम जब हुऔ। तब जैसें दाई नै वसत्र द्रव्य देहि अर उहिं की पूजा करैं छै। तैसें इहां होली सोई दाई हुई। अर वनसपती कौ कष्ट भंग हुऔ। तब पकवान पान फूल। जु होली ने चढ़ावैं छै। सु ए होली नहीं छै ए दाई छै। वनसपती कौ कष्ट भंग हुऔ छै। सु ए दाई नें संतोषै छै। मनुहारि हुवै छै। होली नहीं पूजै छै।

२३१—दल कहतां सरीर ए जु बालक जब उपजै छै तब कलि रो जु बाउ लागै छै तब ही उह बालक नुं भूप त्रिस लागि छै। अैसै त्रिगुण कहतां। सीत। मंद। सुगंध। मलयानिल लागौ सोई। त्यांही वसंत नै जनमत ही भूप त्रिस लागी छै। ए जु भमर बोलै छै। सु ज्यों बालक रोवै छै। त्यों वसंत रोये छै। अर वनसपती जु रस चुवै छै। सु जाणो माता दूध श्रवै छै।

२३२—अब वसंत जनमी त्याका वधाईहार दोड़ै छै। वन वन कै विषै। नगर नगर विषै। घर घर कै विषै। रूंप रूंप कै विषै। सरोवरां कै विषै। पुरष करि। अस्त्री करि। नाक कै पैंडै। वसंत जायां की वधाई। वास ही वधाई दीनी। अौर वधाईहार रथि चढ़ि दौड़ै ये कै पवन ही रथ हुअौ। पवन ही चढ़ि दौड़ी अौर वधाई कांन कै पैंडै सुणिज्यै। इह वधाई वासकरि नाक कै पैंडे मालूम हुई। समस्त ही जाण्यो। सु वसंत जनम्यो।

२३३—घणां जु आंब मोर्यां छै। सु एही तोरण। कमल की जु कलीं नीकली छै। सोई कलस हुआ। वेलि जु एक रूंप थे दूसरै रूंप जाइ लागि छै सु वंदरवाल बंधाणी छै।

२३४—वांनरे जु आलि करतां जु काचा नालेर फाड़ि २ नाषीया छैं। सोई दधि मङ्गलिक हुअौ। कुंकुं अर अषित चाही यैं तहां पराग अर किंजलिक। एही कुंकुं अर अषित हुआ। कमल के विषै पराग अर कंजुलिक हुयै छैं एही कुंकुं अषित हुआ। कोकिला आनंदित अतिही बोलै छै। सोई मानुं गीत गान करै छै।

२३५—वसंत जनमीयो छै। तैनें वधावण नें आवै छै। पोइण्यां का जु पत्र छै ता उपरि पाणी की जु बूंद छै। सु जाणे भामिनी कहतां अस्त्री सेई मानूं मोतीए थाल भरि काच का आंगणा कै विषै आणंदित थकी वधावानै आवी छै।

२३६—नाना प्रकार का जु वनसपती फल दियै छै जैसें कामधेन मनवंछित अर्थ देइ। तैसें पुत्रवती वनसपती मन प्रसन्न हुआ। जोई जिसौ फल मांगै छै। तैनें तिसौ दे छै। करणकार केसु कहतां। वनसपती नाना प्रकार का। रङ्ग रङ्ग का फूल हुआ छै। सोई वसत्र पहिर्या छै। अर केसू फूल्या छै। सु प्रसवती नें पीला वसत्र पहिराया छै।

२३७—कणेर वृक्ष करणी सेवंत्री। कूजा जाय। सोवन जाइ। गुलाल। जु फूलि रह्या छै। सु वनसपती कै पुत्र प्रसव हुआै। सु मानो रङ्ग रङ्ग के वसत्र आपणो परिवार पहिरायो छै। वरण २ का वसत्र पहिराया छै।

२३८—इहिं विधि सों वसंत को वधावौ कीयौ। दिन दिन भलाई का समूह वडवा गया। ए जु फाग लोक पेले छै। अर फाग का गीत गावै छै। सु मांनो वसंत हुलाइजै छै। तरु कहतां जि वृक्षां गहवर पाकड़्यो छै। सु वसंति वरुणिवा पाकड़ी छै।

२३९—हिवै वसंत की साहिबी वरणै छै। वसंत महीपति कहतां राजा हुआै। कामदेव मंत्री प्रधान हुआै। पर्वतां की सिला आछी सुन्दर रहि गई छै। यही सिंघासण हुआ। आंब जांह की बराबरि सापा मिली छै। छत्राकारि जु हुइ रह्या छै। एही मानों माथे छत्र धरे है। वाउ का

झकोल्या। आंबा का मंजर गिरि गिरि पड़े छै। एही मानू चमर हुआ।

२४०—पाका दाड़िमां का बीज। जु छिटकि पड्या छैं। एही वसंत पाट बैठे नै निवछावलि कीया छै। सु ए मानें नग जवाहर विधुरो छै। और जु भांति भांति का फल वृष्यां के विषै लागा छै। तांह नै पंषी पगां की नहरां सों तोड़े छै। सुपि चांचां सों करि तोड़े छै। तांह को जु रस चुइ पड़े छै सोई मानों छिड़काव होइ छै। मार्ग छांटिजै।

२४१—हिरणां का जु जूथ देषीजै है सोई मानों पाइदल हुआ। वृत्तां का जु कुंज वण्या छै। एही रथ हुआ। हंसां की माल पंक्ति देषीयै छै। एही घोड़ां की पाइगह हुई। पर्वतां के ऊपरि षजूर चढो छैं। एहो जाणे हाथीयां उपरि ढाल मांड़ी छै। अर ए जु पर्वत छै सोई हस्ती सिणगारी या छै।

२४२—ताड़ का वृत्त जु वन्या छैं। सु अति ही ऊँचा वधीया छै। जु सरग ने पसर्यो चाहे छैं। ए मानों ताड़ नहीं छै। वसंति पाटि बैठे। ए जगहथ ऊभीया छै संसार ऊपरि हाथ उठायौ छै। जु मेरी बराबरि। कहीं बात कोई करि सकै नहीं।

२४३—अब वसंत के आपाड़ो होत है। तिहिं आपाड़ा को वर्णन होति है। आपाड़ा को मंदिर चाहिये। वृत्तां को वन समूह इहि तौ मंडप घर हुआ। पाणी का नीझरणा चलै छै। ताह को जु सबद छै। इहै मानों पषावज हुओ। नाइक चाहीयैं। सु कांम का पंचबाण छै। इहै नाइक

हुआ। कोकिला ही गायण हुई। पृथ्वी पै रंग भौमि हुई। पंषी है इंहै मेलगर हुआ। मेलगर इहै जु आपाड़ी की सब सामग्री ताइफौ।

२४४—हंस तौ सब विधि कौ जाणनहार हुऔ। मोर नृत्यकारी नाचै। पवन तालधारी हुऔ। रुंपा का पत्र एही ताल हुई। आडि जु बोलै छै इहै तंति कौ सुर हुऔ। भमर बोलत है। सोई उपंगी हुउ। चकोर बोलै छै सोई जांणे सेवरि उघटत है।

२४५—विधि बतावै छै सूआ इहै पाठक वकता हुऔ। सारस छै स रस वांछक छै। श्रोता छै। कोविद कहतां चतुर। इसा जु पंजरीट कहतां कौडीया। सौई गतिकार हुआ। गति नींकी चाले छैं। प्रगलभ कहतां विस्तीर्ण लाग दाट परेवा ल्यैछैं। भांति २ की। जैसें नटवा संगीत की लाग दाट ल्यैं। तिहिं तिहिं भांति की मानों पारेवा ल्यै छैं। लाग। दाट। जु रमई। दाँ को। अडवाई। तिरप। उपर? (उरप)। सुलप। वाली। मुरू। डलथा। पलथा। ए संगीत का भाव छै। सु समस्त गति प्रगट करै छै। विदुर वेस कहतां। चकवा कहैं। इहै विहार हुआ। विहार कहतां विचित्र चालि चालता हुआ।

२४६—आंगण माहें जल छै। सु पवन कौ प्रेरयो चालै छै। इहै तिरप उरप हुई। मरुत चक्र कहता वाउ कौ चक्र वघूलियौ। इहै मुरू हुऔ। रामसरी बोलै इहै मानों धूवा माठा हुआ। पूमरी बोलै छै। इहै मानों चन्द धुरू संगीत का सबद हुआ।

२४७—अब आपाड़ी राति बूझियी। सु जु वृत्तां को समूह घमंड छै त्यांह की जु छाया सोई रावि हुई। रात्रि माहे दीवो चाहीजै सु पलास फूल्या छै केसूं छै। सोई मानों दीवा हुआ। जहां आपाड़ो होइ तहां कोई रीभ्या चाहियै। अर जहां रीझै तहां रोमांचित होइ तो ए अंब मोरया छै। सु ए रीभ के रोमांच हुआ छै। अर बहुरि रीझि माहे हास्य चाहियै। तौ ए कमल विकस्या छैं सु ए मानों वसंत हरषि नै हस्यौ छै।

२४८—मधिकोक कहतां वसंत प्रगटि वै संगीत अनेक भेदां करि प्रगट हुआी छै। जब आपाढै पात्र आवै छैं। तब जवनिका छै परीयछि की नाम। सु आडी दीयां राजा कै आगे पात्र आवै छैं। सु रिति छै ससिर इहै जवनिका हुई। पात्र पुहपां सुं अंजलि भरि। अर मन्त्र पढै छैं। बोचि थें परीयचि याचि ल्यैछैं। तब पुहपांजली होइ छै। सु राजा उपरि नापै छैं। ससिर रिति थी जवनिका सु तो दूर कीधी। या रिति हो पात्र हुई तिणि मन्त्र पढि अर पुहपांजली वनसपती उपरि नांपी छै।

२४९—उदभज कहिजै रूंप एही तो प्रजा हुई। सुसिर जु रिति जैं का राज मांहे। प्रजा नै दुसमन थकी दुप देतौ थो। सु उतर वाउ असंत कहतां दुष्ट सु तौ उथापीयौ। दूरि कीयौ। जु वनसपती सरूपिणी। प्रजा नै दुप देतौ थी। जु रूड़ी राज हुआ छै। नै पहिल का राज की अनीत मेटि नें प्रजा नें सुप दै छै। त्यौं इह प्रसंन वाउ वाजै छै। वृत्तां नै सुप देई। सु जाणे प्रजा माहे न्याव प्रवरत्यौ छै। त्यौं जाणे वसंत वन वन कै विषै राज करै छैं। नें प्रजा ने सुप दै छैं।

२५०—एक तौ वृक्ष फूलीया छैं। एक ज्यां उपरि पान था सु पानां करि हर्‌या हुआ छै। राज जब बुरो होइ। तब द्रव्य सब कोई गाडि रापै छै। राजा को डरपतौ। सु ए जाणे फूल्या छै। अर ए पान नहीं छै। ए द्रव्य जु आपणो आपणो डर का लीयां गाडि मेलह्यो। सु भलो राज जाणि नैं। द्रव्य उपेलोयो छै। बारे काढि मांड्या छै। ए जु चपा फूल्या छै। सु ए लपेस्वरी छै। त्यारै लाप उपरि दीवा बलै छै। अर ए जु केलि का पान फहरावै छै। सु काड़ि द्रव्य ज्यांका घरां माहे छै। त्यें कै कोड़ि उपरि धजा बांधी छै। या कहावति छै। जै रै लाप द्रव्य होइ। तेहरै लाप उपरि दीवो बलै छै। अर कोड़ि द्रव्य होइ। तै कै कोड़ि उपरि धजा बधाई छै।

२५१—मलयाचल पर्वत छैं। तहां थे पवन आवै छै। सु मलयानिल पवन कहीजै। सु वाज्यो छै। अर वसंत कौ भलो राज हुऔ छै। वनसपती नें डर थो सु भागो। रूड़ो राज हुऔ। ग्रहणा काढि काढि प्रजा पहिरै लागी वृक्ष छैं एही पुरष हुआ। वेलि छैं सु असी हुई। सु वेलि नैसक हुई। आप आपणा भरतार नें आलिंगण देण लागी। वेलि छैं एही नाइका हुई। फूल छै एही ग्रहणा हुआ। वृक्षां कों लपटाणी छै सु जाणें भरतारां नें आलिंगन देये छै।

२५२—सुसिर रिति कै विषै। हेमत कहतां सीत। तिणि वृक्षानें बहुत पीड्या था। दुप दीयौ थौ। सु वसंत आइ हित देनें दुप दूरि कीयौ। वेली यी सु ब्याई। साषा वृष्यां की पसरी छैं। सु जाणां बाहां की औलादि वैसाष हुई। वैसाष मासि सापां कौ विसतार हुऔ।

२५३—इहि वनसपती नें कोई डंक न देवै छै। जैसें प्रजा नें सुराज मांहे डंडै नहीं छै। मवरित रूंप छै। एही तौ लेवागर हुआ अर भमर छं एहो उगाहा हुआ। अर भला भला फूलां को वासल्यौ छै। सु एही हासिल कर लीजे छैं।

२५४—वृक्ष पुहपां रैं भारि भारिया था सु भार उतर्यो। पुहप छैं सु काम रा बांण छैं। सु काम आपणा बाण हाथ लीया। रितिराइ कहतां वसंत तें कै पसाइ करि जन मनुष्य आगि सें मपरस करता था सु वें दुपतें रहवा हुआ। समस्त नर जगत्र वैसानर परसतौ रहीयौ।

२५५—वरिषा ज्यां सरवत्र वरसै। अर चात्रिग नें नचाहै त्यां वसंत रैं विषै कोई भूप्यौ तिस्यौ न रहै छै। पंषी जु वसंत कै विषै पांपां फूलावै छै तांह आपणी सेवा को फल पायौ छै। राज हुअै छै तठै वंदीजन बोलै छैं। सु इहां पंषां बोलें छै। सु जांणे वदीजना कौ कोलाहल होइ छैं।

२५६—कुसमित कहतां फूली। कुसमायुध कहतां कामदेव तं कै वदै करि केलि विलास पेल तैं कै अरधि जांहका भरतार घरै छै। सु तौ वसत विषै फूली छै। काम कौ उदौ देषि देषि। अर जहां का भरतार परदेसी छै। सु पीण हुई छै। संजोगिणी कहें छें ए फूल्यां सु केसू छैं। अर विरहणी कहै छै ए पलास छैं। पलास राचस कौ नाम छै संजोगणियां ने प्यारा लागै छै। अर विजोगणियां नै ते रापस सारीषा लागै छै।

२५७—जांह का सरीर कै विषै केसरि का रंग कौ वासौ छै। केसरि कौ सो ज्यां कौ रंग छै। केसरि किसो वास छै। करपल्लव कहतां हाथां की आंगुली किसी छै नरम जिसा

फूल इसो। (इसो) जु मालिण छै सु वनि वनि रै विषै केसरि चुणै छै। त्यांह का इसा उजला नष छै। ज्यां मांहे केसरि को पांपुड़ीयां रौ प्रतिबिंब दीसै छै। तांह को उत्रां नै भ्रम उपजै छै। जांणे छै ए केसरि ही की पांपुड़ी छै। तांह नैं भूलि हाथ वाहें छै।

२५८—कांम को दूत जु प्रधान महादेवजी कन्है जाइ छै। पवन जाइ छै। प्रसन्न कहतां संतुष्ट करण नैं जाइ छै। तीन गुण सहित। सीत। मंद। सुगंध। ए तीन्यों गुण कहै छै। जल पीवन ने साथि लीयो छै। यौ ही तौ सीत हुऔ। भेट के तांई सुगंधता ले चाल्यो छै। अर मन मांहे डरे छै। जु महादेवजी कांयुं कहसी। सु इसो डगमगाट करै छै। इहै मंद गुण हुऔ। ए तीन्यों गुण सहित। मलयाचल हुता। पवन हेमाचल नै चाल्यौ छै।

२५६—पवन जु चाल्यो छै। सु नदिनदि कै विषै तिरतौ आवै छै। रूंप छै त्यां कै विषै विलंबतौ आवै छै। वेल्यां सीं लपटातौ आवै छै। दत्तण हुंता जु उत्तर दिसा ने चाल्यौ छै। सु पवन का पग आघा नहीं पड़ै छै। नदी का परस तें सीत हुऔ। वृत्त वल्ली का परस ते सुगंध हुऔ। लतां का मन मांहे संकोच छै। पग न वहै इहै मंदता हुई। एहो त्रिगुण कहिजै।

२६०—केवड़ा केतको कुंद। यांका वास को भार लीयो छै। सगंधता तौ भार ही मांभ हुई। श्रम हुऔ छै। एहो सीतता हुई। अर घणो भार कांधे लीयौ छै। तिहिं थी मंदगति हुई छै। ए तीन्यों गुण सहित पवन चाल्यौ छै। यां दून्यौ दुवाला को भाव एक हा छै।

२६१—वनसपती की वास लीयो छै। इहैं रसलोभ हुओ। रेवा नदी कै विषै जल परस कीयौ है। सोई जांणे सौच कीयो है। दखण दिसा का पवन उत्तर दिसा नें आवै छै। सु मंद भाव सों आवै छै। जैसें सापराध नाइक नाइका सनमुष आवै। इहां तीन्यों भाव आया। सीत मंद सुगंध।

२६२—लता जु पुहपवती छै। सु ए रजस्वला कही छै। तांह सों पवन परस करै छै। इह मतवाला को अंग छै। जु वेलियां सों परस करै। सु आलिंगन दे छै। पग डगमगाट करैं छै। सु एही मतवाला को भाव छै। मतवाला का पग आघा पाछा पड़ै। रस जु लीयौ थो वनसपती कौ। तें कछु वास का झोला नांषतो जाइ छै। सोई मांनूं पवन वमन करै छै। परस ल्यै छै त्यों ही पांन करतो जाइ छै। ए मतवालो करि वर्णयो। एहो तीन्यो गुण करि वर्णया।

२६३—इहां पवन हस्ती करि वर्णयौ छै। जहां पाणी का झरना छै। वहां डोल छांटै छै। इहै सीत गुण आयो। मलयतरु चंद (न) का वृत्तां सौं घसै छै। इहै तौ सुगंध गुण आयौ। पराग जु पुहपां सों लागौ छै। इहै हस्ती धूलि धूसर हुऔ छै। (मकरंद लै छै पुहपां को रस) इहै हाथी मदि चुऔ छै। मंदगति वहतो मारुत कहतां पवन हस्ती करि वर्णयो।

२६४—इहां पवन उपरि वाद हुऔ छै। जु संजोगिणी छै। सु कहै छै चंदन छै। विरहणी कहै छै जु ए विष वाउ छै। सर्प गिल्यो थो सु पाछो नांष्यो छै। एक कहै छै सुगंधकौ गुण छै सु भलो छै। दूसरी कहै छै। ए विष गल्यौ थौ सु पाछौ उगल्यो छै। ए दुहुँ वात को वाद होइ छै। श्रीषंड कहतां चंदन सु संजोगिणी कहै छै ए चंदन को संजोग छै। विरहणी कहै छै भुजंग को विष छै। वाउ नहीं छै।

२६५—एक रिति इसी छै जु दिन कै विषै रस पाईजै छै। कोई रिति रात्रि कै विषै रस पाईजै छै। किंहि रिति संध्या कै विषै रस पाईजै छै। कवि यो कहि गया छै। विहुँ पषा। विसुध। विहुँ मासां। विहुँ राति दिन। वसंति सारीषौ रस निरवाह छै।

२६६—निमिष पलु वसंत रै विषै रात्रि अर दिन सरीषा निरवहै छै एकै थे एक कहुँ वात जणावै नहीं छै। ताकौ दृष्टांत। जैसे नाइक रै गुणि करि नाइका वसि हुऔ नाइका रै गुण करि नाइक वस हुऔ। अैसैं राति दिन वसंत रै विषै एकसा रस दाईक छै।

२६७—वसंत रै विषै। श्रीकृष्ण रै घर पुहुप ही का छै। ओढण विछावण पणि पुहपा ही का छैं। पुहपाहिं कै हींडोलै श्रीकृष्ण हींडइ छै। सषी छैं सो भी सब पुहपां माहैं छै।

२६८—मूरतिवंतौ नाद छै। सोई तौ पैाढाड़ै छै। वेद मूरतिवंत छै सु जगावै छै। रातिदिन वाग कै विषै। विहार कहतां विलास करें छैं। अनेक रस को माणिक मयण कहतां कामदेव की सी मूरति इसा जु श्रीकृष्णजी अर रुषमणीजी वसंत रिति रै विषय विलास किया (करै छै)।

२६९—इहिं समै कै विषै रुषमणीजी सौं श्रीकृष्णजी कै महा प्रीति अधिक वधी छै। मन लीन हुऔ छै। जेता एक नाइका का हाव भाव कह्या छै। तांह करि कै मोहित हुआ छै। सु कुणी रै हाइ भाइ करि मोहिआ छै। कामदेव का अंग अंग जु टूट टूट जुदा हुआ छै। जें के पेट वसि नें उवै जुड़ीया। अनंग जु काम त का अंग महादेव जुदा जुदा कीया

घा। सु जे का जठर कहतां पेट कै विषै वसि ने जुड़िया। श्री रुपमणीजी कै हाइभाइ करि। श्रीकृष्णजी मोहित छै।

२७०—वसदेव पिता हुआ तेंके घर बेटो हुऔ तौ वासदेव श्रीकृष्णजी हुऔ। देवकी सासू हुई। त्येंके घरि बहु हुई तौ रामा कहता लषमी तैं को अवतार रुपमणीजी कै घरि बहु हुइ तौ रति हुई प्रदमनजी की स्त्री।

२७१—लीलाधण कहतां ईश्वर जग का वसावण हार। सु मानुषी लीला को संग्रह करि। अर जगती रै विषै वसीया सु कोण पितामह तौ जगदीस श्रीकृष्ण। पिता तौ प्रदिमन पोत्री अनिरुध। उषा कौ पति जें कै भारज्या उषा हुई।

२७२—कवि कहै छै तो किती एक कहिसि अहि जु सेप देव जेंके दोइ हजार जीभ छै। सोई कहि कहि थाकौ छै। नारायण जु निरलेप निराकार। तें कौ वर्णन कोंण करि सकै। रुपमणि प्रदिमन अनिरुध का नामां कौ संषेप मात्र। अर सपीयां कौ नाम कहै छै।

२७३—समस्त रुपमणी का नाम। लोकमाता। सिंधु कहतां समुद्र की सुता। श्री। लिषमी। पद्मालया। अपर गृहे कहतां और घर कै विषै अथिर छै। थिर रहै नहीं। इंदरा। रामा। हरिवल्लभा। रमा। ये रुपमणीजी का नाम कह्या।

२७४—ए प्रदिमन का नांम जु कामदेव को अवतार। दरपक। कांम। कुसमायुध। संवरारि। रतिपति। तनसार। समर। मनोज। अनंग। पंचसर। मनमथ। मदन। मकरधज। मार। ए प्रदिमन का नाम।

२७५—ए अनिरुधजी का नांम। चतुरमुष। चतुर वरण। चतुरात-मावित्म। चतुर जुग विधायक। सर्वजीव विस्वकेत। ब्रह्म सू। नरवर हंस देहनायक।

२७६—ए समस्त सपीयां का नाम। अष्टादस सपीयां का नांम कह्या।

२७७—अषिल जु संसार रै धणी। तिणि जब ग्रह संग्रह कीयौ छै। तें द्वारिका माहें। ए पांच चंडाली करि राषी छै। एक तौ गालि। एक मदिरा। एक रीस। एक हिंसा। एक निंदा। ए पांचो चंडालीं करि मूंकी छै।

२७८—परमेश्वर की भगति की चाहे। हरिणाषी जु नायिका कौ रस समझ्यो चाहै। पेत्र चढ़ि दुसमन जीत्यो चाहै। पराई सभा माहै वैसि बोल उपर कीयो चाहे। इतरी बात चाहै छै तौ वेलि पढ़ि।

२७९—कहै छै। वेलि पढ्यां इतरा थोक हुअै। कंठ रै विषै सरसती को वासौ होइ। आगें अनायास ही मुगति पावै। घरि लषमी होइ। मुष रै विषै सोभा होइ। मुगति हाथि होइ। उदर विषै ग्यान पावै? आतमा छै सु परमेस्वर की भगति सौ लवलीन छै। वेलि पढ्यां इता पदारथ पावै।

२८०—अब ए वेलि पढ़िवा की जुगति कहै छै। छ मास लगि धरती सयन करै। सवारो ही उठि प्रात स्नान करै। अपरस थको इंद्रिजित। इहि प्रकार जो वेलि पढै। स्त्री पढै तौ मन वांछित भरतार पावै। पुरष पढै तो मन वांछित स्त्री पावै।

२८१—वांछित वर पायां पाछै। आप माहे प्रीति राति दिन इसी उपजै। जिण सों सुप पावै। अर भलो पुत्र पावै।

२८२—इतरा थोक वेलि पढंतां वधै। परिवार पूत पोत्रां करि पड़पोत्रां करि। घोड़ां करि द्रव्य करि। जन जु मनुष्य सु जो रुपमणि अर कृष्णजी की वेलि पढै तौ। इतरौ थोक यो वधै। ज्यां वेलि वधै।

२८३—कवि कहै छै। केई एक दोइ मनुष्य आपमाहे वातां करै छै। कहुँ के घरि अनेक मङ्गलचार। अनेक सुप एकठा देपि। अर कहै छै यें इतरा सुप एकठा लाधा छै। सु कुण पुण्य कीयौ थो। दूसरौ कहै छै जाणिजै सु वेलि पढ़ै छै। तिंहि पुन्य हुंवा इतरा पदारथ पावै।

२८४—चारि विधि की चिकिछा वेदै कही छै। जितनां एक सरीर माहि रोग छै। त्यां सिघलां ऊपरि। सु कोण चिकछा। एक तौ ससत्र कर्म जासौं चीरें। पाछै दागै। दूजौ प्रकार औषध अनेक प्रकार का। तीसरौ मन्त्र। चौथौ तंत्र। सु कहै छै ए च्यारों विधि की चिकिछा सरीर नैं उपचार कीजै छै। अर जु फल गुण होइ छै। तिसों एकही वेलि जो पढै तौ चिहुं बराबरि को एकली वेलि यें गुण होइ।

२८५—आधिभूतग। आधिदैव। अध्यातम। ए तीन्यों ताप छै। संसार माहे कफ वात पित। ए तीन्यौं रोग छै। सु कहै छै जिकोई नित उठ के वेलि पढै तौ। ए तीन्यों ताप न होइ। अर तीन्यों रोग न व्यापैं।

२८६—मन सुध एकाग्रचित करि रुपमणीजी कौ। जु मङ्गल वेलि तैनै जौ पढै तौ इतरा थोक होइ। निधि संपति होइ।

सदा कुसल होइ। इली वातां हुए। अर इतरी वार्ता दूरि हुई। दुर दिन कहतां बुरा दिन जांइ। बुरा ग्रह होइ त्यांकौ नास होइ। बुरी दिसा होइ सु जांइ। बुरा सुपना दीठा होइ सु टलै। और ज कोई बुरा निमित्त होइ सु टलै।

२८७—मन्त्र तंत्र जंत्र। अमङ्गल। वेलि पढतां कोई न होइ। कोई विघन करि सकै नही। थलि जलि आकासि कोई छल छिद्र होंण न पावै। डाकिणि साकिणी। भूत प्रेत समस्त उपद्रव वेलि पढतां भाजै।

२८८—संन्यासिए जोगीए तपसिए। ए वडा हठ निग्रह काहे कौ करै। जु प्राणी मात्र छै। ते नें जु संसार स्वरूपी यौ सागर छै। ते नें जु वेलि पढै छै हुतां ई तौ संसार सागर पार हुइ। और हठ निग्रह काहे कौ करै। वेलि पढै यें पार होइ।

२८९—जोग काहे कूं साधे। ज्याग काहे कौं करै। जप तप तीरथ। व्रत। दांन। आश्रम। वरण धरम। ए किती एक वात। जु रुषमणी कृष्ण रौ मंगल जु वेलि। त्यें ने मुष करि निरंतर पढिवौ करै। प्राणी नें कहै छै। रे प्रांणी कृपण तूं काहे कौं कलपै छै।

२९०—गंगाजी की निन्दा करी छै। ताके लींयां या दुवाला कौ अर्थ में नहीं लिष्यौ छै। (टीकाकार ने इस दोहले में गंगाजी की निन्दा होना समझ कर इसका अर्थ देना उचित नहीं समझा। परन्तु यह कहने में कि गंगा एक-देशीय है और 'वेलि' सार्वदेशिक है, गंगा की कोई निन्दा नहीं दिखाई देती। सं० १८२६ की टीका में इस दोहले

का अर्थ इस प्रकार दिया है—हरि कहतां श्रीकृष्ण। हर महादेव। इयां बे ऊँनैं सेवै छै। मतारू नै वीड़े। गंगाजी री लघुता अर वेलिरी वडाई मोनैं कहणी युक्त न थी। पिण गंगाजी एक देश वहै। नैं वेलि सगलैं देस पसरी छै। तिण वासतै कहूं छू। जु भो भागीरथ राजा तू गंगाजी आणी थैरो मन में अहंकार मत करे। जु गंगा एक देस वाहणी छै। नै म्हारी कीधी वेलि सिगलैं देस प्रसरै छै। तिण करि नैं सुरसरि वेलि बराबर नहीं। किउं कि वेलि अधिकी)

नोट—वेलि की संवत् १६७३ की ढूंढाड़ी टीका में केवल २९० दोहले तक की टीका पाई जाती है और इससे आगे १४ दोहलों का मूल पाठ दिया गया है—टीका नहीं की गई। इस प्रति में केवल ३०४ दोहले पाये जाते हैं। इसके अन्त में संवत् और कवित्त इस प्रकार दिये हैं—

संवत १६७३ वर्षे मार्गशिरमासे शुक्लपक्षे पूर्णम्यां तिथौ भूमवासरे घटी १९ पल १२ मृगसिरनषित्रे घटी ३६ पल ३ शुभ नामा योग घटी २४ पल ३६ महाराजाधिराज महा श्री २ सूर्यसिंहजी विजै राजे ॥श्री॥

कवित्त

वेलि वाज जल विमल सकवि जिणि रोपी साद्दर
पत्र दोहा गुण पुहप वास लोभी लषमीवर ॥
प्रघटी दीप प्रदीप अधिक गुहिर आडवर
जे जाणे मन शुद्ध उच फल पामे अम्मर ॥

विसतार कीध जुग जुग विमलु
धणी क्रिसन कहणार धन ॥
अमृत वेलि पीथल अचल
ते रोपी कल्याण तन ॥

संवत् १८२६ की प्रति में इसकी टीका इस प्रकार है—
वेद तै बीज हुऔ। वचन रूपी यो जल हुऔ। जसरूपी यौ मांड हौ हुवो। द्वाला जिके पत्र हुआ। गुणरूपो या फूल हुवा। फूलां री वासना रा लैणहारा श्रीकृष्णजी हुवा इसी वेलि दीप प्रदीप रै विषै प्रगट हुई छै। जिके इण वेलि नै मन सुद्ध समरण करै। तिके अमर फल कहतां स्वर्ग फल पावै। जुग जुग विस्तार कीयौ छै। इसी अमृत वेलि अचल। तै पृथीराज कल्याणमल्ल रा पुत्र। वेलि रोपी छै। यह कलश किण ही कवीश्वर चढ़ोड्यौ छै।

संवत् १८२६ की प्रति में ३०२ दोहले पाये जाते हैं और सबकी टीका भी दी गई है। परन्तु आगे के दोहले सरल होने के कारण १८२६ की प्रति में की हुई उनकी टीका देना यहाँ उचित नहीं समझा गया।

परिशिष्ट (ख)

"सुबोधमंजरी" संस्कृत टीका

परिशिष्ट (ख)

सुबोधमंजरी (संस्कृत) टीका

श्रीपार्श्वजिनमानम्य गोपेज्यं दशजन्मकम् ।
पृथ्वीराजः शुभावल्ली विवृणेऽर्थफलाप्तये ॥१॥

गुणिनो बहवः सन्ति संस्कृतज्ञा महाशयाः ।
परं प्राकृतलोकोक्तिभाषास्वल्पधियो बुधाः ॥२॥

तेषां प्रार्थनयाऽऽरम्भो मया स्वमतिसारतः ।
हर्षप्रकर्षमाश्रित्य कृतो ब्राह्म्यनुभावतः ॥३॥

लाखाभिधेन भाषायां चतुरेण विपश्चिता ।
चारणेन कृतो बालावबोधोऽर्थसुलब्धये ॥४॥

परं न तादृगर्थोक्ति-पटुत्वं वितनोत्ययम् ।
तेन संस्कृतवाग्युक्तां टीकामेनां करोम्यहम् ॥५॥

चतुःश्लोके सम्बन्धः—

१—तत्रादौ प्रथमे द्वाले तावद् ग्रन्थकर्त्ता मङ्गलादिचतुःप्रकार-कथनाय, प्रथमं मङ्गलार्थं च, चत्वारि मङ्गलाचरणान्याविःकरोति । मङ्गलरूपो माधवो मया गीयते वर्ण्यते इत्यन्वयः । किं कृत्वा परमेश्वरं प्रणम्य अलक्ष्यरूपं नत्वा । 'आदरेण वीप्सेति वचनात् प्रत्येकं नमस्कारवाक्यम् । पुनः सरस्वतीं प्रणम्य, सद्गुरुं विद्यादातारं च प्रणम्य । एतानि त्रीणि तत्त्वसाराणि इहलोक-परलोक-सुखदायीनि । चतुर्थं मङ्गलं मङ्गलरूपः साक्षात् माधव एव गीयते । अतश्चत्वार्यपि

मङ्गलाचरणानि अभिधेयानि परमेश्वरसरस्वतीगुरुमाधवानां नामानि, सम्बन्धः तत्त्व-प्ररूपणं, प्रयोजनं श्रीभगवद्गुणवर्णनम्। यदुक्तम्—

मङ्गलं चाभिधेयं च सम्बन्धश्च प्रयोजनम्।
चत्वारि कथनीयानि शास्त्रस्य धुरि धीमता ॥

इति प्रथमद्वालकार्थः।

२—कविः स्वगर्वपरिहारं कुर्वन् द्वालकत्रयमाह—येनाऽहं उत्पादितः तं गातुं, तस्य यशो निरूपयितुं, मयाऽऽरंभः कृतोऽस्ति। तं कर्त्तारं कीदृशं, गुणनिधिं समस्त-गुणयुतं सत्त्वरजस्तमोरूपम्। कीदृशेन मया, निर्गुणेन न किंचिदपि ज्ञानवता। अतो विपरीतविधिकरणे दृष्टान्तं दर्शयति—**किरीति** उत्प्रेक्ष्यते, काष्ठघटिता चित्रपुत्तलिका स्वकरेण, स्वहस्तेन, स्वचित्रकारं चित्रितुं लग्ना, प्रवृत्ता, इति असंभावनं इति रहस्यम्।

३—कमलापतेः श्रीपतेः कीर्त्तिकथनं मयाऽऽदरं कृत्वा आदृतं तदा किमारब्धमिति दृष्टान्तः—अहं एवं जाने वाग्हीनेन मूकेन वागीश्वर्या सरस्वत्या सह स्वयं जेतुमनसा वादः प्रारब्ध इवेत्यपि असंभावना।

यदुक्तम्—

मन्ये जाने ध्रुवं शङ्के यथा खलु वतिव वा।
नन्विवेतीति तु प्राज्ञाः उत्प्रेक्षारूपकं विदुः ॥

४—अथ सर्वथा सर्वेषां असामर्थ्यमाविर्भावयितुं कथयति—सरस्वत्या यत्र शुष्यति, वागपि स्तोतुमशक्ता, तद्यशः कथनं त्वं शोधयसि अंगीकरोषि तदा **रे वावला** त्वं किं गर्ग इव जातः। तत्र दृष्टान्तः—मनोवेगेन धावन् उद्यायन् मेरुगिरि-

मुद्दिश्य पथि मार्गे पंगुः पादहीनः कथं मेरुं यावद् गच्छति, एवदपि असंभाव्यम् ।

५—यस्मिन् शेषनागे सहस्रफणाः, फणे फणे द्वे द्वे जिह्वे, जिह्वायां जिह्वायां नवं नवं पृथक् पृथक् यशः संस्तौति तेनापि हे त्रिविक्रम, तव यशः पारो न प्राप्तः, तदा वचनैः मण्डूकानां, यशः प्रलपयितुं किं वशित्वं किं सामर्थ्यं, न किंचिदपि मण्डूकानां **जिह्वैरिव** नाऽस्ति इति कविसमये लोकोक्ति-रवधार्या ।

६ पुनर्विज्ञप्तिद्वारेण वदति—हे श्रीपते हे प्रभो, स कः कविः तव गुणान् यः स्तौति इति । स कस्तारको नदी तडागादिजल-तरणज्ञो यः समुद्रं तरति । कश्च पक्षी बहुवुच्चैर्गतिकारः परं गगनांतं ज्योतिष्कादिमंडलं यावद् याति । को रंकः लघुपर्वतमुत्पाटयितुमशक्तः, कथान्तरे गोवर्धनं कैलाशं कृष्णेन रावणेन उत्पाद्य दोर्भ्यां धृत इति श्रूयते, मेरुमुत्पाटयितुं को रंकः करं प्रसारयति न कोऽपि इति तस्त्वार्थः ।

७—इदानीं कीर्त्तिकरणे स्व श्रमं सफलं कर्तुमप्येवनं द्वालकं वक्ति येन कृष्णेन भवभ्रमणतो जगति दुष्प्राप्यं सर्वोत्तमं नरजन्म दत्तम् । मुखे जिह्वां दत्त्वा निष्पाद्य तथा आनिषेकान्मातृजठरवसतिं मर्यादीकृत्य भरणमाहारादिपूरणं, ततो जननानंतरं पोषणं शरीररक्षादि । भुक्तिवस्त्रसमृद्धिप्रदाने सावधानत्वमंगी-कृतं, तस्य कीर्त्तनकथनाय कीर्त्तिकृते स्वजिह्वां सफलीकर्त्तुं श्रमकरणं विना कथं **सरइ** इति अलं कथं भवेदित्युपदेशः परेषामपि । यदुक्तम्—

दूहा—सेंण वयणि न संतोषीयइ । पट मित्र लौन न साउ ।
जिहीं जगदीस न जंपीयइ । सु रसना किन जरि जाउ ॥

८—अथ चास्मिन् ग्रंथे प्रथमं रुक्मिणीवर्णनं क्रमम्। तत्र स्वकामुकत्वसोल्लुंठवचनप्रपंचं निराकरोति।

शुकदेवः व्याससुतः व्यासोपि अथ च गीतगोविंदकर्त्ता जयदेव इत्यादयोऽन्येऽपि विष्णुभक्तिपरायणाः सुकवयः अनेके वाल्मीकिशनकशंकराचार्यादयः सर्वेऽपि एक **संय** इति एकः केवल. पुरुषप्रधान' श्रीगोविंद' तस्यैव स्तुतिं कृतवन्तः, आदौ भगवद्रूपवर्णने कृतोद्यमाः, परं मया तावत् स्त्रीवर्णनमतः क्रियते यतः शृंगारग्रंथो प्रथ्यते, यदुक्तं शृंगारे स्त्रीप्रधानत्वम्, अतो मह्यं दूषणं न देयम्।

९—अथ च प्रकारान्तरेण पुनः स्त्रीवर्णनं दृढयति।

हाँ इत्यकस्मादाश्चर्यामंत्रणे। 'हे सुजन, त्वं पश्ये'त्यध्याहारः, प्रतिभूकरणवचनं विचारय चेतसेत्यपि शेष'। पुत्रोपरि हेतु स्नेहकारणं समीचतां नृणां पितुः स्वभावात् मातैव **वडीति** पूज्यत्वेन मान्या। तत्र हेतुमाह। या माता मासदशकं यावत् उदरे धरति कष्टेन रक्षति। पुनः प्रसूत्यनंतरं दशवर्षं लालनपालनं करोतीत्याधिक्यम्। यदुक्तम्—

पतिता गुरवस्त्याज्या माता नैव कदाचन।
गर्भधारणपोषाभ्यां तेन माता गरीयसी॥

पुनश्च।

सुधा मधु सुधा ज्योतिर्मृद्वीका शर्करादपि।
वेधसा सारमुद्धृत्य जनितं जननीमनः॥

१०—अथ पारंपर्येण ग्रंथे कथाप्रसंगं वक्ति।

दक्षिणस्या दिशि विदर्भनामा देशः दीप्यतीति सर्वोत्कर्षेण शोभते। तत्र देशे कुंडिनपुरं नगरं राजतेवरां सर्वद्धर्या पूर्णम्। तत्र भीष्मकाभिधो राजा राजते राज्यं करोति।

कीदृशो राजा । अहय: शेषनागादय: तेषामपीत्यनेन पातालवासिनामपि मान्य:, नरा: मनुष्या: असुरा: भूत-व्यंतरादय: अथ च दैत्यराक्षसादय: सुरा: देवा: स्वर्गवासिन:, एतेषां **सिरहर:** स्वयश: प्रसिद्ध्या प्रकटनामान्वय: कारण-विशेषे मान्योऽपीतितत्त्वार्थ: ।

११—तस्य राज्ञ: पुत्रा: पंच, षष्ठी पुत्री । अनुक्रमेण पुत्राणामभि-धानानि प्रथम: कुमारो रुक्मनामा नामांतरेण विमलक-थेपि कथ्यते । द्वितीयो रुक्मबाहु: पुनस्तृतीयो रुक्ममाली । चतुर्थो रुक्मकेश: । पंचमो रुक्मरथ:, एते पंचापि ।

१२—षष्ठी पुत्री स्त्रीलिंगत्वावतारेण तस्यां नाम रुक्मिणीति प्रसिद्धो लक्ष्म्या: अवतारोऽपि द्वितीयोऽर्थ: । तत्र जननसमयबाल्यं वर्णयति । 'हे लोका: यूयमेवं जानीते' त्यध्याहार्यम् । वर्त्तं-त्तवे । मानसे सरसि तत्कालोत्पन्ना हंसबालिकेव । किंवा, मेरुगिरौ निर्गता कनकवल्लीव अंकुरिता, पत्रद्वयसंयुता जातेत्र । अतो भाविनीवृद्धि: समीचीना संभावयतेति ।

१३—अन्या कन्या वर्षेण यावत् मात्रं वर्द्धते शरीरावयवान् पुष्णाति, तावन्मात्रमियं मासेन वर्द्धते पुष्टा दृश्यते । अन्या मासेन वर्द्धते तद् वृद्ध्या प्रहरेण वर्द्धते । अधिकं सामुद्रलक्षणैर्द्वा-त्रिंशता युक्ता केनाप्यंगगुणेनान्यूना सती बाललीलामयो बालक्रीडापरायणा राजकुमारी **ढूलड़ीभि:** वस्त्रादि-परिकररचितपुत्तलिकाभि: रमते स्मेति । शैशवे सर्वोऽपि-जनश्चञ्चलत्वमावि: करोतीति वय:स्वभाव: ।

१४—साऽथ किमेकाकिन्येव रमते, इति शङ्कानिराकरणायातो वक्ति । संगे स्वसार्थे सख्य: सन्तीति । कीदृश्य: शीलमाचार: कुलं **वेस** इति वय:, तै: समाना सादृश्य: ताभि: क्रीडतेस्मेति

८—अथ चास्मिन् ग्रंथे प्रथमं रुक्मिणीवर्णनं कृतम्। तत्र स्वकामुकत्वसोल्लुंठवचनप्रपंचं निराकरोति।

शुकदेव व्याससुतः व्यासोपि अथ च गीतगोविंदकर्त्ता जयदेव इत्यादयोऽन्येऽपि विष्णुभक्तिपरायणाः सुकवयः अनेके वाल्मीकिशनकशंकराचार्यादयः सर्वेऽपि एक **संच** इति एकः केवलः पुरुषप्रधान. श्रीगोविंदः तस्यैव स्तुतिं कृतवन्त., आदौ भगवद्रूपवर्णने कृतोद्यमाः, परं मया तावत् स्त्रीवर्णनमतः क्रियते यतः शृंगारग्रंथो भण्यते, यदुक्तं शृंगारे स्त्रीप्रधानत्वम्, अतो मह्यं दूषणं न देयम्।

९—अथ च प्रकारान्तरेण पुनः स्त्रीवर्णनं दृढयति।

हाँ इत्यकस्मादाश्चर्यामंत्रणे। 'हे सुजन, त्वं पश्ये'त्यध्याहारः, प्रतिभूकरणवचनं विचारय चेतसेत्यपि शेषः। पुत्रोपरि हेतु स्नेहकारणं समीचर्तां नृणां पितु' स्वभावात् मातेव **वडीति** पूज्यत्वेन मान्या। तत्र हेतुमाह। या माता मासदशकं यावत् उदरे धरति कष्टेन रक्षति। पुनः प्रसूत्यनंतरं दशवर्ष लालनपालनं करोतीत्याधिक्यम्। यदुक्तम्—

पतिता गुरवस्त्याज्या माता नैव कदाचन।
गर्भधारणपोषाभ्यां तेन माता गरीयसी॥

पुनश्च।

सुधा मधु सुधा ज्योतिर्मृद्वीका शर्करादपि।
वेधसा सारमुद्धृत्य जनितं जननीमनः॥

१०—अथ पारंपर्येण ग्रंथे कथाप्रसंगं वक्ति।

दक्षिणस्या दिशि विदर्भनामा देश' दीप्यतीति सर्वोत्कर्षेण शोभते। तत्र देशे कुंडिनपुरं नगरं राजतेतरां सर्वद्धर्या पूर्णम्। तत्र भीष्मकाभिधो राजा राजते राज्यं करोति।

कीदृशो राजा । अहय: शेषनागादय: तेषामपीत्यनेन पातालवासिनामपि मान्य:, नरा: मनुष्या: असुरा: भूत-व्यंतरादय: अथ च दैत्यराक्षसादय: सुरा: देवा: स्वर्गवासिन:, एतेषां **सिरहर:** स्वयश: प्रसिद्धया प्रकटनामान्वय: कारण-विशेषे मान्योऽपीतितत्त्वार्थ: ।

११—तस्य राज्ञ: पुत्रा: पंच, षष्ठी पुत्री । अनुक्रमेण पुत्राणामभि-धानानि प्रथम: कुमारो रुक्मनामा नामांतरेण विमलरू-पोपि कथ्यते । द्वितीयो रुक्मबाहु: पुनस्तृतीयो रुक्ममाली । चतुर्थो रुक्मकेश: । पंचमो रुक्मरथ:, एते पंचापि ।

१२—षष्ठी पुत्री स्त्रीलिंगत्वावतारेण तस्यां नाम रुक्मिणीति प्रसिद्धो लक्ष्म्या: अवतारोऽपि द्वितीयोऽर्थ: । तत्र जननसमयबाल्यं वर्णयति । 'हे लोका: यूयमेवं जानीत' त्यध्याहार्यम् । उच्य-न्ते । मानसे सरसि तत्कालोत्पन्ना हंसबालिकेव । किंवा, मेरुगिरौ निर्गता कनकवल्लीव अंकुरिता, पत्रद्वयसंयुता जातेव । अतो भाविनीवृद्धि: समीचीना संभावयतेति ।

१३—अन्या कन्या वर्षेण यावन् मात्रं वर्द्धते शरीरावयवान् पुष्णाति, तावन्मात्रमियं मासेन वर्द्धते पुष्टा दृश्यते । अन्या मासेन वर्द्धते तद् वृद्धया प्रहरेण वर्द्धते । अधिकं सामुद्रलक्षणैर्द्वा-त्रिंशता युक्ता केनाप्यंगगुणेनान्यूना सती बाललीलामयी बालक्रीड़ापरायणा राजकुमारी **दूलड़ीभि:** वस्त्रादि-परिकररचितपुत्तलिकाभि. रमते स्मेति । शैशवे सर्वोऽपि-जनश्चञ्चलत्वमावि: करोतीति वय:स्वभाव: ।

१४—साऽथ किमेकाकिन्येव रमते, इति शङ्कानिराकरणायातो वक्ति । संगे स्वसार्धे सख्य: सन्तीति । कीदृश्य: शीलमाचार: कुलं **वेश** इति वय:, तै: समाना सादृश्य: ताभि: क्रीडतेस्मेति

सुसंगतिदर्शनम्। तत्समयं वीक्ष्य जनाः एवं जानन्ते स्म। पद्मिनी कमलिनी केलिकाभिर्नु तेव उपमा। तथा राजकुमारी राज्ञांगणे रमती राजते एवं शोभते, ननु उडुगणे तारकगण-मध्ये अंबरे नभसि **बीरज** इति द्वितीया चंद्रस्य लेखेवेति शिशुत्वं दर्शितम्।

१५—अधुना वयःसंधिं वर्णयति। ऊमायानमिति (?)

शैशवं बाल्यं तत् तनौ शरीरेण सुसुप्तं गतप्रायमिति, तथा च यौवनं न जाग्रतं न तादृशं प्रकटितम्। असौ वय-संधिः समुत्पन्नः कियद्वारं स्थायी **सुहिणा सुवरीति** स्वप्नप्रायः यथा **वरि** शब्द औपम्ये स्वप्नं दृष्टं स्तोककालं तिष्ठति तथा वयोयुगांतरमपि तल्लक्षणं चेदम्। यदुक्तम्।

न दंतुरमुरस्थल वचसि नाश्रिता चातुरी।
विकारि न विलोकितं भ्रुवि न वक्रिमोपक्रमः॥
तथापि हरिणीदृशो वपुषि कापि कांतिच्छटा।
पटावृतमहामणिद्युतिरिवाभिसंलक्ष्यते॥

परमेवं ज्ञायते। साम्प्रतं यौवनं पलेन पलेन घटी-पष्टिभागमात्रेण वृद्धिं करिष्यतीति। कविः स्वनाम्ना **पियमेति** पृथ्वीराजस्येदृशं ज्ञानं परिस्फुरतीति परोपदेश-वृत्त्या स्वसंदेहनिराकृतिः।

१६—*अधुना तत्कालागतं यौवनं व्याख्याति। प्रथमं मुखे रागो* रक्तत्वं प्रकटितं तत् ज्ञायते प्राची भागः सरागो जात इति। समये प्राक् पूर्वदिशि रक्तत्वं भवति। उत्प्रेक्षते। अंबरे गगने अरुणोदय इव रविसारथिरुदित इव। ततः प्रातः प्रभातं ज्ञात्वा प्रेक्ष्य। उच्छ्रितौ पयोधरौ ऋषीश्वराविवेति साम्यम्।

प्रातः संध्यावंदनार्थ ऋषयः समुत्तिष्ठन्तीति नित्य-कर्मप्राधान्यम् ।

१७—वयःसंधौ जीवस्य **जंप इति** स्वास्थ्यं नास्ति तत्कथमित्याह । यौवनरूपं प्राघूर्णिकं जनं यायिनं स्तोककालं स्थायिनमिव चलनपरं इव ज्ञात्वा विचिंत्य यातु मनसा सार्द्ध का प्रीतिः । बालमित्रे इव बाल्यत्वे गतवति सति एषा बाला बहुतरं विलचिता उन्मनोभूता । यतो बालकालिकवयस्य विरहे चिंतातुरत्वं युक्तमिति । उभयोरपि प्रीत्यलब्धौ मनसि उद्वेगः ।

तथाहि—

मातर्मे न भृशं शरीरपटुता, कार्श्यं कटौ रक्तता-
ऽऽस्ये श्यामं भ्रुकुटीयुगं कुटिलितं नेत्रद्वये दीर्घता ।
द्वौ जातौ हृदि गोलकावतितरां गुर्वी नितम्बस्थली,
वैद्यस्ते दयितः सुतेतिचतुरस्तस्मै तनुं दर्शय ॥

१८—अथ च पुष्टं जातं तारुण्यमिति लज्जा प्रकारं कथयति । प्रथमं बाल्ये मातृपित्रोरग्रे यथाकथमुद्घाटितदेहावयवा सत्यरमत क्रीडामकरोत् । अधुना कामस्य विरामा उल्लसितानि नवनवांगानि, तेषां गोपनकृते दर्शयितु-मनिच्छती सती लज्जावती जायते । यतः शरीराविर्भावानां वस्त्रादिभिराच्छादनं तदेव प्रथमं लज्जानिदानं मां गोपितांगां दृष्ट्वा किं वितर्कयिष्यतः पितराविति त्रपाप्रसंगः ।

१९—अथ यौवनं वसंतोपमं प्रदर्श्य वर्णयति । यत् शैशवं व्यतीतं तत् शिशिर ऋतुरिव गतः । तन्निर्गतं ज्ञात्वा विगणय्य सर्वं स्वकीयं परिग्रहं समुदायं नवकुसुमभ्रमरकोकिला-जल्पनादि लक्षणं लात्वा, यौवनपक्षे तु शरीरावयवचिह्न-

लक्षणसामग्रीं, गृहीत्वा तारुण्यं देहांतरलक्षणे वने ऋतु-
राड्रूपं समागतमिवेति द्वयोः साम्यम् ।

२०—अधुना तयोश्चिह्नान्युपक्रमान्युक्त्या दर्शयति । वसंते वने
दलानि नवपल्लवानि पुष्पाणि च विमलानि सघरकानि जायन्ते
तथास्याः शरीरे नयनकमलदले प्रफुल्ले निर्मले दीर्घे-
प्रादुर्भूते । कंठे वाग्मधुरत्वं कोकिलवत् जल्पनमेव कोकिला ।
स्त्रीणां मधुरस्वरत्वं प्रसिद्धम् । पुनः **पांपिणीति** नयन-
पक्ष्मरूपाः ता एव पक्षाणि सञ्जीकृत्य । नवीनयुक्त्या
भृकुटीद्वयं भ्रमरवद् भ्रांतम् अतएव श्यामत्वं कुटिलत्वं
सुशोभितमिति द्वयोः सदृशचिह्नोपमानम् ।

२१—पुनरुभयोः साम्यम् । अस्या रुक्मिण्याः शोभना तनुः सैव
मलयाचलस्तत्र मनः मलयजं चन्दनमिव **मुकुरितं** सुष्ठुतया
प्रादुर्भूतं कुचद्वयोत्थानं किंचित्तीक्ष्णाग्रभागं कामांकुरस्य
कलिके इव निर्गताग्रभागवत् । तथास्याः ऊर्द्ध्वश्वासः
दाक्षिणात्यपवन इव । कीदृशः पवनः, गुणत्रयमयः
शीतो मंदः सुरभिश्च चिन्त्यः, उच्चः ऊर्ध्वः स्थित्यावहमानः ।
श्वासे सौरभ्यं पद्मिनीलक्षणम् ।

२२—अत्र चन्द्रोदय साम्यरूपतया मुखस्यैवोपमानं वदति ।
मनस्यानंदो यौवनस्वभावोऽयमेवास्तन्नोदयः । अथ च हास्यं
स्मितरूपं अवकाशः अदृष्टे चन्द्रे प्राक् प्रकाशः तत्र रदाः
दंताः स्मितेन प्रकटिता एव, **रिखपंति रुखेति**, नक्षत्र-
तारापंक्तिसदृशा राजन्ते । तत्र नयने कुमुदिनीप्राये
चन्द्रोदये प्रफुल्लिते । नाशिकादीपशिखेव दीपोपमेया ।
मेनकेसेति । केशाः रात्रिरूपाः इत्यपि । मेनशब्देन
चारणभाषया भुजङ्गसदृशाः, प्रायः शरदि दीप्तिमति रवौ

दिने सर्पाणां बहिर्न निर्गमः रात्रावेव प्रकटनं पश्चाद्भागे स्थिताया वेण्या अदर्शनेन। नाशादोपस्य विच्छायत्वं न स्यादिति नौपम्ये दोषप्रसंगः। मुखं राकेश इव विशेषेण शारदो पूर्णिमा चन्द्रसदृशम्।

२३—तनुरूपे सरसि सरोवरे वर्द्धिते वयसि यौवनरूपजलस्य **जोर इति** बलेन कामिन्याः करणाः हस्तद्वये दशांगुलीरूपाः कामस्य बाणाः वर्द्धिता इव यतः कामस्य बाणाः कुसुममयाः करयोरपि कमलोपमा सौकुमार्येणेति, एकैकस्मिन् हस्ते पंचांगुलीरूपं बाणपंचकं व्याख्येयम्। अथ चोपरि भागे बाहुद्वयस्य **डोरिणोपमानमिति** किं दृढ़रज्जु सदृशमिव आलिङ्गनसमये श्रीकृष्णस्य कंठे बंधनं कृते आनीतमिवोत्प्रेक्ष्यते वरुणस्य प्रचेतसः पाशाविव। वरुणस्य शस्त्रं पाश एव तं दूरीकर्त्तुं जगतापिन शक्यते तदिदेमपि बंधनं कृष्णस्य दृढं भावीति रहस्यम्। यदुक्तं कुमारसंभवे—

शिरीषपुष्पाधिकसौकुमार्यौ बाहू तदीयाविति मे वितर्कः।
पराजितेनापि कृतौ हरस्य यौ कण्ठपाशौ मकरध्वजेन॥

२४—क्रमेण कामिन्याः कुचौ स्तनौ पीनौ जातौ। कीदृशौ कठिनौ उत्प्रेक्ष्यते। करिणः गजस्य कपोलौ कुंभाविव। कदा, **वेस नवीति** चटितयौवनवयसि अतो विधिनादृष्टरीत्या वाण्या वचनचातुर्येण व्याख्यानं वर्णनं क्रियतामिति शेषः अथ तयोरुपरि अतिश्यामता श्यामचूचुकयुगं किमिव भाति। उत्प्रेक्ष्यते। यौवनेन कुंतारूपेण दानं मदः प्रदर्शितम्, प्रादुः कारितं पुंतारास्तु करिणां भैषज्यादिप्रयोगेण असदपि दानं मदं प्रकटयन्तीति सत्यम्।

२५—अथ तस्याः अंगेषु शोर्धभावं दर्शयति। तस्याः पीनौ पयोधरौ स्तः कीदृशौ धराधरः पर्वतः तस्य शृंगे इव।

प्रायो गिरिशृंगं देवतीर्थमयं स्यात्। अतः कीदृशौ स्तनौ सधरौ माहात्म्यवंतौ, स्पृष्टौ दुष्कर्महारिणाविति। **कवि** (कवेः) राधिक्ये सदृशोपमाने स्थूलवर्तुलोम्बत्वगुणेन अतिशयाश्चर्यकारि वाक्येन न दोषः। कवीनां वर्णनसमये सविशेषभावादिति। घनं क्षीणा मुष्टिग्राह्या। यदग्रे वक्ष्यति **कृशाङ्गि मापित करलेति,** पुनरतिसुघटातिसुन्दरत्वा, कटितटं गिरितटमिव चिन्त्यं तदपि पुण्यक्षेत्रमिव ज्ञेयम्। अथ च पद्मिन्याः नाभिमण्डलं गभीरं प्रयागतीर्थम्। यदुक्तं सौन्दर्यलहरी स्तोत्रे।

तटं लिङ्गाकारं किमपि तव नाभीति गिरिजे।
बिलद्वारं सिद्धेर्गिरिशनयनानां विजयते॥

विलोकनयोग्यं न स्यजनयोग्यमिति। तदुपरि वलित्रयं त्रिवेणीनां गंगायमुनासरस्वतीनामेकस्थाने मेलस्तत् सदृशम्। श्रोणिर्नितंबः नदीनां तटमिव सेवनयोग्यं पापदुष्कहरम्। एतत् कथनेन, स्वमात्रा सदृश्यां रुक्मिण्यामकामुकत्वेन, तीर्थभूतोपमा पातकच्छेदनोति विज्ञाय। शृंगाररसभावं पुपोषेति कवेः निष्पापत्वम्।

२६—नितंबिन्याः जंघायुगं लोकोत्तया ऊर्वोर्युगं कीदृशं करभवत् करभोस्यादाकनिष्ठं मणिबंधादारभ्य कनिष्ठांगुलिं यावत् चटाद्योक्तारेण साम्यम्। अथवा अधोमुखीकृतौ रंभास्तंभाविव द्वितीयोपमा। कीदृशं निरूपमं आभ्यामप्यतिसुंदरं तदधःस्थं जंघायुगलम्। **जुग्रलिनालीति** नाम्ना लोकप्रसिद्धं, कीदृशं, तस्याः कदल्याः गर्भसदृशं विशेष-सौकुमार्येण नीरोमत्वमपि प्रकाशितं अतो विद्वांसः शास्त्रज्ञाः एवं वर्णयन्ति व्याख्यायन्ति।

२७—पदपल्लवानां चरणांगुलीनामुपरि पुनर्भवाः नखाः प्रतिभान्ति। तत्र किमुपमानम्। यथा निर्मलं स्वच्छं, कमलपत्राणामुपरि, नीरं जलबिंदवः तेषां तेजः सुश्रीकत्वमिव विराजते इत्यर्थः। अथ च नखानां तेजस्वितया रक्ततादवेतत्ववतु स्यादिगुणैरुत्प्रेक्षाषट्कम्। तदेवाह। उत्प्रेक्षते। रत्नानीव, तारं रौप्यमिव, तारका इव, **हरिहंस**शब्दारणभाषया सूर्यनामः हरिहंस-सावकाः सूर्यस्य लब्धपत्यानीव अणुसूर्याः, शशधराश्चंद्रा इव, हीराः वज्ररत्नानीवेति। स्वस्वगुणस्वभावो विचार्यः।

२८—अथ रूपातिशयेपेता परमपठिता विद्याविहीना तदा किं वर्ण्यते। यदुक्तं—

> रूपयौवनसंपन्ना विशालकुलसंभवाः।
> विद्याहीना न शोभन्ते निर्गंधा इव किंशुकाः॥

अथ चातुर्यमूलं विद्यापठनमाविःकरोति। व्याकरणान्यष्टौ, पुराणाः अष्टादश, स्मृतयो ऽष्टादश, अन्यः शास्त्रविधिः धर्माधर्मकाममोक्षमयः चत्वारो वेदाः, अंगानि षट्, तेषां विचारः अर्थरीत्या विवेचनं संख्या**मी**लनेन तया ज्ञानवत्या चतुर्दशापि विद्याः चतुःषष्टिसंख्याः कलाः अपि ज्ञाताः तासां मध्ये अनेके अनेके ऽधिकाराः स्वयं ज्ञातुं योग्यास्तेपि शिक्षिताः इति बुद्धिमत्त्वं प्रकाशितम्।

२९—सांप्रतं वर-प्राप्त्यवसरो जातस्तदा किमजनि। कदाचित्कयापि सख्या हरिर्वसुदेवपुत्रो वर्णितः। तद्गुणान् श्रुत्वा तदुपरि अनुरागो वरणेच्छा जातः, वरवांछत्याः रुक्मिण्याः। हरिगुणभणनेन या हरेः मनसि वांछा उत्पन्ना तया वांछया

गौरीं पार्वतीं हरं शंभुं च वंदते स्म। अद्यापि होलिकानंतरं कन्याभिर्गौरीपूजिते व्रतं वितन्यते ईप्सितवरप्राप्तिनिमित्तम्।

३०—पिता च माता चेदृशान् देहावयवान् दृष्ट्वा विवाहकृते विमलं सम्यक् सुख-कारिणं विचारं विमर्शनं कुरुतः स्म। सांप्रतं कुत्रापि पुत्री विवाह्यते तदैव चारु। यदुक्तम्—

माता चैव पिता चैव ज्येष्ठो भ्राता तथैव च।
त्रयोऽपि नरकं यान्ति दृष्ट्वा कन्यां रजःस्वलाम्॥

तत्र विचारणे। कन्यानिमित्तं नाथो वरः कृष्णतोऽधिकः न मनसि परिस्फुरति कीदृशः कृष्णः सुंदरः रूपवान् सूरो बलवान्, शीलं आचारस्तेन शुद्धः, सदाचारवान् कुलेन वंशेन शुद्धः सुवंशजातः करेण शुद्धः त्यागवान् एतैर्गुणैः पूर्णः अयमेवेति निर्णीतम्। यदुक्तम्—

"कुलं च शीलं च सनाथता च विद्यां च वित्तं च" विचार्य ज्येष्ठपुत्राय निवेदितम्। आवाभ्यामिदं विचारितम्। तदाकर्ण्य पुत्रः किं प्रस्तुतमाचचक्षे तदेवाह।

३१—पुत्रा वदंति मातरं पितरं प्रति चैतत्। किमित्याह—हे पितरौ! अस्माकं पंचानामपि पुत्राणामीदृशी वासना मंत्रबुद्धिः यद् राज्ञां क्षत्रियकुलजानां नृपाणां ग्वालानां गुर्जरजातीनां परस्परं च का ज्ञातिः किं सज्जनत्वम्। तथा जात्यंतरेण का कुलपंक्तिः एकत्र जेमनादिकं कथं स्याद इति मंत्रो दर्शितः।

३२—पुनरपि पुत्राः कथयंति। यौ मातापितरौ एतानि षट्त्रिंशद्राज-कुलानुल्लंघ्य अवगणय्य यद् अहीरैर्गुर्जरैः सार्कं सज्जन-

वत्वं कुरुत:, तदैवं ज्ञायते वृद्धत्वे कस्यापि केनापि न विश्वसनीय: विश्वासो न कार्य: तत्कृतो मंत्रो वृथा भावीति । कथमित्याहुः यदास्माकं मातापितरौ अपि **पाँतरीआ** इति बुध्या विहीनौ जातौ तथा चलकाल्यानं......। साठीका सरकर्णीया (?) इति सत्यम्। परं एतेषां सोल्लुंठवचनमवधार्यम्। यदुक्तम्—

यदेकः स्थविरो वेत्ति न तत्तरुणकोटयः।
यो नृपं लत्तया हंति वृद्धवाक्यात् स पूज्यते ॥

३३—एतद्वचनं श्रुत्वा बहुहठकरं ज्येष्ठपुत्रं प्रति मातापितरौ प्राहतुः। रे पुत्र रे रुक्म ! त्वं मा **पाँतरीति** मा मुग्धघा मा मूर्खो भव। तत्र कारणमाह। यस्य कृष्णस्य सुराः देवाः नराः मनुष्याः नागाः पातालवासिनः शेषादयः सेवां कुर्वन्तीति त्रिभुवनपतित्वमुक्तं तस्य निंदाकरणं वृथेति मूर्खत्वहेतुः तत्र परिणीता रुक्मिणी कन्या लक्ष्मी समाना वधूर्भविता यतः वसुदेव-पुत्रः वासुदेवो वैकुंठवासी तेन समः सदृशः। यदुक्तम्—'अन्येत्वंशावतारास्तु कृष्णस्तु भगवान् स्वयम्।'

३४—तथापि मूर्खोपदेशो न श्रेयानिति।

मातृपित्रोः मर्यादां मान्यलक्षणरूपां विमुच्य मुखे एवं जल्पितवंतः किमिति। अत्र पृथ्वीमंडले शोभनो वरः शिशुपालापरः प्रधानः कोऽपि नास्तीति। तदाहमेवं जाने। कुमारोऽतिकोपेनैवमुच्छलितः करौ प्रास्फाल्योच्छ्रितः यथा वर्षाकाले अंबुबलेन **वाहलरुच्छ**नदी बहिस्तटं वहतीति भावार्थः।

३५—अथाकथनकरं पुत्रमवेत्य गृहकलिमाकलय्य पितृभ्यां मौनमालंबितम्। यदुक्तम्—

धिक्कष्टं जरसाभिभूतपुरुषं पुत्रोऽपि नाज्ञायते।

पुत्रस्तु तदा किं कृतवानित्याह। रुक्मनामा सुतः स्वगुरुः पुरोहितो दमघोषनामा नृणामानंदकरः तस्य गेहे सद्मनि गतः किं कृत्वा गुरोः पितुः **गुरुचूकमिति** महामौर्ख्यं ज्ञात्वा। तं गुरुं प्रत्येवमवादीत् हे पूज्य, एकं महत् हितं सुखदायि कार्यं भवति यदास्माकं स्वसारं भगिनीं शिशुपालो वरति परिणयति, अतस्तत्र—भवता गंतव्यमित्यादेशो निवेदितः।

३६—विप्रेणेति वचः श्रुत्वा विलंबो न कृतः। तत्कालं चलितुं प्रवृत्तः। येन कारणेन सत्वादेशवशः। यदुक्तमुपाख्यानम्। आदेशेन ज्योतिषमिति। परं भव्याभव्यत्वमविचार्य नो विमृश्य। यदुक्तं—आज्ञा गुरूणां ह्यविचारणीया। प्रथममेव लग्नं लात्वा पुरोहितश्चंदेरीनामनगरीं प्राप्तवान्।

३७—शिशुपालेनेदंतं श्रुत्वा किं कृतमित्याह। जातहर्षभरेण संजात-निवड़ानंदं यथा स्यात्तथा भूत्वा शिशुपालश्चलितः। ग्रंथे माघादिशास्त्रे यथोक्तस्तथैव। परं को जानीते, कः संख्ययति, यत् कियंतो देशदेशानामधिपा सार्थेऽभूवत्।

३८—अथ चागामिनं शिशुपालं ज्ञात्वा किं जातमित्याह। शिशुपालस्यागमं प्राक् कुंडिनपुरे उत्सवो मंड्यते स्मेति विवाहवर्द्धापनकं प्रारब्धम्। किमिति। विविधवादित्राणां निर्घोषः समजायतेति। पटमंडपाः छायार्थं यत्र तत्रोद्भाविताः, पुनः कांचनमयाः कुंभाः कलशाः मंगलार्थं स्थाने स्थाने निवेशिताः।

३९—अथ गृहाणि वर्णयति। गृहगृहाणां भित्तिनिस्पादने, गारि शब्देन प्रलेपनोपायः, हिंगुलूकस्यैव कृतः, इष्टिकाः स्फटिकमया-**श्चुणिताः** खचिताः कीदृश्या **श्रसंभाः** (?) सुघटिताः, पट्टाः

सुचंदनतरुमया:, कपाटान्यपि चंदनजानि, स्तंभवले खुंभीपना नाम्नो रत्नदलस्य तदुपरि स्तंभा प्रवालीमया:। एवं पुरस्य बहुसामद्ध्र्यं निवेदितम्।

४०—जोइ इति स्त्रीपर्याय:। स्त्रीणां श्यामोज्ज्वलरक्तपीतनीलरंगानि वस्त्राण्येव, उत्प्रेक्ष्यते, जलदपटलानीव पृथक्वर्णान्यभ्रकंदानीव। तत्र वादित्राणां निनाद: स एव घनघोरो गर्जनमिव। प्रतोल्यां प्रतोल्यां तोरणानां परिष्ठापनं बंधनम्। तत् उत्प्रेक्ष्यते। मेघागमे हर्षिता: मयूरा: एव गिरिपु तांडवं नृत्यं मंडयंतीव। अत्र सर्वत्र मेघागमेन साम्यं, पुररूपवर्णनं ज्ञेयम्।

४१—अथ च शिशुपाले नगरासन्नसमागते किं वितर्कणमभूदिति दर्शयति। ये राजान शिशुपाल राज्ञ: जानीति परिणयनसमये स्वजनसंबंधिबंधुवर्गसमुदाय. तत्संगे मेलायके आगता आसन्न ते तु नगरं दूरतो दृष्ट्वा ललाटे करं धृत्वा एवमवदन् इदं नगरं दृश्यते वाथवा कोरण नवीनमेघवर्षणसमयात्प्राक् सरजोवायुशुभ्राभ्रदर्शनमिति शंकात्वमंगीकुर्वंति साश्चर्यविलोकनेन मतिभ्रम:। तथा किं धवलगिरिर्हिमाचलो दृश्यते। किमथवा एतानि धवलगृहाण्येव। त्रिचतु:पंचसप्तभूमिकानि सुधाधवलितानि हर्म्याणीत्यपि मनोभ्रांति:। किमित्युत्प्रेक्षापदम्।

४२—तत्रस्था: पुरस्त्रिय: मंगलाचारपुर.सरं गवाक्षे चटित्वा समारुह्य गायंति गानमारभते ता: स्त्रियो दृष्टमात्रे शिशुपाले तन्मुखं सूर्यसदृशं मन्यंते प्रोद्दामतेजसूचनया सूर्यदर्शनमिव जानंति अत. पद्मिन्य इव प्रफुल्ल्यंते स्म हर्षविकाशमाप्नुवंत्य:। तथा केनाप्युपायेन रुक्मिणी शिशुपालवदनं

रविरूपं पश्यंती कुमुदिनीव विलक्षीभूता। कुमुदिन्याः रविदर्शनं म्लानिजनकमिति तत्त्वार्थः।

४३—अथ च रुक्मिण्या चिंतातुरया तदा किमकारोति। सा कुमारी गवाक्षजालिकामार्गे वारंवारं चटित्वारुह्य भुवने जगति सर्वतः पांथं प्रेष्यरूपं नरं विलोकयति। यतस्तया सुतनुना, मानसेन तस्मै हरये मिलितया, नखरूपया लेखिन्या कृत्वा साश्रुनेत्रकज्जलरूपमस्या कद्गलं लिखित्वा पार्श्वे-रक्षितमासीत्। कंचित् दृष्ट्वा प्रदास्यामि इति वितर्कितम्।

४४—तस्मिन्नेव क्षणे एकस्तु प्रेष्य वेषभाक् पवित्र· पट्कर्मचतुरो **गलित्रागु** इति विप्रो दृष्टः। तस्मै प्रणिपतिं कृत्वा एवं जल्पितवती वक्तुं लग्ना। किमुवाचेत्याह हे वीर! इति भ्रातृ-पर्यायवचन हे भ्रातः हे **वटाऊ** हे प्रवासिन् आदरेण वीप्सेति हे *ब्राह्मण मत्प्रेरणया त्वं द्वारिकां यावत् गत्वा मम संदेशं* भगवते देहि समर्पयेति।

५५—ब्राह्मणेनापि तस्या महत्त्वदानेन अविमर्शितकृत्यं यथा स्यात्तथा पत्रं गृहीतं तदा रुक्मिणी तं शिक्षयति। हे देव, त्वमेतत्पत्र-प्रदाने विलंबं मा कृथाः। संप्रत्येकचित्तवृत्तिमाश्रित्य यत्र यादवेंद्रः श्रीमुरारिस्तत्र याहि, गत्वा च मम मुखात् श्रुतं चरणवंदनं त्वया स्वमुखेन कथयित्वा पत्रं देयम्। इति शिक्षा।

४६—अधुना रविकिरणाः गताः लंबमानाः जाताः, ग्रहेषु तारकेषु **गहमहेति** ज्योतिः प्रादुर्भूतम्। रह रह इति यो यत्रोपितुमना· स स तत्र गंतुकामो भूत्वा चिन्तितं स्थानमाश्रयत्। अतो मार्गवहनं लोकैर्निरस्तम्। सोऽपि द्विजः पुरान्निर्गत्य चलचित्तो बहिः सुप्तः। निशा पतिता, तेन न चलितः।

४७—तत्र शयनादनंतरं गतनिद्रश्चिंतापरोभूत । यदुक्तम् ।

अष्टौ मनुष्याः न लभंति निद्रां । प्रवासिको व्याधिजनः सरोषी ।
विद्यार्थवांछी परनारिरक्तः । प्रियासुसक्तश्च वियोगिलोऽपि ॥

इत्यनिद्रवाहेतुः तत्किंचतानित्तं (?) इत्याह । सांप्रतं विप्रेण विमर्शितं । लग्नस्यांतरे त्रीणि दिनानि । पुनः द्वारावती तु दूरेऽस्ति बहुदिनैर्गमनयोग्या । भक्त इति सभयाश्चर्यं, कया रीत्या प्रकारेण अहं प्राप्स्यामीति । स द्विजः संध्यायां शोचयित्वेति विचिंत्य कुंडिनपुरे सुप्तः । परं श्रीपुरुषोत्तम-प्रभावतः प्रभाते जगति द्वारिकायामजागरीत् समीपं प्रबुद्धः एष महतामतिशयः ।

४८—अधुना द्वारिकास्वरूपमाह । कुत्रचिद्वेदध्वनिं शृणोति । कुत्रचिच्छंख-स्वनं च । कुत्रचित् झल्लरीनिनादं । कुत्रचित् वादित्राणां निर्घोषं । एकतः कथाप्रसंगं **कहकह भूतं** एकतः **हौलोहलं** जनानां संघट्टविधिं ममाकर्णयतीति सर्वत्र योजना । सागरस्य च नगरस्य च सदृशः शब्दः । पार्श्वे स्थितस्य जलधेर्गर्जनं लहरीभिर्जलोत्पतनं जलचरजीवनिनादै-र्व्याप्तं । ईदृशं स्थानमस्तीति । मादृश्यवर्णनं विचार्य *ब्राह्मणस्याश्चर्यप्रसंगः ।*

तदा द्विजेनोत्थाय सविशेषमालोकनं कृतं । यावत् द्विजः पश्यति पुरं, तावत्

४९—*जलहरियोपटलं समूहस्तस्यापि यत्र तत्र दलं लारिबंधं पश्यति* स्मेति बहुजलाश्रयवत्वं यासां वर्णाश्चंपककुसुमोपमा मस्तकेषु कुंभाः कलशाः समीचीनाः बहुमौल्याः सौवर्णिकाः रत्नखचिताः इति यावत् करे कमलानि कृत्वा मंदं मंदं चलंतीतिशेषः । यद्वान्यार्थे, करा सौकुमार्येन कमलसदृशाः इत्यपि । पुनश्च

तीर्थे तीर्थे जंगमतीर्था इति योगध्यानलीना योगीश्वराः अथ च ब्राह्मणाः विमलाः वेदशास्त्रपाठकाः निष्पापाः । जलमपि विमलं पापहरं गोमतीसमुद्रसंगमजम् ।

५०—गृहे गृहे यज्ञान गरयंति याज्ञिकाः शाश्वताग्नि निर्धूमं प्रकाशयंति । यज्ञे यज्ञे जपाःतपांसि च क्रियंते । मार्गे मार्गे वायु दक्षिणतः आम्राः मंजरिताः आम्रे आम्रे कोकिलानामालापः कुहू कुहू शब्दः मधुरजल्पनमिति पुर्याः विशेष-शोभावाचकोक्तिः ।

५१—तदाश्चर्यैर्निरीक्षणे विप्रश्चिन्तयति । इदं सांप्रत्यचं द्वारका-दर्शनम् । किमिति वितर्के । एनं स्वप्नमहं लभे किंवामरावत्यामागतोऽस्मीति चिन्तते । कश्चित्पुमान् नगरवासी दृष्टः तस्मै इति पृष्टं इयं का पुरी । ततस्तेनोक्तं हे देव, एषा द्वारावति संदेह-निराकृतिः ।

५२—अथ च मार्गहिंडनं विना चिंतितस्थानप्राप्त्या किं जात-मित्याह । एतद्वचनं पूर्वाभिमकाशात् श्रुत्वा मनसो अंतः-सुखं समजायत । तस्य नरस्य प्रणतिं कृत्वा अग्रे क्रमितश्च-लितः पुरांतः पृष्टं पृष्टं श्रीकृष्णस्यांतःसभासन्मुखं गतवान । तत्र हरेः सुष्ठुतया दर्शनमजनि ।

५३—तत्र श्रीहरिं दृष्ट्वा विप्रेण किं विचिंतितमित्याह । श्रीगोविंदस्य वदनकमले वीक्षिते सति विप्रः स्वयमात्मना सहालोचयति । अहो मम भाग्यं, यतः रुक्मिणी अतः परं कृतार्था सफल-जन्मका भाविनी, परमहमस्याः प्रेष्यभावेन संप्रति प्रागेव कृतार्थोऽभूवं सफलजन्मा जातः मम सकलपाप-क्षयोऽभवदिति ।

५४—अथ च विप्रं दृष्ट्वा अंतर्यामिना परमेश्वरेण ज्ञातमयं रुक्मिणीदूत इति विचिंत्य किमकारि तदाह । श्रीजगतपतयः आसनादुत्थिताः पूज्यत्वे बहुवचनं कीदृशाः अंतरयामिनः परचित्तवार्त्ता ज्ञानविशेषतः जानन्तीति शंकानिराकारः, किं कृत्वा, दूरांतराद् द्विजं आगच्छन्तं दृष्ट्वा उत्थाय च वंदनं नमस्कारं कृत्वा अतिथिधर्मः प्राघुणिकायमहत्त्वदानं यथाविधि वेदोक्तं कृतं । ब्राह्मणाय क्षत्रियाणां वंदना अर्घ्यपूजादिकरणं न्याय्यम् ।

५५—अथ च संस्कृतभाषया श्रीकृष्णदेवो भूदेवं परिपृच्छति स्म । किमुवाचेत्याह । हे मित्र त्वं कस्मिन् पुरे वससि, किमर्थमिहागमः, केन सह तव कार्यं; अग्रे कुत्र परियासि, तत्त्वं ब्रूहि ममाग्रे निवेदय तव करस्थं पत्रं केन जनेन कस्मै प्रेषितम् इति देवभाषा, संस्कृतमेव प्रश्नम् ।

५६—अथोत्तरं । वयं कुंडिनपुरादिहागमामः, आगतास्मः, तत्रैव वसामः, इति आत्मनि बहुवचनं पामरोक्तिः । एवमुक्त्वा कद्गलं श्रीकृष्णाय प्रदत्तं । दत्वावक् । रुक्मिण्या भीष्मकपुत्र्या भवतः सकाशे पार्श्वेऽहं प्रेषितः सर्वे समाचाराः कार्यसाधकाः अस्य पत्रस्य मध्ये संतीति प्रस्तुतप्ररूपणम् ।

५७—आनंदलक्षणे रोमांचे जाते सकरकंपं सहर्षाश्रुनयनत्वेन श्रीकृष्णस्य कद्गलं वाचयितु न वणइ इति न शक्यत्वं संभवति तेन कारणेन करुणाकरेण तस्यैव द्विजस्य करे तत्पत्रं वाचनाय प्रदत्तम् ।

५८—अथ देवाधिदेवस्य आदेशं प्राप्य ब्राह्मणः पत्रं वाचयितुमारेभे । किं किं लिखितमिति कथयति । हे अशरणशरण, विधि-

पूर्वकं मम जन्मनि-जन्मनि तवैव शरणं अन्य: कोऽपि रक्षाकरो नास्तीति स्वदीनत्वं विज्ञप्तम् ।

५६—अथ च स्वविज्ञप्तिविधि: लिख्यते । हे बलिबंधन, एतदामंत्रणे नारिमर्दकत्वमुक्तं । यदि मां कोप्यन्य: परिणयति तदा जंबुको बलं बद्ध्वा सिंहं मासड् इति खादेदित्यनाहूतविधि संभावनं । वाक्यं पुन. । कपिलाधेनु: शौनिकाय पात्रं मत्वा 'समर्प्येत इति चिंतनं घटमानमेव । अथवा चंडालस्य करे तुलसीमोचनमित्यप्ययोग्यम् ।

६०—अथ च स्वभ्रातरमुद्दिश्य पैशुन्यवचो वक्ति । हे स्वामिन् मदर्थे त्वां परित्यज्य ये अपरमन्यं वरं शिशुपालसंज्ञमानयंति ते उत्प्रेक्षते अग्नौ उच्छिष्टं होतद्रव्यं होमयंति जुहुयुरिवेति, अग्निस्तु साक्षादेवमुखं तत्रानुच्छिष्टं हुत देवानां प्रीत्यै । तत्र वैपरीत्यं नोचितं । पुनरनुचितकर्मारंभं वक्ति । शालिग्रामं गण्डकीनद्युत्पन्नं शूद्रगृहे संग्राहयंति ददते इव, म्लेच्छानां मुखे वेदमंत्रपाठनं, तदप्ययुक्तं इति भ्रातृणां दोषनिदर्शनम् ।

६१—अधुना लेखोदंतै: स्वार्थविधिकृते हरिं प्रेरयति । हे हरे, त्वया वाराहरूपेण तृतीयावतारं भूत्वा हरिणाक्षं (क्षं) दैत्यं हए इति हत्वा पृथ्वीरूपाहं पाताले गच्छंती दाढाग्रेणोद्धृता स्वस्थानं स्थापिता । हे केशव, हे करुणामय, हे कृपानिधे, त्वमेव कथय तदा भवतां केन शिक्षा प्रदत्ता । यद्ययमेवं कुरुत दीनबंधुत्वेन स्वयं कृतवान् । इति कारुण्यं दर्शितं । पुन: स्वभक्तरक्षातत्परत्वं वक्ति ।

६२—सुरांश्च असुरांश्च आनीत्वा एकत्र मेलयित्वा शेषनागं नेत्ररूपं नहि इति प्रकल्प्य चर्मरज्जुवत् कृत्वा । मंदरोमेरुः रई

इति मंथे च रचित: जलांत: चिप्त: एवं विधिना **महण** इति समुद्रं प्रमथ्य **हे महमहेणेति** कृष्णनाम्ना त्वयाहं लक्ष्मीरूपा बहिर्निष्कासिता **तई** इति तदापि यूयं केन शिक्षिता: न केनापीति स्वत: कार्यकारित्वं प्ररूपितम्।

६३—अथ पुनर्वक्ति। रामावतारे **वेलाहरण** समुद्रं बद्ध्वा सेतुबंधं रचयित्वा रणे संग्रामे रावणं **वहे** इति हत्वा च अहं सीतारूपा त्रिकूटगढ़तो लंकादुर्गाद् उद्धृता पश्चादानीता तदापि हे कृपानिधे युष्मभ्यं कस्य शिक्षा न कस्यापीति तत्त्वम्। प्रधानपुरुषभावेन सर्वत्र बहुवचनम्।

६४—हे चतुर्भुज, त्वं मम चतुर्थ्यामपिवारं वेलायां **वाहरि** गृह्यमाणवस्तुन: **पश्चाद्वालनोपायं** कुरु शंखं चक्रं गदां कमलं च धृत्वा इति भुजचतुष्टये आयुधग्रहणं वीररससूचकं। अथ हे माधव मया मुखेन कृत्वा किमालोचनं मंत्रणं कथ्यते त्वया महेति, यत: कीदृशेन, अंतर्यामिना सर्वेषामंतर्वर्त्तिवार्त्ता जानता, इति स्वलज्जाप्रतिपादकवच:।

६५—तदांतर्यामित्वं जानंत्या त्वया पत्रं कथं प्रेषीति शंकानिराकरणाय पुनर्लिखति। जानंत्यप्यहम् अधृतिमती सती तेन कारणेन **चकु** इति स्वदीनत्वं प्रकाशितवती येनाहं स्त्रीत्वधारिणी प्रायश्चपलवृत्ति: अन्यच्च प्रेमणातुरा व्याकुलीभूता यत: श्रीकृष्ण: मम कार्यविषये नायात्यपीति वितर्कवशत:। पुन: हे राजन् हे प्राणनाथ भवानपि द्वारिकायां विराजमानोऽस्ति। अनासन्नवसनेन चेतसि भ्रांतिरिति। अयं मम लग्नसमयस्य दिवसो समीपमायातोऽस्ति कीदृश: सांप्रतं दुरीति दुष्कोत्पादक: त्वदागमनमन्तरेति अस्वास्थ्येन सरणगार्कं कद्गलं प्रेषितमिति स्वदोषनिवारणं साभिप्रायं वाक्यम्।

६६—दिनस्य आसन्नत्वं श्रावयति । तस्य लग्नस्य वेलायाः अंतरे त्रीणि दिनानि वर्त्तन्ति इत्यवधिदर्शनं । किं बहुनोक्तेन । या **घात** इति अयमेव मम शीघ्रचिंताकरणसमय. तत्र मिलनार्थ संकेतस्थानं दर्शयति । मम नगरस्य आरात् निकटं बहिः अंबिकायतनमस्ति । तत्राहं पूजाव्याजेन । अर्चनमिषेणायास्यामीति । निश्चितम् मया गन्तव्यं भवदागमश्रुत्यनतरम् ।

६७—अथ च श्रीकृष्ण एवं निशम्य किमकरोदित्याह । शार्ङ्गधनुः । शिलीमुखान् बाणान्, गृहीत्वेतिशेषः, एकसारथिसहायः सन् कृपानिधिः कद्गलस्य परमार्थ श्रुत्वा पुरोहित पथो मार्गस्य ज्ञातारं रथे स्थापयित्वा स्वयमपि निर्विलंबं रथेऽतिष्ठत् विलंबो न कृतः । यदुक्तं ।
कार्याकार्यविचारणा यदि कृता स्नेहाय दत्तोऽञ्जलिः ।

६८—चारणोनैवमुक्तमस्ति । सुग्रीवसेन. १ मेघपुष्पः २ वेगवान ३ बलाहकः ४ एते कृष्णस्य रथे चत्वारोऽश्वा. । परं मम मनसि नैवं स्फुरति यतो ज्ञायते सर्वमप्येतद्रथस्य चपलगतिवर्णनं । तेन रथः कीदृशो वहति यादृशम् वानरसैन्यमुत्सुकं । अथ च **नइ मेघ पुहप** इति नदीजलं पूरसमये यादृग्वहति । अथवा बलाहकानां वर्षाभ्राणां यादृशम् वेगवत्वं इति रथगतिराधिक्यं । तत्र सारथिं दूरं कृत्वा स्वेच्छया त्रिभुवनपतिः स्वयं रथं खेटयितुं लग्न. । अतो ज्ञायते धरापृथ्वीगिरयः पर्वताः पुराणि मार्गनगराणि श्रीकृष्णसन्मुखं............समागच्छंतीव । महति जने अभ्यागतवति सन्मुखमागमनं महत्त्वप्रदानं । अनयोक्त्या महावेगवत्तया रथस्य निर्गमोऽवगंतव्यः ।

६६—अत्र श्रीकृष्णातिशयानुभावत: तत्कालं मार्गातिक्रमो जात: तदा कृष्ण: किं कृतवानिति। हे सारथे, त्वं रथं यम्भि चलंतं रक्ष। हे विप्र त्वं रथं खंडि·········। एवं श्रुत्वा विप्रे साश्चर्ये जाते पुन: हरिरवोचत् किमिति हे विप्र इदं तव पुरं समायातं इति············त्वं गत्वा रुक्मिणीं प्रति अस्माकं नामोक्त्वा कथय यत् हरि: आगत: इति श्रावयित्वा श्यामाया: सुखं देहि।

७०—तत्प्राक् समये रुक्मिण्याश्चिन्तनं कविर्वक्ति। रुक्मिण्या-चिन्तितं। हरय: स्थिता: अत्र नागता: तत्कथं। पूर्वं रक्षा-समये एतावन्मात्रो विलम्ब: कदापि न कृत:। इति चिन्तातुरा चेतसि चिन्तयंती कयापि कृतां छिंकां चुतं श्रुत्वा धीरा जाता। विश्वस्ता छिंकाशकुनं सत्यमवगम्य। कृष्णागमने प्रत्यय: समागमिष्यंतीति निर्णीतम्।

७१—तल्लक्षणं चेदं दूतो विप्रो दृष्ट: तदा किंजातमित्याह। द्विजं दृष्ट्वायांतं तस्याश्चित्तं चलपत्र: पिप्पलतरु: तस्य पत्रवत् चपलं विह्वलं समभूत्। तदा मौनमवलंब्य स्थातुमपि न शक्नोति। अहं पृच्छामीति व्याकुला परं प्रष्टुमपि न शक्ता। येनाग्रे वक्ष्यति। महत्तराभिर्वेष्टितेति। तदा किं कृतवती यथा यथा स दूत: आसन्नो निकटं समायाति तथा तथा अस्य मुखस्य धारणां कांतिं तर्कयति सविशेषं पश्यति। दूतस्य मुखे निर्मलता कार्यसिद्धिर्लक्षणं। प्रतीतं सुमुखं विप्रं वीक्ष्य हर्षितेति तत्त्वार्थ:।

७२—दूतोऽपि चतुर: समयोचितमाह च। रुक्मिण्या: संगे पार्श्वे सखीजन: तथा पूज्यस्थानीया: महत्तरा: स्त्रिय: संतीति समयं विचार्य मंदवचसा एवमवादीत्। किमिति। सांप्र-

तमेवं श्रूयते किंवदंत्या यत् लोकाः वदंति। कुशस्थलीतः द्वारिकातः श्रीकृष्णदेवः समागतोऽत्रेति। वाग्युक्त्या अन्यासां मनसि शंकानिवारणम्।

७३—एतत् श्रुत्वा रुक्मिणी प्रसन्नास्या स्वकार्यसिद्धिमवेत्य किंकृतवतीत्याह। उत्थाय ब्राह्मणमिषेण सन्मुखदिशमुद्दिश्य वंदते परं हेतुरन्यः कृष्णाय नमोऽस्तु, ब्राह्मणेनोक्ता कथा प्रियागमरूपा वार्त्ता श्रवणे श्रुताः। किंचित् किंचिदपि लघुरीत्या पुनः स्वयमपि परिपृच्छ्य निर्णीतं। ततोऽनेन दूतेन किं प्राप्तमिति। यदा साक्षाल्लक्ष्म्येव रुक्मिणी नतिपूर्वं चरणयोर्लग्ना पतिता तदार्थलब्धे किमाश्चर्यं परिपाद्यं प्रियागतो (?) बहुधनप्राप्तिर्लब्ध्वा। तथा च लोकोक्तिः स ब्राह्मणो जात्यानंदबाणकः अद्यापि तेषामयाचकव्रतमिति प्रसिद्धं दृश्यते।

७४—अथ च कियत्कालानंतरं हरिं श्रीकृष्णं चटितं श्रुत्वा संकर्षणबलिभद्रोऽपि चटितः। परं कटकबंधः सेनासमुदायो बहुर्न कृतः कीदृशाः सार्थे गृहीता एके ये **उजायरद** इति संग्रामे धीराः, पुनः **एवाहा** इति अग्रेसरणयोग्याः, स्वामिभक्ताः **आखाढसिद्धा** इति द्वित्रिचतुर्वारं जितशत्रुपक्षाः। एवमवधार्य, तेन रामस्यातिशयसेवा भक्तित्वं ज्ञेयं।

७५—पथि मार्गे अग्रतः पश्चात् पृथक् पृथक् चलनेन वीराविति द्वावपि भ्रातरौ। भिन्नावमिलितावेव समायातौ परं कुंडिनपुरमध्ये एकत्र भूत्वा प्रविशतः स्मेतिबलिनः विशेषेणोत्सुकतया गमनमुक्तं। प्रविष्टौ तौ प्रति, जनाः आगमनहृष्टाः लोकाः सज्जनाः अथो दुर्जना वीक्षणेन बाढमुद्वेजिताः। सर्वेऽपि विलोकयितुं लग्नाः साश्चर्यं दृष्टवंतः आसन्, पुनः के नराः अन्यग्रामवासिनः, नार्यः स्त्रियः, नागरिकाः कुंडिनपुरीयाः, नरेशाः स्थानस्थानादागताः नरेशाः राजानोऽपि।

७६—तदादष्टमात्रे यदुनाथे लोकानां का भाषा संजातेत्याह । कामिन्य: तरुण्य: कथयंति अयं किं काम: । केवी दुर्जना: कालं यमरूपं कथयंति । अपरे नरा: श्रीनारायणं ब्रुवंति । वेदविदो द्विजा: साक्षाद्वेदार्थ एवागत इति वदन्ति । योगीश्वरा: जितेंद्रिया: योगतत्वं स्वप्रणिधानफलमेवामन्यन्त ।

७७—पुन: किं किं जल्पंति जना: । जना: द्रष्टारो लोका: आप पर इति परस्परमेवं पुणिं (?) इति कथयंति शृण्वन्ति चान्योक्तिं । किं कृत्वा । वसुदेवपुत्रस्य मुखं वीक्ष्य विलोक्य । किं किमित्याह । रुक्मिण्या: वर: परिणेता सांप्रतमयं समागत: अतोऽन्ये राजान: शिशुपालादय: हर इति वांछा मा कुरुध्वं । अन्येषामागमनं निष्फलं तर्कितम् ।

७८—अथ च भीष्म: सन्मुखं गत्वा प्रविश्यानन्तरं आवासस्थित्यां अवतार्य राजसार्थ: सर्वेऽपि जना: तस्य सर्वजनानामग्रे करान् संयुज्य नमस्कृतिपूर्वं कर्मकरा इव स्थितवन्त आसन्, यत: रामकृष्णौ द्वावपि... ... ...
यदुक्तं । दूहा ।

> आइति सारु आंपणी, कीजइ त्यांकी सेव ।
> जिके जिआंरइ पाहुणा, तिके तिआंरइ देव ॥

७९—अथ च रुक्मिणी हरिमागतं श्रुत्वा किमकरोत्तत्कथयति । तत्क्षणे रुक्मिण्या: सख्य: विज्ञसिद्वारेण स्वयं शिक्षितास्ता: गत्वा जननीमेवं प्राहु: । हे राज्ञि, तव पुत्री पृच्छति हे मातर्यदि यूयं कथयत तदाहं स्वयं अंबाया: यात्रायै चैत्यं गत्वा त्वरितमागच्छामीत्यादेशमार्गणम् ।

८०—**राजा** तदादेशो दत्त: पुत्रीप्रेमवत्त्वेन । किं कृत्वा पतिं राजानं सुतं रुक्मनामानं दृष्ट्वा (पृष्ट्वा)। पुनः परिवारं स्वजनवर्गमापृच्छ्य । अथ च प्राप्तादेशया तया श्यामाया रुक्मिण्या—(यदुक्तं श्यामालक्षणं—

श्यामा च श्यामवर्णा च श्यामा मधुरभाषिणी ।
अप्रसूता भवेत् श्यामा श्यामा षोडशवार्षिकी ॥
या शीते चोष्णशरीरा उष्णे शीतशरीरिणी ।
मध्यकाले भवेन्मध्या सा श्यामा इत्युदाहृता ॥

प्रस्तावाल्लिखितं श्लोकयुग्मं) पूजाव्याजेन अर्चनछद्मना प्रयस्य कृष्णस्य दर्शनकृते मिलनार्थं तया श्रृंगारा समारब्धा, यतश्चतुरा स्त्रियः प्रायो मंडनप्रिया भवंति तथाहि, "आदौ मज्जन चारुचीर", प्रसिद्धं ।

८१—*अथ श्रृंगारपद्धतिः ।* प्रथमं जलस्थाने **क्रमक्रमेन** सुगंध पुष्परसविशेषेण मज्जनं स्नानं कृत्वा । ततो धौतान्युज्ज्वलानि वस्त्राणि परिधाय । स्थिताचेति शेष. । तदा चिकुरेभ्यो वालेभ्यो जलबिंदवश्चोतितुं चरितुं लग्ना ता इति वितर्क्याहमेवं जाने । गुणमुक्ता मौक्तिकैर्निर्बलैर्मकतूलगुणैः श्यामपट्टदवरकै छिन्नोहा इति शिथिलं प्रोता: छुटिता इव पतितुं लग्ना इव । सादृश्ये उत्प्रेक्षा ।

८२—अथ केशेषु धूपनकं ग्रहीतुकामा रुक्मिणी स्वयमेव द्वाभ्यां कराभ्यां केशपाशस्य पृथक् करणे प्रवृत्ता । बालान् भिन्नं कर्तुं लग्नेत्यपि उत्प्रेक्ष्यते। मनोरुपमृगस्य बंधनकृते मदनस्य कामस्य वागुराया. जालिकाया. विस्तरणमिव केशपाशो विरलीभूत संलक्ष्यते प्रियस्य गमन एव मृगं वशीकर्तुमिति ।

८३—अनुक्रममासनादुत्तीर्य राजकुमारी **गादीति** वस्त्रमयी सतभूता तस्यामासीना किमर्थं। शृंगाररसकृते। तस्मिन क्षणे सेवा-परायणा एका आली इति सखी आननाग्रे मुखसन्मुखं आदर्श लात्वा आगतोदूर्ध्व स्थिता।

८४—कंठे प्रथमं सौभाग्यचिह्नं पोतशब्देन **चौडीउं** इति नामाभरणं बद्धमितिविशेषः तदुपमां वर्णयति। उत्प्रेक्ष्यते। कपोतः पक्षि विशेषस्तस्य कंठ इव कंठो भातीव श्यामलत्वेन सादृश्यं। अथवा हरस्य शंभोः कंठ इव विषावस्थानात श्यामत्वयुगिति। तथा **षडगिरौ** हिमाचले कालिंदी यमुनापरितो वलितेव। अथवा श्रीशंखधरेण एकया तर्जिन्यंगुल्या समभागेन मध्य-भागेन शंखो गृहीतस्तोलित इव। कंठस्य कंबुनासाम्यं कवीनामिति उत्प्रेक्षा चतुष्टयं वाच्यम्।

८५—अथ च। कुसुमैर्मिश्रिता कबरी इति वेणी ग्रथिता बद्धेति। उत्प्रेक्ष्यते। जगत्पावन्या गंगायाः फेनयुक्तया यमुनेव सतः **उतमंग** इति उत्तमांगं अर्द्धार्द्धं समभागतः कृत्वा मध्ये सीमंतो मुक्तामयो रचितः तत्रोत्प्रेक्ष्यते। अर्द्धे अर्द्धेऽम्बरं आकाशसमभागार्द्धे कुमारमार्गः स्वर्गदंडक इव आश्विने-कार्त्तिके मासि नीरजस्के गगने श्वेतदंडो दृश्यते।

८६—अथ लोचनवर्णनं। नयने आकर्णांते तीक्ष्णाग्रे तस्याः, किमिति, बाणाविव। कीदृशौ बाणौ। कुंडलरूपेण **खरसाणेन** सज्जिता-वुल्लिखिताविव, पुनः रंजनशलाकारूपशिलया सविशेषं निघृष्योत्तेजिताविव। तदनु कज्जलरूपं जलं वालितं दत्तमिव। अतएव विशेषलक्ष्यभेदकत्वेन नयनयोर्बाण-साम्यम्।

८७—अथ च कामिन्याः आत्ममुखे शंभूपमे तत्र ललाटे रोल्याः कुंकु-मस्य तिलकं उद्भासितं, कलंकं धूम्रं च द्वयमपि **काट** शब्देन

दोषं निःकास्य। अतस्तदेव विवृणोति तदैवं तर्क्यते। रक्तत्वेन शंभुतृतीयलोचनरूपे तिलके अग्नौ तदंगो धूमो निर्द्धारितः। निर्धूमस्तृतीयलोचनाग्निः। कृत इव। अथ च ललाटरूपे ऽर्द्धचंद्रे कलंकः श्यामत्वं दूरीकृतमिवेति भावार्थः।

८८—मुखशिखासंधौ मर्यादायां तिलकोद्धर्वं रत्नजटितं तिलकं मंडितं बद्धं तत् दृष्ट्वैवं वितर्क्यते। इदं रुक्मिण्या भाग्यमिव **भलिभ्रलि** इति ललाटे समायातमिव। किमिति यत् शिशुपालागमे भाग्यं नष्ट्वा पृष्टौ कंधरास्थाने स्थितिमकारीत्। यथालोकोक्ति। "निलाड सुं गुदड़ी गयुं"। इति। तत् कृष्णे समायाते **मांगमगि** इति सोभंतमार्गेण पश्चाद्वलित्वा सांप्रतं पुनर्ललाटे स्थितं। अनेन शुभदशासमयो निरूपितः।

८९—अथ च पूर्णमुखं वर्णयति। भ्रुवौ **भ्रूंसरे** इव नयने मृगाविव युक्तः स्मैव वक्राः अलकाः ललाटोपरि सद्यः पृथक् निर्गताः विषधराणां **राशिः** रज्जुरिव। बाल्यः स्वर्णमय्यः कर्णारोपिता बांकिया इति रथस्यैकतरसंगमिव। चंदरथी इति चंद्रस्य सारथिसादृश्यं ताटंक युगलं कर्णकुंडले चक्राविव पेटकाविवेति। पूर्णमुखस्य सर्वांगैः रथेन सादृश्यं। यदुक्तम्। "जूआ वणावत चंद्रमा। चपल हौंति सारंग"। इति। "रथ बेठउ मांनुं इंदु"।

९०—अथ स्तनवर्णनं। तया कंचुकी निविड़बंधैर्बद्धा परिहिता। तत्रोपमितिः। उत्प्रेक्ष्यते। गजकुंभोपरि **अंधारी** इति शुंडाच्छादनविशेषाभरं ढालितमिव। अथवा शंभुना हरेण कामेन सह कलिं कर्त्तुमनसा कवचः सन्नाहो धृत इव। प्राकृत कविसमये कुचस्य शंभूपमा प्रसिद्धा।

अथवाहमेवं मन्ये। उत्प्रेक्ष्यते। हुंगेरागमे मंडपी छायागृहे चवरकरूपं निस्यदिताविव। तथा च **बारगह**शब्देन पटकुटीयुगलं रचितमिव उत्प्रेक्ष्य। चतुष्टयं।

९१—अथ च। हरिणाद्या: मृगनयनाया: **मुक्तासरी** आभरण-विशेष: मौक्तिकमय:। अथापि। **कंठसिरी** सापि पृथक् रचना विशेषत: मौक्तिकाभरणं। द्वयमपि कंठे स्थितमेवं प्रतिभा-सते स्म। उत्प्रेक्ष्यते। **अंतरिखहूंता** इति पूर्वं कंठांतर्गुप्ते अदृश्ये अधुना तु मद्भाग्यभाविते द्वे अपि बिंबरूपे रूपांतरिते बहि: प्रकटं। एका सरस्वती द्वितीया हरिकीर्ति: गुणस्तुति: प्रकटिते आविर्भूते इव दत्तदर्शने इव। यत: कवि: सरस्वतीं कीर्त्तिं च उज्ज्वले वर्णयति इति ज्ञेयम्।

९२—द्वयोर्गौरयोर्बाह्वोरुपरि **बाजूबंधौ** अंगदेव द्वे श्यामपट्टसूत्रेण ग्रथिते। अतस्तयो:स्थिति: कीदृशीं श्रियं दत्ते। उत्प्रेक्ष्यते। मणिमय **हींड** इति दोलयो: हिंडोलयोरुपरि श्रीखंड-श्चंदनं तस्य शाखयोर्बद्धयो: मणिधरौ कृष्णसर्पौ: हींडूल ई इति प्रेंखत: हिंचत इव सर्वांगिणोपमेयम्।

९३—नवीन **गजरेति** सोहलोनामाभरणं मुक्ताखचितं हस्तबाहुसंधौ कलाचिकायां नवीनं सद्यस्कं महोज्ज्वलमिति यावद् आरोपितं। पुन: **मुंचीया** इति मकतूलमया तथा च वलय: श्यामपट्ट-सूत्रग्रथित: **विधिविधि** यथास्थानं निवेशिता: चंद्रेण हस्त-नक्षत्रं विद्धमिवेति। **गजरा** हस्तसंगोपमा। अथवा पुन: उत्प्रेक्ष्यते। कमलार्द्धं अलिभिर्भ्रमरैरावृतं व्याप्तमाच्छादित-मिव। हस्तकमलमौक्तिकवलयसंयोगोपमा।

९४—अथ चोरसि हारे मुक्तामये आरोपिते सति। अथेति तस्मिन् समये उर: स्थल:—कुंभस्थलयो साम्योपमेययो:। परं

बह्वंतरमति पृथक् त्वं जातमिति कथमिति । तत् भद्रजातिककरिकुंभद्वयं **सुजु मोती लहि** इति अंतर्गुप्तानि मुक्ताफलानि लब्ध्वा बहिः प्रकटं लोकावलोकनयोग्यां शोभां नालभत, स्तनद्वयेन स्वतः असत्तयापि मौक्तिकानां श्रीर्लब्धेति दुष्कदुखितः करी स्वशिरसि रजः क्षिपतीवेति चिन्त्यम् ।

९५—अत. प्रथमं धृतान्याभरण्यान्युत्तार्य विशेषशोभानिमित्तं नवीनानि धृतानीति । तेषां भूषणानां कविरत्र ग्रंथे किं व्याख्यानं कुर्यात् । अतः कथाश्रोरितिसूचनं । तथापि किंचिदाह । रुक्मिण्याः गात्रं वल्ली च भूषणानि पुष्पाणीव पयोधरौ **फलभति** इति फलसदृशौ वस्त्राणि पत्राणि वेति वल्लीसाम्येन । ग्रंथस्यापि नाम वल्ली प्रसिद्धम् ।

९६—अथ च श्यामया कस्यां कटिमेखला विविधरत्नखचितेति शेषः समर्पिता । कीदृशी कटिः । अंगेन कृशा तन्वी अतो **मापित करल** इति मुष्टिग्राह्या । किमेतदिति । शंकानिराकरणाय वक्ति । उत्प्रेक्ष्यते । भावीसूचकाः अनागतभाग्याविर्भावकथका सिंहराशौ ग्रहगणः सकल इति सर्वे ग्रहाः अवस्थिताः इव कस्याः **सिंहकटि**साम्ये सिंहराशित्वमेवोक्तं । यतो रुक्मिण्याः तुलाराशिः तस्याः सिंहस्थाः सर्वेग्रहाः एकादशाः ज्योतिःशास्त्रे श्रेष्ठफलदायिनः मनोवांछितं ददते । अतः श्रीकृष्णस्योत्संगे निवेशनं भावीति महद्भाग्योदयत्वं दर्शितं अयमेकोर्थः । एकस्यां राशौ स्थिता सर्वे ग्रहाः जन्मसंज्ञकाः । भावीशोचकाः इति पाठे दुर्दशा दर्शकाः । तस्याः राशेः क्षीणत्वप्रतिपादकः अतः कटिक्षीणा जातेतीदमपि वितर्कणं न्याय्यं । ग्रहाणामपि विविधवर्णत्वं अवगंतव्यम् ।

९७—चंद्राननः रुक्मिणी स्व चरणयोः चामीकरं स्वर्णं तन्मये नूपुरे मंजीरे पुनश्च घूघरा इति लघुघंटिकाः विनस्य स्थिते-तिशेषः। उत्प्रेक्ष्यते। ये श्यामाः स्वाभाविकाः भ्रमरास्ते तु कमलरसग्राहिणः अतः स्ववशीकृतवस्तु दूषकाः, एवं वितर्क्य रुक्मिण्या पदकमलमकरंद रक्षायै नवीना पीताः भ्रमरा रखितारो यामिका कृता इव। यतोऽननुभूत स्वादु-रसिकतः सुवस्तुनि न दोषः संपद्यते इत्यवसेयं। द्वितीयेऽर्थे उत्प्रेक्ष्यते। पदकमलस्य, रखितारो भ्रमरा, श्यामाः कंजेन कमलेन स्वयं मकरंदेन पीताः वर्णांतरं प्रापिता इव यथा कश्चित् सुस्वामी स्वभक्तिपरायणान् सेवकान् यथाकथंचिद्रंजयति अवस्थांतरं प्रापयतीत्यपि तत्वार्थः।

९८—अथ च नासाग्रे मुक्ताफलं वेसरसंज्ञकं लटकदासीत् तत् दधितं समुद्रात् चुणित्वा चारुज्ञात्वा ग्रहीतं। शोभमानं सुश्रीकं साक्षात् त्रिगुणरूपं श्वसत् इतस्ततश्चलद्दृष्टं ततः उत्प्रेक्ष्यते। शुकदेव मुखे भागवतं शास्त्रं भजते इव। यथा शुकमुखनिर्गतं भागवतं पुराणं रसदायि जातमिति श्रूयते। मुक्ताफलं भागवतोपमं नासाग्रं शुकमुखोपमं तत्वार्थः।

९९—कोकनदं रक्तकमलं तदुपमे मुखेन्तः तंबोल इति सकाथचूर्ण-पूगार्द्ध चर्बितानि नागवल्ली दलानीति व्याख्येयः स एव मक-रंदरससदृश. तत्र दंतद्युति किञ्जल्कं परागः तदिव दीप्यते। अथ यद् यस्य रक्मिणी करे वीटिकां कृत्य, पुन.. स्वमुखे सन्मुखं ऊर्द्ध्वं नयति तत् किमिव दृश्यते। उत्प्रेक्ष्यते। बोटकरूपः कीरः शुकः तस्य मुखकमलस्य मध्ये स्वजात्या नाशारूपया शुक्या सह क्रीडां कर्तुमुद्यतोऽस्ति। करकमलस्थः शुकः मुखे स्थितनाशा-शुक्या स्वेच्छया रंतुं प्रवृत्त इवेति

चिंत्यं। तथा द्वितीयेऽर्थे। वामायाः करे बोटकं शुकरूपं तस्य मुखकमलस्य जात्या करकमलरूपया क्रीडते इत्यपि।

१००—श्यामया शृंगारं कृत्वा देव्याः प्रासाददिशि गमनकृते मनः कृतं मनसि चिंतितं। तदा पादयोः **पनहीति** उपानहयुगमं मौक्तिकखचितं परिधृतं। तत्किमिव। उत्प्रेक्ष्यते। स्वगतिगर्वं परिहृत्य हंसावेवाचरणयोर्लग्नाविव। अतस्वगति-साम्यं लब्धुं हंसाः अशक्ताः इति नतिकृतिर्निरूपिता। अथ चोत्थिता सा गंतुमुद्यता तत्समयं निरूपयति।

१०१—आभरणानामुपरि अबलाया महर्घं स्वच्छं नीलांबरं भातिस्म। बहिः प्रकट उदितं पृथक् पृथक् नगं इति अंगे अगे जटित-रत्नानां शोभा बहिः प्रत्यक्षं दृश्यमाना। किमिव दृश्यते। उत्प्रेक्ष्यते। मुदितेन मदनेन स्वगृहाभ्यंतरे आलके आलके दीपमालिका दीपसमूहः संयोजितेव मुक्तेवेति। रुक्मिणी-शरीरं मदनगृहमिव। आभरणद्युति दीपमालिकेति तात्पर्यम्।

१०२—अथ च सखीसमूहः सार्धे चलितस्तं वर्णयति। कस्याः सख्याः करे **कमकम** इति सुगंधकुसुमरस कुंपकं, कस्या-श्चित्करे कुंकुमं तिलककृते रोलीति प्रसिद्धं अथवार्चनार्थं केशरं सचंदनमित्यपि, कस्याः करे कुसुमानि पुष्पाणि, कस्याः करे कर्पूरं, कस्याश्चित् करे पत्रभाजनं, कस्याः करे **अरगज** इति सुगंधवस्तुमिश्रितं भाजनस्थं विलेपनं, कस्याः करे **धोति** इति देवीपूजनयोग्यानि वस्त्राणि, ता एतानि धृत्वा सार्धे चलिताः। अत्र राजकुमार्याः समृद्धिमत्त्वं दर्शितम्।

१०३—सा तु कियंति पदानि पद्भ्यां चलिता इति पृष्टः शङ्कानिरा-करणे वक्ति। ततः सा चकडोलं नरवाह्ययानं यावद्

परितः सखी परिकरमनया पूर्वोक्तं रीत्या सम्राट् पदमात्रं चलिता। तद्गति वर्णनार्थं मम मतिर्न स्फुरति यतः गति-र्निनरां मनोहरा मे मतितुच्छेति, परं, स्वमत्यनुसारेणाहमेवं जाने। अन्तःस्थिता सैवं शोभते। उत्प्रेक्ष्यते। शील: सदाचारता लज्जाभिरावृत्ता वेष्टितेव।

१०४—पृष्ठतो विप्ररक्षाकृते तस्याः सार्धं ये केचिदागमिष्यंतीत्या-देशितास्ते शीघ्रं चटित्वा समायाताः। किं कृत्वा। स्वस्व-योग्यान् तुरगान् वेगवन्तोऽश्वान् प्रथमं वितर्क्य ततो गृहीत्वा ते योधा उत्तेजित सन्नाहांतः तथा **गरकाव** इति प्रतिमग्नासंतः परस्परमेवं बिम्बा दृश्यन्ते। उत्प्रेक्ष्यते। मुकुरेषु दर्पणेषु प्रतिबिंबितरूपा इव।

१०५—अथ च। पश्चिन्याः रक्षितारः केचित् पदातिकसमूहा इत-स्ततो भ्रमणशीला पदचारिणः, पुनः केचित् पादिकाः अग्रे-संचारकाः पदगाः **हिलविलीया** इति बहुसघनं विस्तृताः पुनः हस्तिनः छावकाः प्रचलिता **गमेगमे** वामदक्षिणमार्गे केचित् गर्ज्जारवं विदधतः मदोन्मत्ताः करिणः ये तु गात्रैः अत्युचत्वेन गिरिवरप्रायाः गत्यानागाः इव सर्पवत् घूर्णमनाः गंभीरवेदिनः मंदं मंदं गमनपराः चलिताः इति कन्यायाः सभयताविःकरणं प्रदर्शितं। यदुक्तं। "श्रेयांसि बहु विघ्नानि।"

१०६—अथ च क्रमेण .. अश्वाः वेगवत्तया वहंति रथाः सारथि-भिरंतरे कृताः वहंति संकटे भङ्गभयत्वात्··· । एवं सर्वेऽपि चंद्राननायाः रुक्मिण्याः मार्गमनुलक्षीकृत्य चटिताः। ते के इव। उत्प्रेक्ष्यते। अयोध्यावासिनो नराः सरयूनदी-मध्ये मज्जनं कृत्वा वैकुंठवासमुद्दिश्य चलिताः इवेति ज्ञेयं।

१०७—सर्व सैन्यसंघं परितः प्रासादं परिवेष्ट्य स्थितं। किमिव इति। अहमेवं जाने। उत्प्रेक्ष्यते। मृगांकश्चंद्रः **जल-हरीति** परिवेषेण वेष्टित इव। अथवा मेरोः पार्श्वे प्रदक्षिणी-भूता नक्षत्रमाला तारकमंडलमिव, पुनश्च शंकरेण धूमाला नर-कपालहारः धृतेवेत्युत्प्रेक्षा त्रयमपि कार्यम्।

१०८—अथ च। रुक्मिण्याः स्वमनो वांछितं फलं श्रीपतिसंयोग-लक्षणं हस्तप्राप्यं स्वहस्ते समागतकल्पं कृतं। किं कृत्वा। देवालये देवीगृहे प्रविश्य अंबिकां दृष्ट्वा बहुभावेन बहु-हितेन च पवित्ररीत्या बहुप्रीत्या एकचित्तवृत्तिव्यापारेण स्वहस्तेन तां पूजयित्वेति प्रसन्नकरणविधित्वे चिंत्यम्।

१०९—अधुना निर्गत्य प्रासादद्वारे समायाता। तदा किंजात-मित्याह। चतुर्दिक्षु नयनप्रक्षेपणेन कामस्य पंचापि बाणा स्वांगेऽगीकृताः। किमिति पंचबाणनामानि। आकर्षणं १, वशीकरणं २, उन्मादनं ३, द्रावणं ४, शोषणं ५ एते पंचशराः कुत्र कुत्र परिठिताः। प्रथमं चिंतनतया मनोधारणया। हास्यकरणेन द्वितीयं। लसणि स्वांगमोटनेन तृतीयं। स्वतनुदर्शनेन चतुर्थं। सकुचणीति अथ स्वशरीराच्छाद-नेन पंचमं इति परिपाद्या। संचः प्रपंचः कृतः।

११०—अथ च सर्वं सैन्यं मनसा पंगुरचैतन्यवत् मूर्च्छितं जातं, कथमिति रुक्मिणीवीक्षणेन तेषां शरीरे **तह** इति शक्तिर्न स्थिता शक्यत्वं गलमेव। उत्प्रेक्ष्यते। सर्वमपि सैन्यं प्रासादनिष्पत्तिसमये निकुटीए इति सूत्रधारिभिः मठपूतली-रूपं पाषाणमयं रचितमिवेति सैन्यस्तंभो निवेदितः।

१११—तत्क्षणे किं जातमिति कथयति। अश्वान् खेटयित्वा अरि-सैन्यमध्यं प्रविश्य हरिः समायातः। किमिति पृथ्वीगत्या

किंवाकाशपथ्या गगनादुत्तीर्णः यतस्तद्वेलायां त्रिभुवन-नाथस्य रथस्य रवः शब्दः श्रुतः किंवा रथ एव दृष्टः। इति न संदेहनिराकृतिः। अकस्मादागमनमेवेति रहस्यम्।

११२—बलिबंधकः कृष्णः समर्थतया रुक्मिणीकरं स्वकरेण संगृह्या-नंतरं तां रथे स्थापयित्वा एवमुक्तवानासीत्। यतः अजल्पनग्रहणं क्षत्रियाणामधर्मः। रे लोकाः यूयं शृणुत यः कश्चिद्वरः परिणयनार्थमागतोऽस्ति। स **वाहर वाहरिति** रुक्मिणीं प्रतिवालयितुमादरं कुर्यादिति निःशङ्कप्रेरणे वीप्सा। हरिः हरिणाक्षीं हृत्वा स्वाधीनां कृत्वा यातीति बाढमुक्त्या श्रावणं सर्वेषां कृतमिति।

११३—अथ च तदा किमभूदित्याह। तत्र लोकैरपि पूत्कृतं (?) ये राजानो धवलानि मंगलगीतानि श्रुतवंतः आसन् ते **वाहुलिं** कूकू रवं श्रुत्वा **अलला** इति बहवः **आलूदाः** सज्जीभूताः कैशरिकवस्त्रस्थाने धिंडे २ स्वदेहे २ गृहीत किंगला परिधृतसन्नाहा मूल वेषरूपं परित्यज्य बहुरूपाः योगींद्ररूपाः जाताः इवेति वेषपरावर्तनमुक्तम्।

११४—सांप्रतं तत्समये अश्वाः **लारोवरि** इति श्रेणिबंधेन निसृताः भान्तीतिशेषः। उत्प्रेक्ष्यते। चित्रे लिखिता इव। तत्कारणमाह। नखैः खरतरैरुत्पत्यमानैरश्वैर्नराः नरं धृष्यते ते प्रेरयंति स्मेति स्वस्ववेगाधिक्यदर्शनं। तत्र मुखे योधा एवमवादन्। हे माधव इयं ग्वालिन्याः अग्रतः **मांखणस्य** नवनीतस्य चोरी स्तेयं नास्ति। इमां रुक्मिणीं **महीयारीं** गूर्जरीमिव हे **महर** इति हे गूर्जर त्वं मा मन्यथा। अस्याः ग्रहणं दुष्प्राप्यमस्मत्सकाशादिति स्वगर्वत्वम्।

११५—उत्पतितरजोन्तरे अर्कः एवंविधो दृश्यते स्म। उत्प्रेक्ष्यते। वातचक्रे वातूलिकमध्ये वसत् स्थिरसितपत्रे शुष्कं तरुपर्ण-

मिव। विच्छायतया ईषद्दर्शनं। तथा **वरिहासां** इति चाश्व-नाशास्फुरणैः नवतिसहस्रवादित्राणां स्वरो न श्रूयते स्मेति सैन्यबाहुल्यम्।

११६—दूरं स्थितापि भूमिः सोत्सुकं वहद्भिरश्ववारै **नेडी** रासशा समीपं कृता द्वयोरपि दलयोरन्योन्यं **द्रेठालउ** इति दृष्टि-प्रसरत्वं परस्परप्रेक्षणं जातं। ततो **वाहरिकैः** पृष्ठसंप्राप्त-योधै. **वागां** इति वल्गुरज्जवः **ढेरवीयां** इति शिथिलं मुक्ता। मार्गिकैः स्तैर्यं विधायाग्रे गच्छद्भिर्भटैः मुखानि प्रतिपद्भिभ्य· **फेरीया** इति सन्मुखं मंडितानीति। दृष्टो दृष्टे साम्प्रतं गमनं क्षत्रियाणां लांछनमिति सैन्यद्वयस्य योजना।

११७—द्वे अपि घटे सैन्यरूपे **कालाहणीति** कृष्णवर्ण-मेघाम्युदयसाभयिक्याविव सन्मुखं कठठी इति उत्पतिते सज्जीभूमस्थिते। अथातो मेघसैन्ययोः सादृश्य। तत्र च योगिन्यः **आडङ्गमिति** वर्षणसमयं रुधिरमयमिव विज्ञाय तत्र रक्तवर्षणं वर्षतिस्म कीदृशम्। स्थानद्वयेऽपि वहनशीलम्।

११८—**हयनालि हवाई कुहक**वाणाः सर्वाण्यपि **आतसबाजी** लक्षणानि तेषां **हुविरियुन्छलनं** जातं। वीराणा सुभटाना **हक्का** (इति) स्वस्वबलवत्तायाः बाढस्वरेण प्रकाशन-मभूत गहणमिति रणभूमिः सूरैर्गृहीता। तत्र वहत्सु आयुधेषु सन्नाहलोहानामुपरि शस्त्रलोहानि वारं वारं पतंति दृशानि दृश्यंते। उत्प्रेक्ष्यते। **माहीं महण** इति समुद्र-मध्ये मेघस्य विंदव इवेति परस्परं लोहमोचनं। तथा च प्रथमं मेघोऽपि उत्कलयित्वा वर्षति तथात्र किमिति।

११९—कुंतानां भल्लानां किरणाः तेजांसि भारझाराः इदमेव फलकलन-मुत्कलनं कलौ रणे **वरजित विशख** इति शरमोचणं तस्य

पत्तवात: स एव वात: उत्तरदिग्ज: इव । तथा **घड़े घ:** पिंडे पिंडे योज्ज्वलधारा: लोहधारा धारया मिलितां सै जलधारेव । तासां लोहधाराणामुद्योत: स्फुरणं तदेव **सहरे** अभ्रे २ पृथक् २ **संमरवि** इति विद्युतं **सिलाउ** इति विस्फुरणमिवेति साम्यम् ।

१२०—तद्वेलायां कातराणां निर्बलानां उरांसि हृदयानि कंपितानि सभयं चकितानि आसन् तैर्ज्ञातमयं समयो कालिकसमेत मेघवत् अशुभकारो उत्पातिक: कथं येन गर्जद्भिर्वादित्रै: **गडडड़** इति सगर्ज: सन्नधिकमधिकं वर्द्धते उज्ज्वलाभि **उवडीड** इति वर्षितुं लग्न: प्रणालेभ्यिवोच्च स्थानान्निम्न-प्रदेशेषु जलं स्थानीयं रुधिरं पततीति कंपनिदानम् ।

१२१—अत: **चोउंडीआल्यु** इति छुटितवेणिका: विरलकेशा. चतु:षष्टियोगिन्य: चाचरे रणभूम्यंगणे कूर्दंति नृत्यंति खाशाघूरणलेनेति तत्र ध्रुवे शिरसि पतिते सति धड़: कबंध: **ऊकसति** योद्धुं प्रवर्त्तयति शूरताधिक्यमिदं । तत्रानंत: कृष्ण: शिशुपालश्च तयो: परस्परं **उम्फड़ां** इति शस्त्रमोत्तविवादे **झडमातउ** इति वर्ण: ।

१२२—तत: प्रवृद्धे संग्रामे रणांगणे रुधिराणि **रलतलीया** इति बहुतरं चलितानि अतो योगिनीनां हस्तेभ्यो बहुश: पतितानि पत्राणि पानभाजनानि प्रवाहे वेगवत्तयाधोमुखानि जातानि अतस्तरीत्वा तत्तरीत्वा गच्छंति । कीदृशानि दृश्यंते स्म । उत्प्रेक्ष्यते । जलप्रवाहे बुद्बुदाकारा: पंपोटकरूपा: इव तेऽपि संभूता: बहुवृष्टिं सूचयंति वर्णतोपि श्वेता: पत्राण्यपि नृकपाला-न्येवेति साम्यम् ।

१२३—तदवसरे कृष्णेन किं कृतमित्याह । स्वयं रुक्मिणीं गृहीत्वा निर्गतुं प्रवृत्त: । तदा बलभद्रं भ्रातरं **वेली** इति

आत्मनः द्वितीयं साम्येन धूर्धरं बलवंतं पौरपणं व्याख्याय स्वयं कृष्णेन वापूकारितः सज्जीकृतः हे हलधर सांप्रतं भवत्समयोऽस्ति । अद्यापि यावत् शत्रुसार्थोरिसैन्यं अविनष्टं युद्धं कर्तुं तत्परः त्वयापि निःशङ्कं योद्धव्यं यतो **वूठइ वाहवीइ** इति वृष्टे मेघे हलधराणां हलं वाहयितुं या वेला सा दुष्प्राप्या प्राप्तास्तीति । **हिव** इति अधुना यो हस्ती वाहयिष्यति स एव जेष्यतीति प्रतिवोधनम् ।

१२४—अथ च द्विवारं खेटनं कृत्वा आत्मनः क्षेत्रे यशसां बीजानि विस्तारितानि वाप्यंते स्म बीजानां वपनं भविष्यतीति ज्ञेयं । कदा हलधरस्य हले वहत्सु सत्सु आयुधस्याक्षयत्वात् बहुवचनं द्वितीये । शत्रूणां पक्षे तद्बीजं खलानां दुर्जनानां हालाहलावत् महाविषवत् कटुक्षयकारि स्वरूपं संभविष्यति । तत्रारिवर्गस्य स्कंधान् प्रहारेण त्रुट्यंति ते तु मूलात् निःशेषं जड़ाः इतस्ततः प्रसृताः अपि जटाः हलवहले त्रुट्यन्ति स्मेतिभावः ।

१२५—तत्र बीजवपनानंतरं । निक्षिकृते नारस्थाने रक्तानि निःसंख्यं अतिप्रचुरं वहंति स्म ऊर्द्ध्वं **अचचंच** इति विप्रुषोत्यंतमुच्छलंति । उत्प्रेक्ष्यते । **पिडीति** रणभूम्यां प्रवालानां क्षेत्राणि निष्पन्नानीव ततः हंसाः जीवाः निःसरन्ति किमिति । तत्र शिरो नामानि फलानि इव तत्रापिधान्या विभवि शिराः निरसरंति । कथं । सत्वेन सारवत्तया ।

१२६—रणभूमिक्षेत्रे नवीनविधिना भुजाबलेन कृत्वा महाबले महारथोपमे बलदेवे प्रहारं कुर्वति द्वितीयेऽर्थे जागरूकत्व सतीत्यपि तानि क्षेत्राणि **वेजड़ां मुहे** करवालानां धाराभिः प्राक् **वेडिता** निकर्त्तितानि शिरपुंजाः शीर्षसमूहाः यै चर्या कृतैस्तु सवरोति एकत्रकृता धान्यशिरां राशिः नाम प्रापिताः ।

१२७—रामे भुजाभ्यां रणं **डोहमाने** खला''स्थाने रणे सपरीवारचरणाः स्थिराः कृतास्ते एव **मेढीभूताः** यतः चेत्र-गाहटनस्थाने मर्यादार्थं स्तंभोऽपि तस्य नाम **मेढीति** प्रसिद्धं। पुनः पुनस्तत्र चटनेन संहारं **फेरयति** सति वृषभ-स्थानीय वाजिपादैः सुष्ठु गाहटं कृतं।

१२८—गाहटकरणानंतरं किंजातमिति। तत्र कणनिष्कासनसमये गृद्धिणी पचिणी विशेषरूपाः चटिकाः बलिभद्रस्य खले चेत्र-धान्यराशौ खलानां वैरिणां शिरस्सु शीर्षेषु इव समागतास्ताभिः किं कृतम्। तत्र पल मांसमेव चारउ इति भक्ष्यं गृहीतं। पुनः के कणाः इत्यनेन सैन्यनायकाः भक्षिताः। केचित् **कणकण-कीत्रा** इति पृथक् पृथक् विरलीकृताः रणे भारं **खंचयित्वा भिड़** इति शत्रुसंघट्टरूपो धान्यसमूहो भंजितः शिथिलीकृतः अतः शत्रुसैन्ये विमनस्कत्वं दर्शितम्।

१२९—अधुना पुनर्बलभद्रं वर्णयति। तदा बलभद्रो युधि संग्रामे सघरैर्महारियोधैः सार्द्धं निःकासितेन खड्गे पुनः **वडफरि ऊळजीइ** इति हृदयाग्रन्यस्तखेटके गृहीतेषु परमुक्तलोहेषु सत्सु विरुद्धो यमो भूत्वा लग्नः यत एवं ज्ञायते। ननु सत्वेन बलेन **भलाभली पृथ्वी**त्याख्यानेन एकस्मादेकोन्योधिको भवतीति सत्यं चिंत्यं। तदैव बलिना। युधि संग्रामे जरासंधशिशुपालप्रभृतयो राजानो भंजिताः जिता एव।

१३०—अथ च शिशुपाले सदले भग्ने सति अतितीक्ष्णत्वेन रुक्मनाम्ना किं कृतमित्याह। **रुकिमणीवीरो** रुक्मनामा एकाएक-मित्यकस्मात् **आडोअडोति** तिर्यक् तिर्यक् भूत्वा हरि-

गापतित्वा कृष्णं समीपं प्राप्य बाढमेवमवादीत् । किमुवाचेत्याह । रे अहीर, रे गूर्जर, सोल्लुंठमामंत्रणं, त्वं अबला मद्भगिनीं गृहीत्वा बहुभूम्यंतरमाऽगतोसि । परमधुना मा पलायथाः अरणौ मंडय, वीरत्वं धरेति यावत् । यतोहमागतोस्मि अतस्तव गमनं दुष्करमवेहीति श्रावितम् ।

१३१—यदा तेनैवं **वाकारितः** सरोषप्रेरित तदा कृष्णो वदनेन **विलकुलितो** रक्तत्वमाश्रितवान् सन्मुखं स्थित इति शेष. । किं कृत्वा । धनुराततज्यं करे सशरं संगृह्य गृहीत्वा शरमोक्षणे तत्परो जातः । पुनः किं कृत्वा । रुक्मण' आयुधवेधनकृते **वेलकं** पुंखस्थानं अणी शराग्रभागं मुष्टिं च दृढं बंधयित्वा पाणिं पटिकामुखी कृत्वा तेन महाधनुर्धरत्वं दर्शितम् ।

१३२—माधवेन तत्क्षणे स्वंमन **संडसीति** उद्धारयोग्यं शस्त्रं लोहकारस्य तत्सदृशं कृत्वा । किं कृत्वा । रुक्मकं लोहमिव रणरूपे **आरणे** लोहकृन्महानसे तप्तमसूया ज्वलितमिव दृष्ट्वा । पुनः पार्श्वस्थां रुक्मिणीं प्रसन्नजलं विध्यापनार्थं जलभृतकुंडकामिव निरीक्ष्य आत्मना निजतनुना लोहकारसदृशेन वामकरेण तप्तं लोहं विध्यापयितुं शीतलीकर्तुं मनसा नीरोषो जात इति भावः ।

१३३—सज्जनतायाः **संनसि** लज्जया अयं श्यालको लगतीति लज्जया, अथ रुक्मिण्याः **सन्निधि** इति पार्श्वस्थायाः मुखं सन्मुखं प्रेक्षणेन श्रीकृष्णेनैषा आख्यातिराश्चर्यं कृता स्तुतियोग्या वार्त्ता चेति यदायुधं रुक्मकः सज्जं करोति तदेव स्वेनायुधेन धनुःशरेण हरिः छिनत्ति खंडयतीति । किमिति । ममायं न वध्य इति वितर्केण आलोचनाभिप्रायः उक्तः ।

१३४—एवं क्रमेण सोनानामी रुक्माभिधो निरायुधो भग्नशस्त्रः कृतः कृष्णेनेति शेषः। ततो गृहीत्वा केशानुत्तार्य शिरो मुंडयित्वा विरूपः कृतः दुर्दर्शनकः कृतः परं क्षणिके जीविते स्वाधीने तज्जीविते यदयं जीवनमुक्तः तत् हरिणादयाः हृदयं शांतिवृत्तिं बोध्येति स्त्रियो दाक्षिण्यं कृतम्।

१३५—अग्रजो ज्येष्ठभ्राता बलो अनुजं लघुभ्रातरं कृष्णं एवमभाषत। हे अनंत त्वयैतदुचितं कृतमिति सोपालंभवचनं वक्रोक्त्या दुष्टस्य भव्यावासना महत्त्वं दत्तं, परं यस्य भगिनी पार्श्वे स्थापिताः तस्यैतत् कृत्यं किं भव्यमित्यपि वक्रोक्तिः। हे भव्य भ्रातः भवतैतदयोग्यं कार्यं कृतमिति भावार्थः।

१३६—(१३८)—तदा हलिना स्वयं नोक्तं मया जितमिति। स्वकीर्ति-कथनं नकार्यमिति दर्शयन्नाह। तत्क्षणे बहवः कटकस्य मध्ये वर्द्धापयितारो वर्द्धितुं लग्ना अहमहमिकया। उद्यातुकामा आसन् इत्यनेन जयोज्ञपितः किं कर्तुमनसः परदलं वैरिवर्गं जित्वा रुक्मिणीं परिणीय शत्रुणां शिरस्सु अधिकं सारं लोह-धारां वाहयित्वा विजयिनः संतः समागच्छंतीति वक्तुं द्वारिकां प्रति गंतुमनसः अन्योन्यं स्पर्द्धित्वमकुर्वनित्याध्याहार्यं।

१३७—(१३६)—श्री पुंडरीकाक्षः प्रसन्नोऽभूत् हास्यमिषेण सुस्मितं त्रपया सुनमितं सज्जनवत्तया सुप्रीतं वदनं कृत्वेतिशेषः रुक्मोपरीति। तत्कथमित्याह। प्रथमं तु अग्रजस्य ज्येष्ठ-भ्रातुः आदेशं पालयितुं कथनं सफलं कर्त्तुं। अन्यच्च मृगाक्ष्याः रुक्मिण्याः मनः रक्षितुं मनसि सुखं दातुमिति।

१३८—(१३७) तदा कृष्णेन किंकृतमित्याह। कर्तुमकर्तुमन्यथा कर्तुंसमर्थः प्रभुरिति सर्वैः प्रकारैः समर्थेन प्रभुणा परमेश्वरेण

हा इतिखेदमाकल्प्य ये केशा: अलगाया हुंता: दूरीकृता: आसन् ते तु शालकशिरसि स्वहस्तं फेरयित्वा स्वहस्तेन· शिर: प्रस्पर्श्य आलीया इति धरित्रीभाषया पश्चाद्दत्ता: पुनर्नवीकृता इति भावार्थ: अथवा हालीया इति देशविशेष-भाषया प्रकटिता: इत्यपि।

१३९—अथ च बहुकालं विलम्बमवगत्य प्रजाभि: किं चिंतितमित्याह। लोकानां गृहकार्याणि विस्मृतानि। गृहे गृहे गणकान् ग्रहगतिं ग्रामस्वामिदशां प्रष्टुं परायणा यतश्चिंता जाता किं भविष्यतीति वितर्क्यमाना: प्रजा: ओटे उच्चकै: स्थाने चटित्वा विलोकयितुं लग्ना:। किं कृत्वा। हरिमार्गे आगमदिशि मन अर्पयित्वा चित्तैकाग्र्यं कृत्वाऽपश्यन्निति।

१४०—तत्रावसरे किं जातमिति वक्ति। दूरात् पथि मार्गे पथिकं उल्लतमागच्छंतं दृष्ट्वा जना: झंखाणा इति विलक्षीभूता: उरसि कराला ज्वालोत्थिता: यत: किं वक्ष्यत्ययमागमिक: तत आसन्ने समायाते करे **नीलां डाली** इति सुतरु शाखां गृहीतां वीक्ष्य लोका: अपि नीलांणा इति सानंदा: प्रोत्फुल्लचित्ता जाता यतोऽनेनाभिज्ञानेन कुशलमस्तीति कुशस्थली द्वारिकापुरी कुसुमैर्वासिता कमलोत्करै: सुगंधाकृता।

१४१—अथ च तन्मुखात् हरेरागमनं श्रुत्वा सर्वमपि नगरं सोद्यममभूत्। किमर्थं। रुक्मिणीं कृष्णं च वर्द्धापनस्या-रशि इति वांछया वर्द्धापयितुकामा: सन् **लहरी** आनंदलीला: गृह्णवे स्मेति। क इव। लहरीरव: समुद्र इव यथा समुद्र: राकाया: दिने चंद्रस्य दर्शनं दृष्ट्वा लहरीकल्लोलान् **प्रकट** (यति) इति।

१४२—वर्द्धापनदातणां गृहे गृहे पुरवासिभि . . . तद्दलि-द्राय अकिंचन पचे दरिद्रं विनाशोद्यत:। अवस्तेषां दरिद्रं

दूरीकृतं। पुनर्लोकानां गृहे आनंदाः मंगलाः............ गीतगानादिप्रारब्धं। यत्र तत्र प्रसृता उच्छलिताः **हरीद्रोब** आर्द्रदूर्वाकेशर हरिद्रादि यथाविधि स्थापितमिति।

१४३—अथ च प्रवेशसमयं वक्ति। नरा नार्यश्च एकैकमार्गे वामदक्षिणमुद्दिश्य **क्रमया** इति पृथक् चलिताः। किं कृत्वा। विशेषेणोत्साहं शृंगारं वेषपूर्व जवारककुंभध्वजादि सज्जी कृत्येति। उत्प्रेक्ष्यते। हरिनगरेण स्वस्वामिने अंकमालं आलिंगनं इति आलिंगितुमिच्छुना द्वे बाहू प्रसारिते इव।

१४४—तदा विविधवर्णैः छत्रैः गगनं आकाशं एवमाच्छादितं निरवकाशीकृतं। उत्प्रेक्ष्यते। नवीनान् बहून् वर्णान् कृत्वा मेघाः समागता इव। अतो मेघलक्षणसाम्योक्तिः छत्राणां दंडद्युतिः रत्नखचिता। उत्प्रेक्ष्यते। विद्युदिव। तेषां झालरीतः मुक्ताफलच्यवनं वर्षाबिंदव इव।

१४५—अथ च हरिसेनापुरे एवं प्रविष्टा। तत्कथं। प्रतोल्या मुकुरमया बद्धैः आदर्शैः शोभमानाः। मार्गाः **मोलिमयाः** यत्र तत्र स्तंभान् निवेश्य तोरणैः कांश्यमयैरुद्भासिताः मार्गाः अर्वांसरसरणयः अबीरमया अतिरंगगुलालादिचूर्णैः प्रतिनिधीकृताः। उत्प्रेक्ष्यते। **नीरोअरि** इति समुद्रपर्यायः नद्यः समुद्रे प्रविशन्तीव नदीरूपाः सेनाः नगरं समुद्रसदृशं इत्युपमापि।

१४६—नागरिका स्त्रियः धवलगृहेषु उज्ज्वलं यशः समुद्दिश्य **धवलानि** मंगलगीतानि ददते गायंति स्म। किं कृत्वा। स्वामिनं **सुधणं** सुलोकं परिणीतं समीक्ष्य दृष्ट्वा। पुनः उपरिष्टात् श्यामलस्य कृष्णस्येति वधूवरयोः सकिशलयं सदलं **सबलम**-संख्यं पुष्पवर्षणं समपतत्।

हा इतिखेदमाकल्प्य ये केशाः अलगाया हुंताः दूरीकृता आसन् ते तु शालकशिरसि स्वहस्तं फेरयित्वा स्वहस्तेन शिरः प्रस्पर्श्य आलीया इति धरित्रीभाषया पश्चाद्दत्ता पुनर्नवीकृता इति भावार्थः अथवा हालीया इति देशविशेष-भाषया प्रकटिताः इत्यपि ।

१३६—अथ च बहुकालं विलम्बमवगत्य प्रजाभि किं चिंतितमित्याह । लोकानां गृहकार्याणि विस्मृतानि । गृहे गृहे गणकान् ग्रहगतिं ग्रामस्वामिदशां प्रष्टुं परायणा यतश्चिंता जाता किं भविष्यतीति वितर्क्यमानाः प्रजाः ओटे उच्चकैः स्थाने चटित्वा विलोकयितुं लग्नाः । किं कृत्वा । हरिमार्गे आगमदिशि मन अर्पयित्वा चित्तैकाग्र्यं कृत्वाऽपश्यन्निति ।

१४०—तत्रावसरे किं जातमिति वक्ति । दूरात् पथि मार्गे पथिकं उल्लंतमागच्छंतं दृष्ट्वा जनाः झंखाणा इति विलक्षीभूता. उरसि कराला ज्वालोत्थिताः यतः किं वक्ष्यत्ययमागमिक. तत आसन्ने समायाते करे **नीलां डालीं** इति सुतरु शाखां गृहीतां वीक्ष्य लोकाः अपि नीलांणा इति सानंदाः प्रोत्फुल्लचित्ता जाता यतोऽनेनाभिज्ञानेन कुशलमस्तीति कुशस्थली द्वारिकापुरी कुसुमैर्वासिता कमलोत्करैः सुगंधाकृता ।

१४१—अथ च तन्मुखात् हरेरागमनं श्रुत्वा सर्वमपि नगरं सोद्यममभूत् । किमर्थं । रुक्मिणीं कृष्णं च वर्द्धापनस्या-रशि इति वांछया वर्द्धापयितुकामाः सन् **लहरी** आनंदलीलाः गृह्णते स्मेति । क इव । लहरीरवः समुद्र इव यथा समुद्रः राकायाः दिने चंद्रस्य दर्शनं दृष्ट्वा लहरीकल्लोलान् **प्रकट** (यति) इति ।

१४२—वर्द्धापनदातृणां गृहे गृहे पुरवासिभि . . . तद्दलि-द्राय अकिंचन पचे दरिद्रं विनाशोदत्तः । अतस्तेषां दरिद्रं

दूरीकृतं। पुनर्लोकानां गृहे आनंदाः मंगलाः.......... गीतगानादिप्रारब्धं। यत्र तत्र अक्षता उच्छलिताः **हरीद्रोव** आर्द्रदूर्वाकेशर हरिद्रादि यथाविधि स्थापितमिति।

१४३—अथ च प्रवेशसमयं वक्ति। नरा नार्यश्च एकैकमार्गे वामदक्षिणमुद्दिश्य **क्रमया** इति पृथक् चलिताः। किं कृत्वा। विशेषेणोत्साहं शृंगारं वेषपूर्वं जवारफकुंभध्वजादि सज्जीकृत्येति। उत्प्रेक्ष्यते। हरिनगरेण स्वस्वामिने अंकमालं आलिंगनं इति आलिंगितुमिच्छुना द्वे बाहू प्रसारिते इव।

१४४—तदा विविधवर्णैः छत्रैः गगने आकाशं एवमाच्छादितं निरवकाशीकृतं। उत्प्रेक्ष्यते। नवीनान् बहून् वर्णान् कृत्वा मेघाः समागता इव। अतो मेघलक्षणसाम्योक्तिः छत्राणां दंडद्युतिः रत्नखचिता। उत्प्रेक्ष्यते। विद्युदिव। तेषां झालरीतः मुक्ताफलच्यवनं वर्षाबिंदव इव।

१४५—अथ च हरिसेनापुरे एवं प्रविष्टा। तत्कथं। प्रतोल्या मुकुरमया बद्धैः आदर्शैः शोभमाना.। मार्गाः **प्रोलिमयाः** यत्र तत्र स्तंभान् निवेश्य तोरणैः काश्यमयैरुद्भासिता. मार्गाः अवांतरसरण्यः अबीरमया अतिरंगगुलालादिचूर्णैः प्रतिनिधीकृताः। उत्प्रेक्ष्यते। **नीरोग्नरि** इति समुद्रपर्यायः नद्यः समुद्रे प्रविशन्तीव नदीरूपाः सेनाः नगरं समुद्रसदृशं इत्युपमापि।

१४६—नागरिका स्त्रियः धवलगृहेषु उज्ज्वलं यशः समुद्दिश्य **धवलानि** मंगलगीतानि ददते गायंति स्म। किं कृत्वा। स्वामिनं **सुधर्णं** सुश्रीकं परिणीतं समीक्ष्य दृष्ट्वा। पुनः उपरिष्टात् श्यामलस्य कृष्णस्येति वधूवरयोः सकिशलयं सदलं **सबलस**-संख्यं पुष्पवर्षणं समपतत्।

हा इतिखेदमाकल्प्य ये क्लेशा: अलगाया हुंता: दूरीकृता: आसन् ते तु शालकशिरसि स्वहस्तं फेरयित्वा स्वहस्तेन शिर: प्रस्पर्श्य आलीया इति धरित्रीभाषया पश्चाद्दत्ता: पुनर्नवीकृता इति भावार्थ: अथवा हालीया इति देशविशेप-भाषया प्रकटिता: इत्यपि ।

१३९—अथ च बहुकालं विलम्बमवगत्य प्रजाभि: किं चिंतितमित्याह । लोकानां गृहकार्याणि विस्मृतानि । गृहे गृहे गणकान् ग्रहगतिं ग्रामस्वामिदशां प्रष्टुं परायणा यतश्चिंता जाता किं भविष्यतीति वितर्क्यमाना: प्रजा: ओटे उच्चकै: स्थाने चटित्वा विलोकयितुं लग्ना: । किं कृत्वा । हरिमार्गे आगमदिशि मन. अर्पयित्वा चित्तैकाग्र्यं कृत्वाऽपश्यन्निति ।

१४०—तत्रावसरे किं जातमिति वक्ति । दूरात् पथि मार्गे पथिकं उल्लंलंतमागच्छंतं दृष्ट्वा जना: झंखाणा इति विलक्षीभूता. उरसि कराला ज्वालोत्थिता: यत: किं वक्ष्यत्ययमागमिक: तत आसन्ने समायाते करे **नीलां डालीं** इति सुतरु शाखां गृहीतां वीक्ष्य लोका: अपि नीलांणा इति सानंदा: प्रोत्फुल्लचित्ता जाता यतोऽनेनाभिज्ञानेन कुशलमस्तीति कुशस्थली द्वारिकापुरी कुसुमैर्वासिता कमलोत्करै: सुगंधाकृता ।

१४१—अथ च सन्मुखात् हरेरागमनं श्रुत्वा सर्वमपि नगरं सोद्यममभूत् । किमर्थं । रुक्मिणीं कृष्णं च वर्द्धापनस्या-रशि इति वांछया वर्द्धापयितुकामा: सन् **लहरी** आनंदलीला: गृह्णाते स्मेति । क इव । लहरीरव: समुद्र इव यथा समुद्र: राकाया: दिने चंद्रस्य दर्शनं दृष्ट्वा लहरीकल्लोलान् **प्रकट** (यति) इति ।

१४२—वर्द्धापनदातॄणां गृहे गृहे पुरवासिभि . . . तद्दलि-द्राय अकिंचन पक्षे दरिद्रं विनाशोद्यत: । अतस्तेषां दरिद्रं

दूरीकृतं। पुनर्लोकानां गृहे आनंदा: मंगला:...........
गीतगानादिप्रारब्धं। यत्र तत्र अक्षता उच्छलिता:
हरीद्रोव आर्द्रदूर्वाकेशर हरिद्रादि यथाविधि स्थापित-
मिति।

१४३—अथ च प्रवेशसमयं वक्ति। नरा नार्यश्च एकैकमार्गे वाम-
दक्षिणमुद्दिश्य **क्रमया** इति पृथक् चलिता:। किं कृत्वा।
विशेषेणोत्साहं शृंगारं वेषपूर्वं जवारककुंभध्वजादि सज्जी
कृत्येति। उत्प्रेक्ष्यते। हरिनगरेण स्वस्वामिने अंकमालं
आलिंगनं इति आलिंगितुमिच्छुना द्वे बाहू प्रसारिते इव।

१४४—तदा विविधवर्णैः छत्रैः गगनं आकाशं एवमाच्छादितं निर-
वकाशीकृतं। उत्प्रेक्ष्यते। नवीनान् बहून् वर्णान् कृत्वा
मेघा: समागता इव। अतो मेघलक्षणसाम्योक्तिः छत्राणां
दंडद्युति: रत्नखचिता। उत्प्रेक्ष्यते। विद्युदिव। तेषां
झालरीत: मुक्ताफलच्यवनं वर्षाबिंदव इव।

१४५—अथ च हरिसेनापुरे एवं प्रविष्टा। तत्कथं। प्रतोल्या
मुकुरमया बद्धैः आदर्शैः शोभमाना:। मार्गा: **प्रोलिमया:**
यत्र तत्र स्तंभान् निवेश्य तोरणैः कांस्यमयैरुद्भासिता: मार्गा:
अवांतरसरण्य: अबीरमया अतिरंगगुलालादिचूर्णै: प्रतिनिधी-
कृता:। उत्प्रेक्ष्यते। **नीरोध्रअरि** इति समुद्रपर्याय: नद्य: समुद्रे
प्रविशन्तीव नदीरूपा: सेना: नगरं समुद्रसदृशं इत्युपमापि।

१४६—नागरिका स्त्रिय: धवलगृहेषु उज्ज्वलं यश: समुद्दिश्य **धव-
लानि** मंगलगीतानि ददते गायंति स्म। किं कृत्वा। स्वामिनं
सुधणं सुश्लोकं परिणीतं समीक्ष्य दृष्ट्वा। पुन: उपरिष्टात्
श्यामलस्य कृष्णास्येति वधूवरयो: सकिशलयं सदलं **सबलम-**
संख्यं पुष्पवर्षणं समपतत्।

१४७—अधुना स्वकीयं गृहं प्राप्तौ वधूवरौ। तदा किमभूदित्याह। वसुदेवदेवक्यौ वारं वारं अपि पुनः **वारि** पानीयं अर्थाल्लूणपानीयं **उवारि** यतः शिरसः उपरि परि-भ्राम्य दूरं क्षिपत इति दृष्टिनिवारणोपाय। किंकृत्वा। प्राक् वधूवरयोरुपरि आरात्रिकां समुत्तार्य। तत्किं कारणे नेत्याह। यतः युधि संग्रामे शिशुपालं जित्वा तथा च जरासिंधुं निर्जित्याचमेण सर्वे गृहमागता. इति।

१४८—अथ चान्ये नराः राजानः राजराजश्च कृष्णस्य रुक्मिण्याश्च भोजनाच्छादनरूपां भक्तिमातन्वते स्म। किं कृत्वा। प्रथमं विधिवत् द्वे वर्द्धापयित्वा। पुन. वादित्राणि वादयित्वा भिन्नां भिन्नां वाणीं नवीनां नवीना गुणस्तुतिं अभिन्नां मगल-रूपामेव मुखेन संजल्प्य तदनु स्वस्वगृहे निमंत्रणपूर्वकं रचयित्वेति महत्त्वप्रदानहेतु'।

१४९—वसुदेवदेवक्यौ सुसंगतौ दैवज्ञान् ज्योतिषिकानाहूय प्रथमं एतत् प्रश्नमकार्ष्टां। किमित्याह। हे गणकाः ज्योतिषग्रंथान् निरीक्ष्य सुदृष्ट्या विचारयित्वा लग्नं दद्ध्वं यूयं कथयतेति। रुक्मिणीं कृष्ण कदा **परणइ** इति अनयोर्विवाहनं कदा क्रियते इति पृच्छा।

१५०—ते तु किं प्रस्तुतमाचचंते स्मेत्याह। वेदोक्तधर्मं विचार्य ते वेदविदो ब्राह्मण कंपितचित्ता सभयं एवं जल्पितवंतः आसन्। एकया स्त्रिया सार्धं पुनः पुन. पाणिग्रहणं कथं भवतीति प्रश्नोत्तरं।

१५१—ते दैवज्ञास्त्रिकालदर्शिनः भूतभविष्यवर्त्तमानवार्त्ताज्ञाः तत्कालं रुक्मिणीहरणसामायिकं क्षणं निरीक्ष्य पुनः शास्त्र-दृष्ट्या निर्णीय मनसा निर्णयं विधाय 'कथयितुं लग्नाः।

हे पितरौ यदा रुक्मिण्याः कन्यायाः हरणं जातं तत्समये सर्वैः दोषैर्विवर्जितं लग्नमपि सत् आसीत् इति सत्यं।

१५२—अथ च नवपुत्रे राजराज्ञोरग्रे एवं परस्परमात्रोच्चोक्तं। तत्किमित्याह। हस्तमेलको हरणसमये एव जातः स एव प्रमाणं! अतः परं स्वसमृद्धितानुरूपं यथा स्यात्तथा शेषाः संस्काराः आरिमकारिमाः लोकप्रसिद्धाः भवंतु। इति शिक्षावचः श्रुत्वा तावपि हृष्टौ।

१५३—अधुना नवीनरीत्या विवाहस्तस्य सामग्रीं निरूपयति। विप्रो मूर्त्तिमान् वेद इव मान्यः। **वेदी** सा तु रत्नैः पूरिता। वंशाः आर्द्रा वेत्तीति। मंगलकलशा अर्जुनं स्वर्णं तन्मयाः। अग्निः अरणीतस्त्वरितमुत्पादितः, इंधनानि अंगारकाष्ठान्येव घृत , , , घनसारः कर्पूरं **आहुतिः** होतद्रव्यं **अछेहु** यथेच्छं नतु स्तोकमिति भावार्थः।

१५४—पश्चिमायां दिशि पृष्टं, पूर्वसन्मुखं, स्त्रीवरं पट्टके आसने निवेश्य द्वयोरुपरि आतपत्रं छत्रं धृतं। ततो मधुपर्कादयः सर्वे विवाहसंस्काराः मंडिताः प्रकटीकृताः।

१५५—तस्मिन् समये सर्वेऽपि नरनारीजनः हरेराननं चक्षूंषि समारोपयंति स्म ददते। उत्प्रेक्ष्यते। समुद्रस्य गर्भे मध्ये स्थितः शशी मत्स्यैर्गृहीतो वेष्टितः इव। कृष्णशरीरं समुद्रमध्ये शशीमुखं। मत्स्यसदृशानि जनलोचनानि। तत्र प्रजा-सुखागणेषु तथा **ओटेषु** उच्चवर्तिषु स्थानेषु स्थित्वा पश्यंति। पुनः मंगलानि कृत्वा मुखे गीतानि गायंति स्म।

१५६—त्रीन् वारान् चवरिका पार्श्वे स्त्रीमग्रेसरीं कृत्वा हुतं हुताशं प्रदक्षिणीकृत्य चतुर्थे आरंभे अग्रे पतिः पृष्टे स्त्रीति विधिवद्विधाय विवाहः प्रारब्धः। किं कृत्वा। स्त्रियः सांगुष्ठस्य

करस्य ग्रहणं कृत्वा भ्रांतवान्। उत्प्रेक्ष्यते। **करी** हस्ती करेण शुंडदंडेन कमलं चंपयन् परामृशन् भ्रमतीवेतिशेषः। पुरुषस्त्रीकरयोः सुकुमारकाठिन्यकथनं।

१५७—अथ चतुर्थे मंगले पूर्णे किं जातमित्याह। स्त्री प्रत्युक्ता वामे पार्श्वे स्थापिता। तेन प्रायः स्त्रियो नामवामांगी। तत्र दम्पतीयुगलं निवेश्य परस्परं वाचं ग्राहिताः उभयोर्निविड़ा प्रीतिरस्तु इत्याशीर्वचः। तत्र लब्धायां प्राप्तायां वेलायां प्रस्तावात् याञ्चाकाले निगमपाठकैः परिणापितुं प्रवृत्तैः शास्त्रज्ञैः नवापि निधयो लब्धाः इति निःसंख्यदानं प्राप्तमिति भावार्थः।

१५८—ततः समुत्थाय सांप्रतं वरः अग्रे भूत्वा कन्या पृष्ठे भूत्वा द्वाभ्यां क्रमाश्चरणाः शयनगृहदिशि दत्ताः। चवरिकां त्यक्त्वा हस्तमेलो मुक्तः परं परस्परमंचलबंधने अन्योऽन्यं मनोयुगलं बद्धमेवेतिप्रीतिप्रवृद्धिर्दर्शिता।

१५९—अथ च सख्यश्चतुराः अग्रतो गत्वा केलिगृहांतरे शयनगृहांतः करैः अंगणमार्जनं कृत्वा शय्या सज्जिता उज्ज्वलवस्त्रावृता। उत्प्रेक्ष्यते। क्षीरसमुद्र इव उपरि पुष्पाणि विरलीकृतानि। उत्प्रेक्ष्यते। तस्य फेनानीव। अत्र व्याजशब्दः उत्प्रेक्षा वाचकः।

१६०—तत्र गृहे चित्रैः रचिता यादृशी आभा शोभा विविधवर्णा तैरेवरंगैः विविधवर्णा मणिमया रत्नान्येवं दीपाः मुक्ता **उपरि** उज्ज्वलउल्लोच चंद्रोदयो बद्धः। कामुकानां सर्वमप्युज्ज्वलं प्रियं। अतः उत्प्रेक्ष्यते। सहस्रफणः शेषः सहस्रं फणानि शुद्धमनसा सुभक्त्या मंडयित्वा प्रसार्य स्थित इव।

१६१—अथ च अन्यगृहांतरे विचित्राभिः सखीभिः क्षणांतरे मेलनार्थं समावृता परिवृता सा पुनस्ताभिः प्रथमं विवाहसंस्कारे

कौरयमलकादि परिधापनरूपे कृते । अधुना पतिसंगाय रतिसंगाय रतियोग्याः संस्काराः शृंगारविषय. कार्या इति मत्वा सुतनुरिति रुक्मिणीशृंगारितेति भावार्थः ।

१६२—अथ च रुक्मिणीरमणो रतिं सुरतं वांछति । स कः समयः, यस्मिन संध्यासमये एते पदार्था: **समसमा** इति युगपत् संकुड़िताः अप्रसरणशीलाः जाताः । के ते । पथिकवधूनां दृष्टयः चक्षूंषि किंचिन्मिलिताः । पुनः पक्षिणां पक्षाः पिच्छानि । अथ च कमलानां पत्राणि । सूर्यस्य किरणाः । अतो दिवसास्तः रात्रिमुखं वर्णितं ।

१६३—संसारे पतयो रसिका रमणी स्त्रीमुखं निरीक्षितुमुत्सुकास्तैस्तु निशामुखं **निठ इति** कथमपि दृष्टं । पुनश्चंद्रकिरणैः अथ च कुलटाभिः स्वेच्छाचारिणीभिः स्त्रीभि निशाचरैः रात्रिचरैः पशुपक्ष्यादिभिः **द्रवड़िकैः**चौर्यघाटीकारकैः अभिसारिकादृष्टिभिः । यदुक्तं

> या दूतिकागमनकालमपारयंती ।
> सोढुं स्मरज्वरभरार्त्ति पिपासितेव ॥
> निर्याति वल्लभजनाधरपानलोभात् ।
> सा कथ्यते कविवरैरभिसारिकेति ॥

एषां रात्रौ बलवत्त्वं ।

१६४—अन्येषां पक्षिणां पक्षौ बद्धौ उड्डीतुमशक्यौ । चक्रवाकयुगलं **असंधे** इति अमिलित रात्रौ वियोगित्वात् । अहोनिशमपि प्रदोषे दम्पतीव मिलितौ कालद्वयसंधित्वात् । कामिकामिनीनां मनसां कामाग्नयोऽनान्तर्भूत्वा बहिः प्रकटिता इव केन दीपकोद्योतमिषेण । अयं न दीपोद्योतः परं दम्पतीमनोग्निः ।

१६५—अथ च सकलसखीभिः प्रशंस्य प्रेरयित्वा। हे सखि, त्वं अतिकृतार्था संसारसुफलमनुभाविनी यस्याः पतिः श्रीकृष्णः। एवमुक्ता प्रियस्य मिलनकृते ऊर्द्ध्वीकृता। परं हरेःगृहं समीपमाश्रिता आसन्नं गतापि शय्याद्वारांतरे श्रुतिं दत्वा किंचित् कम्पमाकल्य **आहुटूयेति** पश्चाद्वलित्वा पुनस्तत्र गंतुकामा भवतीति कुललज्जा निदानं।

१६६—अथ च वर्द्धापनदायकाविव वहित्वा शीघ्रं पुरतो गत्वा एकः सुगंधवासः द्वितीयो नूपुरशब्दः हंसगामिन्याः रुक्मिण्याः आगमं वक्तुं गताविवेत्यन्वयः। उत्प्रेक्ष्यते चेयं। केन सह वक्तुं। हरिणा सह। कथं भूतेन। आतुरीभूतेन विह्वलेन यत् कदा समागमिष्यतीति तन्मार्गान्वेषणं कुर्वता चिंतापरेणापि। वांछितवस्तुवर्द्धापनया मनसः संतोषावाप्तिः।

१६७—अथ च गजवत् गजगामिनी कथंचित् सखीभिः शयनगृहांतरे आनीता। तत्कथं। पदे पदे सखीकरमवलम्ब्य ऊर्द्ध्वस्थितिमती यथा मदं चरन् हस्ती पदे पदे करिणीकरमवलंब्य ऊर्द्ध्वं स्थितो मंदं मंदं प्रयाति। हस्ती लोहलंगरैर्वेष्टितः इयं तु लज्जया वेष्टिता अतएव शनैः शनैः सर्पतीति साम्योपमा।

१६८—अथ च **देहली** उंबरं तत्र स्थापिते चरणे हरिणा **जेहड़ीति** चरणाभरणविशेषं दृष्टं। तदा **ऊमाप** इति कोप्यनिर्वाच्यः आनंदः समुद्भूतः। तेनानंदेन स्वयं रुक्मिण्याः आदरः कारितः। किमिति। आत्मनि रोमांचरोमोद्गमं समुत्पाद्य। अतः रोमणा आदरार्थं ऊर्द्ध्वीभूतं।

१६९—तदा कृष्णेनैवं चिंतितं। तदाह। मम सा घटिका वेला मिलिता या वेला मया बहुतरं वांछिता। बहुदिनानामंतरे

स्वगृहे लब्धा वेलेति निःशंकं स्वेच्छया रमणं मनोवाञ्छितं हेलायामेवाविलंबं अंकमालमित्यालिंगनं दत्वा सरणरणक-मुत्थाय स्वयमालिंग्य स्त्री शय्योपरि सुखापिता पार्श्वं नीतेति ।

१७०—तदवसरे यद्यपि मिलनेन माधवस्य मनस्तृप्तं जातं । परं तस्याः रूपेण अतिशयेन प्रेरिते नेत्रे न तृप्ते सत्तुधार्त्ते एवास्तां । अतः कृष्णो वारं वारं तथा स्त्रीमुखस्य विलोकनं कुरुते यथा रंको वारं वारं धनं विलोकयति ।

१७१—घूंघटपटांतरे कटाक्षरूपा दूती आयाति च पुनर्याति गतागतं करोति दम्पतिमनसोरमिलितयोर्मेलनार्थं एकीभूतकरणार्थं । अथवा द्वयोर्मनसि सूत्रिते तांणवाणकल्पे कटाक्ष-मोक्षो नलिकाक्षेपणं इति वस्त्रगुंथनविधिः ।

१७२—वरनार्योः निजनेत्राणां वदनयोश्च विलासैश्चेष्टितैः यदांतः-करणं चित्ताभिप्रायेण ज्ञातं तदा सर्वाः अपि सहचर्यो भ्रूभिः भृकुटीसंज्ञया परस्परं हसित्वा हसित्वा गुप्तमनस्कतया मौन-मवलंब्य एकैका पृथक् पृथक् निर्गत्य गृहाद्बहिर्गताः । यतः उक्तं च ।

> आकारैरिंगितैर्गत्या चेष्टया भाषणेन च ।
> नेत्रवक्त्रविकारेण लक्ष्यतेऽन्तर्गतं मनः ॥

१७३—ततः किंजातमित्याह । एकांते जाते यः कश्चित् क्रीड़ाया आरंभः सुरतलक्षणः स तु केनापि देवेन अथवा द्विजेन तयोर्न दृष्टः यत् केन विधिना तत् कृतं । तदा मया अदृष्टमश्रुतं वस्तु किमिति कथयितुं शक्यते । ममाकथ्यमिति गोपन-

स्वाभिप्रायः । परं तत्सुखज्ञातारौ तावेव दंपती । अतः महत् सुखं संजातं भविष्यतीत्युक्तमपि । यदुक्तं ।

अभिनव सुरतारंभे । जं सुक्खं होइ पोढ महिलाणं ।
नवरस विलास हासं । जाणंत न जंपए जीहा ॥

१७४—अथ सुरतांते स्त्रीशय्यायां निर्निश्वासमिव भूत्वा निपतिता । कीदृशी । पत्या पवनेन वातकरणेन प्रार्थिता दत्तसुखोपाया । तत्समये तस्याः श्रीः स्वरूपं कीदृशं भाति यथा नीराशये सरसि गजेन्द्रक्रीड़ितेन मर्दिता अधः पतिता कमलिनीव पद्मिनीव । अतिसुरतप्रसंगेन प्रथमसमागमे विचेतनत्वम् ।

१७५—तत्र सुरतश्रमात् श्यामायाः ललाटे स्वर्णवर्णे स्वेदकणाः प्रस्वेदबिंदवः संजाताः तन्मध्ये कुंकुमबिंदुः टिक्किका भाति स्म । तत् सर्वमपि कीदृक् विराजते । उत्प्रेक्ष्यते। मिलितेन मदनसंज्ञेन स्वर्णकारेण कुंदनरूपस्वर्णे मध्ये माणिक्यं रक्तरत्नं कृत्वा विरच्य हीरकाः जटिता इवेति नवीननिष्पन्नाभरणविधिः ।

१७६—पुनः रतांतस्वरूपं वर्णयति । स्त्रियो वदने पीतत्वं । चित्ते व्याकुलता विह्वलत्वं । हृदये **धिगधिगीति** अति विस्फुरण-मुच्छलनमिति यावत् । खेदः श्रमेण श्रांतत्वमजनि चक्षुषोर्लज्जा धृता । अतो घुंघटादिकरणमिति । चरणयोर्नूपुरध्वनि-निवारणं । कंठे कुहुरवस्य निवृत्तिरिति निःस्वरत्वम् । सर्वाण्यपि लक्षणानि समुत्पन्नानि ।

१७७—अतः सहसत्कारेण समुत्थाय बहिर्गता तत्र किं कृतमित्याह । तस्मिन् क्षणे सा श्यामा सखीकंठमालिंग्य बाढं विलग्ना सती शोभते स्म । उत्प्रेक्ष्यते । **भरेण** स्वतनुभारदानेन वारिजमा-श्रित्य भ्रमरो विलग्नः इव तथेयमपि विलग्यस्थितेति । पुनः

ऊर्द्ध्वीभूत्वा प्रचुराण्यंगुलीवलकानि निविड़ं कंठे निक्षिप्य स्थिता। उत्प्रेक्ष्यते। कदल्याः अवलंबं समीपवर्त्त्वं प्राप्य लतेव यथा तदाधारं प्राप्य तंतुभिर्वल्ली विलगति न त्यक्तुमिच्छतीति तात्पर्यं।

१७८—सखीभिः पुनरपि समाश्वास्य शिक्षां दत्त्वा प्राणपतेः कृष्णस्य समीपे मुक्ताः। सा कीदृशी। लज्जया भयेन प्रीति **साव** इति स्वादु पर्यायः स्वादुना संयुक्ता। लज्जया न यामीति चिंतन। भयेन किं भविष्यतीति। प्रीति-स्वादुना अत्र यत् सुखं तत् कुत्रापि न प्राप्यते इति त्रयाणामपि भिन्नभावः। तदागत-वत्याः तस्याः किं जातं। केशामुक्ताः विशेषं विरली-भूताः। मुक्तावली त्रुटिता। कंचुकबंधनानि छुटितानि। क्षुद्र-घंटिका पृथक् पृथक् पतिता इति निर्दयत्वेन निःशंक-सुरतरमणम्।

१७९—श्यामया श्यामसंगेन क्रीडायाः सुखे लब्धे सति मनोरक्षकाभिः छंदोवर्त्तिनीभिः सखीभिः संघटं गुप्तनिरीक्षणं कृतं। तत्र किं ज्ञातं। चित्रशाला उपरि चतुष्के २ **कहकहाहट** इति प्रतिशब्दत्वं भूत्वा स्थितं निःशंकमेलो जातः इति तत्त्वार्थः।

१८०—अथ रात्रिजागरणं। महानिशे अर्धरात्रिसमये जगत् सर्व निद्रावशं सनिद्रं जायते। परं तदापि यामिकैः यमोनियमः व्रतादिकं तत्पराः योगीश्वराः तैरिति पुनः कामिकैः काम-रसवद्भिः रात्रिजागरणं निद्रानिवारणं प्रारब्धं। कथंभूतै-र्यामिकैः। तत्त्वं ब्रह्मज्ञानं तदर्थं रक्तैस्तत्परैः। कथंभूतैः कामिकैः रतचिंतार्थे सुरत-क्रीडार्थे रक्तैः एकचित्तैः। तेषां स्थाना-न्याहुः गिरिकंदरासु कृतस्थानैः। गृहेषु अवस्थितैः। द्वयमपि गणयित्वा यथायोग्यं विचार्यं।

१८१—लक्ष्मीवरस्य हर्षगरभ इति निर्भरेण लग्ना इष्टा रात्रिः तस्याः त्रुटनमीदृक् **यथायुस्तुटि** आयुषः क्षये यावन्मात्रा दुष्कं तावद्दुष्कमस्याः त्रुटनेनेतिभावः पुनः क्रीडाप्रियस्य नरस्य **किरीटी इति** कुक्कुटस्य पूत्कार कूकू जल्पनं दुष्करं अथ च जीवितप्रियस्य बहुजीवितुमनसो जनस्य घटी पूर्त्ति-समोऽयं झल्लरीध्वनिः दुष्कहेतुः अतोऽखिला अपि प्रकाराः रात्रिनिर्गमनवेलायां प्रादुर्भवतीत्यवधार्य ।

१८२—अथ रात्रिं प्रान्तं वर्णयति। गलत्यां रात्रौ पाश्चात्येसमये शशी पक्वपलाशवत् गत प्रभो जातः यथा वरे पतौ मंदे रोगिणि सति **सद्व** इति सत्याः स्त्रियो मुखं विलक्षं भवतीत्युपमा । तस्मिन समये दीपः प्रज्वलन्नपि न दीप्यति न शोभनो दृश्यते यथा **नास फरिम सूरतनि** अदातृत्वेन महानपि सूरः तेजसा ज्वलन्नपि यशःकारणविहीनो न तादृशो विराजते याचकजन-मनसामिच्छापूरणमंतरा शूरतरस्यापि नाम न प्रकटं भवतीति शोभाक्षतिः । इयमप्युपमा ।

१८३—तस्मिन समये विरहावध्यंतेन कोकस्य मनसि **साधिरिति** वांछा **मिलिता** प्रादुर्भूता । कामिकानां मनसि रमणानां चित्ते **कोकेन** चतुरशीत्यासनसूचकेन शास्त्रेण क्रीडायाः इच्छा निवृत्ता दूरीभूता । यतो दिवसोदयेऽधुनाभावीति कथं निःशंकं रंतुं शक्यते इति । अथ च **फुल्लैः** कुसुमै**र्वासः** सुगंधत्वं त्यक्तं म्लानित्वात् । **ग्रहणै**राभरणै**र्मु**क्तामयादिकैः **शीतलता** शैत्यं गृहीतेति ।

१८४—अधुना योगमार्गमुद्दिश्य प्रातः काल्य-समयं वर्णति । अथ च **अरुणोदये योगाभ्यासे** इव जाते सति शंखपणवपटह-झल्लरीभे**रीणां** ध्वनिरुत्थिता प्रकटिता । उत्प्रेक्ष्यते।

अनाहत ध्वनिरिव सा तु देहस्था अतरभूता स्वयमेव जायते अतः उद्योतं जातं । तत्किमिव । **प्राणायामैः** श्वास-प्रश्वासरोधनैः निशामयं रात्रिसंबंधरूपं **माया पटलं** अज्ञानतिमिरमिव प्रमृष्ट्वा दूरीकृत्य **ज्योतिः** परमज्योति. हृदयाभ्यंतरे प्रकटितमिति ।

१८५—अथ सूर्योदयवर्णनं । सूर्ये उदयं प्राप्तवति सति । एतेषां मोचितानां निर्बन्धानां छुटितानामिति यावत् बंधोजात. निग्रहणमजनि । केषामिति । **संयोगिनीनां चीरा.** परिधानवस्त्राणि **रई** इति मंथान. खजकाः, **कैरवाणां** चन्द्रविकाशिनां श्रीविकाश. प्रफुल्लता, एषां पदार्थानां । तथा चैतेषां बद्धानां मोक्षो जातः । केषामिति । **गृहहट्टानां** रक्षाकृते तालकानि, कमलेषु **भ्रमराः** षट्पदाः, **घोषे** गोकुले गावः धेनवः, एतेषामिति ।

१८६—पुनः सूरे प्रकटिते एषां मिलितानां विरह. अमेलो जात. । केषां केषामिति । **वणिजां** किराटानां बध्वा, गवां वत्सै:, तर्णकै:, असतीनां विटैः सार्द्धमिति सर्वत्र योज्यं तेषामिति । अथ चैतेषां विरहितानां पृथक्स्थितानां मेल. सयोगो जातः । केषामिति । चौराणां, चक्रवाकानां, विप्राणां तीर्थवेलया सह । अमिलितानां मेलः ।

१८७—अथ ऋतुवर्णनं । तत्र ज्ञायते ज्येष्ठे मासि अनयोर्विवाहो जातस्तेन तावत् ग्रीष्मऋतुवर्णनं । जेष्ठे मासि नदीनीराणि वर्द्धितानि हिमगलनात् । कानीव दिनानि न्यूना भवति । धरा पृथ्वी कठिना जाता नीरसवत्तया । हिमगिरिर्द्रवीभूत. गलनशीलत्वात् । तस्मिन् समये **जगति सिरि** इति द्वारिकायाः उपरि सुतरूणां चूतादिवृक्षाणां छाया दत्ता

ज्येष्ठमासेनेति अतः सुच्छायापुरी । पुनर्जगतो लोकानां शिरसि सूर्येण राहुरिव उत्पात इव कृतः महादुष्कात्वहो लगति । अन्यार्थे सूर्येण जगत्सिरसि राहोर्मार्गः कृत सर्वांगान्मस्तके तपनं बहुलं भवतीत्यवगन्तव्यम् ।

१८८—केचित् लोकाः घर्मेण व्याकुलीभूताः केचित् साश्चर्या जाताः कीदृक् तपतीति वांछितछायायां विहिताः आश्चर्यं कृत्वा स्थिताः सूर्येणापि स्वकिरणोत्तापतया हिमवद्गिरः शरणं कृत उत्तरायणवर्त्तित्वात् । सूर्योऽपि पुनर्वृषमाश्रितो वृषराशिं गतो यतोऽन्योऽपि आतपेन तप्तो वृक्षमाश्रयति छायालब्धौ लोक भाषायां वृषोपि वृक्षनामेति ।

१८९—तत्र मासि जगत्पतिः श्रीकृष्णो जलक्रीड़ायामनया युक्त्या वक्ष्यमाणविधिना रमते स्म । तत्कथमित्याह । श्रीखंड-चंदनं तस्य कर्दमं । कमकम रूपं जलं सरसि स्थापिते अतस्तस्य जलेनैव गृहदीर्घिका भृतेति, द्युतेः कांत्याः आहरणे आनयनार्थं पीठिकामध्ये मौक्तिकानि दलयित्वा संचूर्ण्य पिंडीकृतानि तत्पीठिका मर्दनेनांगस्य तेजस्विता शैत्यमपि ।

१९०—अधुना आषाढं वर्णयति । माघमासे यत् माहुटिः हिमगर्भो जात. षण्मासावधिः तस्य संभूतिः तेन गगनं मषीवर्णं श्यामं भाविवर्षालक्षणं मिलितं आषाढस्य सूर्यो बहुतरं परितप्य-यत् मध्याह्न कृतं तत् जनैर्निरतरं मध्यरात्रिरर्ध-निशेव वर्त्तते इति ज्ञातं कस्मात् नीजणपण इति निर्जनत्वात् तस्यां वेलायां सर्वे लोकाः गृहं प्रविश्य स्थिताः अतः कोऽपि बहिर्नायाति तवैवंविधिः प्रति मध्याह्न महानिशातोप्यधिकं ज्ञातमिति भावः ।

१९१—तत्र मासि **निद्र्नाः** गिरिनिर्झरप्रसरे बहत्पानीये **नेरंतीति** सुखमनुभवंति । **धनिनः** सामृद्धिमंतः स्त्री **पयोधरौ भजंते** सेवते सबाहुकंठं निर्भरं स्त्रियं परिरभ्य स्वपंति । **वायुझालैः** पवनस्फुरणैः **तरव झंखराः** पत्रविहीनाः कृताः **लूलहरीभिः** संवमवायुचलनैः **लवलीनां** लतानां **दहनं** कृतं अग्निज्वालावदुष्णताः प्रज्वालिताः ।

१९२—अथ च **हरिः** स रमणीकस्तस्मिन् **धवलगृहे** सुधाधवलिते मन्दिरे **क्रीडते स्म** । यत्र **गारिरिति** चुणनममये लेपनं कस्तूर्या एव, इष्टिकाः कर्पूरमय्यः, प्रतिदिनं नवे नवे निष्पादिते स्थाने पूर्वदिनभुक्तं परित्यज्य सथरकमङ्गीचक्रे । **कुसुमानि** मालिती प्रभृतीनि **कमलदलानि** सरोजदलानि तेषां माला समूहस्तेनालंकृते गृहे अथवा पुष्पपत्रैर्ग्रथिता माला वनमालेत्युच्यते तयालंकृतः इति कृष्णस्य विशेषणमपि येन मालीत्यभिधानं ।

१९३—अथो वर्षासमयवर्णनं । उत्पतिता **धुडीरव** इति **वाउली** रूपाः तस्याः रजः अंबरे लग्नम् । चेत्रिकानां हालिकानांमुखमो जातः हलसमुदायं सज्जीकुर्वति । किंचित् किंचित् वर्षणे **खाद्राः** लघुसरांसि भृतानि । मृगसिरनाम्ना सूर्यभोग्यनक्षत्रेण वायुं मुक्त्वा मृगाः **किंकरा.** कृताः दुर्बलीकृताः विह्वलतया इतस्ततो भ्रमणशीलाः । ततः आर्द्रया नक्षत्रेण वर्षयित्वा **धरा** पृथ्वी आर्द्रीकृत्वा छंटितेति ।

१९४—**बकाः** बलाकाः नृपयो योगीश्वराः **राजानः** धरापतयस्तयोऽपि **पावसबेठा** इति चतुर्मासावधिस्थिताः नान्यत्र

गमनपरा:। सुरा: सुप्ता: अतो हरिशयनं। मयूरेषु स्वर-संभव:। चातका: रटंते। जलप्राप्त्यै जल्पयन्ति। वक्यश्चपला स्वयं चुणकरणप्रवणा:। हरिरिंद्रो अर्थात् मेघांबरं गगनं शृंगारयति भिन्नभिन्नवर्णैः सुश्रीकं करोति। तदप्यग्रे वक्ष्यति।

१९५—एकत: श्यामां **कंठलीं** मेघघटां कृत्वा एकत: **उज्ज्वलं कोरणं** वातयुतमभ्रं कृत्वा धाराभि: श्रावणो **धरहरीया** इति भूमिसिंचनकरोऽभूत्। **दिशोदिशीति** सर्वासु दिक्षु **गलितैर्गर्भैः** जलानि चलवानि प्रवाही भूवानि न स्तंभयंयंतीति नित्यं वहनशीलानि कानीव वहती। विरहिणी नयनानीव, यथा तान्यपि साश्रूणि न स्तंभयंति नित्यं वर्षत्येवं साम्यं।

१९६—प्रचुरधाराभिर्वर्षति मेघे **अनड्डानां नड्डा:** पर्वतानां निर्झर-प्रवाहशब्दा:.बाढं प्रादुर्भूता: सघनो जलभृतो मेघ: गंभीरशब्देन गर्जितं तदा समुद्रमध्येऽपि जलं न **समाति** न स्थिरीभवति वहिर्निर्गच्छति तदान्यजलाश्रयाणां का वार्त्तेति। पुन: **जलबाला:** विद्युत: जलदे मेघे न **समांति** सर्वथा विद्युन्मयं **सभात्कार** जगज्जातमिति बहुवर्षत्वं।

१९७—अत: स्त्रीपुरुषसंबंधं कल्पयित्वा वसंतावधि पुत्रजन्मसमयं वक्ष्यति। **निहसे बूठउ इति** अत्यंतं वृष्टो मेघ: ततो वसुधायां नीलरंगत्वम् प्राप्तायां स्थले जलानि वसंति स्मेति। उत्प्रेक्ष्यते। पतिना सह प्रथमसंगमे वस्त्रेषु खंचितेषु उद्घाटितशरीरा: **स्त्री ग्रहणैराभरणैः** परिहिता मुक्ता सती यादृशी भाति तादृशी पूर्वोक्तलक्षणा वसुधापि विराजते स्मेत्युपमयापि साम्यम्।

१९८—तदनंतरं समयं वर्णयति । तरवः वृक्षाः लताः वीरुधः पल्लविताः नवपत्रयुताः जाताः । तृणैः बालतृणैरंकुरिदं अतः पृथ्वी नीलरंगा जाता केव नीलांबरा स्त्रीव । अथ च वहन्नदीमयो हारः परिधृतः । पादयोर्दादुररूपौ नूपुरौ परिधाय चिप्त्वा मोहिनीव जाता । शृंगाररहस्यं ।

१९९—वर्षणेन अंजनाचलधाराश्यामत्वं तदेव मंजनं कज्जलीमिव कृतं । पयोधेः मेखलाः तटभूतैव कटिमेखलेव ? मांमोखु इंद्रगोपः कुंकुमबिंदुरिव पृथिव्याः स्त्रिय इव ललाटपट्टे दत्तः । अत्र सर्वत्रोपमानं ।

२००—धरायाः स्त्रियः धाराधररूपे स्वामिनि मिलिते सति नदीनां तटा उत्पटिताः पानी यैर्वेहिर्निर्गतं तत् केशाः विरलीभूताः इति स्वरूपं दर्शयति । केशाः **लट**प्रायाः यमुनैव कुसुमैर्मिश्रत्वं गंगेव अग्रेवेणी समुदाय. । उत्प्रेक्ष्यते । त्रिवेणीसंगम इव प्रतिभासते ।

२०१—धरा पृथ्वी श्यामा स्त्रीव वर्णेनापि श्यामा । जलधरः पतिः सोऽपि स्यामतरः द्वावपि निवड़ं गलकंठपरस्परं बाहूर्निक्षिप्य **घेघुंचितौ** एकीभूतौ नांतरं दृश्यते । तेन भ्रमेण दुर्दिनप्रसंगेन नृपयोपि नित्यकर्मरता अपि संध्यावंदनकृते **भूला** इति भ्रांताः दिवा रात्रिसंधिं न लक्ष्यन्ते स्म ।

२०२—दम्पतीभिः अतः परस्परं आलिंगनं दत्तं । किमिति । तत्र हेतुमाह । किंकृत्वा । धरामेघं परस्परं आलिंगितं दृष्ट्वा । मेघागमे विशेषेण कामत्वप्रसंगः । किं कृत्वा । परस्परं रुष्टान् पादौ लगित्वा **मनावीति** मानयित्वा कथं पुनारसान् कामोद्दीपकान् पदार्थान् अंगीकृत्य । लब्धस्य देहस्यायमेव लाभः यत् प्रोत्या परस्परं मिलनं गणयित्वा मनसा विचार्येति ।

२०३—अधुना मेघाभ्रवर्णान् व्याख्याति। अथ च अर्धमार्गे गगनमध्ये उत्पतिताः मेघाभ्राः शुशुभिरे। उत्प्रेक्ष्यते। महाराजस्य परमेश्वरस्य **राजे महल** इति क्रीडायोग्यानि मुख्यगृहाणीव तेषां वर्णना। कीदृशानि गृहाणि। जलजालैर्जलयंत्रैरिव जलानि स्रवंतीव इति द्वयोः पक्षे, कानिचित् कज्जलवत् श्यामानि कोरणान्युज्ज्वलानि तान्येव सुधाधवलत्वं। कानिचित् पीतान्यभ्राणि हरितालितानि गृहाणीव। कानिचित् रक्तानि हिंगलूकरं गितानीवेति गृहमेघाभ्रयोः सादृश्यं पहलपर्यायैः अंतरे अंतरे पृथक् पृथक् स्थितान्यभ्राणीति ज्ञेयं।

२०४—तत्सदृशत्वेन श्रीकृष्णगृहाणामपि निरूपणं। नीलमणिमयाः इष्टिकाः **कुंदनस्य** रसीकृत स्वर्णस्य कर्दमं लेपयोग्यं स्तंभान् **लालमयान्** माणिक्यमयान् पट्टान् पाचिरत्नरूपान् स्थिरान् सुबद्धान् कृत्वेति सर्वत्र योज्यते। मंदिरेषु गवाक्षास्ते तु पद्मरागरत्नमयाः उपरि स्थितानि शिखराणि गृहशीर्षकानि शिखरसयानि हीरकैः कृत्वा रचितानि। इति पूर्वद्वालकोक्ताः विविधवर्णाः। गृहेष्वपि अत्र राजर्द्धिरुदीरिता।

२०५—रुक्मिणीयुक्तेन वरेण श्रीकृष्णेन श्रावणभाद्रपदयोर्मासयोः **भरो** मध्यसमयः सुखेन योग्यवस्तुग्रहणेन **रहवी रुखि** इति अनया रीत्या **वो** भुज्यते स्म। तत्कथमित्याह। कमकर्मेन चालितानि धौतानि वस्त्राणि धृतानि सुगंधद्रव्यैः प्रवलितैः प्रकटवासनैः गृहे स्थित्वेति शेषः।

२०६—अतः वर्षानंतरं शरदं वर्णयति। वर्षार्तुर्व्यतीता शरत् समागता तस्याः वर्णनं वचनैः भूयो भूयोऽहं व्याख्यास्यामीन्यन्वयः। तत्र जलानि निर्मलीभूत्वा **निवाणे** सरोनदीलक्षणे जलाश्रये

स्थितानि। उज्ज्वलत्वं दर्शितं। कानीव। **निधुवने** नाति सुरतेन। लज्जितानि स्त्रीणां नयनानीव। यतः सुरतांते नेत्राणि श्वेतानि भवन्ति।

२०७—अथातो धरा पृथ्वी पीतवर्णा जाता येनौषध्यः धान्यानि पक्वाः तत्समये शरत्कालस्येदृशी श्री शोभा दृश्यते पुनः कोकिला निःस्वराः मौनधारिणीति **ओपकणरूपाः** प्रस्वेदबिंदवो जाताः। किमिव। सुरतांते स्त्रीमुखमिव। यथा रतांते स्त्रीमुखे पीतता कंठे निःस्वरत्वं श्रमात् स्वेदबिंदूद्गमः। साम्योपमा।

२०८—आश्विनमासेन संगम्य एतानि वस्तूनि **वितए** इति व्यतीतानि गतानि कानि कानि चेत्याह। नभसि आकाशे **वद्दलानि** अभ्राणि पृथिव्यां पंकश्च जले **गुडलत्वं** रजस्त्वं। यथा सद्गुरोः संयोगे मिलिते एवं जायते जनानां **कलिकल्मषानि** कलियुगपापानि नश्यंति ज्ञानोद्दीपकत्वं परमज्योतिः प्रकटनं। अथ साम्यं श्यामाभ्राणिपापरूपाणि निष्पंकत्वं ज्ञानदीप्तिः जलोज्ज्वलता ज्योतिः प्रकाश इति।

२०९—आश्विने मासि गावः क्षीराणि स्रवंति। धरा पृथ्वी रसान् **उद्गिरति** प्रकटयति। पद्मिनीभिः सरांसि सुश्रीकानि जातानि। पुनरपि शरदि श्राद्धकाले स्वर्गलोकवासिना पितृणामपि मृत्युलोक प्रियो वल्लभो लग्नः। तत्समये दत्तपिंड-ग्रहणाय पितरः समागच्छंतीति लोकोक्तिः।

२१०—शरदो रजनी तादृशी शुक्ला वर्त्तते यत्र पार्श्वे स्थितां हंसीं हंसो न पश्यति समीपस्थं हंसं हंसी न पश्यति। सर्वं जगदुज्ज्वलं प्रतिभातीति चिंत्यं तदा तयोर्विरहोद्भूतिरितिशंका निराकर्त्तुमाह मुहुर्मुहुः वारं वारं जल्पंतौ शब्दं कुर्वाणौ दंपतीपरस्परं विरहं गमयतोन्योन्यं जानंतौ संयोगमेवमकल्पयतां।

२११—रुआपि पुनः कारणमाह । यतो महोज्ज्वलाया निशि उज्ज्वल-वस्तूनामदर्शनमिति बहुतरं व्याख्यानं किं क्रियते । यदधिकं वर्णनीयं तथापि किंचित् विशेषं वक्ति । उत्प्रेक्ष्यते । शशी चंद्रः षोडशभिर्कलाभिः भिन्नं भिन्नं पृथक् उद्योते समातिस्म मिलितोस्तीति ।

२१२—तरणिः सूर्यस्तुलायां राशौ अर्थात् तुलाकृते स्थितः काम्यां तुलितः तेजोतमोभ्यां । अतस्तत्र दिनरात्रिसमसमे भवतः यथा कश्चिद्राजा कनकेन तुलते । भू पृथिवी तस्यामिति रीत्येदमपि तुलनं तेन कारणेन सदृशं तुलामारोपितौ तौ द्वावपि कीदृशौ जातावित्याह दिनं सर्वकार्यकरणेक्षमं ततो दिने दिनेऽमर्षतया लघुत्वं यातीव । रात्रिः स्त्रीरूपा लक्षणे· तुच्छा ततो गर्विता सती रात्रौ रात्रौ गौरवभावं प्रोफुल्लभावेन वृद्धत्वं यातीवेति । यदुक्तं । "संपूर्णकुंभो न करोति शब्दं" ।

२१३—समानाभिः सदृशवयोरूपावस्थाभिः स्त्रीभिः मणिखचितेषु मंदिरेषु कार्त्तिकदीपाः दीपमालिकाः गृहांतः गृहमध्यं दत्ताः । किमर्थं । सुखाय स्वमनः प्रसन्त्यर्थमित्यन्वयः । तेषु मध्ये स्थिता गवाक्ष जालिकादिविवरेषु बहिरेवं प्रतिभासंते । कानीव । **सुहागमुख** इति सौभाग्यवती मुखानीव । यथा मनसा चित्तेन लज्जंतीनां स्वाधीनपतिकानां मुखानि घूंघट—पटांतः स्थितानि बहिः प्रकटं प्रतिभांति तद्वदिमाः अपि ।

२१४—नवीना नवीना छविः शोभा मंड्यते नवान् नवान् महोत्सवान् कुर्वंति अतस्तन्मासि आनंदवत्यो हर्षकुमारिकाः अपरि-णीताः गृहगृहद्वारेषु स्थिराः निश्चलाः चित्राणि रचयन्ति । उत्प्रेक्ष्यते । बालिकाः चित्रलिखिता शालिभंजिकाः इवेति रूपसौंदर्यं ।

२१५—नवा: जना: अर्थात् नररूपेण देवा: इव जगतां त्रिभुवनानां नवानि अभुक्तान्यपि सर्वाणि सुखानि सेवंते स्मेति। जगद्वास-मिषेण। वयं द्वारिकावासिन: इति व्याजेन। यदुक्तं।

तम्बूलमन्नं युवतीकटाक्षं गवां रसो बालकचेष्टितानि।
इक्षुर्विकारा: मतय: कवीनां सप्त मकारा न भवन्ति स्वर्गे॥

पुन: सेवां दर्शयितुं रुक्मिणीरमणस्य शरद्ऋतौ दीपालिका-नंतरं भुक्तिराशिभि: नवैर्नवै: पक्वान्नै: सुगंधद्रव्यादिभिर्वस्त्रैश्च निशिदिनं दिवारात्रौ भक्तिं कुर्वते स्मेत्यर्थ:।

२१६—श्रीकृष्णस्यैव रीतिर्जाता यदा **सुयोधनं** दुर्योधनमुद्दिश्य आयोधनार्थं **धनंजयस्यार्जुनस्य** सहायत्वे समागतस्तदापि सुप्त एव जागरित: अनिद्रोऽभूत् तद्विधिना मासेषु मार्गशीर्ष: भव्यं समागतो मिलितो यत्र जनार्दनो निद्राविहायोत्थितवान् तत्र **"देवऊठणी"** इति लोकोक्ति:।

२१७—अतो हेमंत:। पश्चिमजं वातं निवार्य दूरीकृत्योत्तरादिग्वात: प्रसृत: तत्समये शीतागम **सहूर इति** सर्वेषां नराणां स्वस्त्रियासुरांसि हृदयानि स्वर्गतुल्यानि जातानीति। कुचापी-डमालिंग्य स्त्रीनरा: सुखं शेरते। ततोऽत्र भुजंगा: सर्पा: धनवंतो जनाश्च पृथ्वीपुटं भित्वा अधोध: स्थानं कृत्वा द्वयो-र्वर्गा: गणा: विवरेषु प्रविष्टा:। सर्पा: बिलेभ्यो बहिर्न नि:सरंति। जना: गृहाभ्यंतो भूमिगृहाणि सेवंते तत्रोषितुं लग्ना:।

२१८—हिमसमय हिमालयनद्यस्तुच्छजला: समभूवन् विमला-न्युज्ज्वलानि हेमानि शृङ्गाणि बर्द्धितुं लग्नानीत्यन्वय:।

तत्रोपमा। यथा यौवनागमे स्त्रीकटयः कृशा भवंति नितंबाः स्तनाश्च स्थूला भवंतीति साम्यं।

२१९—हेमंते शीतभीत्या जनाः स्वगृहाणि भुंजंति न त्यजंतीति। स्वतनुना मलिना संतः केऽपि मार्गे वहंति। यतः आलस्येन स्तोकं स्तोकं स्तायद्भिर्जनैः तनौ मालिन्यमेवांगीक्रियते। **जिणि** इति येन कारणेन धनिनो जनाः सुकुमारैर्बहुमौल्यैर्वस्त्रैर्भारिताः आवृताः केचिदितरे निःस्वाः कंबलीभिरावृतास्तिष्ठंति। कुत्र सर्वस्मिन् जगति मृत्युलोके। इत्युक्ता। स्वर्गे पाताले न शीतमिति ज्ञातव्यम्।

२२०—अथ तत्र दिवसा क्रमेण क्रमेण प्रतिदिनं लघुत्वमाप्नुवंति के इव ऋणिन इव देयपरधना इव यथा तेऽपि स्वं धनदापिनं दृष्ट्वा क्षणे क्षणे **संकुचिति** दीनत्वमाप्नुवन्तीति यावत् तदा पौषी निशा कथचिदम्बरमाकाशं त्यजति। रात्रीणां गौरवं दर्शितं केव, प्रौढांगनेव, यथा प्रगल्भा स्त्री पत्याकर्पण समये **पंगुरणम्** वस्त्रं कथमपि मुंचति दूरं क्षिपति यथा। "अली एह सुभाउ। नाना करंति बद्धे ए नेहो"।

२२१—रुक्मिण्या वरेण च स्वं देहं मनश्च परस्परं **अलुभाया** इति एवं ग्रंथिरीत्या निवड़ं बद्धे यथाशीतं **विहीतम्** दूरीकृतं। कथं तनुमनसी एके कृते इत्याह। अर्थेन संगता वागिव यथार्थेन वागूमिलितैव भवेत्। यदुक्तं—"वागर्थाविव संपृक्तौ" यथा शक्तिमति शक्तिरवस्थिता यथा पुष्पेषु गंधः यथा गुणिनि गुणाः परस्परं मिलिताः वर्त्तंते तथा तौ द्वावपि मिलितौ अत्र प्रमाणकल्पना।

२२२—अथ शिशिरः। कामस्य वाहनं मकरः तत्र राशौ अहिमकरः सूर्यश्चटितः उत्तरायणं जातं तत्रोत्तरदिशो वातो बाढं वातः

तेन कमलानि प्रज्वाल्य विरहिणी वदनानीव कृतानि तत्र विरहिणीमुखानि विलक्षाणि भवंति। आम्रा: मंजरिता: भव्यतया रचिता: कानीव संयोगिनीनामुरांसीव। तत्र प्रियतममिलनेन तासामुरांसि समुल्लसंति।

२२३—प्रार्थितस्य कृपणस्य किं वाक्यं। उत्तरमेव। नास्ति कथनं। ततः शब्दच्छलेन तन्नाम्ना दिक् उत्तरदिक् तस्याः पवनेन सहकारं विना अन्यानि वनानि ज्वालितानि। नित्यं वहति वायौ हिमानां संभवः। अतो माघे लग्ने सति लोकान् प्रति नीरमध्यात् शीतलोऽग्निरुत्थितः ज्वलनवत् लग्न इति यदुक्तं।

दूहा

ताढउ शीतल वन दहइ। जल पत्थर भेदंति।
अबल विरुद्धीतं करइ। जं देवो न करन्ति॥

२२४—निजनाम्नाः शीतः परं नीलानि वनानि ज्वालयति। जलस्थिताः पद्मिनीः पुनः **दहित्वा** (दग्ध्वा) अतः पावकी जातः तेन शीतः स्वमनो मलं भंजयित्वा दूरीकरणं विना द्वारिकांतःमध्ये नो प्रविशति। पापिनां द्वारिकाप्रवेशो दुर्घटः तत्र धर्मिजनस्यैव-निवासित्वात्। द्वारिकामध्ये शीतः स्तोकइति लोक प्रसिद्ध-मेव।

२२५—उद्गच्छन्नेवार्कः अग्निरूपं कृत्वा दिवारात्रौ संध्याद्वये दंपत्योः श्रीकृष्णरुक्मिण्योः, उपरि प्रथमं धूपं विधायारात्रिकामिषेण निजं शरीरं **वारयति** कलद्वयेन भ्रामयित्वा तदधीनं करोति कथं दशसु दिक्षु आरात्रिक भ्रमणं। किं कृत्वा, स्वयं प्रतापं प्रतिहारीकृत्य शीतागमं निवार्य पश्चात् स्वयं सेवितुमनाः

एवं विदधातीवेति एकोऽर्थः । द्वितीयार्थे लोकाः सूर्याय प्रत्युपकारकृते आरात्रिकामिषेण निजतनून् तदधीनान् कुर्वंतावेत्यपि ।

२२६—अथ सूर्यः कुंभे स्थितः तदा ऋत्वंतरं जातं। कथमित्याह **हिमं ठरितं** इति किंचिदूनीभूतं द्रहाः ह्रदाः **ठंठीकृताः** अकंपनपराः कृताः यतः 'कुंभे शीतं च जर्जरं'। अलयो भ्रमराः पत्रान् सज्जीकृत्य उड्डीयनार्थमुद्यताः। कलकंठाः कोकिलाः सुस्वरवत्तया कंठं गलं सज्जीकृत्य जल्पितुं सोद्यमाः बभूवुः ।

२२७—अथ होलिकागमः। तरुण्यस्तरुणाश्च फाल्गुने गृहे गृहे फागं गानविशेषं गायंति। किं कृत्वा। **वीणा डफ महु** अरिवंशकसंज्ञान् वाद्यविशेषान् वादयित्वा समुदीर्य। पुनः किं कृत्वा। मुखे रीरीति बाढंस्वरेण पंचमरागमालाप्य। तत्र कोकिलोक्तिसमये पंचमरागस्य प्राधान्यं। कथं भूते मासि। विरहिजनानां **दुरुत्तरै** दुरंते इति फाल्गुनविशेषणं ।

२२८—इयत्कालं यावत् तरुषु पल्लवा नवपत्रागमास्तादृशा न संभूता पुष्पाण्यपि न जातानि तथा नवांकुरा अपि न प्रादुर्भूताः । स्तोकं स्तोकं शाखा **गात्दरिताः** मंजरिताः तथापि वनभूमी राजते इति शेषः। केव। यथा प्रियस्यागमे विलासिनी अकृतेपि शृंगारे मनसि कृतहर्षा सती सुरतकांत्यैव शोभते तथेयमपीति भावः ।

२२९—अथो वसंतः । प्राक्मासदशकं यावत्ऋतुसमयेनेव स्वपतिना गर्भो दत्तः वनस्पत्याः स्त्रीलक्षणायाः यन्मासे मासे भिन्नं भिन्नं चिह्नानि जायन्ते वनस्पत्यामिति गर्भवत्या

लक्षणं । सांप्रतं वनस्पतीरूपा वधू वसंतं सुतं **प्रसवंती** जनयंती किं किं चेष्टितं कुरुते । तदाह । मनसि व्याकुला सती तुच्छपीडयेवेषत् मन्मनतां विलंब्य विलंब्य कूकूरवं भ्रमर-भंकारमेव कृतवतीवेति तदनु कठिनवेदनया कोकिलाशब्द-मिषेण कूजतीव पूत्करोतीव इति प्रसवसमयचेष्टा ।

२३०—अथ **दाई** स्थाने प्रसूतिका प्रसवकारयित्री होलिकापर्वेति-ज्ञेयमिति वक्ति तां प्रति सुखं प्रसवकारितत्वेन विशेषेण वनस्पत्या कष्टनिवर्त्तनसमयादनुपूज्यते । कैः कैः वस्तुभिः । पकान्नैः पुष्पैः फलैः पत्रैः तद्रूपैरेव सुरंगैर्वस्त्रैः नवीननवीन-वस्त्रपरिधापनैः दानैः सर्वैर्द्रव्यैः करणभूतैः होलिकामुद्दिश्य जनाः ईदृशाः सोत्साहाः पूर्वोक्तरीत्या कुर्वते तत् सूतिक-निमित्तमिति कल्पना ।

२३१—अथ च मधूकवृक्षमिषेण गलत्पुष्पतया वसंतपुत्रः शिशुरूपः रोदितीव कथं यतो दलेषु मलयानिले लग्ने सति **कल** इति रोगविशेषः समुत्पन्नः । कीदृशे मलयानिले । त्रिगुणे प्रसरति पानीयतृषेव लग्ना यथा तृषितो बालः कलितो भूत्वाश्रूणि मुंचति तथायमपि । ततो मातेव वनस्पती दुग्धमिव मकरंदं मधु श्रवति सप्रसवं चरति । रुदनरक्षणार्थं स्तनदानमिव । अन्यार्थे पाठांतरे मधुपो भ्रमरो **रियरियाट** रवमंगीकृत्य रोदितीवेति, शेषा व्याख्या सैव ।

२३२—अथ च । वासाः गंधाः पुरुषनारीणां नासिकापथमाश्रित्य पवनरथे चटित्वा रमंते स्म वर्धातिस्मेवेति सर्वं जगद्वसंते सुवासितं जातमित्यभिप्रायः ।

२३३—अथ वर्द्धापनं । प्रवराः आम्राः अतिशयं तोरणानीव । याः अंबुजानां कमलानां कलिकाः ता एव मंगलार्थकलशाः कुंभा

इव। एकस्माद् वृक्षादारभ्य समीपस्थमन्यं वृक्षं याः लताः घटिताः ता एव बद्धाः **वन्नर** मालिका इवेति पुत्रजन्मोत्सवे सर्वेऽपि प्रकाराः।

२३४—वानरैर्यानि स्फोटितान्यपक्वनालिकेरफलानि तेषां मज्जा मध्यस्थितोज्ज्वला। उत्प्रेक्ष्यते। मंगलार्थं दधीनीव महोत्सव-प्रारंभे दधिदर्शनं महाकार्यसिद्धिनिदानं। परागाः कुसुम-रजांसि किंजल्काः मध्यस्थितकर्णिकाः तत्कुंकुममिव अक्षता-श्चेव। पिकाः कोकिलाः प्रमुदिताः उन्मत्ताः यद्वदंति ताः स्त्रियः इव गानं गायंतीव। सादृश्योपमा।

२३५—सरसि इति शेषः पद्मिनीनां पत्रेषु स्थितानि जलानि पृषतः एवं विभांति। उत्प्रेक्ष्यते। काचमये प्रांगणे भामिन्यः स्त्रियः स्थालेषु मौक्तिकानि क्षिप्त्वा सानंदं वसंतं पृथिव्यामागतं मत्वा वर्द्धापयितुमागता इव। कीदृश्यः। **वणे** इति कृत-श्रृंगाराः। सरः काचमयमंगणं मौक्तिकानि जलबिंदवः पत्राणि स्थालानि पद्मिन्यः स्त्रियः कुसुमानि श्रृंगारः इति रीत्या साम्यमनुभाव्यं।

२३६—अथ वनस्पती **कामा** कमनीया कामधेनुरिव वर्षती रस-मुद्रिरवी अहं पुत्रवतीति मनसि प्रसन्ना जाता। तदा श्रृङ्गारार्थं किंशुकपुष्पाणि पीतानि तदासन्। उत्प्रेक्ष्यते। ते **करणि करि** वर्णक्रिययेवि केसरिकानि वस्त्राणि कृत्वा परिधत्तानीव स्त्रीणां श्रृङ्गारविशेषे पीतवसनानां शोभास्तीति।

२३७—**कणवीर** पुष्पाणि रक्तानि करणपुष्पाणि श्वेतानि **सेवंती** पुष्पाणि धूतवर्णानि **कूजा** इति पुष्पजातिविशेषः **सुवर्ण**नाम्नी जाती पीतपुष्पा **गुलाला** ईषत्पाटलवर्णा यत्र वसंते आसन्। उत्प्रेक्ष्यते। सर्वोऽपि परिकरः विविध-वर्णैर्वस्त्रैर्यथायोग्यं परिधापित इव।

२३८—अनेन विधिना विधिवद्वर्द्धापनैः कृत्वा वसंतो वर्धापितः । स तु **भालिम** इति भाषया भव्यतया दिने दिने भरणेन बलेन चटितः वर्द्धितः । तत्र **गहबरिया** इति गर्वितैः पुष्पादि-समृद्धिमद्भिस्तरुभिः तरुणैरिव **फागं** दत्त्वा उल्लापितः यथा बालहाराः गानादि कृत्वा बालं रञ्जयन्ति ।

२३९—अधुना राज्याभिषेकं वर्णयति । तत्र राज्ये मन्त्री प्रधानो मदनः कामः वसंतो महीपतौ राजा कृतः । किं कृत्वा । **सधरां** शिलामेव सिंहासनं धृत्वा । मस्तकोपरि आम्राः एव छत्राणि मंडितानि । वायुना चला मञ्जर्येव चामर-ढालनं । सर्वेऽपि राज्यसामग्री ।

२४०—दाडिमीपक्वबीजानि बहुनिष्पत्तितया यत्र तत्र पतितानि दृश्यन्ते । उत्प्रेक्ष्यते । **निउंछावरि** कृते वर्द्धापनार्थे नगाः रत्नानि चिप्तान्युच्छालितानि इव । खगैः पक्षिभिः चरणै-श्चंचुभिः कृत्वा फलानि **लुंचितानि** । ततो मधुचरणं रसनिर्गमस्तद्रूपं मार्गछंटनं यथा राजाग्रे रजोविनष्ट्यै धरासिंचनं क्रियते ।

२४१—तत्र एणाः हरिणाः पदातयः पादचारिण इव राजंतेतरां कुंजाः कुडंगाः रथा इव । हंसानां मालाबंधः श्रेणिः हयानामश्वानां **लासिरिति** मन्दुरा । गिरिवराः गजाः इव कीदृशाः खर्जूरीरूपा ढली पृष्ठाभरणं **पूठि ढलकावे** इति उपरि सज्जीकृत्य शृङ्गारिताः । पर्वतविशेषणम् ।

२४२—अथ च **तडि** इति तटे मूलादारभ्य **तरलाः** स्थलाः उच्चा उदूर्ध्वीभूता **सरला** इति मध्ये अन्तरशाखारहिताः एवं-विधास्ताड़वृक्षाः उपरि **पत्रयुताः,** किं बहु कथ्यते, स्वर्गं यावत् प्रसृताः भांति स्मेति ।, उत्प्रेक्ष्यते । वसंते पट्टे स्थिते

राज्ञि जगतः उपरि **जगहथ** इति जगद्धस्ताः पत्रालंबनानीत्र वद्धा इव, अस्माकं यो जयतु तेनागंतव्यमिति स्वगर्वपूर्वकं रिपूणां भयोत्पादनं ।

२४३—अथ राज्ञोऽग्रे नाट्यारंभः । ऋतुराज्ञः (ऋतुराजस्य) वसंतस्याग्रे **अवसर** इति नाटारंभो मंड्यते। तत्कथमित्याह । वनमेवमंडपः, निर्भरशब्दः मृदंगः इव, पंचबाणः कामः स एव नायको रंगाचार्य इव, कोकिला गानकर्त्री अथवा पुंस्कोकिलास्तदा गायकः **गाइन** इव, विविधवर्णा वसुधा रंगसमुदाय इव, विहंगाः पक्षिणः **मेलगराः** कौतुकप्रेक्षको जनसमुदाय इव ।

२४४—कलहंसा **जांण गराः** भव्यभव्येति भाषकाः, अथ च यानं गतिः तत्कराः नानागतिकारिणः इत्यपि । मयूराः नृत्यकरा इव । पवनो वायुः तालधर इव । पत्राणि ताडवृक्षादिपर्णान्येव तालाः कांस्यमया इव । अथ **आरि**शब्देन काचित् चटिका जातिविशेषः तस्याः जल्पनं तंत्रीस्वर इव वीणेव । भ्रमराः उपांगिनः शरीरचालनचेष्टाकारिण इव । तत्र चकोराः पक्षिणः **तीवट उघट** इति शब्देन तालविशेषः तस्योद्घाटकाः कर्त्तारः ।

२४५—तत्र विधिपाठकः ईदृशं नृत्यनृत्येति शास्ता शुक एव । रसवांछिकाः सारसाः इव । कोविदो विचक्षणः लीलया यानपरः **खंजरीट** खंजनपक्षी वेति । पारावतस्य **दाटि:** गुटकनं **प्रगल्भलागिः** भमरीस्फुरणवृत्या मूर्च्छनाविष्करणं। चक्रवाकस्य विहारो गतागतं विदुरस्य शिक्षितस्य वेषपरावर्त्तनमिव ।

२४६—अंगणे छंटनजलं स्थितं तत्र भ्रमराः पिबंति ते कीदृशाः **तिरप उरप** तालस्वरभेदकारकाः इव । चक्राकारां

नरुत् अर्थाद्रातूलकः **तिमरू** मूर्च्छनाविशेष. अथवा ताल-
भेदः तं गृह्णाति इति संभावना। **रामसरी खुमरी** द्वे
अपि चटिकाविशेषः ते रटितुं जल्पितुं लग्ने। उत्प्रेक्ष्यते।
धूम्रा मीठा चंद्रास्तालहस्तकभेदास्तान् धरत इवांगो-
...ति।

...दा भातीति कालं दर्शयति। **निगरभर** इति
...भूता तरुणां सघना निविडा छाया सैव निशेव
...पता: पलाशाः दीपधराः इव। मंजरिता.
रोमांचिता इव। फुल्लानां विकाश·
...तरुवराणां दर्शनं तत् हर्षेण हास्यकरण-

राज्ञि जगत: उपरि **जगहथ** इति जगद्धस्ता: पत्रालंबनानीव वद्धा इव, अस्माकं यो जयतु तेनागंतव्यमिति स्वगर्वपूर्वकं रिपूणां भयोत्पादनं ।

२४३—अथ राज्ञोऽग्रे नाट्यारंभ: । ऋतुराज्ञ: (ऋतुराजस्य) वसंतस्याग्रे **प्रवसर** इति नाटारंभो मंड्यते। तत्कथमित्याह। वनमेवमंडप:, निर्भरशब्द: मृदंग: इव, पंचबाण: काम: स एव नायको रंगाचार्य इव, कोकिला गानकर्त्री अथवा पुंस्कोकिलस्तदा गायक: **गाइन** इव, विविधवर्णा वसुधा रंगसमुदाय इव, विहंगा: पक्षिण: **मेलगरा:** कौतुकप्रेक्षको जनसमुदाय इव ।

२४४—कलहंसा **जांण गरा:** भव्यभव्येति भाषका:,अथ च यानं गति: तत्करा: नानागतिकारिण: इत्यपि । मयूरा: नृत्यकरा: इव। पवनो वायु: तालधर इव। पत्राणि ताडवृक्षादिपर्णान्येव ताला: कांस्यमया इव । अथ **ग्रारि**शब्देन काचित् चटिका जातिविशेष: तस्या: जल्पनं तंत्रीस्वर इव वीणेव । भ्रमरा: उपांगिन: शरीरचालनचेष्टाकारिण इव। तत्र चकोरा: पक्षिण: **तीवट उघट** इति शब्देन तालविशेष: तस्योद्घाटका: कर्त्तार: ।

२४५—तत्र विधिपाठक: ईदृशं नृत्यनृत्येति शास्ता शुक एव। रसवालिका: सारसा: इव। कोविदो विचक्षण: लीलया यानपर: **खंजरीट** खंजनपक्षो वेति। पारावतस्य **दाटि:** गुटकनं **मगलभलागि:** भ्रमरीस्फुरणवृत्त्या मूर्च्छनाविष्करणं। चक्रवाकस्य विहारो गतागतं विदुरस्य शिक्षितस्य वेषपरावर्त्तनमिव ।

२४६—अंगणे छंटनजलं स्थितं तत्र भ्रमरा: पिबंति ते कीदृशा: **तिरप उरप** तालस्वरभेदकारका: इव। चक्राकारो

मरुत् अर्थाद्वातूलकः **तिमरू** मूर्च्छनाविशेषः अथवा ताल-भेदः तं गृह्णाति इति संभावना। **रामसरी खुमरी** द्वे अपि चटिकाविशेषः ते रटितुं जल्पितुं लग्ने। उत्प्रेक्ष्यते। **धूआ मीठा चंद्रा**स्तालहस्तकभेदास्तान् धरव इवांगी-कुर्वते इवेति।

२४७—तत् नृत्यं कदा भातीति कालं दर्शयति। **निगरभर** इति बाहुल्येन मिश्रीभूता तरूणां सघना निविडा छाया सैव निशेव रात्रिरूपा। पुष्पिताः पलाशाः दीपधराः इव। मंजरिताः आम्रा एव रंजनेन रोमांचिता इव। फुल्लानां विकाश उत्फुल्लनं तन्मध्ये उज्ज्वलतराणां दर्शनं तत् हर्षेण हास्यकरण-मिव।

२४८—अथो वसंते प्रकटिते कोकशास्त्रं संगीतशास्त्रमिव प्रकटितं तस्मिन्नवसरे रसिकानां कोकशास्त्रेष्वादर इति। रत्या क्रीडासुखरूपया पात्रेण नर्त्तक्येव शिशिरर्तुसंबंधिनी जवनिका परियष्टिः तां दूरं निक्षिप्य पश्चात्कृत्वा रहस्या-लोचनमेव निजमंत्रं पठित्वा वनराज्याः देव्या इव उपरि पुष्पांजलिः क्षिप्तेवोच्छालितेव नृत्यावसरे देवदेवी-प्रसक्त्यै समं आपुष्पांजलिः क्षिप्यते इति प्रवृत्तिः।

२४९—नृत्यारंभवर्णने यत्किंचिदप्यसंबद्धं तत् शास्त्रानभ्यासतः आगतं भविष्यति। तद्दोषः क्षम्यतां। यदुक्तं—"अनभ्यासे विषं शास्त्रमिति"। अथ नाटके पूर्णे अनंतरं सुराज्यभावं दर्शयति। पूर्वं शिशिरर्तुरूपो दुरीशः कुनरेन्द्रः अंबुजानि कमलानि तद्रूपा एव प्रजा इव पीडयन् दुःखी कुर्वन् ज्ञात्वा उत्तरेणानंगीकारेण असत् दुर्जन इवोत्थापितो दूरीकृतः इवेत्युत्प्रेक्षा। तदा प्रसन्नोनुकूलः सुखदाता त्रिगुणमयो यो वायुः तत्प्रसरणमिषेण वने वने नगरे नगरे इव न्यायो

ढढेरक: प्रवर्त्तते इव वादयतीव। किमुक्त्वेति। सांप्रतं राजा वसंतोऽस्ति केनाप्यन्याये न प्रवर्त्तितव्यमिति कारणं।

२५०—अथ सुराष्ट्रे जाते किं जातमित्याह। एकैवृ'क्षैर्व्यावहारिकैरिव पुष्पाणां मिषेण, एकैः पत्राणां मिषेण, 'तत्र तेषां बाहुल्यमिति उत्प्रेक्ष्यते, धरामध्ये संचितानि द्रव्याणीव निष्कास्य मंडितानीव। यत: प्राक् तेषामदर्शनमभूत् सप्रति दृश्यन्ते इति हेतो:। केश्चित् चंपकवृक्षैरिव चम्पककुसुमान्येव लक्षधन सूचका दीपा: प्रदीपा: दत्ता इव। कदलीपत्रस्येतस्ततः स्फुरणमेव कोटीश्वरत्वसूचका: ध्वजा इव। अतो निर्भया: प्रजा: समजनिष्यतेति तात्पर्यम्।

२५१—अथ च वल्ल्य: स्त्रिय इव पुष्पाणां भार: समूहस्तद्रूपाण्याभरणानीव परिहित्वा परिधाय इति कारणात् प्रकटं तरुवराणां स्वस्वामिनामिव वेष्टनरूपतया गले कंठे अंके **भरि** इति आलिंगनमिव कृत्वा विलग्ना इव बाढमाश्रिता इव। इति मलयानलरूपपटहवाजनानंतरं मह्यां पृथिव्यां सुराज्ये जाते सति नि.शंकिता इवाभवन्।

२५२—अथ च चिंतातुराणां दंपतीनां न तादृगपत्यसंभवो जायते इति दर्शयन्नाह—प्राक् राज्यद्वयं हेमन्तशिशिरलक्षणं तरुलतारूपप्रजानां पीडकं उद्वेगकरमासीत्। अतो वसन्तराज्ञा हितं प्रदर्श्य प्रजानां दुरुक्तं त्याजितं दूरीकृतं तदा नैशाखमासि वल्लीभिर्वीरुद्भि: स्त्रीभिरिव कुसुमावलिं। पुष्प-संचयं अपत्यमिव **व्याए** इति प्रसूय तरव: शाखा प्रशाखाभिर्विस्तारिता: परिवारपरिवृता: कृता इव संततिपरिपाट्या गोत्र-समुदायो वर्धित इति युक्तम्।

२५३—ये तरव. पूर्वं पुष्पैर्भारिता: संघनं भृता: ते तु भारं वहित्वा साम्प्रतं **छूटा** इति अपहृतिभारा इव जाता: यत: कामेन

करे पुष्परूपा: बाणा: गृहीता इति चिन्त्यं । पुनः सुराज्ञः प्रसादेनादेशितः वैश्वानरोऽपराधकारीव जनैर् भरडीत इति निवार्यमाण इव जगति तिष्ठति यतस्तदा वायुबाहुल्याद् वैश्वानरो लोके स्तोकमंगीक्रियते तस्य न्यूनत्वमेव वरं इति तात्पर्यम् ।

२५४—तत्र राज्ये तरुसमूहे मंजर्यादिषु ग्रहणे डंकनं स्तोकं स्वादुमात्रं दीयते, दंडः सर्वथा लुंटनरूपो न दीयते । कैरिति आह—**गानगरैः** कलूसंज्ञितैर्लिपिलेखकैरिति भ्रमरैरेव । पुनस्ते एव भ्रमरा गणनामाकलय्य करग्राहिण. सन्तः परिवृता· यत्र तत्रागताः राजदेयभागग्राहिण इव समागता. तेषां तरव कृपिकृत इव कुसुमानां गंधो मकरन्दो रसः तद्रूपरूपं करं स्वामिदेयभागं ददते ।

२५५—यथा वर्षाकालेन वर्षता दातुमुद्यतेन स्वामिनेव आशाकरा· चातका एव वंचिता. तृषार्त्ता एव रक्षिताः यदुक्तं—

> अदातरि समृद्धेऽपि किं कुर्युरुपजीविनः ।
> किंशुके किं शुकः कुर्यात्फलितेऽपि बुभुक्षितः ॥

तथा वसन्तस्य राज्ये कोऽपि न वंचितः नो निराशः कृतः यत् पक्षिभिः लघुपक्षिभि· सेवया कृत्वा सुकुमाराणि फुल्लानि स्वयं भक्षितुं योग्यानि लब्धानि कोलाहलं कुर्वद्भिर्महद्भिः पक्षिभिः बंदिभिर्भट्टचारणादिभिरिव महन्ति फलरूपाणि दानानीव लब्धानि अत स्वं स्वं योग्यं दानं सर्वरपि प्राप्तं इति भावः ।

२५६—नारीद्वयं,एकां वृक्षपंक्तिं पुष्पितां समकाले दृष्ट्वा अन्यदन्यद् वचनं नामग्राहं वक्ति स्म । किं तदित्याह—कान्त-, संयोगिन्या स्त्रिया नाम्ना किंशुकः कथित., किमिति वितर्के

दृष्टमात्रोऽपि सुखं करोतीति किंशुकः, सुखकारी अयम्। अथ विरहिण्योक्तम्—इदं पलाशवनं, पलं मांसं अश्नातीति पलाशो राक्षसरूपः, दृष्टोऽपि असुखं ददातीति द्वयोरपि भिन्नभिन्नवाक्यम्। अथाऽस्य पाठान्तरे—

कुसुमित कुसुमायुध ओटि केलिकृत
तह देखे थोउ खीण तन

इत्यपि पाठः तत्र—कुसुमायुधस्य कामस्येयं **ओटिः** आश्रयविशेषो यतः कुसुमितं दृष्ट्वा सविशेषं कामक्रीडा समुत्पद्यते। अतोऽयं किंशुकः। तथा तं दृष्ट्वा वियोगिनीतनुः क्षीणा सेदुष्का (? स दुःखा) जायते अतः पलाशः।

२५७—अथ काचित् मालिनी सुरूपा कमलकोमलकरा केसराणि केशरपुष्पाणि वने वने उपलक्षितस्थाने **वीणयन्ती** चिन्वन्ती स्वनखप्रतिबिम्बेन स्वनखानां प्रसृतच्छायया भ्रान्त्वा, ज्ञातमेवदपि केशररूपमेव यतः तस्य रंगः तत्सदृशः करनखा अपि रक्ताः केशराण्यपि रक्तानि तच्चुण्टनसमये नखानां वासो गंधेऽपि तत्सदृशः, करपल्लवा अपि कोमलाः रक्ताश्च, कुसुमान्यपि कोमलानि रक्तानि च, अतः सादृश्येन भ्रान्तिः। तदा प्राप्तेषु केशरेषु तत्स्थाने शंकानिराकारः।

२५८—अथ वायुं वर्णयति—वायुर्मलयाचलाद् हिमालयं प्रति प्रस्थितः यतो वसन्ते दाक्षिणात्यो वायुरुत्तरां दिशं प्रयाति। तत्र कविना वायुस् त्रिविधो वर्ण्यते शीतो मन्दः सुरभिश्चेति त्रिगुणत्वे उत्प्रेक्ष्यते—हरस्य शंभोः प्रसन्नकरः मिलयितुमिच्छुः कामस्य दूत इव यतः शंभुना सार्धं मेलकृते प्रेष्यो मुक्तः कामेनेव इत्युत्प्रेक्षा। कीदृशो वायुः किं कृत्वेति सबलेन जलेन भिन्नो निर्झरादिमध्ये निर्गमाद् अतः शीतः स तु सुष्ठुवासः कुसुमानां परिमलः तं सज्जीकृत्वा स्ववशं

प्राभृतमिव निधाय अंव: सुगंन: । परं दरक्षोभमयेन डिगमिगित पदैः मन्दं मन्दं गच्छन् अग्रे गतस्य मम किं भविष्यतीति चिंतावान् शनैः शनैः गच्छति इति मन्दत्वम् ।

२५९—दक्षिणात: उत्तरामागच्छत: पवनस्य चरणावुत्तालतया न वहत: शीघ्रं चलितुमुन्मना: इति मन्दत्वं । तत्र कारणमाह—किं कुर्वत: वायोः नदीं नदीं तरतोऽवगाहनं विदधत: तरौ तरौ चटित्वा उत्तरत: वल्लोनां गत्ते गत्ते मध्ये विलगतो निस्सरत: अतो जानातीदृशं स्थानं स्वेच्छया क्रीडनयोग्यं अत्रैव नान्यत्रेति चरणावहनहेतु: ।

२६०—केतकपुष्पाणि कुसुमानि विविधानि च कुन्दा: मुचुकुन्दा: केतक्य: रंगेण किंचित्पीता: सर्वेषां गंधभारं परिमलभरं गृहीत्वा स्कन्धोद्वहनेन श्रान्त: सन् अवतां वहनशीलानां निर्झराणां शीकरान् स्वाङ्गैः प्रसरयं पुनश्चलितवस्तथापि बहुभारभारितो गंधवाहो वायुस्तेन कारणेन मन्दगतिरासीन् मन्दं मन्दं चलितुं प्रवृत्त: अन्योऽपि भारोद्वाहरु: शीघ्रं गन्तुमशक्य एव स्यादिति गुणत्रयमुद्भाव्यम् ।

२६१—दक्षिणाया: अनिलो वायुरुत्तरस्यां दिशि समागच्छन् मंदं मंदं सरति चलतीति सपत्नीद्वयवेधवचनम् । क इव, सापराध पतिरिव यथा पति: अन्यां स्त्रियं परिभुज्य अन्याया: गृहगमने सभयं शनैः शनैर्यातीति इत्युपमा । तत्कारणमाह—तस्या: अंगवासना देहविलेपगंध: तस्या: लुब्ध: मोक्तुमक्षम: तत्र चन्दनपरिमलाधिक्यात् पुनस्तस्यां रसमपि मोक्तुमक्षम: यतो दक्षिणदिक् भोगिनां रसदायिनीति प्रसिद्धि: । रेवाया: जले रत्या: सुरतक्रीडाया: शौच्ये कृते अत: प्रक्षालिते कामलत एव ईषन्मज्जनं कृत्वा अत: शरीरे वासरुयो न स्याद्

इति चिन्तन स्वयमपराधो कृतापराधः सन् गतिमन्दत्व-माश्रितः इति भावः ।

२६२—पुष्पवतीनां लतानां परस्परमिति एकां मुक्त्वा अन्यां प्रति अंगे अंगे आलिंगनं ददन् ता· प्रस्पर्श प्रस्पर्श निच्छन् (?) स्वयं मत्त. मद्यप इव असिद्धस्थानवत्तया चरणौ न सिद्धौ वहन्मार्गे मण्डयति भ्रामं भ्रामं गतिं कुरुते । किं कुर्वन् पवनः, मधुपानं पूर्णकंठं कृत्वा आचमन्निव योन्योऽपि मद्यपानी बहुलं गन्दं पिबति सोऽपि वार्ति करोत्येव । अथ वायुः नवं नवं मद्यरूपं मधुमकरन्दरसरूपं मद्यं पिबन् मन्दं मन्दं गच्छति ।

२६३—अथाऽय वायुरुत्प्रेक्ष्यते । कस्यचिन्महीपतेः राज्ञः मदोन्मत्तः मातंग इव गज इव । कीदृशो मातंगः । तत्र लक्षण-साम्यता । निर्झराणां तोयानि जलानि परिभुज्य मुक्त्वा मलयतरुं चन्दनवृक्षं आश्रयन् देहं निर्घर्षयन् पुष्पपरागैः कमलरजोभिरविधूसराङ्गः सन् पुनः मकरन्दरूपं मधुमदं स्रवन् सन् वातश्चलतीति सर्वचेष्टितः करीसाम्यम् ।

२६४—पवनमुद्दिश्य स्त्रीद्विकस्योभयपक्षाभ्यां सदसल्लक्षणाभ्यां वादः परस्परविरोधिवाक्यकथनमजनि अर्थादभूत् । एकयोक्तं—कीदृशोऽयं पवनः गृहीतगंधगुणः चन्दनादिवास-युक्तः प्रधानतरः । अन्ययोक्तं—विषोपमः यतो भुजंगी-पीत्वा पश्चादुद्गालितः अर्थात् वान्तः तेनायमपि गरलीभूत एव अत्र विरहिणीवाक्यं । संयोगिन्या एवमुक्तं श्रीखंड-शैलसंयोगी मलयगिरिसंगी अतो भव्यः विरहिण्योक्तं अयं भुजंगभक्ष्यं इत्यभव्यः । इति द्वयोर्वादः ।

२६५—कस्यांचिद् ऋतौ दिवसः सरसो लगति हिमशिशिरयोरे वेति । कस्यांचिदृतौ रात्रिः सरसा शरदि ग्रीष्मे च ।

कस्याचिद्दूती संध्यावेला सरसा लगति विविधवर्णाभ्ररंगैः वर्षा एवेति कवयः कथयन्ति । परन्तु वसन्तः पक्ष-द्वयेऽपि शुद्धः सदृशदिवसरात्रिभावेन द्वयोरपि पक्षयोः साम्यं मासद्वयेऽपि सरसवत्तया अहर्निशं सदृशो वहति दिवसेऽपि सुखकारी रात्रावपि सुखकारीति यथा सुपक्षो नरोऽपि सर्वकालं सुखदाता इति भावः ।

२६६—निमिषैर्पलैश्च घटिकाभिश्चाहर्निशं दिवानक्तं वसंते सदृशे समाने ईषद् घटनं वृद्धिः परस्परं नरमादाभावादित्यपि किंचिद् हीनाधिकत्वं (?) लोकेपि प्रसिद्धं अतः एकस्य एकाया परस्परं अन्तभिन्नत्वमसादृश्यं इति यावन्न दर्शयतः परस्परं स्नेहवृद्ध्या मिलितावित्व वपलक्ष्येते परं प्रेमरीत्या-धिकमनुभवतः यथा दम्पतीव । कान्तस्य गुणै-र्वशीकृता कान्ता तथा कान्तायाः गुणैर्वशीकृतः कान्तः परस्परं स्नेहभेदलक्षणं अन्तं न दर्शयतः । सर्वदा सदृश-रीत्यैव तयोर्निर्वाहः ।

२६७—तस्मिन् वसन्ते गृहाण्यपि पुष्पैः कुसुमैः रचितान्येव । **ग्रहणानि** आभरणान्यपि पुष्पमयानि उपरितना पटी अपि पुष्पैर्ग्रथिता प्रस्तरणं तूलिकाः तदपि पुष्पमयमेव **हींजति** इति स्वेच्छया हिंडोलके हिंचनं । सापि दोला पुष्पवेष्टिता । सर्वासां पार्श्वस्थितानां सहचरीणामपि पुष्पाणामेव शरणं । येन तेन विधिना पुष्पाणां बाहुल्यमेव कामिजनप्रियमिति । श्रीकृष्णकृते सर्वाऽपि रचना समी-चीना इति भावः ।

२६८—रुक्मिणीयुतः कान्तः श्रीकृष्णः **माणग** इति सुखभोक्ता वसन्तर्तु अनेन विधिना **माणयति** भुनक्ति । कथ-

मित्याह—यस्य नादाः गीतगानरूपाः स्वापयन्ति निद्रायै प्रेरयन्ति अतश्चतुर्षु प्रहरेषु गीतगानमिति भोगिनां लक्षणम्। पुनः प्रातर्वेदाः वेदपाठकथकाः प्रबोधयन्ति जागरयन्ति। नित्यं प्रतिदिनं निशायां दिने च वनवाटिका-गृहोद्यानादिषु विहारः क्रीडाकरणं। अतो विस्मृता न्यकरणीयः श्रीपुरुषोत्तमः कामसुखमनुभवतीति भागवता-मन्येषामपि सर्वेषां अयमेव व्यवहारः। यदुक्तम्—

सुगंधं वनिता वस्त्रं गीतं ताम्बूलभोजने।
सुख शय्यामलस्नानमष्टौ भोगाः प्रकीर्त्तिताः॥

२६९—तस्मिन्नवसरे वसन्तसमये मनसोर्द्वयोरपि परस्परं प्रीति-प्रसरणेन स्नेहाधिक्येन अवसरेण लोकोक्त्या आश्चर्येण नादाद्युपायेन पुना रुक्मिण्याः हावैः मुखमोटनकटाक्ष भ्रूभंगरूपैः, भावैः आभरणरचनादिभिः सर्वैरपि कर्तृभूतैः हरिः कृष्णो मोहितो वशीकृतोऽतः ज्ञातं हरक्रोधज्वालावली-ढानि निजान्यङ्गानि गतानि स्वयमनङ्गेन योजितान्येको कृतानि तानि सर्वाणि पूर्वोक्तानि मोहनिमित्तानि कामाङ्गानि अवगम्यानि इति यतो मदनः प्रद्युम्नत्वमंगीकृत्य रुक्मिण्या उदरे उषित इति निवासं कृतवान् ततः श्रीनन्दन इति ख्यातः।

२७०—अथ परिवारं वर्णयति—पिता वसुदेवस्तस्य सुतो वासुदेव-स्तस्य सुतः प्रद्युम्नः यतः पिता कृष्णो जगत्पतिः। स्वश्रू देवकी वधू रामा रुक्मिणी अथ च रामा स्वश्रू तत्र रतिः वधूः। सर्वोऽपि परिकरः श्रेष्ठः।

२७१—अथ च यदुवंशे भाग्याधिकं वक्ति—लीलाधनो वैकुंठवासो परमेश्वरो जगवासको जगन्निवासो मानुषीं मनुष्य-

सम्बन्धिनीं लीलां सुरानुभूतिं मनसि विचिन्त्य अवतारं कृत्वा जगति द्वारकायां वसुदेवगृहे देवक्या उदरे निवासं चक्रे। प्रद्युम्नस्य पिताऽयमेव अतो जगदीश्वरोऽनंगस्य पिता पितामहस्थाने जातः। कृष्णस्यानिरुद्धः पौत्रः पुत्रसुतः। कीदृशोऽनिरुद्धः, उषानामस्त्रियः पतिः। इति वंशस्य महद् भाग्यं प्रतिपादितम्।

२७२—तेषां सर्वेषां तस्यैव वा यशः अहं कविः किं कथयेयं, संभावना, यस्य यशः कथयितुं शेषनागोऽपि श्रान्तो निरुद्यमो जातो न पारं प्राप्तुं योग्योऽभवत्। अतो भक्तिमात्रं नारायण इति वारं वारं नामग्राहं वदेत्युपदेशः। कीदृक्। निर्गुणः सत्त्वरजस्तमोमयैर्गुणैः स्वयं रहितो निरंजनरूपत्वात्पुनर् निर्लेपः पापैरस्पृश्यमानः। पुना रुक्मिणीं कथय प्रद्युम्नं कथय तथाऽनिरुद्धकं कथय अर्थाद् वर्णय सहचरीभिः स्वस्वपत्नीभिः सह नामसंक्षेपेण नाममात्रमेव प्रोचरेति गुणस्तुतावशक्यत्वं प्रकटितं। पूज्यानां परिवारोऽपि पूज्य इति सर्वेषां स्मरणं न्याय्यम्।

२७३—अथ लक्ष्मीनामानि—लोकमाता १ सिंधुसुता २ श्रीः ३ लक्ष्मीः ४ पद्मा ५ पद्मालया ६ प्रमा ७ अपरागां गृहे अस्थिरा इत्यपि ८ इंदिरा ९ रामा १० हरिवल्लभा ११ रमा १२ इति नामानि।

२७४—अथ प्रद्युम्ननामानि—दर्पक १ कंदर्प २ काम ३ कुसुमायुध ४ शंबरारि ५ रतिपति ६ तनुसार ७ स्मर ८ मनोज ९ अनंग १० पंचशर ११ मन्मथ १२ मदन १३ मकरध्वज १४ मार १५।

२८३—पुनः समयं प्रेद्य एकः कश्चिद् एकमन्यं कंचित् कथयति। किमित्याह—तत्रैकस्मिन् **वगि** इति पचे गृहे विमलानि मंगलानि कुर्विति प्रेरणेन एतानि श्राचरतां कुर्वतां जनानां किं शुभं कर्म भाग्यं भवेत् तत्कर्म वल्लीं जपतां जनानां जगति एवं भवति इत्ययमेव पाठो मुख्यमंगलमेव इति चिन्त्यम्।

२८४—आयुर्वेदे प्रणीता उक्ता चिकित्सा दोषप्रतीकारश्चतुर्विधा वर्तते या चिकित्सा शस्त्राणि लौहकर्माणि औषधानि क्वाथचूर्णादीनि मंत्राणि तंत्राणि **सुवद्द** इति सूते जनयति अर्थात् दोषदूरीकरणाय प्रकटयति। केषां—कायाकृते शरीर-सज्जीकारे उपचारं कुर्वतां वैद्यानां इत्यन्वय-योजन तैश्चतुर्विधप्रकारैः सुखमुत्पद्यते तत्सुखं वल्लीं जपतां त्वरित-मुत्पद्यते।

२८५—आधिभूतिकं स्यादाधिर्मानसीव्यथा शोकादि ततो जातम् १ आधिदैवं भूतोन्मादादिकं २ अध्यात्मकं पूर्वकर्मार्जितं ३ तापत्रयं, तथा पिंडे शरीरे दोषत्रयं प्रभवति जायते कफ-वातपित्तलक्षणं सर्वे रोगा न भवन्ति ये पुरुषाः नित्यं वल्लीं स्मरन्ति तेषां शश्वन्नीरोगता इति भाव्यं श्रीभगवत्कृपातः।

२८६—मनसः शुद्धभावेन रुक्मिणीमंगलं अर्थाद् वल्लीसंज्ञकां स्तुतिं जपतां जनानां निधयो नवनिधानानि, संपत् संपदा स्वर्णरौप्यरत्नवाहनादिलक्षणा, कुशलं कल्याणं च सदा संभवन्ति सम्पद्यन्ते तथा चैतानि नाशयन्ति तद्‌गृहं मुक्त्वा दूरं पलायन्ति। कानिकानीति आह—दुर्दिनं दुरक (? दुःख) दिवसं, दुर्ग्रहं ग्रहगणितगोचरे ग्रहाणां वैषम्यं, अथ च दुःसहा दुरन्ता दुर्दशा जन्मपत्र्यां रविराहुशनिभौमानां वर्षदशाः, तथा दुर्जनाः पैशुन्यकारकाः, पुनः पापकर्मणि मतिर्बु[illegible]रः, एतानि वस्तूनि इति ज्ञेयम्।

२७६—पुनर्पुनर्वल्ल्या: स्मारणमिति दर्शयन्नाह—वल्लीं जपत: स्मरतो नरस्य अथवा यदा त्वं वल्लीं स्मरेः जपेस्तदा तुभ्यमेतेविषय: पदार्था: संभवन्ति । तदाह । कण्ठे सरस्वती, गृहे लक्ष्मी:, मुखे शोभा लोकवशीकरणं, भाविन्या: भविष्यन्त्या: मुक्ते: त्वत्करे भुक्ति: परिभोग:, **उदरि** अभ्यन्तरे ज्ञानं, आत्मनि हरिभक्ति: इति तात्पर्यम् ।

२८०—य: कश्चिज्जन: षण्मासावधि मह्यां पृथिव्यां सुप्त्वा भूमिशयनं कृत्वा पुन: प्रातर्जले तीर्थस्थाने मज्जनं कृत्वा स्नानं विधाय स्पर्शे जितेन्द्रियो अत: आत्मना स्वयमेकक: सन्नेकान्ते मौनावलम्बी इति यावत् अत्र जगति सत्कृत्यप्रभावत: स्त्रीवाञ्छक: पुरुषो यादृशीं स्त्रीमवाप्नोति स एव वल्लीं नित्यं वारं वारं पठन् तदेव फलमवाप्नोति इत्यलं प्रयासेन ।

२८१—अहर्निशं दिवारात्रौ आत्मनि आत्मनि दंपत्यो: परस्परं रुक्मिणीकृष्णयो: सदृशी रति: सुखाप्ति: संपद्यते । तत्कथम् । वल्लीं जपन्ती स्मरन्ती कन्या कुमारी वाञ्छितं वरं लभते परिणीता स्त्री पते: स्वामिन: सौभाग्यं मान्यतां पुन: पुत्रमपि लभते यत: स्त्री सद्भाग्या सौभाग्यवती पुत्रवती कथ्यते ।

२८२—रुक्मिणीहरिस्तुतिरूपां वल्लीं नित्यं पठतां जपतां जनानामेव परिवारो गोत्रसमुदायोऽस्मिन् जगति वर्ण्यो वर्द्धते दिने दिने सर्वाङ्गैः । कैः कैरित्याह—पुत्रैः पौत्रैः प्रतिपौत्रैः पुन: **साहयौ:** गजाश्वरथरत्नैर्भाण्डागारैः कोशैः इत्यमात्रं तेषां शाखा: वर्द्धन्ते । का इव । वर्षासु वल्लय इव यथा वल्लय: दिनेदिने पंचांगैः अंकुरेभ्य: समारभ्य पत्रपुष्पफलादिभिर्नित्यं दिनेदिनेऽधिकं वृद्धिं यान्ति इति तत्त्वार्थ: ।

२७५—अथ ब्रह्मणो नामानि—चतुर्मुख १ चतुर्वर्ण २ चतुरात्मक ३ व्यक्त ४ चतुर्युग-विधाता ५ सर्वजीवकृत् ६ विश्वकृत् ७ ब्रह्मसू ८ नरवर ९ हंस १० देहनायक ११।

२७६—ते सुष्ठु पदार्थाः—सुन्दरता सौन्दर्य १ लज्जा २ प्रीतिः ३ सरस्वती ४ माया ५ कान्तिः ६ कृपा ७ मतिः ८ सिद्धिः ९ वृद्धिः १० शुचिता ११ रुचिः १२ श्रद्धा १३ मर्यादा १४ कीर्त्तिः १५ महतिः महत्वं १६—एते पदार्थाः द्वारकायामवस्थिताः।

२७७—संसारसुप्रमुखा परमेश्वरेण गृहसंमहं अर्थाद् द्वारकां कुर्वता रचितवता एताः पंचापि ज्ञानस्य विद्रुत्तायाः चंडाल्य इव अस्पृश्या इव कृत्वा मुक्ताः दूरीकृताः अतो यत्र ज्ञानं तत्रैतासां दूरीभावः एव वरं। ता आह—मदिरापानं १ रीस इत्यसूया २ हिंसा जीववधः ३ निंदामतिः परापवादजल्पनं ४ एताश्चतस्रः पंचमी गालिः विरुद्धशंसनं ५। अतो द्वारकायामेतासां न स्थितिरित्यभिप्रायः। तत्र तु ज्ञानवत्त्वमेव प्रसिद्धम्।

२७८—अथ श्रीकृष्णस्तुतिरूपा वेलिसंज्ञा कीर्त्तिरतः सा पठनीयेति। तस्याः वल्ल्याः वर्णने कवेर्गर्वो न चिन्त्यः इति तदाह। पुनः कविः परोपदेशमुद्दिश्य स्वात्मानं शिक्षयति—रे **प्राणिया** हे ममात्मन्, यदि त्वमेवं वाञ्छसि तदा त्वमिमां वल्लीं पठ इति मुखे कुरु। एवमिति किम्। प्राक् हरिस्मरणं १, हरिणनयनायाः मृगाक्ष्याः क्रीडारसावगमनं २, रणक्षेत्रमाश्रित्य खड्गेन खलानां वैरिणां खंडनं निर्वापणं ३, पुनः परसभायां राजसंसदि तथा गुरुजनसमुदाये वा स्थित्वा जल्पितुं ४, वाञ्छसि इति तत्त्वार्थः।

२७९—पुनर्पुनर्वल्ल्याः स्मारणमिति दर्शयन्नाह—वल्लीं जपतः स्मरतो नरस्य अथवा यदा त्वं वल्लीं स्मरेः जपेस्तदा तुभ्य-मेतेविधयः पदार्थाः संभवन्ति । तदाह । कण्ठे सरस्वती, गृहे लक्ष्मीः, मुखे शोभा लोकवशीकरणं, भाविन्याः भविष्यन्त्याः मुक्तेः त्वत्करे भुक्तिः परिभोगः, उवरि अभ्यन्तरे ज्ञानं, आत्मनि हरिभक्तिः इति तात्पर्य्यम् ।

२८०—यः कश्चिज्जनः षण्मासावधि मह्यां पृथिव्यां सुप्त्वा भूमिशयनं कृत्वा पुनः प्रातर्जले तीर्थस्थाने मज्जनं कृत्वा स्नानं विधाय स्पर्शे जितेन्द्रियो अतः आत्मना स्वयमेककः सन्नेकान्ते मौनावलम्बी इति यावत् अत्र जगति तत्कृत्यप्रभावतः स्त्रीवाञ्छकः पुरुषो यादृशीं स्त्रीमवाप्नोति स एव वल्लीं नित्यं वारं वारं पठन् तदेव फलमवाप्नोति इत्यलं प्रयासेन ।

२८१—अहर्निशं दिवारात्रौ आत्मनि आत्मनि दंपत्योः परस्परं रुक्मिणीकृष्णयोः सदृशी रतिः सुखाप्तिः संपद्यते । तत्कथम् । वल्लीं जपन्ती स्मरन्ती कन्या कुमारी वाञ्छितं वरं लभते परिणीता स्त्री पतेः स्वामिनः सौभाग्यं मान्यतां पुनः पुत्रमपि लभते यतः स्त्री सद्भाग्या सौभाग्यवती पुत्रवती कथ्यते ।

२८२—रुक्मिणीहरिस्तुतिरूपां वल्लीं नित्यं पठतां जपतां जनानामेव परिवारो गोत्रसमुदायोऽस्मिन् जगति वर्ण्यो वर्द्धते दिने दिने सर्वाङ्गैः । कैः कैरित्याह—पुत्रैः पौत्रैः प्रतिपौत्रैः पुनः साहणैः गजाश्वरथरूपैर्भाण्डागारैः कोशैः इयन्मात्रं तेषां शाखाः वर्द्धन्ते । का इव । वर्षासु वल्लय इव यथा वल्लयः दिनेदिने पंचांगैः अंकुरेभ्यः समारभ्य पत्रपुष्पफलादिभिर्नित्यं दिनेदिनेऽधिकं वृद्धिं यान्ति इति तत्वार्थः ।

२८३—पुन: समयं प्रेक्ष्य एक: कश्चिद् एकमन्यं कंचित् कथयति। किमित्याह—तत्रैकस्मिन् **वगि** इति पक्षे गृहे विमलानि मंगलानि कुर्वंति प्रेरणेन एतानि आचरतां कुर्वतां जनानां किं शुभं कर्म भाग्यं भवेत् तत्कर्म वल्लीं जपतां जनानां जगति एवं भवति इत्ययमेव पाठो मुख्यमंगलमेव इति चिन्त्यम्।

२८४—आयुर्वेदे प्रणीता उक्ता चिकित्सा दोषप्रतीकारश्चतुर्विधा वर्तते या चिकित्सा शस्त्राणि लौहकर्माणि औषधानि क्वाथचूर्णादीनि मंत्राणि तंत्राणि **सुवद्ध** इति सूते जनयति अर्थात् दोषदूरीकरणाय प्रकटयति। केषां—कायाकृते शरीर-सज्जीकारे उपचारं कुर्वतां वैद्यानां इत्यन्वय-योजनं तैश्चतुर्विधप्रकारैः सुखमुत्पद्यते तत्सुखं वल्लीं जपतां त्वरित-मुत्पद्यते।

२८५—आधिभूतिकं स्यादाधिर्मानसीव्यथा शोकादि ततो जातम् १ आधिदैवं भूतोन्मादादिकं २ अध्यात्मकं पूर्वकर्मार्जितं ३ तापत्रयं, तथा पिंडे शरीरे दोषत्रयं प्रभवति जायते कफ-वातपित्तलक्षणं सर्वे रोगा न भवन्ति ये पुरुषा: नित्यं वल्लीं स्मरन्ति तेषां शश्वन्नीरोगता इति भाग्यं श्रीभगवत्कृपातः।

२८६—मनसः शुद्धभावेन रुक्मिणीमंगलं अर्थाद् वल्लीसंज्ञकां स्तुतिं जपतां जनानां निधयो नवनिधानानि, संपत् संपदा स्वर्णरौप्यरत्नवाहनादिलक्षणा, कुशलं कल्याणं च सदा संभवन्ति सम्पद्यन्ते तथा चैतानि नाशयन्ति तद्गृहं मुक्त्वा दूरं पलायन्ति। कानिकानीति आह—दुर्दिनं दुरक (? दुःख) दिवसं, दुर्ग्रहं ग्रहगणितगोचरे ग्रहाणां वैषम्यं, अथ च दुःसहा दुरन्ता दुर्दशा जन्मपत्र्यां रविराहुशनिभौमानां वर्षदशाः, तथा दुर्जनाः पैशुन्यकारकाः, पुनः पापकर्मणि मतिर्बुद्धिप्रसरः, एतानि वस्तूनि इति ज्ञेयम्।

२८७—मणिवलं, मंत्रवलं, तंत्रवलम्, यंत्रवलं तत्कृतानि अमङ्गलानि अशुभकारीणि कर्म्माण्यादीनि न प्रभवन्ति न लगंति कृतान्यपि विफलीभवन्ति। जले स्थले नभसि अवकाशस्थाने किमपि छलं छद्म देवदेव्यादिकृतं न भवति अथवा डाकिनीशाकिनीभूतप्रेतानां भीतयोऽपि न प्रादुर्भवन्ति नाऽभव्यं कर्त्तुं शक्यन्ते। पुनरुपद्रवाः द्विपदचतुष्पदकृता विलायन्ते। किं कुर्वतां। वल्लीं भणतां नृणां इति सर्वत्र योज्यम्।

२८८—सान्यासिकैर्देशानामधारिभिः, योगिभिः पृथक्पृथगासनधारिभिः, तपस्विभिर्यत्यादिभिः, तपसि तपोऽर्थं एतावन्तो हठादगृहस्थाश्रमं परित्यज्य देशान्तरभ्रमण-गिरिकन्दरादिवासरूपाः अथ च निग्रहाः स्वात्मनो दुष्टुःखोपाया अधोमुखतया अग्निसंयोगादिलक्षणाः किं कृताः यदा पारं स्थिताः आसन्नभवकाः सन्तः यतो दूरभविनां वल्लीपाठोऽपि न स्यादिति। वल्लीं पठन्त एव संसारसागरस्य पारमुत्तरन्ति स्तोकायासेन वैकुंठं लभन्ते इति भावः।

२८९—अधुना स्वं मनः शिक्षयति—रे मम मनस्, त्वं कृपणान् वांछितवस्तुदातुमसमर्थान् किं **कलपिसि** किं याचसे यतः कृष्णरुक्मिणी-स्तुतिरूपं मंगलं अर्थाद् इमां वल्लीं कंठे कुरु पठ इति शिक्षा। तेन योगेन आत्मध्यानरूपेण किम्, जपेन मौनवृत्त्या जपमालया स्मरणेन किम्, तपसा व्रतादिकरणेन किम्, तीर्थगमनेन किम्, दानतर्पणेन (?) इति बाढं त्यागेन किम्, वर्णानां आश्रमैः ब्रह्मचर्यदीक्षाद्युपायैरपि किम्। सर्वाण्यपि श्रमकारीणि अत्र सर्वत्र। किम् अव्ययः कुत्सिदवाची। हरिचरणस्मरणमात्रमेव वरं अत्र कवेः स्वकृतिसंबंधिगर्वो नो गण्यः

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
६	११	मिसर	मिश्रण
१२	२	राजा	राजाओं
,,	८	नहा,	नहीं,
१३	१	रुक्मणी रा	रुक्मणी री
,,	३	मिसर	मिश्रण
१४	२२	"पत्रराज"	"पचराज"
१६	१६	-in nay,	-nay, in
१७	१३	अदृश्य, ओजगुण	अदृश्य ओजगुण,
१८	११	बड़ा	बड़ी
,,	२२	"इस बात	इस बात
१९	१	भति	प्रति
२०	११	पीवल	पीथल्
२२	१६	भक्ति-स्रात	भक्ति-स्रोत
२३	२	कृष्णदास, पपाहारी	कृष्णदास पयाहारी
,,	६	चित-स्वामी	छीत-स्वामी
२१	१३	हासों	रसों
,,	२२	चाहिए	चाहिए ।
३०	१	मिल	मिला
३१	१६	भ्रम	भ्रम
३१	१	कुटुम्ब की	कुटुम्ब के
३१	२२	नाश और समृद्धि	समृद्धि और नाश
३१	१४	बवर	बबर
४२	२३	घेरम	घरम
४५	४	सौख्य-समृद्धि	सौख्य-समृद्ध
,,	१४	धौल्हर	धौल्हर
,,	१६	चहलो	चालो
,,	२४	१६ सवारी के अभ्यास वाला	१६ प्यारा
४६	४	घड़ो घड़ी	घड़ी घड़ी
,,	६	रावत यौ	रास तयौ
४७	६	"पाचवां वेद"	"पाँचमौ वेद"
४८	६	होने का	होने में
४६	१	चरण	चारण
५०	१४	जिसने	जिसमें
,,	१६	करता है।	किया गया है।
५१	१५	सं० १×७८ की	सं० १६७८ की
५३	१५	करके	केरवा के
५६	१५	पञ्चसर	पचशर
,,	,,	सरों	शरों
५८	१७	हेकार	होकर
६१	२०	तिण ताणौ	तिथि तणौ
६३	२१	बालकति किरि	बालकति करि
६६	१७	हिन्दी के श्रेष्ठ	डिंगल के श्रेष्ठ

असंभावनीयं आश्चर्यवचनं विचार्य। ते के । कल्पलता कल्पवृक्षः १, कामधेनुः २, चिन्तामणिः ३, सोमवल्ली वांछितप्रदा वल्लीविशेषा ४, चत्वारोऽपि पदार्थाः वाञ्छितप्रदाः सत्ययुगयोग्याः इत्यस्याः वल्ल्याः सेवनस्य बहु माहात्म्यं प्रकाशितम् ।

२९४—इयं वल्ली किमिति, पंचविधागमानां शास्त्राणां रसनिर्गमाय प्रसिद्धा प्रकटा अखिला अखंडा प्रणालीव । अथवा किमिति, मुक्तिं प्रति चटनाय आमिता दीर्घा पृथ्व्यां मंडिता **निसरणीव** । अथो किमिति स्वर्गलोकारोहणकृते सोपान-पंक्तिरिव '**पावडियालु**' लोकप्रसिद्धम् ।

२९५—मौक्तिकानां व्यवसाये व्यापारे एकतः एकमनुपमं दृष्ट्वा को मोक्तुं किंचिदपि त्यक्तुं प्रभुः क्षमः स्यात्, सर्वाण्यपि गृह्णाति तथा मम वचनानां कणरूपाणां किल इति सत्ये तेषां शोधनं ममैव मुखं न्याय्यं परमन्यसुकवयः कुकवयश्च शोधनकृते न चालिनीरूपा न शूर्प्परूपा तेनाऽत्र ग्राह्याग्राह्यत्वं नास्ति सर्वाणि वचांसि शोधितान्येव इति सगर्ववाक्यम् ।

२९६—पिंडे शरीरे नखात्प्रारभ्य शिरो यावत् तेन आद्यन्तं यावत् भूषणैराभरणैरथाचररूपभूषणैः परिदधती सती **मह्यां** पृथिव्यां मम वाणी वाक् वेलिमयी वल्लीरूपा **असद्द** असती इव कुलटेव जगतः संसारवासिजनस्य सर्वस्य गले कंठे लग्ना सती नित्यमहर्निशं स्थितवत्यास्ते परं दूषणानि फलंकान् न सहते आत्मनि दोषं नानयति । केव । सतीव यथा सती स्त्री दोषं नानयति ततः सर्वत्र प्रीतिपरा परं नो व्यभिचारपरा इति तत्त्वार्थः ।

२९७—क्वचित् प्राकृतभाषया भणतः क्वचित् संस्कृतभाषया पठतो जनस्य मम भारत्यां वाण्यां इदं मर्म एषा रीतिः अवधार्यम् ।

श्रीकृष्णनामस्तुत्यंगीकारशिक्षावचसो दोषाभावः ।

२८०—वल्ल्याः सह सुरसरितो गंगायाः **समसरि** इति सादृश्यं अहं कथं आनयामि । अथ द्वयोर् लक्षणानि—द्वे अपि हरिहरौ भजतः वल्ली तु हरिभक्तिवाचका सुरसरित् शंभुमस्तकान्तः स्थिता तेन हरिभजनं मोक्षदायी इत्यतः इयमेवाधिका । गंगा तु सर्वेषां मान्यमपि पुनर् अतारकं तरीतुमशक्यं **बुडयति**, वल्ली तु अतारकं मुग्धमपि भक्तिमत्तया भवसागरं तारयति इति इयमेवाधिका। पुनर्भागीरथी एकदेशवाहिनी पूर्वसागरगामिन्येव, वल्ली तु सर्वासु दिक्षु प्रसृता अतः मा इत्यव्ययो निषेधवाची अपि तु नानयामि इति तत्त्वार्थः ।

२९१—अथाऽस्य ग्रंथस्य वल्लीस्वरूपमुद्दिश्य वर्णयति—इयं नाम्ना वल्लीति तत्र भागवतोक्तलक्षणं सुबीजं वापितं, मह्यां पृथिव्यां आलवालं पृथिवीराजमुखं, गानसमये तालो मूलरूपः, अर्थाः जटाः पृथग्भूताः, सुस्थिरकर्णरूपे मंडपे चटिता छायारूपं श्रुतिसुखम् ।

२९२—लघुपत्राणि अक्षररूपाणि, द्वालकरूपाणि दलानि वृद्धपर्णानि, ख्यातिर्यशः कृष्णसंबंधि तदेव परिमलं वासः, अस्यां नवरसपोषणं ततुविधिः, अस्याः वृद्धिरहर्निशं दिवारात्रौ श्रवणेन पठनेन चेति, रसिकाः नराः मधुकराः इव, मंजरीरूपा हरिभक्तिः, फुल्लरूपं मुक्तिप्रापणं, फलं तु तत्र वैकुण्ठे अनन्त-सुखानुभवनं । इति सर्वमपि वल्लीसाम्यम् ।

२९३—पुनराधिक्यं वर्णयति—कलौ युगे पृथ्वीराजकविमुखकमले अक्षरावली वर्णपंक्तिस्तस्याः मिषेण व्याजेन पृथिव्यां एकत्र स्थाने भूत्वा चत्वारः पदार्थाः प्रकटिताः । तत्सर्वमपि

असंभावनीयं आश्चर्यवचनं विचार्य। ते के। कल्पलता कल्पवृक्ष: १, कामधेनु: २, चिन्तामणि: ३, सोमवल्ली वांछितप्रदा वल्लीविशेषा ४, चत्वारोऽपि पदार्था: वाञ्छितप्रदा: सत्ययुगयोग्या: इत्यस्या: वल्ल्या: सेवनस्य बहु माहात्म्यं प्रकाशितम्।

२९४—इयं वल्ली किमिति, पंचविधागमाना शास्त्राणां रसनिर्गमाय प्रसिद्धा प्रकटा अखिला अखंडा प्रणालीव। अथवा किमिति, मुक्तिं प्रति चटनाय आमिता दीर्घा पृथ्व्यां मंडिता **निसरणीव**। अथो किमिति स्वर्गलोकारोहणकृते सोपानपंक्तिरिव '**पावडियालु**' लोकप्रसिद्धम्।

२९५—मौक्तिकानां व्यवसाये व्यापारे एकतः एकमनुपमं दृष्ट्वा को मोक्तुं किंचिदपि त्यक्तुं प्रभु क्षमः स्यात्, सर्वाण्यपि गृह्णाति तथा मम वचनानां कणरूपाणां किल इति सत्ये तेषां शोधनं ममैव मुखं न्याय्यं परमन्यसुकवयः कुकवयश्च शोधनकृते न चालिनीरूपा न शूर्परूपा तेनाऽत्र ग्राह्याग्राह्यत्वं नास्ति सर्वाणि वचांसि शोधितान्येव इति सगर्ववाक्यम्।

२९६—पिंडे शरीरे नखात्प्रारभ्य शिरां यावत् तेन आद्यन्तं यावत् भूषणैराभरणैरथाक्षररूपभूषणैः परिदधती सती **मह्यां** पृथिव्यां मम वाणी वाक् वेलिमयी वल्लीरूपा **अखंड** प्रसती इव कुलटेव जगतः संसारवासिजनस्य सर्वस्य गले कंठे लग्ना सती नित्यमहर्निशं स्थितवत्यास्ते परं दूषणानि कलंकान् न सहते आत्मनि दोषं नानयति। केव। सतीव यथा सती स्त्री दोषं नानयति ततः सर्वत्र प्रीतिपरा परं नो व्यभिचारपरा इति तत्त्वार्थ:।

२९७—क्वचित् प्राकृतभाषया भणतः क्वचित् संस्कृतभाषया पठतो जनस्य मम भारत्यां वाण्यां इदं मर्म ऐषा रीतिः अवधार्यम्।

सरस्वत्याः प्रसादेन काव्यं कुर्वन्ति मानवाः ।
तस्मात् निश्चलभावेन पूजनीया सरस्वती ॥

१०३—अथ च ग्रंथप्रान्ते विशेषेण स्वमशक्यत्वं प्रतिपाद केशव हे स्वामिन्, त्वदीयानि कर्माणि करणीयानि कि इति, पुनस्तु तव स्त्रियोऽपि कर्माणि कथयितुं वर्ण शक्नोति क समर्थो न कोऽपीत्यर्थः । ततो युवयोर्गुण यद् भव्यं स तु भारत्याः शारदायाः प्रसादः कृपा, किंचिद् अभव्यं अयुक्तयोक्तं स तु ममैव भ्रमो मतिभ्रा मौर्ख्य इति यावत् । परं च गुणेषु नाऽशुद्धता ।

१०४—अथ ग्रन्थान्ते मंगलार्थं स्वामिस्वामिन्योर्नामग्रहणम्– रुक्मिण्याः रूपं लक्षणानि गुणाश्च वक्तुं स्तोतुं कः समर्थ- तरोऽस्ति न कोऽपि परं मया स्वमत्यनुसारत. यादृशाः ज्ञाता. गोविन्दस्य राज्ञी तस्याः गुणाः तादृशा अत्र ग्रन्थे कथिता. निबद्धा जल्पिता इति यावत् । तेन गुणस्यापि ममोपरि कृपा कर्त्तव्या इति यदुक्तम्—

दूहा—येण विसम्मां केसवां के अपरम्प परम्म ।
घाट न जोवइ जग घडन जोवइ ग्रेम परम्म ॥

तदा हरेर् येन तेन प्रकारेण नामग्रहणमेव वरम् ।
था हि—

जितं तेन जितं तेन जितं तेनेति निश्चितम् ।
जिह्वाग्रे वसति यस्य हरिरित्यक्षरद्वयम् ॥

इति श्रीकृष्णरुक्मिणीवेलिः पृथ्वीराजकृता समाप्ता ।

भुक्तशेषं समुच्छिष्टं मत्वा कोऽप्यधमो मूर्ख. न ग्राह्यमिति कथयति तेनाऽत्र विषये शंका न कार्या इति बोद्धव्यम्।

३० —अथ ग्रंथस्यान्ते सगर्वं परिहृत्य पंडितेभ्यो विज्ञापयति—हे पंडिता:, ममैषा विज्ञप्तिरेका तस्या: मोख इति भाषया विधिरिति तथा मोक्ष: कथनमवधार्य इत्यध्याहार.। अस्माकं वचनानि सदोषानि लग्नदूषणानि विशुद्ध्यर्थं भवतां श्रवणरूपेषु कर्णलक्षणतीर्थेषु समागतानि। तीर्थे गमनं दोषनिवृत्त्यर्थं इति प्रसिद्धम्। अतो भवद्भिर्मम वचनानि श्रुत्वा तेषां दोषा दूरीकार्य इति विज्ञप्ति.। तदा निर्भावनया तीर्थगमने का फलाप्तिरिति शंकां निवारयति। कीदृशानि मम वचनानि। हरे: कृष्णस्य रस: तद्रूपं साहसं बलं अंगीकृत्वा चलितानि यदुक्तम्—हरि-भक्ति प्रसंगात् सपापा अपि निस्तरन्ति—

> हरिर्हरति पापानि दुष्टचित्तैरपि स्मृत:।
> अनिच्छयाऽपि लोकानां स्पृष्टो दहति पावक:॥

३०२—अथ...... ......यदुक्तमसमंजसं वदेदृशी कवेर्बहुतरं वक्तुं प्रवृत्तिरिति शंकितानां भ्रमं निवारयति—
रहसि एकान्ते रुक्मिण्या सह रममाणस्य जगदीश्वरस्य मयाऽयं रसो दृष्टमात्र इव निवेदितो जल्पित। तन्मध्ये मिथ्यावचनं नाऽवगन्तव्यं सर्वं सत्यमेव चिन्त्यम्। तत्कथमित्याह—रुक्मिणीसहचरी पार्श्वस्थायिनी सरसइ इति सरस्वती तया मह्यं निवेदितानि गुह्यप्रकटमिव प्रकाशितानि मां स्वकीयं जनं मत्वा मदुपरि कृपापरयेति। तन्मुखान्मया श्रुत्वा तथैव कथितानि ग्रंथे चिह्नानि इति निर्दोषता यदुक्तम्—

किमिति। रसदायिनीं सुन्दरीं रमयतां जनानां शय्यान्तरे सुखशय्योपरि अथ भूम्यां वा-स्तरेऽपि सदृशं सुखं स्यात्। अतो मम वाणी प्राकृतभणतौ संस्कृतभणतौ सदृशं रसं ददाति परं तत्र सुखासुखत्ववितर्कणं न चिन्त्यमिति तत्त्वार्थः।

२९८—हे रसिकाः, यदि यूयं वल्ल्याः विवरणं आमूलमूलाद् अर्थं वाञ्छयथ तदा कर्णं ममोक्तां कथां वाचं कुरुत। पूर्णैः सुबुद्धिभिस्तमर्थं पूर्णं प्राप्स्यथ पुनः ओछै· तुच्छमतिकैस्तमर्थं न्यूनं किञ्चित्सत्यं किंचिदसत्यं प्राप्स्यथ इति साशंकं शिक्षावचः।

२९९—तदास्याः अर्थलब्ध्यै के के पृष्टव्याः इति शंकानिराकरणाय वक्ति—एतान् सर्वान् एकत्र कृत्वा संमील्य विचारपूर्वकं त्वमर्थं कथय इति विधिः। ते के। ज्योतिषिकाः गणकाः, वैद्याः चिकित्सकाः, पौराणिकाः पुराणवाचकाः, योगिनो योगाभ्यासपराः, संगीतिनो नाट्यशास्त्रज्ञाः, तार्किकाः प्रामाणिकाः, चारणाः, भट्टाः, सुकवयः पृथक् जातीयाः, भाषाचतुरा नानादेशभाषाज्ञातारस्तानिति योज्यं। एतेषां शास्त्राणां किंचित् किंचिद् रहस्यं अस्यां समागतं कुत्रचित्-कुत्रचिन् निवेदितं। तेनैकशास्त्राभ्यासी अस्याः अर्थकथने मुह्यतीति रहस्यम्।

३००—पुनर्ममायं ग्रंथो ग्राह्यः इति दर्शयन्नाह—ममाक्षराणां गुणस्य इति मर्म इदं रहस्यं यतोऽयं गुणः मुखमुखात् नवनवजन-मुखात् श्रुतमात्रो गृहीतः गिलित्वा पुनर्ग्रंथग्रथनरीत्या उद्गालितः पश्चान् निष्कासितः। अतो महतां पूज्यानां प्रसादो भुक्तशेषः भक्तिपरायणानां ग्राह्य एव। परमात्मनो

भुक्तशेषं समुच्छिष्टं मत्वा कोऽप्ययमो मूर्खः न ग्राह्यमिति कथयति तेनाऽत्र विषये शंका न कार्या इति बोद्धव्यम्।

३०·—अथ ग्रंथस्यान्ते स्वगर्वं परिहृत्य पंडितेभ्यो विज्ञापयति—हे पंडिताः, ममैषा विज्ञप्तिरेका तस्याः **मोख इति** भाषया विधिरिति तथा मोक्षः कथनमवधार्य इत्यध्याहारः। अस्माकं वचनानि सदोषानि लग्नदूषणानि विशुद्ध यद्यं भवतां श्रवणरूपेषु कर्णलक्षणतीर्थेषु समागतानि। तीर्थे गमनं दोषनिवृत्त्यर्थं इति प्रसिद्धम्। अतो भवद्भिर्मम वचनानि श्रुत्वा तेषां दोषो दूरीकार्य इति विज्ञप्तिः। तदा निर्भावनया तीर्थगमने का फलाप्तिरिति शंकां निवारयति। कीदृशानि मम वचनानि। हरेः कृष्णस्य रसः तद्रूपं साहसं बलं अंगीकृत्वा चलितानि यदुक्तम्—हरि-भक्ति प्रसंगात् सपापा अपि निस्तरन्ति—

> हरिर्हरति पापानि दुष्टचित्तैरपि स्मृतः।
> अनिच्छयाऽपि लोकानां स्पृष्टो दहति पावकः॥

३०२—अथ...... ....यदुक्तमसमंजसं तदेदृशी कवेर्बहुतरं वक्तुं प्रवृत्तिरिति शंकितानां भ्रमं निवारयति—
रहसि एकान्ते रुक्मिण्या सह रममाणस्य जगदीश्वरस्य मयाऽयं रसो दृष्टमात्र इव निवेदितो जल्पितः। तन्मध्ये मिथ्यावचनं नाऽवगन्तव्यं सर्वं सत्यमेव चिन्त्यम्। तत्कथमित्याह—रुक्मिणीसहचरी पार्श्वस्थायिनो **सरसइ** इति सरस्वती तया मह्यं निवेदितानि गुह्यप्रकटमिव प्रकाशितानि मां स्वकीयं जनं मत्वा मदुपरि कृपापरयेति। तन्मुखान्मया श्रुत्वा तथैव कथितानि ग्रंथे लिखितानि इति निर्दोषता यदुक्तम्—

सरस्वत्याः प्रसादेन काव्यं कुर्वन्ति मानवाः ।
तस्मात् निश्चलभावेन पूजनीया सरस्वती ॥

३०३—अथ च ग्रंथप्रान्ते विशेषेण स्वमशक्यत्वं प्रतिपादयति—हे केशव हे स्वामिन्, त्वदीयानि कर्माणि करणीयानि विविधानि इति, पुनस् तव स्त्रियोऽपि कर्माणि कथयितुं वर्णयितुं कः शक्नोति कः समर्थो न कोऽपीत्यर्थः। ततो युवयोर्गुणस्तुतौ यद् भव्यं स तु भारत्याः शारदायाः प्रसादः कृपा, यत् किंचिद् अभव्यं अयुक्ततयोक्तं स तु ममैव भ्रमो मतिभ्रान्तिर्मौर्ख्यं इति यावत्। परं च गुणेषु नाऽशुद्धता।

३०४—अथ ग्रन्थान्ते मंगलार्थं स्वामिस्वामिन्योर्नामग्रहणम्—रुक्मिण्याः रूपं लक्षणानि गुणांश्च वक्तुं स्तोतुं कः समर्थतरोऽस्ति न कोऽपि परं मया स्वमत्यनुसारतः यादृशाः ज्ञाताः गोविन्दस्य राज्ञी तस्याः गुणाः तादृशा अत्र ग्रन्थे कथिताः निबद्धा जल्पिता इति यावत्। तेन मुग्धस्यापि ममोपरि कृपा कर्त्तव्या इति यदुक्तम्—

दूहा—वैंण विसम्मां केसवां के अमरम्म मरम्म।
घाट न जोवइ जग घडन जोवइ प्रेम परम्म ॥

तदा हरेर् येन तेन प्रकारेण नामग्रहणमेव वरम्। तथा हि—

जितं तेन जितं तेन जितं तेनेति निश्चितम्।
जिह्वाग्रे वसति यस्य हरिरित्यक्षरद्वयम् ॥

इति श्रीकृष्णरुक्मिणीवेलिः पृथ्वीराजकृता समाप्ता।

३०५—तत्र कदाऽयं ग्रंथ: संजातस्तत् कथयति, द्वालक:—**वरसीति ।**
इति सुगमम् ।

इति संपूर्णेयमस्या: टीका सुबोधमंजरी नाम्नी ।
श्रीरस्तु । कल्याणं भूयाल्लेखकपाठकयो: ।।
अथ च टीकाया: प्रशस्तिरवधार्या—

श्रीराठोड-कुलावतंस-विलसत्कीर्त्तिर्महादानकृत् कल्या-
णाभिधभूपति: समभवत् श्रीविक्रमाख्ये पुरे
तत्सूनुर्गुणिनां वरो ननु पृथीराजो महीमण्डले
विख्यात: सुरसद्गुरूपममतिर्नीत्यां कवि: सत्कवि:

लक्ष्मीनायक-भक्तितत्परतया कृत्वा गुणोत्कीर्त्तनम्
वल्लीसंज्ञमिदं स्वपातक-चयं हृत्वा फलं जन्मन:
प्राप्तं येन सुतीर्थवन्मधुपुरि प्रान्ते पदं मौक्तिकम्
लब्धं तस्य कृते कृता च मयका टीका सुबोधाभिधा

श्रीमद्विक्रमराजतो वसुमुनि क्रौंचारितुंडावनी—
संख्ये संवतितुर्यमास्यधिकतां प्राप्ते सिते पक्षके
प्राक् तिष्या मुशनोह्नि पाल्हणपुरे पेरोजनाम्ना नृपे
राज्यं शासति पद्मसुन्दरगुरो: शिष्येण टीका कृता

सारंगाभिधवाचकेन सुतरां शिक्षावचश्चातुरी-
मंगीकृत्य सुशिष्यवर्गकथनं श्रुत्वा तथेतिकृतं (?)
अस्मिन्न्यद्वितथं वचो विवरणे संशोध्य शुद्धाशयै-
स्तत्सत्यं क्रियतां ममाञ्जलिमिमां दृष्ट्वासुहृत्प्रार्थितै: (?)

(इति चतुर्भि: संबंध:)

श्रुती न कर्त्तुर्मुखतो कदाचिल्
लोकोक्तपाठेपि न भाति ताद्दक्
श्रुताश्रुतोऽयं रचितो मयार्थो
विशोधनीयो विबुधैर्वरेण्यैः

सुबोधमंजरी नाम्ना टीकोपकृतिकारणम्
गुणिनामर्थवत्येषां चिरं सन्यात्सुसौख्यदा

इति सुबोधमञ्जरी टीका संपूर्ण (संपूर्णा) कृता वांचक सारंगेण ।

[संवत् १६८३ श्रीवैशाखमासे कृष्णात्रयोदश्यां लिखितं सम्पूर्णम्]

शुद्धि-पत्र

हमारे सावधानतापूर्वक प्रूफ देखने पर भी हिन्दी प्रेस वालों का डिंगल भाषा और शब्दों की विशेषताओं से अपरिचय होने के कारण ग्रंथ में स्थान स्थान पर कुछ अशुद्धियां रह गई हैं। उनका संशोधन निम्नलिखित शुद्धिपत्रद्वारा किया गया है।

कुछ साधारण भूलें ऐसी भी रह गई हैं जिनको इस शुद्धिपत्र में देना उचित नहीं समझा गया। उन्हें पाठक स्वयं सुधार कर पढ़ने की कृपा करें। वे साधारण भूलें ये हैं—

(क) डिंगल और राजस्थानी भाषाओं में मराठी, गुजराती, आदि की भांति मूर्धन्य लकार—'ळ' (ल़) भी होता है। उत्तर भारत में हिन्दी प्रेसों में 'ळ' टाइप का प्रचार नहीं होने से अनेक स्थलों पर 'ळ' के स्थान में 'ल' छप गया है।

(ख) डिंगल और राजस्थानी भाषाओं में प्राचीन हिन्दी की तरह लिखित मूर्धन्य 'ष' का उच्चारण 'ख' होता है, यथा 'रुषमिणी' और 'सुषा' का उच्चारण 'रुखमिणी' और 'सुखा' होगा। हमने उच्चारण का अनुकरण कर ख ही रखा है, पर कहीं कहीं ष भी रह गया है।

(ग) भूमिका लिखते समय लेखक के सामने डा॰ टैसीटरी का छपा हुआ संस्करण था। अतएव प्रासंगिक उदाहरणों का पाठ उसी प्रति के अनुसार भूमिका में दे दिया गया है। पाठक वर्तमान संस्करण के मूल पाठ से मिला कर उस पाठ को शुद्ध कर लें।

सम्पादक

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
६	११	मिसर	मिश्रण
१२	२	राजा	राजाओं
,,	८	नहा,	नहीं,
१३	१	रुकमणी रा	रुकमणी री
,,	३	मिसर	मिश्रण
१४	२२	"पंजराज"	"पंचराज"
१६	१६	–in nay,	–nay, in
१७	१२	अदृश्य, ओजगुण	अदृश्य ओजगुण,
१८	११	घड़ा	घड़ी
,,	२५	"इस बात	इस बात
१९	१	अति	प्रति
२०	१६	पीथल	पीथल्
२२	१६	भक्ति-स्रात	भक्ति-स्रोत
२३	५	कृष्णदास, पयाहारी	कृष्णदास पयाहारी
,,	६	चित-स्वामी	छीत-स्वामी
२६	१२	दासों	रसों
,,	२२	चाहिए	चाहिए।
३०	६	मिल	मिला
३१	१६	प्रम	प्रम
३५	१	कुटुम्ब की	कुटुम्ब के
३६	२२	नाश और समृद्धि	समृद्धि और नाश
४२	१४	अवर	अवर
४२	२३	धेरम	घरम
४५	४	सौख्य-समृद्धि	सौख्य-समृद्ध
,,	१४	धौलहर	धौल्हर
,,	१६	वहलो	वालो
,,	२४	१६ सवारी के अभ्यास वाला	१६ प्यारा
४६	४	घड़ो घड़ी	घड़ी घड़ी
,,	६	रासत यौ	राख तयौ
४७	६	"पाचवां वेद"	"पाँचमो वेद"
४८	६	होने का	होने में
४९	६	चरण	चारण
५०	१४	जिसने	जिसमें
,,	१६	करता है।	किया गया है।
५१	१५	सं० १ × ७८ की	सं० १६७८ की
५३	१५	करके	करवा के
५६	१५	पञ्चसर	पचशर
,,	,,	सरों	शरों
५८	१७	हेकार	होकर
६१	२०	तिथ तणो	तिथि तणो
६३	२१	बालकति किरि	बालकति करि
६६	१७	हिन्दी के श्रेष्ठ	डिंगल के श्रेष्ठ

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
६८	१९	हिन्दी के सर्वश्रेष्ठ	डिंगल के सर्वश्रेष्ठ
७०	२१	अस्पष्ट	अस्पृष्ट
७७	१५	वरसति	वरजित
७८	१९	एवं	वरन्
८३	२४	भाव विभावादि	भावादि
८७	२५	रसस्येपि-निपरपरा	रसस्यो-पनिपरपरा
८८	२	दो हलों	दोहलों
,,	२०	जिसमें	जिनमें
९१	५	पड़े।	पढ़ते।
९३	१४	उपमायें	उपमाओं
,,	१७	प्रर्याप्त	पर्याप्त
,,	२०	रीत-क्रीडा	रति-क्रीड़ा
९४	,,	काव्यगुण-सम्पादित	काव्यगुण-सम्पन्न
९५	१३	वे	ये
९६	७	एव	एवं
,,	१३	रुक्मिणी-पुत्र	रुक्मिणी, पुत्र
९७	६	उनकी	उसकी
९९	१-३	पहिली तीन पंक्तियाँ पृष्ठ ९७ की पहली तीन पंक्तियो से दुहरा दी गई हैं। अतएव अनावश्यक हैं।	
१०२	२	पद .	पद्य
१०३	८	लौलिक	लौकिक

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
१०५	१८	समाहार	उपसंहार
,,	२०	कुछ के	कुछ एक
१०७	२०	"अलंकृतम् असंक्षिप्तम्"	"अलं-कृतम्"
१०८	११	रसशङ्कर	रससङ्कर
१११	११	०, इ (३)	०, इ, ए
,,	१३	ए (८१, १६१)	ऐ (८१), ए (१६१),
,,	१७-१८	हूंती (९३) हूंतो (९१), प्रति (९)	हूंती (९३, ९१), हूंतो, प्रति (९)
,,	१९	०, रो (२३, ७८)	०, रा (२३),
,,	२०	तण (१३२)	तणु (१३२)
,,	२२	इ (५, ६),	इ (५)
,,	,,	मैं (१३), महि	, माहि
११२	१७-१८	टिप्पणी (९) को शुद्ध रूप में इस प्रकार पढ़िए :—इकारान्त व ईकारान्त शब्द के आगे बहुवचन में याँ या इयाँ जोड देते हैं।	

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
११२	१९-२०	टिप्पणी (१०) को शुद्ध रूप में इस प्रकार पढ़िए:— वकारान्त व ऊकारान्त शब्दों का... ...उनके आगे वां या उवाँ या वाँ जोड़ देते हैं।	
,,	२४	श्री या एकारान्त	एकारान्त
११६	५	'मछु'	'मंछु'
१२१	२१	शब्दानु-प्रास	श्राद्यानु-प्रास
१२३	४	वयण-सगाई	वयण-सगाई
,,	१८	स्रीपति	स्रीपति
१२५	१	सर्वनाम अव्यय	सम्बन्ध-बोधक अव्यय
,,	१४	नीकुटेम्रे	निकुटीए
१२६	१०	प्रर्याप्तरूप में शब्दानु-प्रास	पर्याप्तरूप में अनु-प्रास
,,	१६	तिरय उरय	तिरप उरप
,,	१८	दरयक कन्दरप	दरपक कन्दरप
१२७	४	"अनलड्-कृतिः	"अनलड्-कृती
,,	१७	विन ठौर ॥	विन ठौरे ॥
१२७	२०	अपस ७ अमूम्यौ	अपस ७ अमूम्यौ
१२८	१३	न हो। रामचन्द,	न हो तो रामचन्द,
१२९	१५	कठ अर्थात् शब्दानुप्रास	कठ अर्थात् अनुप्रास
,,	२१	शब्दानुप्रास	अनुप्रास
,,	२३	शब्दानु-प्रासहीन ॥	अनुप्रास-हीन ॥
,,	२५	शब्दानु-प्रासयु ॥	अनुप्रास-युक्त ॥
१३१	५	श्रीजयमाल-सिंहजी	श्रीजगमसिंहजी
१३४	४	आदर करै जु	आदर करे जु
,,	१३	वाउवा	वाउवौ
,,	२५	किसो वस	किसौ वस
१३५	२	वि वि जीहे]	वि वि जीह]
१३६	२१	जागृति यौवन	जागृति,—यौवन
१४२	२३	दखिण दिसित यों	दखिण दिसि तव
१४३	२२	[दो सु किरि	[दोर सु किरि
१४६	११	का प्राप्ति	की प्राप्ति
१६०	१७	चन्नभुजा	चत्रभुजा
,,	२१	,,	,,

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
१६२	२	शारङ्ग, धनुष	शारङ्ग धनुष
१७०	८	के काट]	वे काट]
१७१	५	बांकिये है,	बांकिये हैं,
१७८	६	चन्द्राणणि	चंद्राणणि
१७६	१३	सुन्दरी	सुन्दरि
१८०	१८	घाहर	वाहर
१८४	४	[सिहर सिहर सिलाऊ *समखै]*	[सिहरि सिहरि सिलाव *समरवै]*
१८५	२२	(प्रहारत)	(प्रहार से)
१८७	५	छिंछ	छिंछ
,,	१३	सिरा से)	सिरों से)
१८८	१४	खर्ला सिर	खर्ला सिरि
१८६	४	उछजतै	ऊछजतै
,,	१३	[राजकुमार रश्मि]	(राजकुमार रश्मि)
१६०	२०	कियउ]	किउ]
१६३	१४	अन्नथा करण	अन्नथा करणं
१६४	३	वह तै	वहतै
१६६	४	वछाह	ऊछाह
१६६	५	[वेदविद वेदोगत .... कहण लागा]	वेदविद वेदोगत धरम विचारि]
२००	१७	ससकार	सँसकार
२०१	८	मंगल करि *गीत* गावै]	करि *मंगल* गीत गावै]
२०३	८	प्रासाद श्रेष्ठ के	प्रासाद-श्रेष्ठ के
२०४	१६	तत्पर था	तत्पर थीं
२०८	१५	आपही किरायौ	आपही करायौ
२१४	३	किरीटा	किरीटी
,,	२०	(हुकूमत) *न रहने से*	(हुकूमत *न रहने से)*
२१६	७	जगति सिर	जगत सिरि
,,	१६	सरण *लाधौ]*	सरण *लीधो]*
२२५	१३	पृथ्वी-रुपिणा	पृथ्वी-रुपिणी
,,	१७	प्रतात	प्रतीत
२२६	६	(जिससे)	जिससे
,,	२२	आधो फरै	आधोफरै
२२७	४	*महला में*	*महलों में*
,,	१४	[मन्दिर सिखर	[मन्दिर सिखरि
२३१	३	[तिणि राति राति रति	[तिणि राति राति राति
२३२	१२	*भगति]*	*मुगति]*
२४४	१२	(दर्शकगण) है	दर्शकगण हैं
२५४	१८	कन्ता	कान्ता

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
२५८	५	प्रमित-वाली	प्रमिति-वाली
२५६	१७	कृपामति,	कृपा, मति,
२६१	३	पामै	प्रामै
,,	६	श्री वंछित वर]	श्री वंछित वर प्रामै]
२६२	५	[जब बुद्धि	[जग बुद्धि
२६३	३	त्रिविधि मैं	त्रिविधमैं
२६६	२२	चविध	पँचविध
२६८	६	असली	असती
२७३	७	पाठान्तरों को	पाठान्तरों का
२७६	२२	सं० सु-कामिणि।	सं० सु० कामिणि।
२८१	१७	सं० सुर।	हूँ० सर।
२८२	१३	("सोई" के	("सोइ" के
२८४	१७	मा० सु० तिथि।	मा० सु-तिथि।
२८८	१७	सिद्धि	सिद्ध
,,	२२	मा० मिलि।	मा० मिलि
२६०	२३	करि ('वरि' के स्थान में)।	सु० करि ('वरि' के स्थान में)
२६१	१३	सं० कुचकी।	सु० कुंचकी।
२६२	६	टैसी० वरुस्थल	टैसी० ऊरुस्थल

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
२६३	४	मा० संजोइंन।	मा० संजो
,,	१६	हूं० सं० सयेपीयइ।	हूं० संपेपीर
२६४	१	सु० मा० सं० करे।	सु० सं०
२६५	१६	टैसी० वद्मते	टैसी ऊद्
२६७	१६	हूँ० सं० बलभद्र	हूँ० बल्
२६६	१२	हूँ० सं० कीपज	हूँ० कीप
३००	२	सार (दूसरा	सार (दूस
३०२	१७	मा० कवि	हूँ०
३०३	६	हूँ० सु० आनन।	सं० आन
३०७	७	मा० सं० होपइ	मा० ही
३०६	५	सं० थिया।	मा० थिप
,,	१०	सं० कम-कमो।	सु० कमो
३१०	१६	हूँ० सं० पद्मिनी।	मा० पद्मि
३१२	२३	। स्वगलोक।	। टैसी स्वगले
३१३	२२	टैसी० रुकमणी।	टैसी रुकम

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
३१४	११	टैसी० हुश्रौ।	टैसी० हुश्रै।
३१६	२१	("सु०" के स्थान में)	("सु" के स्थान मे)
[illegible]१७	१०	सु० वंज़र०।	सु० वंज़रवाल्।
[illegible]२१	१०	परन्तु टाका मे ऊपर दिया साधारण	परन्तु टीका में ऊपर (मूल में) दिया हुश्रा साधारण
,,	१३	साधारण	सु० में साधारण
३२३	४	टैसी० संजोगणि,	टैसी० सँजोग, संजोगणि,
,,	८	('सरस' के स्थान में)	(प्रथम 'सरस' के स्थान में
,,	६	('सरस' के स्थान में)	(द्वितीय 'सरस' के स्थान में)
३२५	२३	सं० सङ्ग्रह।	सं० संगृह।
३२६	२	हूँ० मूंके।	हूँ० मूँकी।
३२६	४	सं० तंति।	हूँ० तंति।
३३१	११	('ताहू'-के स्थान में)	(प्रथम 'ताहू' के स्थान में)
,,	२२	टैसी० स्री०	टैसी० स्री,
३४२	१४	पुनः समय	पुनः, समय
३४४	४	रामावतार	रामा श्रवतार
३४६	१६	डि० सुहिया,	डि० सुहियो,
३५०	१२	वाचक-लुप्तोपमा	धर्म-लुप्तोपमा
३५१	१०	(सं० विकल)	[(१) सं० विकल (२) सं० विकल्प]
३५२	१२	(२) छेका-नुप्रास और खाटानुप्रास	(२) खाटा-नुप्रास
३५६	२	ये सात	ये श्रपि सात
३५७	२४	ज्यों राजहीं	ज्यौं राजहीं
३५८	७	डिं० दिख-लाना,— देखालना।	डिं० दिप लावणो, —देखा-लणो।
३६३	२	मणिरा-गाकर-ज्ञान	मणिरागा-कर-ज्ञान गाकरज्ञान

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
३६३	७	निमित्त =ज्ञान	निमित्त= ज्ञान
३६५	७	हरि, हर, हरि. हरि में—	हरि, हर, हर, हर में—
३६८	६	बहल़ा घरि=	बाहल़ा घरि=
३७०	१४	हिं० बाजें = बजते है ।	हिं० बाजैं, बाधैं= बजते हैं, बाँधे जाते हैं।
३७६	१६	सप्तम्यान्त।	सप्तम्यन्त।
३८४	१	इम (डिं०)	इमि (डिं०)
३८६	१६	(सप्तम्यान्त)	(सप्तम्यन्त)
,,	२४	सऊँ उजियारे।	सहुँ उजियारे।
३८७	७	अनुभवों से	अनुभावों से
३८८	६	मिथ्या अनुकरण के	इसके मिथ्या-अनुकरण के
३९२	४	का 'म्ह' ही गया है।	का 'म्ह' हो गया है।
,,	२३	हिन्दू= इतर	हिन्दू तथा इतर
३९३	१०	=(सं० इत)	=(सं० इन्)
३९५	२४	"सवेला	"स वेला

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
३९६	२२	"बाहर चढ़ने"	"बाहर चढ़ने"
३९८	१	पक्ति में हिन्दी	पंक्ति में हिन्दी
,,	२१	(सं० आगमिष्यति)	(सं० आगमिष्यसि)
४०१	१०	इ=वड़ी (डिं०)	इवड़ी (डिं०)
४०८	१४	'देव=यात्रा'	'देव-यात्र
४०९	२२	हिमकर का मारी"	हिमकर की मारी'
४१०	१९	डिं० धूपडो	डिं० धूपथ
४१४	२	'वाल़ना'	'वाज़नो'
४१५	१०	=लिलाट	=ललाट
४१६	२२	द्वितीय पंत्ति।	द्वितीय पंक्ति।
४१८	१०	"कंठसिरी"	"कंठसरी"
,,	१८	,,	,,
४२८	२१	नाले वर्ण	नीले वर्ण
४३१	१०	लागि=	लाग=
,,	१८	(सं० सं०+ प्रेक्ष्य)	(सं० सं+ प्रेक्ष्य)
४४०	१३	'वहु-रूपिया',	'बहुरूप',
४४३	२३	उनका	उनकी
४४६	१	"सिहरि" डा०	"सिहरि" —डा०
४५६	४	ऊपरा भाग	ऊपरी भाग

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
४६८	२	"चाल्रिया चंद्रायणि	"चालिया चंदायणि
४७३	४	मिथ्या = सादृश्य	मिथ्या-सादृश्य
४७५	४	लाटानुप्रास, यमक ।	वीप्सा
४७६	१४	पूर्व = सम्बन्ध	पूर्व-सम्बन्ध
४७७	१३	विवाह = वेदी	विवाह-वेदी
४८०	१८	भाँवरें देती हैं	भाँवरें देते हैं
४८६	६	प्रेम-प्रतात्ता	प्रेम-प्रतीक्षा
४९०	२१	पर्याय—	व्याघात—
४९३	२	पर्याय—	पर्यायोक्ति—
४९९	३	कलंकार	अलंकार
५००	७	भौर का भीर	भौंर की भीर
५०१	३	राम के।	राम को
५०८	८	अष्टाग = योग	अष्टाग-योग
,,	२५	मिथ्या = प्रतीति	मिथ्या-प्रतीति
५१२	३	परिकर—	परिकरांकुर—
५२२	१३	"त्रिपट्टै"	"त्रिपट्टे"
५२६	८	'मोगयो'	डिं० 'मीगयो'
५३५	३	कवियो ने	कवि ने
५४०	१८	संकुडन	संकुडिथि
५४४	१८	कर देना	कारने देना
५४७	६	इस दोहा में	इस दोहले में
५४६	२०	प्रा० पोथ्र (डिं०),	प्रा० पोथ्र,
५५०	१८	ढूँढाडी टीका	ढूँढाडी प्रति
५५७	२०	वधावे वाजित्र वावै ।" दोहा १४८	वधावे वाजित्र वावे ।" दो० १४८
५५६	१७	इस दोहे से	इस दोहले से आगे
५६२	१३	डिं० उदा० तडी तडी कर ' '''वपु ।	डिं० उदा० घड़ी घडी '' '''वप ।
५६८	१३	तियगयति	तियगपति
५७०	१५	मौरिक =	मौरित =
५७१	१६	नाटक होता है ।	नाटक होता था ।
५७५	७	टाल्लौ =	टापूौ =
५७७	११	वह रहे वह ।"	वह रहे रह ।"
५८१	१३	विभक्ति = चिन्ह	विभक्ति-चिह्न
५८२	३	(१) "जल-मिश्र"	(१) "जल-समिश्र"
५८३	६	प्रेयसा	प्रेयसी

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
५८४	३	कुमार सम्मव	(कुमार सम्भव)
५८८	२०	पाथरग्य	पाथरगिा
५९७	१७	कुसुमेपु रनन्यज ।	कुसुमेपु-रनन्यज ।
५९८	१२	संग्रह देखो,	—संग्रह । देखो,
६००	१	ज्वरि (डिं०)	ववरि (डिं०)=
६०६	२०	फ़ारसा में	फ़ारसी में
,,	२२	"ज्ञेतिखी वैद	"ज्योतिषी वैद
६१६	१३	=(डिं० वाहना (क्रिया)	=(डिं० वाहणो (क्रिया)
६२१	१७	जो जन घार	जोजन घार
६२२	१	ऐसा	ऐसी
६२६	१३	वड़े आदमा	वड़े आदमी
६२४	१८	=ह व मर्णी ।	=रु-विमर्णी ।